UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182169

UNIVERSAL
LIBRARY

Osmania University Library

all No. H 81 S62K P.G H Accession No. 7192

uthor शिवकुमार सिंह

tle कला सृजन प्रक्रिया और निराला

This book should be returned on or before the date last arked below.

कला-सृजन-प्रक्रिया और निराला

संजय बुक सेन्टर, वाराणसी

प्रेरणा–ड्यूरर–देकार्त–हॉब्स–अलेक्जेण्डर गेरार्ड–एडिसन–यंग–वेजी-टेबुल ग्रोथ ऑव जीनियस–लीबनिज, हर्डर, हीगेल, शापेन आवर, शेलिंग, मनोवैज्ञानिकों का मत–बॉब काक, एच० ए० एलिस, प्रमस्तिष्क की अवधारणा और प्रतिभा–कार्यकारी संघटना–व्यवस्थापन–अनुषंग–सर्जनात्मक दीप्ति–प्रतिभा और मानसिक योग्यता–दोनों का साम्य वैषम्य–निष्कर्ष–विधायक कल्पना–विशेषतायें–मनोवैज्ञानिक मत–उसका स्वरूप–रिबॉट के अनुसार विधायक कल्पना और कल्पना का भेद–स्नायु संस्थानीय स्वरूप–डी० स्वार्टज का मत–जीववैज्ञानिक मान्यता–कल्पना मस्तिष्क की क्रिया–संबंध प्रमस्तिष्क बल्कुट से–भाव प्रेषण और संग्रहण–अन्तः दीप्ति–वैज्ञानिकों का मत–ह्वाइट की मान्यता–प्रमस्तिष्क मूल केन्द्र एकीकरण और व्यवस्थापन–आलोचकों और सौन्दर्यशास्त्रियों का मत प्रतिभा और कल्पना–यथार्थाश्रित और स्वयं प्रेरित चिन्तन क्रॉशे विलियम्स का मत–आर्टिस्टिक मानस का स्वरूप–शेक्सपीयर–वर्डसवर्थ और उसका प्रील्यूड–इसके आधार पर कल्पना के स्वरूप का उद्घाटन–वर्डसवर्थ और कोलरिज की मान्यताओं में भेद–कोलरिज का मत–अपनी व्याख्या–कोलरिज का ललित कल्पना संबंधी मत–विधायक कल्पना और ललित कल्पना में भेद–लीहण्ट, कोलरिज, हरबर्ट रीड, लेस्ली स्टीफेन आर० डब्लू० एमर्सन–रिचर्डस का कल्पना संबंधी मत–पूर्वी और पश्चिमी मान्यता, साम्य वैषम्य–कल्पना और काव्य-बिंब–मनोवैज्ञानिकों का बिंब सम्बन्धी अधुनातन सिद्धान्त-बिंब का वर्गीकरण–सार्त्र का विचार–लैंजर का मत–रसेल ब्रेन का मत–इन्द्रिय-बोध और बिंब–कलाबिंब और काव्य–बिंब और अनुभूति के घटकों का अन्तः सम्बन्ध–कला बिंब की विशिष्टता का कारण-बिंब-सृजन और बोध–ह्वैली का मत–फ्रैंक कर्मोड का मत सेसिल० डे० लेविस–प्राइमरी बिंब, सेसेण्डरी बिंब, व्युत्पन्न बिंब–बिंब का विभाजन–क्षेत्र और संघटन–बिंब और विचार–चित्र, बिंब रचना मे अन्य बातों का सहयोग–सारांश–निराला साहित्य मे कल्पना का स्वरूप–बाजपेयी जी का प्रसाद संबंधी मत–शुक्ल जी की कल्पना सम्बन्धी मान्यता-स्वच्छन्द साहित्य और कल्पना अनुभूति और कल्पना–निराला का मत–कल्पना और स्मृति–निराला की स्मृति कविता के माध्यम से उसका स्पष्टीकरण–पुनर्पोषण कल्पना और नवोन्मेष–कल्पना और प्रेरणा–स्नेह निर्झर बह गया है के माध्यम से कल्पना की क्रियाओं का स्पष्टीकरण–अनुषंग–

सन्दर्भ–प्रतीक-बिम्ब–रचनात्मक कल्पना–मध्यस्थ कल्पना–परिष्कारक कल्पना–निराला साहित्य में कल्पना के कुछ विशिष्ट पक्ष–कल्पना की उपक्रियायें–सिर्फ एक अव्यक्त शब्द सा 'चुप–चुप–चुप' के माध्यम से स्पष्टीकरण–शब्दों और वर्णों का कलात्मक प्रयोग–बिम्ब और ऐन्द्रिय अनुभूति–निराला साहित्य से स्पष्टीकरण–रंगबोध–स्मृति–बिम्बों की संरचना–बिम्बरचना का सोदाहरण उद्घाटन–यौन–बिम्ब–फान्तसी–बिम्ब–छायावादी काल के बिम्बों और परवर्ती काल के बिम्बों में भेद–ऐतिहासिक, पौराणिक, सांस्कृतिक मूलादर्शात्मक बिम्ब–उदात्त और गतिशील बिम्ब-छायात्मक, सज्जात्मक, घनात्मक बिम्ब–संवेदना–बिम्ब-बिम्ब रचना संबंधी महत्वपूर्ण तथ्यों का उल्लेख–निष्कर्ष।

नवम अध्यायः उपसंहार .... –

रचना और मूल्य–रचनाकार का दायित्व बोध–सृजन प्रक्रिया की परख के द्वारा स्थायी मानदण्डों का आविर्भाव–अन्य महत्वपूर्ण तथ्य–निष्कर्ष।

सन्दर्भ ४९६–५

प्रथम अध्याय

कला

कला-सृजन कलाकार का प्रमुख धर्म है। इस कार्य में उसकी अनुभूति उसकी प्रतिभा से इस तरह रूपायित हो उठती है कि वह देशकाल की सीमा का अतिक्रमण करके स्थायी सौन्दर्य की जनक बन जाती है। फिर भी सृजन के विषय में विचारकों में मतभेद है। एक वर्ग के लोगों का कहना है कि इसका प्रमुख उद्देश्य नवीन रूप की रचना है। यह रचना तभी संभव हो पाती है जब कलाकार मे उसे रचने की शक्ति हो। इसीलिए इस वर्ग के लोग कलाकार की क्षमता, दक्षता अथवा अन्तर्निहित शक्ति को विशेष महत्वपूर्ण मानते है। दूसरे वर्ग के लोग इस मान्यता से असहमत है। उनकी दृष्टि में क्षमता या दक्षता उतनी महत्वपूर्ण नही होती जितनी कि वह मनोवैज्ञानिक क्रिया, जिसके माध्यम से नवीन, चमत्कारपूर्ण और आनंदप्रदाता कृति का जन्म होता है। विवाद यही नही समाप्त हो जाता। विचारको का तीसरा वर्ग भी सामने आता है। इस वर्ग के लोगो की दृष्टि मे क्षमता अथवा क्रिया को उतना महत्वपूर्ण नही माना जा सकता जितना कि उनसे प्रतिफलित कार्य को। अतएव हमें कार्यस्वरूप रचना को ध्यान में रखकर कला विवेचन का कार्य संपादित करना चाहिए। ऊपर के तीनों वर्गों की यह मान्यता स्वतः मे अपूर्ण है। उससे हमें रचना के तीन उपस्कारक तत्वो का संकेत मिलता है। इन्हे हम दक्षता या क्षमता, रचना-क्रिया और क्रिया के प्रतिफलन अर्थात् कलाकृति की संज्ञा दे सकते है। ये तीनों स्वरूप रचना के सावयव विकास के परिचायक हैं। जहाँतक दक्षता या क्षमता का प्रश्न है, उससे असहमत होना कठिन है। देखने मे आता है कि रचना की सामर्थ्य न होने पर या तो साहित्य वायवी और कपोल-कल्पित हो जाता है या विशृंखलित और अर्थ-हीन। क्षमता के अभाव से रचनाकार मे दो प्रतिक्रियायें उत्पन्न होती हैं। एक तो वह कला की मूलचेतना का साक्षात्कार नही कर पाता है, दूसरे वह अज्ञानग्रस्त होने से रचनाधर्मिता को तिलांजलि देकर अन्य लौकिक कार्यो की ओर अग्रसर होकर रचनाशीलता के लिए बाधक बन जाता है। यथार्थ रचनाधर्मिता और आरोपित रचना-धर्मिता के इस द्वन्द्व के समक्ष प्रायः हर-युग के मल्ल कलाकारों को मात खानी पडी है। हिन्दी मे निराला, प्रेमचन्द और मुक्तिबोध तो इसके ज्वलन्त प्रमाण है। शक्ति संयुक्त रचनाकार मे मोती के दाने जैसी पानिप होती है। जिस तरह मोती की आभा अन्तः और बाह्य को प्रकाशित करती रहती है, उसी तरह रचनाकार भी अपने अन्त-र्ज्ञान को रूपायित करके, अथवा यों कहे कि उसे सहज अभिव्यक्ति प्रदान करके लोक को आलोकित किया करता है। अभिव्यक्त वस्तु को रचना या कला और अभिव्यक्ति के उपस्कारक तत्वो और उनके रूपायित होने की विधि को रचना-क्रिया की संज्ञा दी जाती है।

कला और विज्ञान

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि कला निश्चित अन्तर्निहित दक्षता की क्रियाशीलता का परिणाम होती है। इतर विषयों की महत्तर उपलब्धियाँ भी इसी अन्तर्निहित क्रियाशीलता की प्रतिफलन है। इन दोनों की विशेषताओं के आधार पर इनके दो वर्ग हमारे सामने उपस्थित होते हैं; (१) कला-वर्ग और (२) विज्ञान-वर्ग। विवेचन-सौकर्य की दृष्टि से इन्हें हम कला और विज्ञान की संज्ञा देना उचित समझते हैं। इन दोनों को लेकर साहित्य और साहित्य के बाहर बड़ा विवाद हुआ है और इनके साम्य-वैषम्य के निरूपण का भगीरथ प्रयास किया गया है। भगीरथ तो अपने तपोबल से गंगावतरण में समर्थ हुए थे, पर आज के भगीरथ की निष्कप रूपी गंगा अभी आदि रचनाकार ब्रह्मा के कमण्डल मे चक्कर लगा रही है। उसकी मुक्ति तो तभी संभव हो सकती है जब हम सृजन की प्रकृति को समझकर सृजक से आत्मनिवेदन करें। काश! साहित्य मर्मज्ञ इस तथ्य को समझ सकते!

छोटे से बड़े तक, सबकी जबान पर यह वाक्य चक्कर काटा करता है कि आज का युग विज्ञान का युग है। लेकिन अगर हम उनसे पूछें कि विज्ञान से वे क्या समझते है, तो समवतः लाखो मे कोई एक 'सूरमा' निकले जो इसका सही उत्तर दे सके। यही असंगति आज के जीवन के लिए सुरसा का मुँह बन गई है। लोग दुहराते है कि विज्ञान में आस्था और विश्वास के लिए कोई जगह नही है। अगर आप पूछ बैठे कि इसका प्रमाण तो वे उत्तर देने के बजाय बगल झाँकने लगेगे। मै तो इस स्थल पर केवल इतना ही कहना चाहता हूँ कि हर उपलब्धि को प्रामाणिक ढंग से परखने के पश्चात् ही उसकी उपयुक्तता पर गंभीरता से कुछ कहा जा सकता है। विज्ञान ने जीवन और कला दोनों को समान रूप से प्रभावित किया है। उसकी उपलब्धियो से जीवन की गुत्थियाँ सुलझी है और उसके अनेक अज्ञात स्वरूपो पर उचित प्रकाश भी पडा है। आज कला और विज्ञान के अनुशासन एक दूसरे के निकट आए है और उनके बीच की दुर्लघ्य खाईं कुछ पटी है। फिर भी कबीर की 'एकमेक ह्वै मिलि रह्या' की बात नही चरितार्थ हो पाई है। हम पूछ सकते हैं कि इस का कारण क्या है? इसका उत्तर दिया गया है। हम अपनी सुविधा के लिए दो प्रमुख विचारको के मतों को उद्धृत करते है। रोम्यां रोलां का कहना है, 'राष्ट्र का राजनीतिक जीवन उसके अस्तित्व का कृत्रिम अंश है। उस की अन्तर्भूत चेतना को ग्रहण करने और कार्य के स्रोत तक पहुँचने के लिए हमें साहित्य, कला और दर्शन के माध्यम से उसकी आत्मा तक पहुँचना होगा। इन्ही के द्वारा उसके विचार, भाव-संवेग और उसके स्वप्न प्रतिच्छायित हो सकते है।"[१] प्रमुख विचारक बर्ट्रेण्ड रसेल का मत है, "दर्शन मे ऐसा परंपरित क्षेत्र निहित है जिसको पूरी तरह समझने में विज्ञान सर्वथा अक्षम है। इस क्षेत्र में मूल संबंधी चरम प्रश्न निहित हैं। उदाहरण के लिए विज्ञान इस तथ्य को नही सिद्ध कर सकता कि प्रतारण के चक्र को भुगतना बुरा है। जो कुछ

भी ज्ञेय है, उसका साधन विज्ञान है, लेकिन जो कुछ संवेद्य है, उसे विज्ञान के द्वारा नहीं समझा जा सकता।"[२] इन दोनों विचारकों के माध्यम से हमें कुछ तथ्य मिलते है। रोम्यां रोलाँ ने अन्तर्भूत चेतना के साक्षात्कार की बात की है और रसेल ने ज्ञेय और संवेद्य का प्रश्न उठाया है। दोनों के विचारो से चिन्तन की दिशा मिलती है। लेकिन विचार के ये सूत्र सबको समान रूप से ग्राह्य नही हो सके है। कुछ लोगों ने कला और विज्ञान के भेद को अस्वीकार किया है। उनका कहना है कि कला की भाषा में विज्ञान की भाषा की सभी विशेषताये पाई जाती हैं। इसमे 'सीमाण्टिकल' 'सिन्टैक्टिकल' और 'प्रैग्मेटिकल' गुण विद्यमान होते है।[३] उपर्युक्त प्रतिपाद्य अतिरिक्त उत्साह का प्रतिफलन होने के कारण अतिरंजना से ग्रस्त हो गया है। यह कहना भिन्न बात है कि विज्ञान की भाषा मे साहित्यिक भाषा के कुछ तत्व भी रहते है। पर विज्ञान की भाषा और कला की भाषा मे भेद होता है। कला की अपनी भाषा होती है। विज्ञान की भाषा मे इसकी शब्दार्थ विषयक विशेषताओं को, इसकी शब्द-शक्तियों को निरूपित नहीं किया जा सकता है। कला द्वारा निरूपित ज्ञान भी विज्ञान के ज्ञान से भिन्न होता है। विशुद्ध वैज्ञानिक रूझान के व्यक्ति को इसे समझने मे विशेष कठिनाई होती है।[४] इससे कुछ लोग यह निष्कर्ष निकाल सकते है कि कलाकार सत्य से दूर होता है। संभवत उनकी यह मान्यता कला की प्रकृति के प्रति अन्यमनस्क होने से ही पैदा हुई होगी। कला सत्य की वाहक होती है, मूल्य की जनक होती है, इसीलिए उसकी भाषा मे प्राय सभी विशेषतायें अनुस्यूत होती है। कला की मूल्यवत्ता उसे विज्ञान की ओर प्रेरित करती है जबकि उसमे निहित अनुभूति-विशिष्टता और अभिव्यक्ति-कौशल उसे कला की ओर। हर कला की अपनी भाषा होती है। अभिव्यक्ति का माध्यम गद्य, पद्य या व्यंजना के अन्य स्वरूप होते है। प्राय: यह कहा जाता है कि गद्य की भाषा पद्य की भाषा की विलोम है। पर यह तर्क संगत नही है। गद्य की भाषा मे लालित्य, चमत्कार और व्यंजना होती है। इन विशेषताओ के कारण वह कविता की भाषा के निकट पहुँच जाती है। विज्ञान की तकनीकी भाषा (गद्य) पद्य की विलोम अवश्य होती है। वैज्ञानिक उसके माध्यम से यथातथ्य चित्रण प्रस्तुत करता है। देशकाल के सन्दर्भ मे वह अपनी निष्पत्तियो को व्यक्त करने के लिए युक्तियो की खोज करता है। विज्ञान की भाषा मे इन युक्तियो का प्रचुर प्रयोग किया जाता है। वैज्ञानिक चिह्न और उसके द्वारा व्यक्त तथ्य के सम्बन्ध को विशेष महत्व प्रदान करता है। इसी सम्बन्ध के सन्दर्भ मे उसकी वैज्ञानिक अभिव्यक्ति अनुशासित होती है। यह चिह्न निश्चित विशेषताओ का वाहक होता है। वैज्ञानिक द्वारा निरूपित सत्य को प्रयोग द्वारा प्रमाणित किया जा सकता है। विज्ञान की भाषा तर्क की भाषा होती है और उसमें गणित जैसी निर्व्याज अभिव्यक्ति-क्षमता पाई जाती है। वैज्ञानिक तकनीकी भाषा के माध्यम से चुने हुए विचार, मान्यता या सिद्धान्त को प्रतिपादित करता है। तार्किक प्रत्यय इस उद्देश्य को व्यक्त करने मे अधिक सक्षम होते हैं। विज्ञान की यह विशेषता

है कि अगर प्रतिपादित सिद्धान्त और तर्क निर्दोष है तो हमे निष्कर्ष तक पहुँचने में कोई कठिनाई नहीं होती।[५] तकनीकी लेखक इस बात के लिए विशेष सतर्क रहता है कि उसको पढने के समय पाठक का ध्यान और उसका निर्णय उसके द्वारा निर्दिष्ट मार्ग का अनुगमन करे। वह उससे विरत न हो। तकनीकी शब्दावली निश्चित अर्थ को वहन करती है। वह स्पष्ट, द्वन्द्वरहित और भावसंवेगो से मुक्त होती है। उसमे संज्ञा की प्रधानता होती है और अधिकाश क्रियायें तटस्थ और अकर्मक होती है। वैज्ञानिक हर शब्द का निश्चित अर्थ का वाहक बनाता है, इससे क्रियाओ की शक्ति दमित हो जाती है।[६] वह एक संज्ञा के स्थान पर दो या दो से अधिक विशेषण युक्त सज्ञाओ का प्रयोग करता है। गतिहीन संज्ञाओ और निष्क्रिय क्रियाओ के प्रयोग से वाक्यो मे निश्चित सघटन और गति का अभाव हो जाता है। ये वाक्य अलग-अलग और असबद्ध होते है। लंबे वाक्यो को पढते समय हम उनके कुछ अंशो को भूल जाया करते है और उन्हें समझने के लिए पुन. पढना आवश्यक हो जाता है। शब्दावली बोधगम्य नही होती है। इसलिए दर्शन और विज्ञान की पुस्तके हमे ज्ञानवान तो बना सकती है पर हमारी रूचि को परिष्कृत नहीं कर सकती। इन पुस्तकों का पढना उतना ही श्रमसाध्य है जितना कि रेगिस्तान मे चलना। तकनीकी गद्य न तो हमारी सहानुभूति का विषय होता है और न अवधान का। इसे वे ही लोग पढ और समझ सकते है जिनके पास विषय का अपेक्षित ज्ञान और निश्चित वैज्ञानिक रुझान होती है। वैज्ञानिक गद्य संवेदना के स्पर्श से सर्वथा मुक्त होता है। इसके दो प्रमुख कारण है। या तो वे विचार प्रत्ययों होते है या प्रत्ययी ढंग मे काम में लाए जाते है। इससे वैज्ञानिक गद्य विचार प्रधान पर रसविहीन हो जाता है। कहना न होगा कि संवेदना-सबलित विचार ही स्निग्ध, सशक्त और परस्पर आकर्षण-युक्त बनते है। कला की भाषा मे ये विशेषतायें पाई जाती है, इसीलिए वह सरस होती है। विज्ञान के प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष विचार-सूत्र स्वयं अपने रूप की खोज करते हैं। उनको सोदाहरण प्रस्तुत करना जितना सरल है, कला के माध्यम से निरूपित करना उतना ही कठिन। भाषा का व्यक्ति की मानसिक बनावट मे सम्बन्ध होता है। तकनीकी भाषा तकनीकी मानस की अभिव्यक्ति होती है। इस तरह के मानस की कुछ विशेषतायें है। इसकी अभिव्यक्ति गणित जैसी सूत्रबद्ध-भाषा से संभव होती। पर यह बात भाषा की प्रकृति के विरुद्ध है। भाषा की प्रकृति सामाजिक संबंध के चित्रण की ओर अधिक होती है। वह 'मैं-तू' के सम्बन्ध को अधिक सरलता और सफलता से व्यक्त करती है। गणित जैसी निर्व्याज अभिव्यक्ति की खोज मे अधिकाश विचारको ने भाषा को वैज्ञानिक तटस्थता से मंडित किया है, पर वे इसमे विशेष सफल नही हो सके है। इसका कारण स्पष्ट है। वे इस बात को नही समझ सके है कि भाषा सामाजिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए बनी है और वह आज बनते-बिगड़ते सम्बन्धों की गवेषणा की कीर्तिमान सिद्ध हो रही है। प्रयत्नपूर्वक तटस्थता प्रदान करने के प्रयास

से भाषा में अस्वाभाविकता आ जाती है। हमें जान मैकमुरे के इस परामर्श को हृदयंगम करना चाहिए कि अगर विचारक प्रयत्नपूर्वक अपने वक्तव्य को विशुद्ध वस्तुगत दृष्टिकोण से मण्डित करने में किसी तरह सफल हो भी जाता है तो इससे विशुद्ध निरर्थकता का प्रसार होगा। विशुद्ध वस्तुगत वक्तव्य का न तो वक्ता होगा और न श्रोता। वक्तव्य तो वस्तुगत तभी बन सकता है जब उसे अधिक से अधिक भावमुक्त करके विचारयुक्त स्वरूप प्रदान किया जाय। उच्चकोटि की तकनीकी भाषा स्वयं इस प्रयास को अस्वीकार करती है। यही पर एक दूसरा प्रश्न भी सामने आता है कि क्या विचार को सर्वथा भावमुक्त और भाव को सर्वथा विचारमुक्त कलेवर प्रदान किया जा सकता है? अगर यह संभव है, तो भाषा को तटस्थ बनाया जा सकता है, अन्यथा नहीं। अनुभव ही नहीं मनोवैज्ञानिक मान्यतायें भी इस तथ्य को स्वीकार करती है कि विचार और भाव आपस मे सर्पशिशुवत् जुडे होते हैं। किसी एक की हत्या किए बिना इन्हें एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। और अगर किसी तरह अलग कर भी दिया गया तो दोनों का अस्तित्व अविश्वसनीय और अस्वाभाविक अथच् अग्राह्य बन जायगा। सुतराम् यही कहना उचित है कि भाव या विचार की प्रधानता के कारण हम उन्हें भाव-प्रधान या विचार-प्रधान भाषा की संज्ञा दे सकते है, पर भावप्रधान भाषा में विचार के कुछ तत्व और विचार प्रधान भाषा में भाव के कुछ तत्व अवश्य विद्यमान रहेगे।

इसी बात को ध्यान मे रखकर हम अपने विवेचन को और विक्रमित करना चाहते है। आइ० ए० रिचर्ड्स ने विज्ञान और कला (कविता) पर विचार करते समय भावशबल (इमोटिव) और भावमुक्त (कोनेटिव) भाषा का उल्लेख किया है। उन्होने भावशबल भाषा से कविता और भावमुक्त भाषा से विज्ञान को सम्बद्ध माना है। इसी विवेचन क्रम मे उन्होने 'म्यूडो स्टेटमेण्ट' और 'स्टेटमेण्ट' की बात भी की है। उन्होंने पहले का सम्बन्ध कविता से और दूसरे का सम्बन्ध विज्ञान से स्थापित किया है। उन्होंने 'स्यूडोस्टेटमेण्ट' को शब्दों का ऐसा समुच्चय माना है जिसमें चित्त-वृत्तियों और सहज वृत्तियो के संगठन द्वारा निश्चित प्रभाव उत्पन्न किया जाता है। यही प्रभाव उसके औचित्य को सिद्ध करता है, वक्तव्य का औचित्य उसमें निहित सत्य द्वारा सिद्ध होता है।[६] जीवन के दैनिक कार्य-व्यापार मे हमे प्रमाण की अपेक्षा होती है, इसीलिए वक्तव्य अधिक प्रभावी सिद्ध होते हैं। लेकिन कला के क्षेत्र और जीवन के क्षेत्र मे सामान्य भिन्नता होती है। कला के क्षेत्र मे कोलरिज के शब्दो में 'अविश्वास के स्वेच्छया निरसन' द्वारा हम तथ्य तक पहुँचते है। विज्ञान आविष्कार का मुखापेक्षी होता है, कला सृजन की। आविष्कार की उपलब्धि को यथातथ्य रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है पर सृजन मे मानस मे क्रियाशील अनुभूति को उसी रूप में व्यक्त करना कठिन है। विज्ञान के लिए प्रमाण की अपेक्षा होती है, पर कला के लिए प्रभाव से प्राप्त होने वाले प्रत्यय की। विज्ञान विश्लेषण पर आधारित होता है और

वैज्ञानिक का दृष्टिकोण वस्तुगत होता है, पर कला संश्लेषण पर आधारित होती है और कलाकार का दृष्टिकोण आत्मगत होता है। विज्ञान सब पर समान रूप से लागू होने वाले सामान्य नियमों की खोज करता है पर कला व्यक्तिगत क्रिया को अन्वित करके अनुभव के विशिष्ट गुणों को आनन्दप्रद रूप में व्यंजित करती है। विज्ञान के अनुशासन मे विशेषीकरण को महत्व दिया जाता है, पर कला सविशेष विश्वव्यापक चेतना को व्यक्त करने का प्रमुख साधन होती है। विज्ञान की उपलब्धि अभिधात्मक होती है, कलाकार की व्यंजनात्मक। विज्ञान में भाषा के कलात्मक उपकरणों और अभिघटकों के लिए कोई स्थान नही होता, पर ये तत्व कला के प्रमुख उपजीव्य होते है। विज्ञान 'टेकनिकल' होता है, कला 'कन्टेम्प्लेटिव'। विज्ञान सत्याश्रित होता है, कला चमत्काराश्रित और तथ्याश्रित। विज्ञान प्रत्ययी होता है, कला प्रातिबोधिक। विज्ञान मे घटना और वस्तु का वर्णन कर दिया जाता है पर कला में घटना और वस्तु को ऐसा सर्जनात्मक रूप प्रदान कर दिया जाता है कि वह वृहत्तर व्यंजना की वाहक बन जाती है। विज्ञान वस्तु के विषय में ज्ञान देता है पर कला में विषय और वस्तु को निश्चित सन्दर्भों से जोड़कर उनसे भिन्न तथ्यों की व्यंजना की जाती है। विज्ञान तार्किक होता पर कला सम्मूर्तन की मुखापेक्षी। विज्ञान सूत्रों के आश्रय में पलता है, पर कला के सूत्र सृजन के बाद मे उससे उभड़ते है। स्पष्ट है कि विज्ञान और कला के साथ ही विज्ञान की भाषा और कला की भाषा में भेद होता है।

अभी पिछले पृष्ठ पर हमने भावशबल भाषा और विचार-प्रधान भाषा की बात उठाई है और उसके पूर्व इस तथ्य पर गंभीरता से विचार किया है कि विज्ञान की भाषा सर्वथा भावमुक्त नही हो सकती। इस स्थिति मे अगर हम विज्ञान की भाषा को केवल विचार-प्रधान भाषा मान लेते हैं तो अपने ही प्रतिपाद्य मे असंगति दोष उत्पन्न हो जाता है। इसके पूर्व इस बात का संकेत किया जा चुका है कि उच्चकोटि की वैज्ञानिक भाषा मे साहित्यिक भाषा के कुछ गुण होते हैं। प्रश्न उठता है कि फिर उस भाषा को कौन सी संज्ञा दी जाय। जार्ज ह्वैले ने इस प्रश्न का जो समाधान प्रस्तुत किया है वह सर्वथा तर्कसंगत और ग्राह्य है। उन्होने कला की भाषा को भाव-प्रधान भाषा और विज्ञान की उच्चकोटि की भाषा को विचार-भाव-प्रधान भाषा (आइडियो इमोटिव लैग्वेज) कहा है।[१०]

इस तथ्य के पुनरावृत्ति की आवश्यकता नही है कि विज्ञान और कला व्यक्ति के आत्मसंघर्ष, आत्मचिन्तन और आत्ममंथन के कीर्तिमान है। आज के युग का विज्ञान कला का सर्वथा विरोधी नही, वह उसका पूरक भी है। विज्ञान की उपलब्धियो से कला के क्षेत्र मे व्यापकता आई है और कलाकार को अपने मनोभावों को समझने के सूत्र मिले है। साहित्यकार ने तो वैज्ञानिक से सीखने और ग्रहण करने का प्रयत्न किया है, पर वैज्ञानिक अभी अपनी दुनियाँ में रम रहा है और उसके लिए साहित्य समझने की वस्तु नही बन पा रहा है। भविष्य मे ऐसी स्थिति की संभावना

है जब वैज्ञानिक कला की ओर उन्मुख हो और उससे और कुछ अधिक सीख सके। वैसी स्थिति में विरोध की यह खाईं और पटेगी और दोनो एक दूसरे के और निकट आ सकेंगे। वर्तमान में तो अभी कलाकार ने काल से संघर्ष करके ऐसी कालजयी कला-कृतियो का सृजन किया है जो भूत और भविष्य के सम्बन्ध-स्थापन में ही सफल नही है अपितु उसके वर्तमान क्षण को चिरन्तन स्थायित्व प्रदान करके उसके व्यक्तिगत अनुभव और शाश्वत अनुभव मे सेतु का कार्य कर रही है। भविष्य मे कला द्वारा निर्मित यह सेतु जितना व्यापक, प्रशस्त और सुदृढ होगा, उसके द्वारा अभिव्यंजित मूल्य भी उतने ही महान् बन सकेंगे और कला चिरन्तन प्रेरणा का अक्षय भाण्डार बनकर मानवता की मुक्ति का संदेश दे सकेगी। विज्ञान के युग में यही कार्य उसकी सार्थकता का प्रमाण होगा।

कला क्या है

इस तरह के प्रश्न सुनने में जितने सरल होते है उनका विश्लेषण उतना ही श्रमसाध्य और कठिन होता है। प्रकृति क्या है? ब्रह्म और जीव क्या है? संभवत. इसी के विवेचन मे शताब्दियाँ बीत गईं पर उनका कोई समुचित निराकरण न हो सका। इसी तरह कला क्या है? के विवेचन मे भी कई शताब्दियों तक हमने माथापच्ची की, लेकिन आज अभी किसी निश्चित निष्कर्ष पर नही पहुँच पाए। इसका प्रमुख कारण है कि कला सोने-चाँदी जैसा कोई तत्व नही है जिसका तात्विक विश्लेषण करके किसी निष्कर्ष पर पहुँचा जा सके। वह तो अनन्त पथ के पथिक कलाकार की आत्म-गवेषणा का कीर्तिमान है। जब तक इस आत्म-गवेषणा का अन्त नही होता है, तब तक कला के विषय मे अन्तिम रूप से कुछ नही कहा जा सकता है। लेकिन इससे निराश होने की आवश्यकता नहीं है। सौन्दर्य रहस्यावेष्टित होता है। चेतना की गहराइयो मे उतरने और उसे समझने का प्रयास करने से उसके कुछ तत्व हमारे समक्ष उपस्थित हो जाते हैं। साधना मे ही 'मरजीवा' की स्थिति चरितार्थ नही होती है, कला मे भी इसका अपना महत्व होता है। आवश्यकता केवल 'मरजीवा' बनने की है, निरन्तर डुबकी लगाने की है, फिर कभी न कभी तो कला के रत्न हाथ लग ही जायंगे। लेकिन रत्नो के हाथ लगने का मतलब यह नही है कि उसका अक्षय भाण्डार निःशेष हो जायगा। वह बना रहेगा, सृष्टिपर्यन्त बना रहेगा और आगे आने वाले कलाकारो को उसकी चुनौती का उसी रूप मे सामना करना होगा, जिस तरह आज के कलाकारों और कला समीक्षकों को करना पड़ रहा है। इसी बात को ध्यान मे रखकर हम कला की व्याख्या के लिए प्रयत्नशील हो रहे है। जब कला की चुनौती कला समीक्षक के समक्ष है तो उसकी व्याख्या का प्रयास तो उसे करना ही होगा।

कला और विज्ञान के विवेचन के सन्दर्भ में हमने तीन तरह की रुझानो का उल्लेख किया है, (१) चिन्तन-प्रधान (कन्टेम्प्लेटिव), (२) भावशबल (इमोटिव) और (३) विचार-भाव-प्रधान (आइडियो-इमोटिव)। इन्हें एक दूसरे का पूरक माना

लिए तत्पर चेतना से हृदयाकाश में अनेक ध्वनियाँ गूँज उठती हैं। इससे रचनाकार की चेतना के तार-तार झंकृत हो उठे हैं और वह रूप की अतल स्पर्शिनी-छवि को हृदयंगम कर सकने में समर्थ हो उठा है। अनुभूति के हो स्वरूप पर विचार करते हुए उन्होंने लिखा है—

'छन्द की बाढ़, वृष्टि अनुराग
भर गए रे भावों के झाग,
....
रच गया नव किरणों का रास
खेलते फूल ज्योति का फाग।[७४]

अथवा

बहे रस-स्रोत खर
बेध तनु विविध शर,
पार कर गए रे
जग का अपर पार।[७५]

भावों की धारा उसमें उमड़ती है, छन्दों की बाढ़ आ जाती है, पर इनका कारण अनुराग की वृष्टि है। कवि अनुराग की उन किरणों को समेट लेता है। रचना बन जाती है, या उसको परवश बनाकर अनन्त भावधारा अनायास क्रियाशील हो उठती है-कवि को लगता है उसके शरीर को बेध कर वह धारा अनायास बह रही है। लेकिन जब वह अनुभूति रचना में ढल जाती है तो कवि स्वयं उसपर विस्मित हो उठता है। 'कविता' में कवि ने इसे और स्पष्टतापूर्वक व्यक्त किया है। वहाँ कविता का हृदय प्यार से भरा हुआ है। वह निश्छल और अविकार है। उसके अंग-अंग से तरंग उठकर कवि के पास पहुँच रही है; उससे कह रही है कि तुम चलो, तुम्हें कविता ने उस पार बुलाया है।[७६] कविता का नायिका के रूप में चित्रण है। भाव-राशियाँ (केश) इधर-उधर उड़कर उसके कपोलों का स्पर्श कर रही हैं, और इसके उरोजों से लिपट जा रही हैं। गगन के आंगन से गिरकर शिशिर बिन्दु रस का समुद्र बहा रहा है। कविता ने शृंगार के साज सजा रखा है। उस पर वीणा के तार नहीं बज रहे हैं, वह तो कवि की हार थी जो प्रतिध्वनित हो रही है।[७७] उपर्युक्त पंक्तियों में कवि की अन्तःदीप्ति के स्वयमेव प्रतिध्वनित होकर कविता में बदल जाने के अनेक उदाहरण हैं। लेकिन सबसे महत्वपूर्ण तथ्य अन्तिम पंक्तियों मे व्यंजित हो रहा है। यहाँ वीणा के तार नहीं बज रहे हैं, कवि की हार प्रतिध्वनित हो रही है। 'राम की शक्ति पूजा' की आरंभिक पंक्तियों में कवि के राम की हार की अन्तःदीप्ति और उसका सहज उच्छलन विशेष रूप से द्रष्टव्य है। अतएव आरम्भ से लेकर 'असमर्थ मानता मन उद्यत हो हार-हार' तक

गया है। पूरक शब्द सापेक्ष अर्थ का वाहक है। इसकी व्यंजना केवल यह है कि ये रुझानें न तो आपस में मिलकर सर्वथा एकमेक हो सकती हैं और न एक दूसरे से अलग रह सकती हैं। इनमें संवाद की स्थिति बनी रहती है, लेकिन इसे समाकलित कर पाना बड़ा कठिन है। मानव मात्र मे ये तीनों विशेषतायें किसी न किसी परिमाण मे उपस्थित रहती हैं और इनके समन्वय के अभाव मे उसको यदा-कदा विशेष क्षति भी उठानी पड़ती है। ये रुझाने मूल्य की जनक होती है, पर उन मूल्यों को प्राप्त करने की पद्धति भिन्न होती है। काव्यशास्त्र मे इनके अन्तःसम्बन्ध और विभेद पर प्रकाश अवश्य डाला गया है और उससे कला की व्याख्या के सूत्र भी स्पष्ट हुए हैं। फिर भी विभेद की स्थिति बनी हुई है।

कला के सृजन और विकास की अपनी द्वन्द्ववादी पद्धति होती है। हर व्यक्ति इस तथ्य से परिचित है कि संसृति के मूल मे परिवर्तन क्रियाशील है। इससे इसका स्वरूप बदलता रहता है। द्वन्द्ववाद इसी स्वरूप परिवर्तन की तार्किक व्याख्या का प्रयास है। हम इस प्रयास को समझने का प्रयत्न करें। यह कहने की आवश्यकता नही कि परिवर्तन निश्चित रूप मे क्रियाशील होता है। विकास के एक स्वरूप और दूसरे स्वरूप मे एक सक्रिय सिद्धान्त का हस्तक्षेप चलता रहता है। हीगेल ने इसे विरोध और परस्पर प्रभाव का सिद्धान्त कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि नई परिस्थिति पैदा होने समय कम से कम दो तत्वो की अपेक्षा होती है जो आरम्भ में परस्पर विरोधी होते है, पर बाद में द्वन्द्व के कारण परस्पर सम्बद्ध हो जाते है। विरोधी तत्वो के बीच सन्तुलन और सामंजस्य अपेक्षित होता है। यही सामंजस्य अभिनव विकास की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। इसमें विरोधी दशा के कुछ तत्व अदृश्य हो जाते है और कुछ बने रहते हैं। यह स्थिति पूर्वस्थिति से भिन्न होती है। हीगेल ने इसी द्वन्द्ववाद के द्वारा आध्यात्मिक जगत की व्याख्या की थी और मार्क्स ने भौतिक जगत की। हम इसी के माध्यम से कला की व्याख्या का प्रयास कर रहे हैं। यह सत्य है कि वस्तुगत तथ्यों और आत्मगत तथ्यों में अन्तर्विरोध की स्थिति बनी रहती है। इस अन्तर्विरोध से कलाकार मे अन्तर्मथन की स्थिति पैदा होती है। जब वह इस अन्तर्मथन को संश्लेषित करता है तो इससे कला का उद्भव होता है। इसमे पूर्व-स्थिति की कुछ विशेषताये विद्यमान रहती है, पर अभिनव संश्लेषण की क्रिया से गुजरने के कारण उसमे परिमाणात्मक और गुणात्मक परिवर्तन हो जाता है। इस तरह कला अभिनव संवेदना और अभिनव जीवन-दर्शन की परिचायक बन जाती है। कला के क्षेत्र में तनाव और सुलझाव को लेकर कम विवाद नही हुआ है। इस क्रिया मे कलाकार को सशक्त द्वन्द्व का सामना करना पड़ता है। उसका मानस विरोधी भावों और विचारों का रणक्षेत्र बन जाता है। कलाकार उस संघर्ष का भोक्ता होता है। उसकी अभिव्यक्ति के माध्यम मे वे भोग कौधते रहते है। हिन्दी मे निराला, प्रेमचन्द और मुक्तिबोध की रचनाओं मे इसके उत्कृष्ट स्वरूप पाये जाते है। 'गोदान'

'कफन', 'राम की शक्तिपूजा', 'सरोजस्मृति' और 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' जैसी अनेक रचनाओं की पूरी बनावट-बुनावट इसी तथ्य की साक्षी है। इन सभी रचनाओं के कलारूपों और अनुभूति-बिम्बों से कवि की चेतना में निरन्तर बसने वाले भोक्ता कलाकार की अनुपम झाकी मिलती है। इनके माध्यम से उनके मानस का द्वन्द्व संश्लेषित होकर मूर्तिमान बनता है, उनके मानस की निश्चित स्थिति उद्घाटित होती है। कला समीक्षक इस तथ्य को या तो भूल जाता है या उसे दृष्टि से ओझल कर देता है, इसीलिए उसकी समीक्षा या तो केवल शिल्प-विवेचन तक सीमित हो जाती है या कुछ कलेतर तथ्यों के विश्लेषण में अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेती है। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर रिल्के ने कहा था कि कलाकृति जिस अनन्त एकाकीपन की परिचायक होती है उसे आलोचना से पूरी तरह नहीं समझा जा सकता।[११] अगर आलोचना में उसे समझा गया होता तो निराला को अनायास आत्मविघटन की स्थिति से न गुजरना पड़ा होता।

कलात्मक संश्लेषण त्रिशंकुवत अधर में नहीं लटकता रहता। उसे अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए निश्चित देश-काल की अपेक्षा होती है। जब कलाकार की द्वन्द्वात्मक स्थिति निश्चित देश और काल की सीमा में संश्लेषित होती है तो उसका मानस अभिनवबोध से सराबोर हो उठता है। इसी को कलाकार के अभिनव यथार्थ-बोध की संज्ञा भी दी जाती है। इसे इसी रूप में समझने की जरूरत है। कलानुभूति, अभिव्यक्ति और कला के सृजन और पुनर्सृजन में स्वकीय स्थिति से विचलन (डीविएशन) की आवश्यक संभावनायें निहित होती हैं। अनुभूति और अभिव्यक्ति के विचलन से न तो कलाकार परिचित होता है और न सृजन और पुनर्सृजन के विचलन से सामान्य। पाठक इसीलिए दोनों भ्रमपूर्ण स्थिति के शिकार होते हैं और वे कला-मर्मज्ञ के महिमा-मंडित आसन से च्युत हो जाते हैं। जिस भी कलाकार को इन स्थितियों का ज्ञान हो जाता है, उसकी रचना से प्रसववेदना जैसी एक अन्तर्निहित कसक झंकृत होती रहती है जो, अपनी व्यंजना में बहुत कुछ व्यंजित करने के बावजूद व्यंजनातीत बनी रहती है। यही व्यंजनातीतता उसे देश और काल का अतिक्रम करने की सामर्थ्य प्रदान करती है। अब रही पाठक या समीक्षक की बात। यह प्रश्न भी कम जटिल नहीं है। इस संदर्भ में हमें यहाँ केवल इतना कहना आवश्यक है जब पाठक सृजन-प्रक्रिया से अनभिज्ञ होता है तो वह कलाकार के आत्मसंघर्ष से बिना परिचित हुए, उसके सृजन के महत्वपूर्ण क्षण को बिना हृदयंगम किए कुछ कहकर संतोष कर लेता है। लेकिन उसका यह प्रयास हवा में मुक्का चलाने जैसा निरर्थक बन जाता है। जब पाठक की संवेदना प्रसरित होती है और वह रचनाकार की संवेदना में जुड़ कर अर्द्धनारीश्वर की युगनद्धता की स्थिति को प्राप्त होती है तब कहीं पुनर्सृजन संभव ही नहीं होता अपितु उसका रहस्य स्वयमेव स्पष्ट हो उठता है। आत्मस्थलीनता तो अभाव की वृहत्तर भूमिका होती है। वह जब सिसृक्षा में बदलती है तब स्वभाव की आत्मीय

जिज्ञासा का अवतरण होता है। अभाव से स्वभाव के प्रत्यावर्तन की यह स्थिति रहस्यमय हो सकती है, पर रचनाकार का सारा प्रयास कहीं न कहीं उसी पर अवलम्बित होता है। क्या पाठक से इसको सही अर्थों मे समझने की अपेक्षा की जा सकती है? सब पाठक इसे नही समझ सकते, लेकिन जो इसे समझ पाते है वे रचनाकार की तरह ही अपनी समीक्षा मे स्थायी सत्य की व्यंजना करने मे सक्षम सिद्ध होते है।

इसी तथ्य को इलियट महोदय ने थोडा और स्पष्ट रूप मे अभिव्यक्त किया है। उनका कहना है, 'लालित्यबोधीय संवेद्यता को आध्यात्मिक संवेद्यता मे प्रसारित करना और आध्यात्मिक संवेद्यता को लालित्यबोधीय संवेद्यता और अनुशासित रुचि मे प्रसरित करना अति आवश्यक है। कलाकृति के कला और धर्म के प्रतिमानों से मूल्यांकित करने और धर्म को कलाकृति और धर्म के प्रतिमानो मे मूल्यांकित करने मे कोई भेद नही होता। यह ऐसा उद्देश्य है जिस तक कोई व्यक्ति पहुँच नही सकता।[१२] स्पष्ट है कि अपनी महत्तर उपलब्धि मे जीवन के कुछ अनुशासन एक दूसरे के सर्वथा निकट पहुँच जाते है। उन अनुशासनो के विषय मे मान्यताये विशेष रूप से चरितार्थ होती है जिनका आपस मे निकट का सम्बन्ध रहा है और जो सही माने मे एक दूसरे के पूरक रहे है। इलियट की उपर्युक्त मान्यता पर उसके परम्परादर्शवादी जीवन-दर्शन की अमिट छाप है, पर इससे उसका महत्व कम नही हो जाता। इस विवेचन के आधार पर यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि सहृदय या पाठक मे संवेदना को प्रसरित करने और रचना के साथ तादात्म्य स्थापित करने का गुण होना चाहिए। समन्वय, संश्लेषण, आत्मसंघर्ष और सहृदय की विशेषताओं के ऊपरी विवेचन से कला के कुछ आवश्यक सूत्र उभडते है। अगर इन्हे संक्षेप मे प्रस्तुत किया जाय तो उससे कला की परिभाषा की समस्या सुलझ सकती है। उपर्युक्त तथ्यो को ध्यान मे रखकर कहा जा सकता है कि पूर्ण कला कृति प्रातिबोधिक यथार्थ के दीप्तिमय क्षण की कालातीत अभिव्यक्ति है। सृजन मे उसी क्षण का महत्व होता है जब सारा अन्तर्विरोध समन्वित होकर एक नये अर्थ-सन्दर्भ की व्यंजना का वाहक बनता है। कला की व्याख्या मे कम से कम कलाकार के आत्मसंघर्ष से प्रतिफलित उस सर्जनात्मक क्षण की अनुभूति को समझने-पकडने और सार्थक ढंग से ग्रहण करने की अपेक्षा है जो अपनी कौध मे अनन्त यथार्थ संभावनाओं का आगार होता है। आज सृजन के इस क्षण की महत्ता स्वत. स्पष्ट हो चुकी है। आन्द्रजाइड ने इसी का संकेत करते हुए लिखा था, 'महत्वपूर्ण' तथ्यों के समारंभ, दिन और प्रेम के समारंभ और कला के समारंभ में एक ऐसा क्षण होता है जब हम तथ्यों को अधिक पूर्णता मे समझ सकते है।[१४]

विगत पृष्ठो मे हमने कला के द्वन्द्ववादी सिद्धान्त का उल्लेख किया है और उस क्षण की दीप्ति की ओर ध्यान आकृष्ट किया है जो संश्लेषण के कारण अभिनव व्यंजना से सन्दर्भित हो उठती है। कला की इस व्याख्या से असहमति की संभावना

है। इस असहमति का कारण भी हो सकता है। इस तथ्य का संकेत किया जा चुका है कि कला सतत विकासशील विधा है। परिभाषा, विकास विरोधी होती है, क्योंकि इसमे किसी भी बात को निश्चित मान्यताओ से बाँधने का प्रयास किया जाता है। विकास मान्यताओ को स्वीकारता नही नकारता है। लेकिन विकास को समझने की अपेक्षा भी होती है। उसको न समझने मे व्यक्ति की स्थिति तेली के बैल जैसी हो जाती है। इसी समझने के प्रयास मे परिभाषाओं का उद्भव हुआ है। समझदारी एक रिश्ते या संबंध को सूचक होती है। एरिक न्यूटन ने इसी का संकेत करते हुए कहा है, 'यह कहना सत्य है कि कलाकृति ऐसा शिशु है जिसकी जननी कलाकार और पिता परिवेश है। इस अर्थ मे कला का उपयोग करने वाले या उससे आनन्दलाभ करने वाले हम लोग उसके चाचा-चाची है। हमने उसके सृजन में कोई सहयोग नही किया है, फिर भी वह हमारे परिवार की मान्य सदस्य है। हमारे पिता उसके बाबा-दादा है। जिस कलाकार ने उसकी रचना की है, वह भगिनी और भ्राता है।'[१५] स्पष्ट है कि हम सभी कला को अपना समझते है, अपने परिवार का सदस्य मानते है, अतएव उससे अपनत्व का अनुभव करते हैं। इस अपनत्व से एक ओर हमारे पर उत्तरदायित्व का बोझ पड़ता है, पर दूसरी ओर ममत्वातिरेक के कारण हम थोड़ा पक्षपात मे भी ग्रस्त हो जाते है। कला के प्रति यह दृष्टिकोण उसकी लोकप्रियता का परिचायक है। इससे ईर्ष्यालु होने की जरूरत नही। लेकिन इससे कुछ समस्यायें भी उत्पन्न हुई है। उनमे सबसे जटिल समस्या है कला की परिभाषा की विविधता और जटिलता। हमे अपने प्रतिपाद्य को और स्पष्ट करने के पूर्व उनपर विहंगम दृष्टि डाल लेना आवश्यक हे। कला की प्रायः सभी महत्वपूर्ण परिभाषाओं को हम वर्गीकृत करके अधोलिखित रूप मे प्रस्तुत कर सकते हैं—

(१) कला की सादृश्यमूलक व्याख्या (**Art as semblance**)
(२) कला की सौन्दर्यमूलक व्याख्या (**Art as beauty**)
(३) भाव-संवेग मूलक व्याख्या (**Art as emotional expression**)
(४) स्वयंप्रकाश मूलक व्याख्या (**Art as intuition**)
(५) इच्छापूर्ति के रूप मे कला (**Art as wish fulfillment**)
(६) कला और अन्य विविध अनुभव (**Art as vivid experience**)

कला को सादृश्यमूलक मानकर उसकी व्याख्या करने वाले समीक्षकों और रचनाकारों की दृष्टि प्रमुखतः कला और प्रकृति के अन्तः सम्बन्ध पर केन्द्रित रहती हे। जैकब ब्रनाव्स्की के शब्दों में, 'जब वैज्ञानिक या कलाकार प्रकृति की विविधता में एकता की खोज करता है तो वह सृजनशील माना जाता है। सृजन के समय वह उन वस्तुओ में एकता की खोज करता है जो पहले भिन्न समझी जाती थी। वह अपनी सादृश्य की भावना से वैभवपूर्ण समझदारी प्राप्त करता है।'[१६] 'यथार्थ मे कला और प्रकृति के अन्तःसम्बन्ध से लोग बहुत समय से परिचित हैं और इसे कलात्मक ढंग मे

समझने के लिए सिद्धान्तों का अवतरण भी हुआ है। इन्हें हम दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं, (१) अनुकरणसिद्धान्त और (२) कल्पनासिद्धान्त।[१७] अनुकरणवादियों ने बोध को उल्लेख्य माना हैं और कल्पनावादियों ने इस तथ्य पर गंभीरता से विचार किया है कि कल्पना इन बोध-प्रदत्त आंकड़ों से कला की रचना मे कैसे सहायक होती है। यही सिद्धान्त आगे चलकर कला और क्रीड़ा के सिद्धान्त का जनक बना है। कोनार्डलैंज ने कला की व्याख्या करते हुए कहा है कि कला क्रीड़ा-प्रधान-बिंबवादी क्रिया पर अभिरुचि के द्वारा रूप के आरोप का प्रतिफलन है।[१८] उन्होने क्रीड़ा को बचपन की कला और कला को परिपक्व क्रीड़ा की संज्ञा दी है। उनकी दृष्टि में दोनों क्रियायें हमारी अतिरिक्त मानसिक शक्ति से उद्भूत होती है। अनुकरणवादियों के दो वर्ग हैं। एक वर्ग की दृष्टि में कला जीवन का अनुकरण है, पर दूसरे वर्ग की दृष्टि में कला कल्पना द्वारा उरेहा रूप है जो प्रकृति से उच्चकोटि का होता है। उन्होंने इस उत्कृष्टता के कारण पर भी प्रकाश डाला है। उनके अनुसार कला मे क्रियाशील क्रिया द्विपक्षीय होती है। इनके एक पक्ष का सम्बन्ध प्रकृति की गवेषणा से होता है और दूसरे पक्ष का सम्बन्ध आत्म-गवेषणा से। इस अर्थ मे यह आत्म-साक्षात्कार की ऐसी क्रिया की परिचायक बन जाती है जो संसृति को और यथार्थ बनाती है। कलाकृति के माध्यम से कलाकार का अनुभव संवर्द्धित और परिवर्द्धित रूप मे प्रस्तुत किया जाता है। यह उसके अनुभव को मूर्त रूप मे प्रस्तुत करने का प्रमुख साधन होती है। फिर भी इस अनुभव मे उसकी नैसर्गिक विशेषतायें बनी रहती है।[१९] इसी को ध्यान मे रखकर डॉ० जॉन्सन ने कहा था कि कला किसी कार्य को करने की ऐसी पद्धति का संकेत करती है जिसे प्रकृति या सहज वृति के द्वारा नही सीखा जा सकता।[२०]

अंग्रेजी का 'आर्ट' शब्द लैटिन भाषा के आर्स' (ars) और जर्मन भाषा के 'कुन्स्ट' (kunst) के अर्थ-संदर्भ में ग्रहण किया गया है। इसका अर्थ कौशल होता है। संस्कृत के कला शब्द की सिद्धि कल धातु से हुई है जिसका अर्थ संस्थान है। संस्थान शब्द की सिद्धि उस 'स्था' धातु से नही हुई है जिसका अर्थ कहना या घोषणा करना है, अपितु उस 'स्था' धातु से हुई है जिसका चाक्षिङ् व्यक्तायाम वाचि से स्पष्ट वाणी मे प्रकट करना अर्थ होता है। चाक्षिङ् के स्थान पर 'स्था' आदेश हो जाता है। इसका अर्थ प्रवधानपूर्वक देखना भी है। सम् उपसर्गपूर्वक इस धातु का अर्थ गिनना, गणना करना अथवा संकलन करना होता है। इस आधार पर 'संस्थान' शब्द का अर्थ गमन, चिन्तन और ध्यान भी होता है। इस प्रकार कला शब्द का अर्थ वह मानवीय क्रिया है जिसका विशेष लक्षण ध्यानपूर्वक देखना, गणना अथवा संकलन करना, मनन और चिन्तन करना और स्पष्ट रूप मे प्रकट करना है।[२२] कुछ प्रसंगों मे कला का अर्थ कलाकृति भी होता है। इस अर्थ मे इसकी सिद्धि कल धातु से भाव-प्रक्रिया के अनुसार (कल्यते अस्यम्) होती है। तदनुसार कला शब्द का अर्थ ऐसी कृति है जो मानव-क्रिया से उत्पन्न होती है।[२३] कला शब्द की सिद्धि 'ला' धातु से भी होती है

जिसका सामान्य अर्थ प्राप्त करना होता है। परन्तु व्याकरण के प्रसिद्ध आचार्य चन्द्र के मतानुसार इस धातु का अर्थ दान करना भी होता है। इस प्रकार कलाकृति के अर्थ मे 'कलाति' व्युत्पति के अनुसार, इस का अर्थ आनन्ददायक या आनन्द देने वाला भी होता है।[२४] सस्कृत के कला शब्द मे इस तरह अंग्रेजी, लैटिन और जर्मन शब्द के अर्थसन्दर्भ के साथ ही अन्यान्य व्यंजनायें निहित है। यहाँ कला का अर्थ होता 'स्व' को कालत करना या आभव्यंजत करना। क्षेमराज ने 'शिव स्वरूप विमर्शिनी' मे कला की पारभाषा देते हुए कहा है, 'नव-नव-स्वरूप वस्तुओ मे, या प्रमाता मे जा 'स्व' को या आत्मा को परिमत करती है उस कला कहते है।[२५] इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राय: सभी देशो म कला को शिल्प प्रधान और सादृश्य प्रधान कहा गया ह। भारतीय साहित्यशास्त्र मे बहुत समय तक कलाकार को शिल्पी और कला को शिल्प की संज्ञा से आभहित किया गया ह।

लालित्यबोध के अधिकाश विचारको की दृष्टि कला और सौन्दर्य के अन्त: सम्बन्ध की ओर गई है और इसकी सागोपाग व्याख्या भी की गई हे। इसका विवेचन यहाँ अपेक्षित नही है।[२६] यहाँ तो हम केवल इस बात पर प्रकाश डालना चाहेगे कि इस निकाय के लोगो न कला की परिभाषा मे किन बातो को विशेष महत्व दिया ह? सौन्दर्य चेतना और उसके विश्व-व्यापक और विश्व-मोहक रूप से सभी देश के लोग प्रभावित हुए है। इस वर्ग के विचारक सौन्दर्य को कला का परम मूल्य मानते हैं। भारतीय विचारको ने सौन्दर्य को रमणीय शब्द के द्वारा परिभाषित किया है और इसकी विशेषता के रूप मे उन्होने 'लोकोत्तर आह्लादजनक-ज्ञान-गोचरता' को उल्लेख्य माना ह। पंडितराज जगन्नाथ के अनुसार चित्त मे स्थित वासनाजन्य संस्कार ही रमणीयता के उपजीव्य होते है।[२७] लोकोत्तर शब्द क माध्यम से जागतिक अनुभव से विशिष्ट अनुभव की ओर संकेत किया गया हे। पश्चिमी विचारक क्लाइव बेल ने रमणीय और चमत्कार को स्वीकार किया है। इसी आधार पर कला की व्याख्या करते हुए उन्होने लिखा है कि सौन्दर्यशास्त्र का प्रस्थानबिन्दु विलक्षण संवेग या अनुभव हाता है। इस संवेग को उद्दीप्त करने वाली रचना को कला कहा जाता है। कला को सौन्दर्य-प्राण मानन वाले विचारको ने इस बात को विशेष रूप से प्रतिपादित किया है कि कला केवल अनुभव के सप्रेषण का माध्यम नही हे। वह तो अभिनव रचना है जो हमारी चर्वणा का विषय बनती है। कला जीवन की अभिव्यक्ति नही, बल्कि जीवन और जीवन के वैभव को अनुपूरक है।[२८] इस सिद्धान्त का मूल स्वर आत्माभिव्यंजना विरोधी ह। वे तो स्पष्ट रूप से यह स्वीकार करते हैं कि कला व्यक्तित्व के अभिव्यक्तीकरण के कारण महत्वपूर्ण है। इस निकाय के विचारक कला में रूप, सावयव एकता, सन्तुलन, सामंजस्य और समानुपात को देखना चाहते है। वे कला को उदात्त और आनंदप्रद मानते है।

कला को भाव-संवेग की अभिव्यक्ति का माध्यम कहा गया है। भारतीय

विचारधारा में रस के सन्दर्भ में भाव की व्याख्या की गई है। भाव की प्रमुख विशेषता यह है कि हम इसका भावन कर सकते है। कुछ भाव समान या असमान भावों द्वारा दमित नही होते, अपितु उन्हें अपने अनुकूल बदल कर अपने में मिला लेते हैं। ऐसी स्थिति के भावों को स्थायी भाव कहा जाता है। भारतीय साहित्य मे इन भावों की संख्या भी निर्धारित है और भावों के आधार पर रसों की परिकल्पना की गई है। भाव सदैव कला के मूल मे विद्यमान रहते है। पश्चिमी विचारकों ने इस मत को विशेष महत्वपूर्ण माना है। यूजीन वेरान के शब्दों मे 'कलाकृति की प्रमुख विशेषता भाव संवेग को व्याख्यायित करने या प्रकट करने की शक्ति में निहित होती है[१०]। तोलस्तोय ने पहले कलाकार के कार्य का उल्लेख किया है। उनकी दृष्टि में कलाकार सर्वप्रथम अपने मे उस भाव को जागृत करता है जिसका उसने अनुभव किया है। फिर वह गति, रेखा, रग ध्वनि या शब्द के माध्यम से उसे मूर्त बनाकर दूसरे तक पहुँचाता है जिससे वे उसका उसी रूप मे अनुभव करें[११]। इसी सन्दर्भ में वे कला की परिभाषा देते हुए कहते है कि कला ऐसी मानव-प्रक्रिया है जिसमे कलाकार अपने द्वारा अनुभूत भाव को सचेतन रूप मे कुछ बाह्य-चिह्नो के द्वारा दूसरे तक इस रूप मे प्रेषित करता है कि वे उससे सक्रमित होकर उस का अनुभव कर सकें[१२]। सुसन के० लैजर ने इसी तथ्य को थोड़ा और अनुशासित ढंग से व्यक्त किया है। उनका कहना है कि कला ऐसे रूप का सृजन है जो भाव का प्रतीक होता है। लैजर की दृष्टि में कला मानव-विकास का मेरुदण्ड है। वे स्वीकार करती हैं कि कला बौद्धिक अभिनिवेश नही है, फिर भी यह बौद्धिक जीवन के लिए आवश्यक है। यह धर्म नही है, पर धर्म के साथ विकसित होती है, उसका पोषण करती है और अन्ततोगत्वा उसकी निर्णायक बनती है।[१४] इन्होंने कला को विशिष्ट तरह के शिल्प की संज्ञा दी है जो व्यंजक रूपो के सृजन के माध्यम से मानव-संवेदना को प्रकट करता है[१५]। यीर्योहिर्न ने इस निकाय की कतिपय दुर्बलताओ से हमें परिचित कराया है। उनका कहना है कि संवेदना को स्थायित्व प्रदान करने और उसे प्रेष्य बनाने मे अभिव्यजक क्रिया क्रमशः अपने सहज वृत्यात्मक स्वरूप को खो देती है। असामान्य न्यायनिक दबाव को व्यक्त करने के लिए प्रत्यवर्तित अनुरूप स्वरूप ग्रहण करने के स्थान पर वह स्वयं प्रेरित कलात्मक निर्माण का रूप लेती है और वह उद्देश्य और उद्देश्य की प्राप्ति के लिए अधिक सचेतन बन जाती है। कला को सहृदय से अपने भाव को समझने की अपेक्षा होती है। लेकिन यह अपेक्षा बडी जटिल है। बौद्धिक और प्राकृतिक क्रिया के प्रभावी सहयोग के बिना यह संभव नही हो पाती है[१६]। हिर्न ने भी भाव-सवेग को कला का प्रमुख उपजीव्य कहा है, पर वे अरस्तू की तरह इसे विरेचक प्रभाव से उलझ गयी है। यह निर्विवाद सत्य है कि इस तरह की कला से उच्चकोटि की रचनायें मिली है, पर भावानुभूति और भावाभिव्यक्ति के अन्तराल से कम लोग परिचित हो सके है। इन तथ्यों पर गभीरता

से विचार नहीं हो सका है कि रचना की स्थिति में कलाकार किस तरह स्वकीय स्थिति से व्यतिक्रमित होता है और किस तरह भावसंवेग और उनके अभिव्यक्त स्वरूप में सामान्य भेद हो जाता है।

कला को स्वयं-प्रकाश के रूप में विवेचित करने का प्रयत्न किया गया है। स्वयं-प्रकाश पारिभाषिक शब्द है और इसको लेकर बड़ा विवाद भी हुआ है। इसकी व्याख्या इसी शोध-प्रबन्ध में अन्यत्र की गई है।[१७] भारतीय विचारकों ने इसका विवेचन प्रतिभा के सन्दर्भ में किया है। योग के ग्रन्थों में भी इसका उल्लेख मिलता है। ऐसा स्वीकार किया जाता है कि विज्ञानमय कोष में, ब्रह्माण्डो बुद्धि में, समत्व के अभ्युदय के साथ इसका आविर्भाव होता है। शैव प्रत्यभिज्ञा दर्शन और वेदान्त में भी इस पर विचार किया गया है। इसके आधार पर हम जटिल कार्य-व्यापारों में उचित प्रत्यक्ष अन्तर्दृष्टि (डाइरेक्ट विजन) प्राप्त करते हैं। क्रोचे ने इसी आधार पर एक सूत्र दिया है कि कला सहजानुभूति है और सहजानुभूति अभिव्यंजना। कलाकार छाया या बिम्ब प्रदान करता है। सहृदय कला का आस्वादन करते समय कलाकार की सर्जनात्मक मानसिकता से तादात्म्य स्थापित करता है, वह उस रंध्र के भीतर से झाँकता है जिसका कलाकार ने निर्माण किया है और उसो बिम्ब को अपने अन्दर पुनः पैदा करता है।[१८] कला सहजानुभूति है। कलाकार कुछ निषेधों के द्वारा इस स्वरूप को सार्थक बनाता है। क्रोचे कला को मौलिक तथ्य नहीं मानता, अतएव उसके उपयोगी या अनुपयोगी होने का प्रश्न नहीं उठता। सहज ज्ञान व्यावहारिक ज्ञान से सर्वथा मुक्त होता है। अतएव कला को नैतिक-अनैतिक, श्लील-अश्लील मानना बहुत उचित नहीं है। सहज ज्ञान प्रत्ययीज्ञान से भी मुक्त होता है। इसीलिए कल्पनाशक्ति (आइडीएलिटी) कला का प्राण होती है। स्वयं प्रकाश के मूल मे भाव–संवेग क्रियाशील होता है। उसी के माध्यम से उसे एकता और सामंजस्य प्राप्त होता है। कलात्मक स्वयंप्रकाश 'लिरिकल' होता है। इस दृष्टि से क्रोचे और बर्गसां की मान्यताओं में बहुत साम्य है। बर्गसा के शब्दों में 'कला यथार्थ की सर्वाधिक स्पष्ट मनोसृष्टि है। बोध को शुद्ध बनाए रखने के लिए कलाकार उपयोगितावादी दृष्टि से भिन्न दृष्टि को अपनाकर कार्य करता है। वह भौतिकवादी दृष्टिकोण के स्थान पर कल्पनाप्रधान दृष्टिकोण को प्रश्रय देता है। यथार्थ का सम्बन्ध कलाकृति से होता है, पर आदर्श का आत्मा से कल्पनाप्रधान आदर्श को अपनाकर हम कला के यथार्थ तक पहुँच सकते हैं।[१९] ज्वायसकरी ने प्रायः क्रोचे की सभी मान्यताओं को स्वीकार किया है। वे केवल एक दृष्टि से उनसे असहमत है। उनकी दृष्टि मे स्वयं-प्रकाश और अभिव्यंजना दोनो समान नही हो सकते। इसीलिए मौलिक स्वयं-प्रकाश को अभिव्यंजना मे परिणत करने के लिए श्रम की अपेक्षा होती है। ज्याक मारितें ने कला (कविता) के सन्दर्भ में सृजनात्मक स्वयं प्रकाश का उल्लेख किया है। इसकी परिभाषा देते हुए उन्होंने कहा है, सृजनात्मक स्वयं-प्रकाश को आत्मज्ञान या वस्तु ज्ञान का प्रच्छन्न परिग्रहण माना जा सकता है, यह

परिग्रहण उस संयोग या समप्रकृतित्व से प्राप्त होता है जो आध्यात्मिक अचेतन में स्थान ग्रहण करता है और केवल कला में पुष्पित और फलित होता है।[४०] कलात्मक स्वयं-प्रकाश संज्ञान या अनुबोध (काग्नीशन) परक होता है। इसलिए वह क्रियाशील होकर सृजन के रूप में बदल जाता है। हिन्दू और बौद्ध ग्रन्थों में भी मानसिक चित्र को यथार्थ कलाकृति की संज्ञा दी गई है। मानसिक चित्र समाधि की दशा में ही कला में व्यक्त किया जा सकता है। समाधि-सापेक्ष उस मानस-बिम्ब को कला की भाषा में व्यक्त करने के लिए यह आवश्यक है कि कलाकार का मानस व्यवस्थित हो और उसमें कला की भाषा की विशेषताएँ विद्यमान हों।[४१] कालिदास ने 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में शकुन्तला के अप्रतिम रूप सौन्दर्य का वर्णन किया है। उनके अनुसार ऐसा सौन्दर्य तभी उत्पन्न हो सकता है जब उसका स्रष्टा अपने मानसी बिम्ब को सत्वस्थ चित्त द्वारा व्यक्त करे।[४२]

विज्ञान के युग में कुछ समय तक मनोवैज्ञानिकों के कला-विवेचन को बड़ा महत्व दिया गया था। मनोविश्लेषकों ने कला को इच्छापूर्ति का प्रमुख साधन माना था। डेनियल ई० श्नीदर के शब्दों में कला मूल परिवर्तन और व्याख्या की शक्ति की अभिव्यक्ति और उसके लिए चुनौती है।[४३] वे पुनः कहते हैं कि मनोविश्लेषण केवल व्याख्या नहीं है, वह मूल परिवर्तन का कार्य है। कला भी केवल आनन्द नहीं है, वह यथार्थ में हमारे जीवन के भाव-संवेगों और आत्म-प्रत्ययों का सहज विश्लेषण और उपलक्षित व्याख्या है।[४४] कलाकार के सहज विश्लेषण का सम्बन्ध उसकी सचेतन-अचेतन इच्छाओं अथवा उसके जीवन के सुखद-दुखद स्वरूपों से होता है। उसकी तकनीक भी स्वप्न-निर्माण की स्थिति में अचेतन में निहित शक्तियों की सचेतन व्यवस्था का प्रतिफलन होती है।[४५] इससे स्पष्ट हो जाता है कि कला की तकनीक का आविर्भाव अचेतन की स्वप्ननिर्माण क्षमता की सचेतन व्यवस्था से होता है। इसका तात्पर्य यह है कि स्वप्न-निर्माण की क्रिया और कला में साम्य होता है। श्नीदर महोदय ने कला के इस पक्ष को उद्घाटित किया है। उनके अनुसार स्वप्न और कला निषिद्ध प्रवृत्ति को व्यक्त करते हैं। दोनो मानसिक तनावों से मुक्त करते हैं और उस निर्णायक क्रिया के परिचायक होते हैं जो सशक्त प्रतीक के द्वारा वस्तुओं को संक्षिप्त रूप मे प्रस्तुत करती हैं।[४६] युंग ने आरम्भ मे फ्रायड के साथ काम किया था और उनकी मान्यताओं से सहमत भी था, पर बाद मे उसने अपना अलग मत प्रवर्तित किया। उसने मूलादर्श और सामूहिक अचेतन के सन्दर्भ मे कला की व्याख्या की। उसकी दृष्टि में कला का सारतत्व व्यक्तिगत विचित्रताओ का मुखापेक्षी नहीं होता। इसका कारण यह है कि कला व्यक्तिगत सीमा का अतिक्रमण करती है। वह बुद्धि और हृदय से निःसृत होकर सम्पूर्ण मानवता के बुद्धि और हृदय को संदेश देती है।[४७] मनोविश्लेषणवाद के बाद कला के अन्य निकायो का आविर्भाव हुआ। इनमें व्यवहारवाद, गेस्टाल्ट मनोविज्ञान और प्रत्यक्ष ज्ञान प्रधान मनोविज्ञान प्रमुख थे। इनकी

वैज्ञानिक मान्यताओं से कला उपकृत भी हुई। फ्रायड ने कला को दमित वासनाओं की अभिव्यक्ति कहा था तो युंग ने सामूहिक अवचेतन की। व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिकों ने वातावरणजनित प्रभाव को महत्व ही नहीं दिया अपितु उन्हें कला को समझने का प्रमुख सूत्र व्यवहार मे मिला।[४७] इन मनोवैज्ञानिकों ने नियंत्रित प्रत्यावर्तन (कन्डीशन्ड रिफ्लेक्स), स्वतंत्र प्रत्यावर्तन (अनकन्डीशन्ड रिफ्लेक्स) और उद्दीपकों (स्टीमुलीज) के आधार पर इसकी व्याख्या की। इससे उनकी कला विषयक मान्यता भी प्रभावित हुई। 'पावलव' की मान्यता है कि जन्म से ही व्यक्ति में आंशिक रूप से स्वाभाविक क्रिया की सामर्थ्य उपस्थित रहती है। परिस्थितियों के आवर्त से कुछ नई प्रतिक्रियायें पैदा होती हैं। इनका सामना करने के लिए उसे अपनी स्वाभाविक क्रियाओं को कहीं दबाना और कहीं उन्हें मुक्त रूप से क्रियाशील बनाना पड़ता है। इससे एक ऐसी स्थिति आती है जिनमें जीवन में उद्देश्य के अनुसार मांग नियंत्रित हो जाती है।[४८] यह क्रिया मानव-चेतना से मुक्त होकर स्वतंत्र रूप में यंत्रवत् चलती रहती हैं। इसकी मान्यतायें प्रगतिवादी सौन्दर्य बोध के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध हुई।

'गेस्टाल्ट' का अर्थ होता है रूप या समग्रता। गेस्टाल्ट मनोवैज्ञानिकों की दृष्टि मे समग्रता विशिष्ट गुण है। इसे अनुभव और सन्तुलन को ध्यान में रखकर विभिन्न अवयवों के एकत्रीकरण के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। इस निकाय के प्रमुख विचारक कोहलर ने अन्तर्दृष्टि सम्बन्धी विचार और कुर्टलेवीन ने क्षेत्रसिद्धान्त की मान्यता से साहित्य और कला को विशेष रूप से प्रभावित किया था। अन्तर्दृष्टि को ऐसी मानसिक क्षमता का पर्याय माना गया था जो व्यक्ति को विभिन्न वस्तुओं के अन्तःसम्बन्ध से परिचित कराती है। क्षेत्र का तात्पर्य था व्यक्ति और उसका वातावरण। वैज्ञानिक अध्ययन के लिए इनका ज्ञान अपेक्षित होता है। व्यक्ति के जीवन में दो तरह की शक्तियाँ क्रियाशील पायी जाती हैं, १) सकारात्मक और (२) नकारात्मक। सकारात्मक इच्छापूर्ति में सहायक और नकारात्मक उसमें बाधक होती है। प्रत्यक्ष ज्ञान प्रधान मनोविज्ञान की परिभाषा का प्रश्न कुछ जटिल है। माइकेल डफेन[४९] के शब्दों मे (सार्त्र और मेर्लीपौन्टी की दृष्टि से) प्रत्यक्ष ज्ञान-प्रधान मनोविज्ञान सारतत्व का वर्णन है। इसकी परिभाषा किसी गोचर विषय में अन्तर्निहित अभिप्राय के रूप में की गयी है। सारतत्व की गवेषणा ज्ञात से अज्ञात की ओर अग्रसर होने से नही अपितु सत्य को अनावृत करने से सम्भव होती है। मानव आत्मचेतन प्राणी है, अतएव वह अपने कार्य-व्यापार के उद्घाटन मे सक्षम होता है। यही उसके अस्तित्व की चरितार्थता का मूल मंत्र भी है। इससे जगत् का दृश्य स्वरूप अपने यथार्थ रूप में अर्थ की चेतनता के समक्ष उपस्थित होता है। इस बात को दुहराने की आवश्यकता नही कि इस निकाय का दृष्टिकोण वैज्ञानिक है, मनोविश्लेषकों की तरह भाववादी नही। इसे हम प्रतिबोध के वैज्ञानिक और प्रायोगिक अन्वेषण द्वारा उपलब्ध

ज्ञान की संज्ञा दे सकते है। कला-सृजन और समीक्षा इससे प्रभावित हुई है। प्रमुख अस्तित्ववादी विचारकों (सार्त्र, पौण्टी और हाइडेगर) की निष्पत्तियां इन्हीं मान्यताओं पर आधारित हैं। समूचा अस्तित्ववादी सौन्दर्य-बोध इसी मान्यता का ऋणी है। मनोवैज्ञानिक निकाय की मान्यताओं से कला की अनेक परिभाषायें प्राप्त हुई हैं। एक समय कला क्षेत्र मे मनोविश्लेषणवाद का आधिपत्य था। उससे इच्छापूर्ति, कला और क्रीड़ा, उदात्तीकरण, समानुभूति और मानसिक दूरी के कई सिद्धान्त भी मिले हैं। उसकी मान्यताओ पर आक्षेप भी किया गया है। एडमण्ड बर्गलर ने कहा है कि मनोविश्लेषणवादी सिद्धान्तो के माध्यम से मनोविश्लेषक अपने को बचाने का रास्ता खोजते हैं। सी० ई० एम० जोड का विचार है कि इस निकाय के लोगों ने प्रतिज्ञा तो स्वर्ग को देने की थी, पर दिया नरक। व्यवहारवादी सिद्धान्त मार्क्सवादी सौन्दर्य-बोध के लिए अधिक उपयुक्त है और प्रत्यक्ष ज्ञानप्रधान मनोविज्ञान अस्तित्ववाद के लिए। कोई भी मान्यता समग्र कलाबोध मे पूरी तरह सहायक नही होती।

कला के समीक्षकों के एक वर्ग ने कला को परिभाषित करते समय अनुभूति-वैविध्य को विशेष महत्व दिया है। ये विचारक कला और व्यावहारिक ज्ञान, कला और प्रकृति तथा कला और यथार्थ अनुभव को भिन्न नही मानते। उनके अनुसार कलाकार जीवन का चितेरा होता है। वह जीवन के मधु-गरल से निरन्तर घिरा रहता है। वह संघर्ष करता है और उस संघर्ष की क्रियाओं और परिणामों से हमें परिचित कराता है। इस तरह मूर्त रूप मे कला कलाकार की अनुभूति का निरूपण होती है। इस निरूपण मे जीवन के अनुभव के अनेक स्वर विद्यमान होते है। कला की सफलता अनभूति को सच्चाई से व्यक्त करने मे निहित होती है। इसलिए हर कलारूप की सार्थकता जीवन प्रवाह मे संभव होती है [५०]। जिस का जीवन से कोई लगाव नही होता, वह निरर्थक होती है। इसीलिए यथार्थ कला को मानव-जीवन मे मनुष्य के स्थायी और सार्थक प्रयत्न का कीर्तिमान माना जाता है। उसमे राष्ट्र का लोकजीवन, इतिहास और संस्कृति सुरक्षित रहती है। इतिहास मे वस्तुगत घटनाओं का चित्रण होता है। अतः हमे वह राष्ट्र की सास्कृतिक वसीयत से उस रूप में नही जोड़ पाता है जिस रूप मे कला जोड़ती है। कला संप्रेषण प्रधान होती है। उसका संप्रेष्य होना ही उसके सामाजिक उत्तरदायित्व का परिचायक है। इसके साथ ही कलाकार जीवन का द्रष्टा, भोक्ता और रचयिता होता है। वह जिस समाज में रहता है उसके घात-प्रतिघात से प्रभावित होता रहता है। वह प्रेरणा के वशीभूत होकर अपनी मानसिक प्रतिक्रिया को सचेतन रूप मे व्यक्त करता रहता है। वह जीवन को समर्पित कर देता है। इस तरह कला जीवन के अनुभूति वैविध्य के कलात्मक निरूपण का प्रमुख साधन बन जाती है। समाज के विकासक्रम, मानसिक रुझान के उतार-चढ़ाव और चिन्तन के गतिशील स्वरूप के सन्दर्भ में कला को मूल्याकित करने से उसकी उपर्युक्त विशेषता स्वतः स्पष्ट हो जाती है। जिस प्रकार माँ की गोद मे पलने वाले अबोध शिशु

को वंशपरम्परा से मिली वसीयत वातावरण द्वारा परिवर्द्धित और संशोधित होकर उसके वयस्क होने पर नए रूप में हमारे समक्ष उपस्थित होती है, उसी प्रकार आदिम समाज की क्रोड़ में पलने वाली कला भी विकासोन्मुख समाज के पर्यावरण और प्रभाव-वैविध्य से परिवर्तित और विकसित होकर अपने अभिनव स्वरूप से हमें प्रभावित करती रहती है। इस तरह कला का इतिहास उसके विकास क्रम, सामाजिक चेतना और उसके प्रभाव से निर्मित अनुभूति वैविध्य के रचनात्मक निरूपण का इतिहास है। इसमें सामाजिक उत्थान-पतन, उपलब्धि और सीमा तथा चेतना के आरोह-अवरोह के विविध स्वरूप स्वयमेव रूपायित होते रहते है। इस तरह की कला जीवन का प्रमुख उपजीव्य है। लेकिन प्रायः कला और जीवन के अन्तः-सम्बन्ध को उसके सहज विकास के क्रम में नहीं अपितु अपने दृष्टिकोण के क्रम में देखने का प्रयत्न किया गया है। कला लोकप्रिय है और वह हर व्यक्ति के जीवन के साथ सम्बद्ध है। अतएव हर व्यक्ति अपनी मान्यता को उस पर फिट करने का जैसे अधिकारी है। इससे कला-सर्जन की मूलभूत चेतना दब गई और समीक्षक के अभीप्सित स्वरूप विशेष रूप से महत्वपूर्ण बन गए हैं। हमें यह भूलने की आवश्यकता नही है कि सर्जक अनुभूति प्रधान व्यक्ति होता है। वह वस्तुओ को देखता, परखता और समझता है। इस क्रिया से उसकी अनुभूति का निर्माण होता है। अनुभूति के निर्माण मे ही नही अपितु उसकी अभिव्यक्ति मे भी अदृश्य रूप से कलाकार के मन में कुछ नियम क्रियाशील होते है। कला और जीवन के अन्त सम्बन्ध को इन्हीं नियमो के आधार पर समझा जा सकता है। पर इन नियमो की उचित जानकारी का प्रश्न कम जटिल नही है। उन्हे तो कला-सृजन-प्रक्रिया के उचित ज्ञान से ही जाना जा सकता है।

कला को सादृश्य के सन्दर्भ मे विवेचित करने वाले समीक्षको की दृष्टि कला और प्रकृति तथा कला और जीवन के अन्तः सम्बन्ध के विश्लेपण की ओर रही है, पर सौन्दर्यवादियो का विवेचन बहुत स्पष्ट नही है। सौन्दर्य की परख तो सभी व्यक्ति कर सकते है, पर यह आवश्यक नहीं है कि उनका दृष्टिकोण समान हो। सौन्दर्य की सबसे बड़ी विशेषता उसकी आनन्दप्रदाता क्षमता है, पर यह भी रुचि भिन्नता के कारण गुण और परिमाण मे भिन्न निष्कर्षो की जनक सिद्ध होती है। इससे उनकी परिभाषायें कुछ कलेतर अनुशासनो के दल-दल मे फँस गई है। भाव-संवेग व्यक्ति के मानसिक पक्ष का प्रमुख अंग है, लेकिन उसके प्रेरणा स्रोत वस्तुगत जगत मे उपस्थित रहते है। एरिक न्यूटन की इस मान्यता को अस्वीकार नही किया जा सकता कि व्यक्ति का आन्तरिक जीवन उसके बाह्य परिवेश और बाह्य जगत का 'बाइप्रोडक्ट' है।[५१] इस तरह भाव-संवेग को कला का उपजीव्य माना जा सकता है। स्वयं-प्रकाश का जीवन और कला दोनो मे महत्व होता है। भारतीय विचारक कला को 'द्विज' मानते हैं। इसका प्रमुख कारण है। एक तो यह कवि की मानसी-सृष्टि है और पुनः

उस सृष्टि की अभिव्यक्ति। पहली बात को लेकर पर्याप्त विवाद हुआ है। इसके पक्ष-विपक्ष मे यथास्थान विचार किया जायगा। यहाँ तो केवल इतना ही कह देना पर्याप्त है कि इस वर्ग के विचारकों ने कला के सृजन-पक्ष को ध्यान में रखकर कला की समीक्षा की है। कला की मनोवैज्ञानिक व्याख्या विकासक्रम के साथ बदलती रही है। प्राय सभी निकाय के समीक्षकों ने कला पर विचार किया है, पर उनके दृष्टि-कोण मे असमानता है। सो० इ० एम० जोड ने कहा था कि मनोविश्लेषकों ने प्रतिज्ञा तो स्वर्ग देने की की थी पर दिया नरक। औरों ने नरक तो नही दिया, पर उन्होने कला को वस्तुगत यथार्थ के दल-दल में फँसा दिया। कला और जीवन की असंगति का कुछ संकेत पूर्व पृष्ठो मे किया गया है। इस दृष्टिकोण की सबसे बड़ी त्रुटि उसका व्यक्तिवादी स्वर है। व्यक्तिवाद अतिरेक से ग्रस्त होने पर असामाजिक हो जाता है। वह अपने को छोडकर अन्य किसी बात को मान्यता नही देता है। कला मूलत: सामाजिक होती है। इस सामाजिक और व्यक्तिवादी दृष्टिकोण के भेद को समझने का प्रयत्न नही के बराबर हुआ है। इसीलिए कला की शल्य-चिकित्सा तो सामने आई है पर मूलभूत चेतना विलुप्त हो गई है। इससे कला की अपूरणीय क्षति हुई है। हम सभी जानते हैं कि कला मे अनुभूति के कई स्तर क्रियाशील पाए जाते है जो अपने समन्वित प्रभाव से समग्र कला-बोध के जनक बनते है। हम किसी एक स्तर को पकड़ कर बैठ जाते हैं। एरिक न्यूटन[५२] ने प्याज की पर्तों के उदाहरण से इसी तथ्य को समझाना चाहा है। प्याज के ऊपर लाल छिलका होता है और उस छिलके के नीचे और कई पर्तें होती हैं। उपभोग में आनेवाली वस्तु इन्ही पर्तों में छिपी रहती है। लाल छिलका प्याज का बाह्य आवेष्टन होता है। पहले वही हमारी आँखो मे दिखाई देता है। कला का बाहरी रूप ही पहले हमारे सामने आता है। इसे उसका दृश्य रूप कहा जा सकता है, अतएव उस धरातल पर कलाकार को द्रष्टा की संज्ञा दी गई है। प्याज की पहली पर्त पर वह भाष्यकार होता है, दूसरी पर्त पर व्याख्याकार। तीसरी पर्त पर वह स्वप्नद्रष्टा होता है और अन्तिम चौथी पर्त पर सर्जक। कभी-कभी बड़े प्याज से उगे हुए अंखुओं को भी देखकर हम यही व्यंजना पाते है। बीच से मूल अँखुआ निकला होता है। अगल-बगल की पर्तें उसके संरक्षण का कार्य करती है। कला की यही स्थिति होती है। उसका जन्म तो मूलभूत चेतना से—अनुभूति से होता है। इसके अनेक स्तर उसके आवरण मात्र होते है। न्यूटन ने इसी सन्दर्भ में कला की व्याख्या की है। उनका कहना है कि कलाकृति कलाकार की बुभुक्षा और भय की प्रतीक है—व्यक्ति के रूप मे अपने को अन्तिम रूप मे व्यक्त करने की अभिलाषा की परिचायक है।[५३] लेकिन प्राय: हम इस बात को समझ नहीं पाते। अपने को अन्तिम रूप से व्यक्त करने की यही अभिलाषा, द्विवेदी जी के शब्दों में 'दलित द्राक्षा की तरह निचोड़ कर नि:शेष भाव से समर्पित कर देने की अभिलाषा' ही तो कला की मूल प्रेरणा है। क्या हम उस स्वरूप तक पहुँच पाए है? क्या हम

व्याज रूपी कला की निचली पर्त पर जाकर उसके सारतत्व का साक्षात्कार कर सके हैं। हमने आरम्भ में ही इस परिभाषा के साथ अपनी सहमति व्यक्त की थी कि पूर्ण कला कृति प्रातिबोधिक यथार्थ के दीप्तिमय क्षण की कालातीत निरूपण है। इस क्षण को 'रचना की राह' पर चल कर पाया जाता है, सृजन-प्रक्रिया के रहस्य को समझकर हस्तामलकवत उपलब्ध किया जा सकता है। 'दीप्तिमय क्षण' का प्रयोग सर्जन के उसी पक्ष के उद्घाटन के लिए किया गया है। दीप्ति को क्रिया निश्चित प्रभामण्डल से मंडित रहती है। उसमें प्रकाश के पुंज, ज्ञान की अनन्त भाव-राशियाँ अपने अन्तहीन लीला-विलास में संलग्न होती हैं। वह स्थिति देशातीत और कालातीत होती है। उसमें अनन्त निराकारता क्षण की इकाई से बँधकर अपनी साकारता के लिए तड़पती रहती है। अमूर्त मूर्त होने के लिए ललकता रहता है। सिसृक्षा भाव से सब कुछ समन्वित होकर अभिनव स्वरूप में हमारे समक्ष उपस्थित हो जाता है। यही तो 'कला' है जो हमें 'कलित' करने में पूर्ण समर्थ सिद्ध होती है। कोलिंगवुड ने भी तो यही कहा है कि कलाकृति तो निश्चित उद्देश्य की सिद्धि का साधन है। उद्देश्य वह समग्र काल्पनिक अनुभूति है जिसको वह हमारे लिए आस्वाद्य बनाती है।[५४]

कला का वर्गीकरण

हमने अभी इस तथ्य को स्वीकार किया है कि पूर्ण कलाकृति प्रातिबोधिक यथार्थ के दीप्तिमय क्षण का कालातीत निरूपण है। इस परिभाषा से उसके निराकार से साकार बनने के प्रायः सभी स्वरूपों का उद्घाटन हो जाता है। कला न तो केवल मूर्त स्वरूप है जिसका द्रव्य के रूप में आस्वादन किया जाय, और न वह केवल रचना प्रक्रिया है जिसके रहस्यमय स्वरूपों से माया-पच्ची की जाय। कला तो रचना-प्रक्रिया से प्राप्त कलात्मक निरूपण है, मानवता की सृजनशील चेतना का गतिशील अभियान है,[५५] अथवा यों कहें कि समूची मानवता की महत्तम उपलब्धियों का कीर्तिमान है। जिस तरह व्यक्ति के मानस में पूर्व संवेदन, अनुभूति और प्राप्त ज्ञान निहित रहते है जो उसे नई अनुभूतियों को समझने में सहायक सिद्ध होते हैं, उसी तरह समूची जाति का भूत उसके साहित्य और कला में सुरक्षित रहता है, जो उसे प्रस्तुत परिस्थितियों को समझने में सहायक सिद्ध होता है[५६]। इसका प्रमुख कारण यह है कि कला में यथार्थ को उसके मानसिक स्वरूप में व्यक्त करने का प्रयत्न किया जाता है[५७]। इस अर्थ में कला ऐसी रचना-प्रक्रिया की परिचायक बन जाती है जिसमें कलाकार की सचेतन अभिव्यक्ति के प्रयास के साथ ही उसका आत्म-साक्षात्कार-जनित-आत्मसंघर्ष निहित होता है। आरम्भ मे ही एक समझदार व्यक्ति में इस जिज्ञासा का आविर्भाव होता है कि क्या ऐसी विशेषताओं से मंडित कला को वर्गीकृत किया जा सकता है? जब हम इसपर विचार करते हैं तो हमारे समक्ष दो तरह के मत आते हैं, (१) कला का वर्गीकरण नहीं हो सकता है (२) कला का वर्गीकरण हो सकता है। पहले तरह के विचार के प्रमुख प्रतिपादक क्रोचे महोदय हैं। उनकी

दृष्टि में किसी भी वर्गीकरण से कला की एकता को आघात पहुँचता है [४८]। उनके पहले और बाद में इसी से मिलती-जुलती मान्यता का प्रचलन था। लेकिन विरोध के बावजूद कला का वर्गीकरण मान्य हो चुका है। अतएव वर्गीकरण के औचित्य के पक्ष-विपक्ष में विचार करने से कोई लाभ नहीं। अब तो स्पष्ट प्रश्न हमारे सामने उपस्थित होता है कि क्या वर्गीकरण से हमें कला की समीक्षा में कोई सहायता मिलती है? थिओडोर मैयर ग्रीन ने इसका उत्तर देते हुए लिखा है कि कला ऐसे प्रत्यय की परिचायक है जो कला-विवेचन की अनिवार्य आवश्यकता है। इसी के माध्यम से कला की व्यवस्थित व्याख्या और उसका व्यवस्थित अन्वेषण संभव हो सकता है [४९]। जीवन की ही तरह कला मे भी अधिकांश तत्वों को अभिव्यक्ति-सौकर्य के लिए ग्रहण किया जाता है। नाम और रूप इसके आवश्यक अंग है। नाम लेते ही रूप अनायास सामने आ जाता है। वर्गीकरण से हमे कला को समझने का सूत्र मिलता है। वास्तुकला, चित्रकला और संगीत का नाम लेते ही हमारे मन मे उन कलाओ का रूप उमड़ने लगता है और उनकी विशेषतायें स्वयमेव स्पष्ट होने लगती हैं। हर कला का माध्यम होता है, वह किसी न किसी रूप मे हमारे समक्ष प्रस्तुत होती है। माध्यम को अभिव्यक्ति का प्रमुख साधन माना जा सकता है। इसके माध्यम से हम विषयवस्तु को व्यवस्थित और व्यंजित ढंग से प्रस्तुत करते हैं। जब विषयवस्तु व्यवस्थित ढंग से व्यक्त होकर कला में ढल जाती है तो उससे कला का रूप सामने आता है। कला की व्यवस्था से विषय-वस्तु भी मूल्याभिव्यंजक बन जाती है। कला के वर्गीकरण मे इन बातो का अपना महत्व होता है, ऐन्द्रिय आधार पर कला को दृश्य, श्रव्य और काल्पनिक, तीन रूपों मे विभक्त किया गया है। कल्पना का संबंध मन और स्वयं प्रकाश से माना जाता है। मन को भी इन्द्रिय की संज्ञा दी गई है। इन्द्रियों से सम्बद्ध करके कला को वर्गीकृत करने से उसके भौतिक आधार का संकेत मिलता है। ऐन्द्रिय सवेदन अपने उचित माध्यम से कलाकार को प्रभावित करता है और वह उस प्रभाव को सप्रेष्य बनाकर प्रस्तुत करता है। कला के कुछ समीक्षको ने इसे ललित कला और उपयोगी कला नामक दो वर्गो मे विभक्त किया है। इस वर्गीकरण के मूल मे व्यक्ति की सुन्दरता, रमणीयता, और उपयोगिता सबंधी दृष्टिकोण क्रियाशील है। ललित कला मे स्थापत्य, मूर्ति, चित्र, संगीत और काव्य को महत्व दिया गया है और उपयोगी कला मे बढ़ईगिरी, कुम्हारी, कढ़ाई, बुनाई, कताई आदि को। दोनो कलाओ का सम्बन्ध मानव-विकास के साथ है, भेद केवल इतना है कि ललित कला उसकी रमणीयपरि-कल्पनाओ के विकास का द्योतिमान है तो उपयोगी कला भौतिक जगत मे उसकी आवश्यकता पूर्ति का साधन। सौन्दर्य और रमणीयता के आधार पर ललित कला को भी दो वर्गो मे विभक्त किया गया है। सौन्दर्यमूलक कलाओ मे स्थापत्य, मूर्ति और चित्र को परिगणित किया गया है तो रमणीयता मूलक कला में संगीत और

काव्य को। हीगेल ने दार्शनिक दृष्टि से अपनी द्वन्द्ववादी पद्धति के आधार पर कलाओं को वर्गीकृत किया है। उनके अनुसार द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया में मूल प्रत्यय की अभिव्यक्ति तीन अवस्थाओं में होती है। इन्हें हम वाद, प्रतिवाद और संवाद कहते हैं। ये तीन अवस्थायें तीन दार्शनिक धरातलों पर व्यक्त होती है—इन्हें तर्क, प्रकृति और मन की संज्ञा दी गई है। मन के सम्पर्क में प्रत्यय अपने को आत्मगत, वस्तुगत और परम तीन कोटियों में व्यक्त करता है। इन्हीं के आधार पर कला के तीन रूपों का उद्भव होता है। इन्हे हम प्रतीकवादी, परम्परादर्शवादी और स्वच्छन्दतावादी कला की संज्ञा देते हैं। हीगेल ने स्थापत्य कला को प्रतीकवादी कला और मूर्तिकला को परम्परादर्शवादी कला माना है। वस्तुतः यह वर्गीकरण बहुत तर्क-संगत नही है। कलाओं का सम्बन्ध सामाजिक-चेतना और उसके दबाव से होता है। सामाजिक-चेतना परिवर्तनशील होती है। अतएव कोई कला न तो सदैव परम्परादर्शवादी होती है और न स्वच्छंदतावादी। आदिम कला अवश्य प्रतीकवादी थी, लेकिन हर प्रतीकवादी कला अपनी रूझान में स्वच्छन्दतावादी भी होती है। इस दृष्टि से कला कुछ अपवादो के साथ केवल परम्परादर्शवादी या स्वच्छन्दतावादी हो सकती है। इस तरह हीगेल के वर्गीकरण का सैद्धान्तिक आधार अवैज्ञानिक है। हाँ, एक बात अवश्य है कि उनके द्वारा निर्धारित कलाओं की संख्या को यथावत् ग्रहण कर लिया गया है।

हम सर्वप्रथम स्थापत्य कला पर विचार करते है। रस्किन ने इसकी लालित्य-बोधीय विशेषता को ध्यान मे रखकर उसको 'श्यान संगीत' कहा है।[६०] थिओडोर मेयर ग्रीन इसे श्यान नृत्य कहना अधिक उचित समझते है।[६१] इन परिभाषाओ मे निश्चित व्यंजना निहित है। संगीत मे लय, तान और अन्विति पाई जाती है। इससे वातावरण की लहरो पर नाद का प्रभाव छा जाता है। नृत्य मे अंग-संचालन, मुद्रा और गति का समावेश होता है। जब हम स्थापत्य को श्यान संगीत या श्यान नृत्य कहते हैं तो इन्ही उपर्युक्त विशेषताओ को गतिहीन रूप मे संकेतिक करना चाहते है।

स्थापत्य कला की तीन प्रमुख विशेषताये होती है। वह उपयोगी होती है, उसमे दृढ़ता पाई जाती है और उससे हमे आनन्द की प्राप्ति होती है। सबसे पहली बात है उपयोगिता। वही कला सामाजिक दृष्टि से उपयोगी हो सकती है जो किसी आवश्यकता की पूर्ति करती है। स्थापत्य का उपयोग निवास स्थान, स्मृतिभवन, देव-मन्दिर और सरकारी, अर्द्धसरकारी और व्यापारिक भवन के रूप मे किया जाता है। इन सबकी न तो निर्माण-पद्धति समान है और न उपयोग, फिर भी वे हमारी आवश्यकता की पूर्ति के प्रमुख साधन है। दूसरी विशेषता है दृढता। अगर दृढ़ता को हम स्थायित्व का पर्याय मानें तो इस उद्देश्य का सामाजिक स्वरूप स्वतः स्पष्ट हो जाता है। स्थापत्य मोम की गुड़िया नही होता जो सूर्य के ताप से पिघल जाय। वह तो ऐसा निर्माण है जो शताब्दियो के झंझावात, आतप और अन्य प्राकृतिक व्यवधानों को झेल-

कर अपने अस्तित्व को बनाए रखता है। स्थापत्य की आनंद प्रदाता क्षमता उसे कला की विशेषताओं से मंडित करती है। कला के रूप में इसके प्रमुख और गौण उपादान होते हैं। प्रमुख उपादान के रूप में, लोहा, लकड़ी, कंकड़, पत्थर, सीमेण्ट, ईंट और गारे का उपयोग किया जाता है। गौण उपादान के रूप में मानव की उस आवश्यकता का उल्लेख किया जा सकता है जिसके कारण निर्माण संभव होता है। इसके प्रमुख और गौण कलात्मक माध्यम भी होते है। उपादानों के कलात्मक प्रयोग से रूप का अवतरण होता है। उद्देश्य के अनुसार इस कला के कई रूप हमारे सामने आते हैं। इसके निर्माण में भौतिक आधार प्रमुख होता है, इसीलिए हीगेल ने कलाओं में इसे निम्न स्थान प्रदान किया था। स्थापत्य कला बाह्य यथार्थ को मानसिक रूप में प्रस्तुत करती है। इसमें कला के आवश्यक प्रत्ययों और तत्वों का उपयोग किया जाता हैं। एकात्मक और पुनरावृत्ति प्रधान विचारों के निरूपण के द्वारा सामंजस्य पर विशेष ध्यान दिया जाता है। इसकी संरचना मे कहीं-कहीं विशिष्ट निःसंग विचारों का समावेश भी मिलता है। हर कलाकृति में यथार्थ की व्याख्या की विशिष्ट पद्धति अपनाई जाती है, इससे वह व्यंजक माध्यम के रूप में हमारे समक्ष उपस्थित होती है। स्थापत्य कला उसका अपवाद नहीं है। कलाकार विषय को कलात्मक चिन्तन की स्थिति में व्याख्यायित करता है। इस क्रिया में उसके सक्रिय सहयोग, प्रतिबद्धता और निःसंग निर्वैयक्तिक परिपृच्छा का सहयोग होता है। इन विशेषताओं के समावेश से उसका रूप निखर जाता है।

मूर्तिकला का प्रचार सभी देशों में समान रूप मे रहा है। स्थापत्य कला स्वतः क्रियाशील नहीं होती, वह हमारी क्रियाशीलता का कारण होती है। आधुनिक स्थापत्य-कला विशेषज्ञ देश-काल और कृति के सम्बन्ध में नई लाक्षित्यबोधीय चेतना पैदा कर सके है। इससे उनकी कलात्मक सीमाओं में कुछ कमी हुई है। वे अपने को ऐतिहासिक सीमाओं के साथ जोड़ने के लिए प्रयत्नशील हैं और अपनी कला को 'आर्किटेक्चर ऑव डेमोक्रेसी' की संज्ञा देते है। उन्होंने अभिव्यक्ता (एक्सप्रेसिवो) को सानंद के रूप मे चित्रित किया है। प्रमुख अमेरिकी विशेषज्ञ राइट (wright) ने इसी का संकेत करते हुए लिखा है, 'परम्परादर्शवादी स्थापत्य बिलकुल स्थिर था ....अब हमें उसको इस रूप में चित्रित करना है कि उसकी दीवालें, तल और छतें एक दूसरी के संघटक रूप में हमारे सामने आयें। वे एक दूसरी में मिली दृष्टिगोचर हों।'[६१] मूर्ति कला को स्थापत्य की विशेषतायें तो सुलभ थी हीं उसकी अपनी कुछ अन्य विशेषतायें भी थी। फ्नानांगन ने एक बार लिखा था कि अवचेतन के उपकरण के समक्ष मूर्ति-कार के हाथ के सामने ही हर पत्थर में एक मूर्ति निहित होती है। कलाकार की आत्मबोधपरक-सृजन-प्रक्रिया केवल उसे मुक्त कर देती है।[६२] नगेल ने भी लिखा है कि मूर्तिकला अपनी उपस्थिति से देश-काल को दीप्तिमय बनाती रहती है। वह मानो इस बात की घोषणा करती है कि जिस सीमा तक मानव-क्षमता और वर्तमान

स्थितियों ने कलाकार को सुविधा दी है, उस सीमा तक उसने अकल्पनीय, सर्वव्यापक और अदृश्य पर अधिकार किया है।[६१] फ्लानांगन ने कला की मुक्ति की बात की है और नगेल ने शक्ति के अनुसार प्रकृति के तत्वों पर अधिकार की बात। इन दोनों बातों का कला और कलाकार के लिए महत्व होता है। कला की मुक्ति ही कलाकार की मुक्ति होती है और अगर वह सहृदय-संवेद्य हुई तो समाज की मुक्ति का साधन भी बनती है। कलाकार अपने सर्जनात्मक क्षण की दीप्तिमय कौंध को रूपायित करता है। उसकी यह चेतना तैल-बिन्दु के जल पर प्रसरित होने की तरह उसकी कला में प्रसरित हो जाती है। यही क्रिया संवेदना के विस्तार की पर्याय बनती है। इसी से कला में चमत्कार और लावण्य पैदा होता है। इसी के माध्यम से वह देश की मूलभूत सांस्कृतिक चेतना को अभिव्यक्त करता है।

मूर्तिकला की सामग्री भौतिक और तीन आयामों वाली होती है। अतएव उसे इच्छानुसार रूप दिया जा सकता है, स्थापत्य कला देश और काल को अपने उद्देश्य के अनुरूप बाँधने का प्रयत्न करती है। मूर्तिकला में इसका कोई विधान नहीं होता। मूर्तिकला आनन्दप्रद होती है। इस आनन्द प्राप्ति के कई साधन हैं। हम मूर्ति के आकार, रंग, रूप, बनावट और 'पोज' को देखते है तो उसके सौन्दर्य-जनित प्रभाव से सबसे पहले हमारी चक्षुरेन्द्रिय तृप्त होती है। पुनः हम उसके रूप से आकर्षित होते हैं और स्पर्श सुख का अनुभव करते हैं। आधुनिक मूर्तिकला हममें सन्तुलन का भाव भी पैदा करती है। इससे धर्म, संस्कृति और इतिहास के भूले-बिसरे चित्र हमारी स्मृति में कौधने लगते है। मूर्तिकला हमें कला की तरह प्रभावित करती है। वह हमें रसमय बना देती है। जब हम उसके रूप को देखते हैं तो उसकी समन्वित व्यंजना से हमारे अन्दर एक निश्चित प्रकार का भाव-बोध पैदा होता है। वह भाव-बोध पुनः कुछ ज्ञात-अज्ञात सन्दर्भों से जुड जाता है। ये सन्दर्भ उस भाव-बोध को उद्दीप्त करके हमें उसकी व्यंजना से जोड़ देते है। उदाहरण के लिए बुद्ध की प्रतिमा को लिया जा सकता है। धातु-निर्मित इस प्रतिमा से एक साथ ही हम कई सन्दर्भों से परिचित होते हैं। हमारे समक्ष उनका रूप, आसन, मुद्रा और साधना की स्थिति मूर्तिमान हो उठती है। कला की अन्विति और रवानी हमारे हृदय की अन्विति और रवानी का रूप ले लेती है। सबसे महत्वपूर्ण बात तो यह है कि वह प्रतिमा लोक का ज्ञान कराने के साथ ही हमें कुछ लोकोत्तर व्यंजनाओ के साथ संबद्ध करती है। अनेकानेक सास्कृतिक-ऐतिहासिक-सन्दर्भ रूपायित हो उठते है। इससे स्पष्ट है कि मूर्तिकला की व्यंजना, प्रभावोत्पादकता, क्षमता और रवानी स्थापत्य कला की इन विशेषताओं से अधिक प्रभावोत्पादक है। पहले प्रायः सभी देशों में धर्म से इसका निकट सम्बन्ध रहा है। धर्म ने कला को प्राणवान भी बनाया था।[६२] मूर्तिकला अपनी अभिव्यक्ति मे उस व्यंजना की ऋणी भी है। अन्य कलाओं की तरह आधुनिक युग में मूर्तिकला भी बदली है। सब कुछ के बावजूद इसकी अपनी निजी

सीमाये है। उसके पास यथार्थ के अन्य सभी अभिघटक है, केवल गति नहीं है। मूर्तिकला के माध्यम से जब गति को चित्रित करना होता है तो मूर्तिकार ऐसी युक्ति से काम लेता है कि दर्शक की आँख कुछ धोखे मे पड़ जाय। इस कला में ढलाव संभव नही होता और अधिकाश चित्र नग्न या अर्द्धनग्न होते हैं। फिर भी यह जीवन-सादृश्य को प्रस्तुत करने मे अंशतः सफल होती है। इस कला मे यथार्थ के मानसिक-बोध की मार्मिक व्यंजना मिलती है।

चित्रकला की परिभाषा के पहले हमे अभिकल्प (डिजाइन) को समझ लेना आवश्यक है जिस पर वह आधारित होती है। ड्राइंग' का मतलब है उपयुक्त वक्र रेखाओ द्वारा किसी अभिकल्प को प्रस्तुत करना। इसमें बाह्य रेखाओं द्वारा अभीप्सित वस्तु को द्योतित किया जाता है। रंग-कला रेखाचित्र से भिन्न होती है। किसी लकड़ी, कपड़े या दीवाल की चिकनी सतह पर किसी पूर्व निर्मित कलात्मक रेखाचित्र मे रंगों का भरना और उसके माध्यम से किसी रूप को चित्रित करना चित्रकला है।[६४] इन रंगो को भरते समय चित्रकार को निश्चित अनुशासन और व्यवस्था का अनुगमन करना पड़ता है।[६५] वह रेखाओ को अभीप्सित मोड़ देता है और उनके द्वारा विशिष्ट तथ्य को अभिव्यक्त करता है।[६६] चित्र, चित्रकार की मानसिक भाव-परम्परा को शाश्वत स्थायित्व प्रदान करने का प्रमुख साधन होता है। भारतीय विचारकों की दृष्टि मे चित्रकला आलेख्य कर्म है। उन्होने चित्र को नाना रस समुद्भव सक्षम माना है। यहाँ चित्रकार को 'सूक्ष्म रेखा विशारद', 'चित्र लेखक कोविद', 'चित्र कर्म विशारद' या 'चित्र व्यापार कोविद' आदि विशेषणो से अभिहित किया गया है।[६७] द्विवेदी जी ने स्पष्ट रूप से इस बात का उल्लेख किया है कि मुगलकाल मे रेखा खीचने के कार्य को 'तरह' और रंग भरने के कार्य को 'रंगरेज' या 'रंगामेज' शब्द के द्वारा व्यक्त किया जाता था।[६८]

स्पष्ट है कि चित्रकला का प्रमुख माध्यम तूलिका, रंग और चित्रण के योग्य दो आयामों वाला कपड़ा या अन्य कोई वस्तु होती है। चित्र को भरने के लिए रंगो का उपयोग किया जाता है। रंगों के गाढेपन, हल्केपन और उनकी मिलावट से चित्रकार मूल्य की भावना पैदा करता है। चित्रकला मे भौतिक अस्तित्व और दृश्य स्वरूप की कल्पना का साधन रंजित चित्र होता है। पटल पर चित्रकार द्वारा अंकित रेखाये स्थान को सूचित करती है और रंगो का प्रयोग प्रकृति के स्वाभाविक रंगों को सूचित करता है। चित्र मे चित्रकार का मानसिक बोध व्यंजित होता है। उसके लिए रङ्ग वैविध्य, सामंजस्य और लालित्य का सहारा लिया जाता है। चित्र में कला की व्यंजक इकाइयो द्वारा एकता मे अनेकता की भावना तब तक बनी रहती है, अथवा उसकी पुनरावृत्ति तब तक होती रहती है, जब तक हमारे समक्ष रङ्गो की समस्वरता मे पूर्ण चित्र नही उभड आता है। रङ्गो के अन्त. सम्बन्ध के कारण चित्र मे प्रत्यक्षऐन्द्रिय प्रभाव अत्यधिक उदात्त हो जाता है। चित्र का हर रङ्ग दूसरे

रङ्ग को प्रवर्तित करता है और बदले मे उनसे प्रवर्तित होता है।[६८] चित्रकला यथार्थ के स्थायी प्रभाव को केवल दो आयामों के माध्यम से व्यक्त करती है। कलाकार सचेतन रूप मे तीसरे आयाम का निर्माण करता है। इसके लिए वह दृश्य प्रभाव को स्पर्शबोध विषयक प्रभाव से संयुक्त करता है। जबतक यह काल्पनिक स्पर्शबोध मूर्तिमान नहीं होता तबतक कलाजन्य आनंद अपनी पूर्णता को नहीं पहुँच पाता। चित्रकला अभिव्यक्ति के कलात्मक माध्यम को अपनाती है। वह वस्तुओं को यथावत् रूप में नही चित्रित करती अपितु उन्हे कलात्मक ढंग से अधिक व्यंजनापूर्ण बनाकर चित्रित करती है। यह तभी संभव हो पाता है जब चित्रकार की मनः सृष्टि स्पष्ट हो। इसकी स्पष्टता उसकी कल्पनाशक्ति और ग्राहकता पर निर्भर करती है। चित्रकला की सफलता का कारण है, पटल पर समुचित ढंग से रेखाओ को खीचना और उन्हे सानुपातिक रंगों से रंगना। चित्रकला में यथार्थ के मानसिक पक्ष का महत्व स्थापत्य और मूर्ति से अधिक होता है। चित्र रचना के लिए यह आवश्यक है कि चित्रकार जिस व्यक्ति, घटना या वस्तु को चित्रित करने के लिए लालायित है, उसकी उसे पूरी जानकारी हो और वह उसकी विशेषताओं से पूरी तरह परिचित हो।

आधुनिक चित्रकला की अपनी कुछ विशेषतायें है। आन्द्र मालरो ने इसका संकेत करते हुए लिखा है, आधुनिकता ने चित्रकला को मुक्त कर दिया है। वह अब स्वतः में अपने नियम का उद्घोष है।[७०] चित्रकला अब न तो प्रकृति के सादृश्य की मुखापेक्षी है और न प्रकृति के अनुकरण की। आज ललित कला के अभिव्यक्ति-कौशल पर अधिकार न रखने वाले चित्रकार ही वस्तुओं अथवा परिस्थितियो के चित्रण के द्वारा भावोद्बोधन का कार्य संपादित करते है।[७१]

आधुनिक चित्रकला के क्षेत्र मे कई आन्दोलन या तो क्रियाशील हैं या क्रियाशील होकर समाप्त हो चुके है। इनमें प्रतीकवाद, अभिव्यंजनावाद कला के अमूर्तीकरण का सिद्धान्त (ऐब्सट्रेक्शन) अतियथार्थवाद आदि प्रमुख हैं। एटिन गाइलसन ने लिखा है, 'अस्तित्व का प्रादुर्भाव ज्ञान के पूर्व होता है। कला होने के कारण चित्रकला अस्तित्व की सहयोगी होती है।[७२] आधुनिक चित्रकला इसी अस्तित्व की गवेषण मे संलग्न है। इस प्रयत्न में वह प्रकृति के स्वरूप की पूरक बन गई है। चित्रकला मे घनवादी आन्दोलन दो धाराओं मे विभक्त हो गया था। एक वर्ग के लोगों ने वैज्ञानिक दृष्टि से प्रकृति के संघटन की व्याख्या की थी पर दूसरे ने लालित्यबोधीय यथार्थ के सन्दर्भ मे अमूर्त संघटन को महत्व दिया था। इससे चित्रकला विचार की वाहक बन गई थी अब वह प्रकृति का अनुकरण न रह गई थी। इसी के बाद अमूर्त कला का आविर्भाव हुआ। चित्रकला मे असंबद्ध, विशृंखल और असंगत चित्रण का प्रादुर्भाव प्रभाववाद के साथ शुरू हुआ और वह निरन्तर बढता गया। अभी वर्तमान स्थिति में, मनोविज्ञान और विज्ञान के प्रभाव से चित्रकला विकसित हो रही है और उसकी संभावनाओं के विषय में निश्चित रूप से कुछ नही कहा जा सकता है।

संगीत को श्रव्यकला अथवा कालाश्रित कला की संज्ञा दी गई है। भारतवर्ष में संगीत का प्रचलन बहुत पहले शुरू हो गया था और उसकी परंपरा आज भी अक्षुण्ण है। यहाँ गीत और संगीत को भिन्न माना जाता था। जब गीत, वाद्य और नाट्य का समीकरण अलात चक्र की अवस्था को प्राप्त होता है तो उससे संगीत की सृष्टि होती है। भारतीय राग और रागिनियों का सूक्ष्म विवेचन हुआ है और उनकी संख्या के विषय में प्रायः मतभेद बना हुआ है। फिर भी इस देश में छः रागों और छत्तीस रागिनियों का विशेष उल्लेख मिलता है। राग स्वरमय होते हैं और इनके गाने का समय प्रायः निश्चित होता है। इस विषय में निश्चित शास्त्रीय मान्यता प्रचलित थी। रागो की उत्पत्ति सप्तको से मानी गई थी और इन सप्तकों को पूर्ण सप्तक, षाणव सप्तक (षट् स्वर) और औडव सप्तक (पंच स्वर) नामक उपविभागों में विभक्त किया गया था। भारतीय संगीत में ध्वनि और संवेग के सम्बन्ध पर भी विचार किया गया था। यह योरोपीय पद्धति से भिन्न था। इसमे राग-रागिनियों की प्रधानता थी, स्वर सम्मेलन की नहीं। यहाँ यति (लयों को सम्बद्ध करने की पद्धति) और मूर्छना (स्वरों के उतार-चढ़ाव) का वैज्ञानिक वर्णन मिलता था और श्रुति (एक स्वर से दूसरे स्वर तक उन्मुख होने के काल का सूक्ष्म स्वर—भेद) और स्वरों के सम्बन्ध पर गम्भीरता से विचार किया गया था। भारतीय स्वर विशेषज्ञ यह मानते थे कि निश्चित संख्या की श्रुतियों के संयोग से स्वरों का आविर्भाव होता है। इस प्रकार श्रुति स्वर-निर्माण की आवश्यक इकाई है। भारतीय संगीत ताल और लयबद्ध होता है। तात्पर्य यह कि यहाँ के विचार का प्रमुख आधार सूक्ष्म अन्तर्दृष्टिप्रधान नादानुसंधान और उसकी अन्वितिका बोध है। भारतीय शास्त्र-वेत्ताओं की आत्मसाक्षात्कारपरक उपलब्धि पर्याप्त सूक्ष्म और तत्वाभिनिवेषी है। वे मनुष्य के हृदय की सृजक और कर्षक क्षमता से भली प्रकार परिचित हैं। वे यह भी जानते हैं कि मनुष्य के हृदयाकाश में द्रष्टा और दृश्य एकमेक होकर अन्तर्जेय रूप में उपस्थित रहते हैं। उन्हें यह भी पता था कि हम जिसका चिन्तन करते हैं, कालान्तर में उसी के रूप में बदल जाते हैं। यही मान्यता भारतीय कला-सृजन की मेरुदण्ड थी और बदलाव की इसी स्थिति के कारण समाधि और सृजन का अन्तः संबंध स्थापित किया गया था। चिन्तन अचानक एकोन्मुख नहीं होता है। प्रत्याहार के बाद धारणा बनती है जो ध्यान की जनक होती है। ध्यान की अवस्था में समाधि की सप्त भूमिकाएँ निहित होती है। भारतीय मत यथार्थ में 'ध्यात्वा कुर्यात्' का प्रतिपादक है। दान्ते ने भारतीय मत की ही अर्थसंगति में कहा था कि चित्रकार अगर चित्र के साथ तल्लीन नही हो सकता तो चित्र नहीं बना सकता।[७३] चुआंगजू विचारधारा मे भी माना जाता है कि पहले वस्तु की मानसी प्रतिमा का निर्माण होता है पुनः उसकी भौतिक प्रतिमा का [७४]। भारतीय शिव को सर्वशिल्प प्रवर्तक मानते हैं। शिव परमगुरु और कल्याण के प्रतीक हैं। गुरु परमज्ञान कराने वाली

परात्पर सत्ता है। इसीलिए भारतीय कला उसकी महिमा से मण्डित है। यहाँ के सहृदय से भी रचनाकार की रचना के पुनर्सृजन की अपेक्षा की जाती है। रचनाकार तो ब्रह्मा का प्रतीक है, लेकिन उसकी रचना सहृदय में ही रस-संचार करके सार्थक होती है। पाश्चात्य विचारकों में एकहार्ट प्रायः इसी मत के है। योरप में यह परम्परा विकसित हुई है और उसके अवशेष आज भी विद्यमान हैं। जे० डब्लू० एन० सुलिवन का कहना है कि जो संगीत आध्यात्मिक प्रभाव का व्यंजक होता है, वह उसी सन्दर्भ से उत्पन्न होता है, अतएव उसे शांत संगीत कहा जाताहै [७५]।

योरप में संगीत-कला का प्रचलन बहुत पहले हो चुका था। अधिकांश कला-समीक्षकों ने कला-विवेचन में इसका उल्लेख भी किया था। संगीत की शास्त्रीय व्याख्या के लिए तकनीकी ज्ञान अपेक्षित है। हम उस उलझन में बिना फंसे संगीत से सम्बद्ध सौन्दर्य-शास्त्रीय प्रश्नों के कतिपय पक्षों का उद्घाटन करना चाहेंगे। हमने विगत पृष्ठों में भाव-संवेग और कला के संबंध पर विचार किया है। यहाँ संगीत, भाव-संवेग और कला के संबंध पर विचार नहीं किया है। अतएव संगीत और भाव-संवेग के प्रश्न पर विचार अपेक्षित है। इस प्रश्न पर योरप में दो निकाय हो गए हैं, (१) ऑटोनॉमी (autonomy और (२) हीट्रोनॉमी (hetronomy)। पहले निकाय के अनुसार संगीत ध्वनि है, उसमे इसके अतिरिक्त और किसी प्रकार का संकेत निहित नही होता। दूसरे निकाय के विचारकों के अनुसार संगीत में गतिशील ध्वनि के अतिरिक्त अन्यान्य व्यंजनायें निहित रहती हैं। उसमें विचार, भावसंवेग, कहानी और जीवन-दर्शन पाया जाता है। एदुआर हॉन्स्लिक पहले वर्ग के प्रतिनिधि समीक्षक हैं। उनका कहना है कि सौन्दर्य और संगीत का सम्बन्ध होता है। सौन्दर्य संगीतमय होता है। यह न तो आनुषंगिक है और न संगीत में किसी बाह्य तत्व के समावेश से पैदा है। यह ध्वनि के कलात्मक नियोजन से स्वयमेव उत्पन्न हो जाता है।[७६] यह जानने के बावजूद संगीत में अन्य विशेषताओं को खोजने का प्रयत्न किया जाता है। कला को भावसंवेग मानने वाले लोग श्रवण की क्रिया पर विचार नहीं करते, वे तो सीधे भावसंवेग पर विचार करने लगते हैं। संगीत को आत्मा का पोषक तत्व मान लिया जाता है और श्रवण की क्रिया को निम्नकोटि का कार्य-व्यापार सिद्ध किया जाता है। यह निर्विवाद सत्य है कि कल्पना श्रव्य प्रभावों से आनंदित होती है। वह ध्वनिशील स्वरूपों तथा संघटनों से आह्लादित होती है और उनके ऐन्द्रिय पक्ष के प्रति सचेतन होकर सौन्दर्य के तात्कालिक स्वतंत्र चिन्तन मे तल्लीन हो जाती है।[७७] संगीत की भाषा में रूप विशिष्ट अर्थ का वाहक होता है। ध्वनि-निर्मित-रूप रिक्त नहीं होता। वह अन्तः शून्यता का बाह्य आवरण भी नही माना जा सकता। वह तो यथार्थ में सृजक प्रतिभा का सजीव सृजन और स्पन्दन होता है। संगीत चित्र है, पर उसके विषय शब्दातीत है, उन्हे वर्गीकृत नही किया जा सकता। संगीत के अर्थ मे उसमें तार्किक शृंखला

होती है। संगीत की भाषा को हम बोल और समझ सकते हैं, पर उसका अनुवाद नहीं कर सकते [७८]। संगीत में निहित लॉजिक स्वर के सामंजस्यपूर्ण आरोह-अवरोह का आदिम नियम है [७९]। इसमें स्वर, लय, तान का सामंजस्य पाया जाता है, लेकिन इसे किसी वैज्ञानिक पद्धति से देखा या परखा नहीं जा सकता। संगीत की रचना करने वाले व्यक्ति का प्रमुख उद्देश्य निश्चित मीठी तान को (थीम को) खोज करना है न कि भाव-संवेग को अभिव्यक्त करना। वह तान रचयिता के मस्तिष्क मे कौंधती है और कल्पना से जुड़कर विकसित होती है। केन्द्रीय तान अपने चतुर्दिक उपस्कारक तत्वों से घिर जाती है। यही तान सुन्दर-असुन्दर होती है। संगीत का सौन्दर्य, आकर्षण और लालित्य किसी निश्चित शैली का मुखापेक्षी नही होता है। वह हर शैली में समान रूप से पाया जा सकता है। यह संगीत और संगीत के रचयिता से सम्बद्ध भी होता है पर इसका मतलब यह नही कि हम संगीत को छोड़कर रचयिता के विश्लेषण मे लग जायं। हमे तो केवल रचयिता की रचना के विश्लेषण की अपेक्षा है। संगीत के लिए तो केवल सामंजस्य युक्त मौलिकता अपेक्षित है। [८०] भाषा का प्रयोग संगीत मे होता है, लेकिन सगीत की भाषा और सामान्य भाषा में भेद होता है। बोलचाल की भाषा चिह्न प्रधान होती है। इसके माध्यम से हम ऐसी बात व्यक्त करते हैं जो माध्यम से कुछ विशिष्ट होती है। संगीत की साध्य ध्वनि है। सगीतकार की दृष्टि इसी पर केन्द्रित रहती है [८१]। स्पष्ट है कि सामान्य व्यवहार की भाषा और संगीत की भाषा के उद्देश्य में स्पष्ट भेद होता है। दोनों के अपने अलग-अलग केन्द्र होते है जिनके चारों ओर विशेषतायें संगठित होती हैं। संगीत के के सभी नियम उसके सौन्दर्य के चतुर्दिक स्वतंत्र रूप में केन्द्रित होते है, जब कि भाषा के नियम और विचार शुद्ध अभिव्यक्ति के माध्यम होते है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सगीत की भाषा को कभी सामान्य भाषा के स्तर पर नही ले जाया जा सकता [८२]।

इसी प्रतिपादन क्रम मे एडुआर हॉन्स्लिक महोदय, इस बात को और सशक्त शब्दों मे प्रतिपादित करते है कि संगीत न तो भाव-संवेग की अभिव्यक्ति है और न वह सहृदय मे इसका उद्बोधन करती है। निश्चित भाव-संवेग संगीत में निहित नही किए जा सकते। संगीत भावोद्बोधक भी नही होता। इसका कारण स्पष्ट है। भाव-संवेगो का मानस म अलग-अलग अस्तित्व नही होता। वे ऐसी कला द्वारा उद्बुद्ध नही किए जा सकते जो अवशिष्ट मनः स्थितियों की प्रतिनिधि न हों। भाव अस्पष्टता मे स्पष्टता की ओर अवश्य उन्मुख होते है। कुछ लोगों का मत है कि घनीभूत तीव्रता या आन्तरिक गति को स्पंदित कर सकने की क्षमता के कारण उनमें स्पष्टता आती है।[८३] पर हन्स्लिक इससे असहमत है। उनकी दृष्टि में किसी भी भाव की निश्चित विशेषता उसमे निहित अर्थ की मुखापेक्षी होती है। [८४] संगीत-विज्ञान

अनिश्चित भाषा का प्रकार है। निश्चित विचार की अभिव्यक्ति भाषा के निश्चित स्वरूप से होती है। संगीत की अनिश्चित भाषा में निश्चित भाव या विचार का स्पष्ट निरूपण नही हो सकता है। तात्पर्य यह कि संगीत प्रकृत्या निश्चित भाव-संवेग की अभिव्यक्ति में अक्षम है। भाव-संवेग मूर्त विचारों और प्रत्ययों से निश्चित रूप से जुड़े होते हैं। अतएव इन्हें भौतिक रूप में निरूपित कर सकने में संगीत सर्वथा अक्षम है। ध्वनि के आरोह अवरोह से संगीत में लालित्य, आभिजात्य, टटकापन और कलात्मकता पैदा हो जाती है। अतएव उसे हम इन विशेषणों से अभिहित भी कर सकते हैं। पर ये विशेषण संगीत की वस्तुगत क्रिया के द्योतक होते हैं। भाव के रूप में, परिवर्तन में, अक्षम विचार अथवा विचारों को अतिक्रमित करने वाली भावानुभूति का संघटन जिससे हम प्रभावित होते है संगीत द्वारा निरूप्य है।[८४] इसका प्रमुख कारण यह है कि संगीत द्वारा भाव की गतिशील विशेषता व्यक्त होती है। उसमें मानसिक कार्य-व्यापार से संयुक्त गति को उसके आवेग के अनुसार चित्रित किया जाता है। यह गति भाव-संवेग की सहयोगी विशेषता होती है, पर इसे भाव-संवेग नही माना जा सकता।[८५] संगीत में भाव का निरूपण प्रतीकवादी ढंग से किया जाता है। ध्वनि, रंग की तरह ही मानस से प्रतीकात्मक ढंग से जुड़ी होती है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि गति और ध्वनि के अतिरिक्त संगीत के पास और कोई ऐसा साधन नहीं होता जिससे वह अपने उद्देश्य की पूर्ति में सफल हो सके। हान्स्लिक की उपर्युक्त मान्यता को सारांश रूप में अधोलिखित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है—

(१) संगीत स्वतंत्र कला है।

(२) संगीत भावाभिव्यक्ति का माध्यम नही है, ताल की कल्पना का साधन है।

(३) इस कल्पित ताल का विश्लेषण ही संगीत का विश्लेषण है।

(४) संगीत की भाषा अनिश्चित होती है। इस अनिश्चित साचे मे निश्चित भावबोध नही ढल सकता है।

(५) संगीन के माध्यम से भाव की गतिशील विशेषता को व्यक्त किया जाता है।

'हीट्रोनाइम' वर्ग के विचारक इस ऊपरी मान्यता से असहमत है। वे संगीत को अभिव्यक्ति का माध्यम मानते हैं। उनकी दृष्टि में इस अभिव्यक्ति का सम्बन्ध भाव-संवेग से होता है। वर्गसां का संगीत-सिद्धान्त इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है। वे संगीत की अभिव्यंजक और बोधक क्षमता से भली प्रकार परिचित हैं। उन्होंने इन विशेषताओं का विश्लेषण भी किया है। इससे संगीत को समझने का सूत्र मिला है। उनकी धारणा है कि संगीत की श्रुत ध्वनियों को अपने ही स्वयं दुहराने से हम तल्लीनता का अनुभव करते हैं, और धीरे-धीरे लौटकर उस मानसिक स्थिति तक पहुँच जाते हैं जिससे

संगीत का आविर्भाव हुआ था। यह मौलिक रूप कुछ व्यक्त नहीं अपितु व्यंजित करता है। इसके माध्यम से वे गतियाँ और चित्तवृत्तियां मूर्तिमान हो उठती हैं जो ध्वनि प्रदान करती हैं।[८७] बर्गसाँ ने आस्वादन की क्रिया और रचना की क्रिया के स्पष्ट भेद का उल्लेख किया है। यह निरूपण अवश्य प्रशंसनीय है। पर उनकी इस मान्यता से सहमत होना कठिन है कि ध्वनि मानसिक स्थिति से उत्पन्न होती है और प्रत्यावर्तन के द्वारा हम उस तक पहुँच सकते है। ध्वनि के स्थान पर अभिव्यक्ति को लें तो उनकी मान्यता कुछ ग्राह्य अवश्य बन जाती है। उन्होने पुन. लिखा है कि किसी स्वर के क्रमबद्ध लय के द्वारा हम शान्ति और संतोष प्राप्त करते है।[८८] इस शान्ति अथवा तुष्टि का कारण क्या है? सौन्दर्यशास्त्रीय इसके समाधान पर सहमत नही हैं। हमारी दृष्टि मे शान्ति या संतोष का प्रमुख कारण न तो केवल इच्छापूर्ति होती हे न केवल आनन्दोपलब्धि और लोक तथा लोकोत्तर बोध। वह इन सबका मिला-जुला रूप होता है। संगीत से हममे स्वर-सामंजस्य अवश्य उत्पन्न होता है और उससे कलात्मक आनंद भी मिलता है। लेकिन वह तो तब सार्थक बनता है जब हमें इसके द्वारा इस तथ्य का बोध भी हो जिसकी व्यंजना मे अनन्तकाल से इतने स्वर क्रियाशील हैं। आप पूछ सकते हैं कि वह है क्या? ईश्वरवादी उसे भगवान कहकर अपने को सन्तुष्ट कर लेगा। हम तो, अगर भगवान है भी, तो, उसको भगवत्ता मे नही बल्कि प्रसार मे देखना चाहते हैं। जब भी जागतिक प्रसार की बात उठेगी तो भाव का प्रश्न अवश्य सामने आएगा। इसका प्रमुख कारण यह है कि भाव ही वह आधार है जिस पर सृष्टि का सारा कार्य-व्यापार आश्रित है। यह भिन्न बात है कि एक ऐसा भी भाव है जिसको ग्रहण करने के लिए हमें भावाभाव-विनिर्मुक्त-दशा में जाना पड़ता है। खैर, इसको फिलहाल यहीं स्थगित किया जाय। हम तो यहाँ केवल यह कहना चाहते हैं कि कला जीवन से कट कर अपनी सार्थकता नही प्रमाणित कर सकती। संगीत का अवतरण भी इसी सार्थकता का प्रमाण है। संगीत निश्चित मनःस्थितियों का द्योतक होता है, भाव-दशाओं का अभिव्यंजक होता है, जीवन के बोध का माध्यम होता है, अतएव वह अपनी सार्थकता निर्विवाद रूप में स्थापित कर सकता है। किसी भी प्रकार की अभिव्यक्ति का मेरुदण्ड भाव होता हैं। अभाव तो उसे निराकार बना देता है। निरर्थक ध्वनि संघटन उसे व्यंजनाहीन कर देता है। अतएव भाव-विहीन संगीत की कल्पना अनुशासन विहीन कला की कल्पना है। विशुद्ध कलावादी, रूपवादी या आनंदवादी आज यह भूल जाते हैं कि साहित्य की प्रतिद्वन्द्वी कलाओं का अवतरण हो चुका है। साहित्य को अपनी अर्थवत्ता बनाए रखने के लिए उनकी चुनौती का सामना करना है। साहित्यकार अपने उद्देश्य में तभी सफल होगा जब उसका जीवन-बोध खरा होगा, उसकी भाव-साधना अडिग आस्था और विश्वास पर आधारित रहेगी। इस विवेचन के अन्त में हम सुमन के० लैंजर की मान्यता का उल्लेख करते हैं जो स्वयं में पूर्ण और वैज्ञानिक है। वे कहती हैं कि संगीत संवेदना का उद्दी-

पन नहीं अपितु अभिव्यक्तीकरण है। वह संगीत के रचयिता को आक्रान्त करने वाली संवेदना की लाक्षणिक अभिव्यक्ति नही अपितु उसके बोध पर आधारित संवेदनशीलता की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है। यह हमे संगीतकार की भावात्मक स्थिति से परिचित न कराकर उसकी संवेदना की काल्पनिक अभिव्यक्ति से परिचित कराता है। इसके माध्यम से वह अपनी वैयक्तिक अनुभूति को अतिक्रमित करके अपने आन्तरिक जीवन-बोध को व्यक्त करता है। संगीत के रचयिता के लिए संगीत ऐसा प्रतीक है जिसके माध्यम से वह बहुत कुछ सीख सकता है और मानव संवेदना सम्बन्धी अपने विचार को व्यक्त कर सकता है।[८८] लैंजर ने रचनाकार की दृष्टि से संगीत का विवेचन किया है। उसे समझने के लिए भावक को अपनी क्षमता का परिचय देना पड़ता है। उसके लिए यह आवश्यक है कि संगीत के आस्वादन के समय वह अपने को तत्सम्बन्धी भावों के बीच प्रतिष्ठित करे, पुनः श्रुतध्वनि को स्मृत ध्वनि के रूप मे विकसित करे जो बाहर जाकर अन्य ध्वनियों के ऊपर छा जाँय। ऐसा करते समय उन श्रुत-स्मृति-ध्वनियों को चेष्टावाही स्वरूपों से सम्बद्ध करना आवश्यक है।[८९]

संगीत और शान्ति का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध होता है। गिज़ेल ब्रेलट (Gis-le Brelet) ने इस पर गंभीरता से विचार किया है। इनकी दृष्टि मे संगीत और ध्वनि न तो शुद्ध सतही प्रदर्शन की विषय है और न बाहर से अपने को आरोपित करनेवाले निष्क्रिय आँकड़े हैं। उनका सम्पूर्ण अस्तित्व उनके कार्य पर निर्भर करता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि वे अपने सनातन पुनर्जन्म से प्राणवान बने रहते हैं।[९०] संगीत शान्ति पर अपनी अनवरत विजय के कारण अपने अस्तित्व का उचित ज्ञान कराता है। जिस अशक्त, अभौतिक अस्तित्व का उसे सामना करना पड़ता है उस पर नए सिरे से विजय प्राप्त करके, वह अपने उद्देश्य को निर्विवाद रूप से प्रामाणिक सिद्ध कर देती है।[९१] ध्वनि (संगीत) स्वतः मे एक घटना है।[९२] उसके क्रियाशील होते ही पूर्वशान्ति की स्थिति समाप्त हो जाती है और उसे समाप्त होते ही पुनः शान्ति छा जाती है। संगीत शान्ति की पृष्ठभूमि मे ध्वनि की तरह अपने को प्रक्षेपित करता है। इन्हीं शांति के दो छोरो के बीच उसका गतिमय स्पन्दन मूर्तिमान होता है। संगीत जन्मता और अदृश्य होता रहता है। उसकी इस क्रिया के आरम्भ और अन्त में शांति चिरसंगिनी के रूप मे उपस्थित रहती है। संगीत का उद्भव लौकिक कालमे होता है, पर वह अपने विकास-क्रम के साथ उसका अतिक्रमण करता जाता है। ज्ञेयकाल मे यह सदैव अनुभूति को गुदगुदाता रहता है। शान्ति संगीत को बाहरी व्यवधानों से मुक्त करके उसे हमारी अन्तश्चेतना के साथ जोड़ती है। अशान्ति, देश और द्रव्य की परिचायक है।[९४] संगीत-श्रवण में इसकी उपस्थिति विघ्नकारक होती है। इसीलिए संगीत के गान और श्रवण की स्थिति मे प्रज्ञा का इन विघ्नो से मुक्त होना आवश्यक है। यह बात केवल संगीत के लिए नही अपितु अन्य कलाओ के आस्वादन के लिए भी आवश्यक है। इसी अध्याय मे तादात्म्य का उल्लेख किया गया है। तादात्म्य कोई सिद्धांत

नहीं है, जीवन-दर्शन है, सत्य साक्षात्कार का सरल अभिनव मार्ग है। लेकिन भौतिक चाकं-चिक्य से ग्रस्त जीवन इसे समझ नहीं पाता है। आत्मस्थलीनता भी कला के सृजन और आस्वादन की आवश्यक शर्त है। यह निष्क्रिय तटस्थता की पर्याय नहीं है। यह तो सक्रिय आत्म साक्षात्कार की क्रिया है। इस स्थिति मे हम दुराग्रहयुक्त होकर अपने अन्त.ज्ञान के प्रकाश मे तथ्यो के रहस्यमय स्वरूप से परिचित होते है। लोगों ने इस स्थापना पर आध्यात्मिकता का 'लेबुल' लगाकर इसे अन्त्यज मान लिया है। काश वे इस बात से परिचित हो सकते कि यह आध्यामिक नही अपितु भौतिक जीवन-स्पन्दन को उसके रहस्मय स्वरूप मे समझने और समझाने का सरल प्रयास है। यहाँ विषयान्तर की आवश्यकता नही। इसपर यथास्थान विचार किया जायगा। इसके पहले हम कह रहे थे कि शान्ति सगीत को सार्थक रूप में सशक्त और प्रभावोत्पादक बनाती है। वस्तुगत रूप मे इसमे विभाजन संभव है पर आत्मगत रूप में यह सदैव संश्लेषण प्रधान होती है। हर शान्ति मे भूत की प्रतिध्वनि भविष्य की तत्त्वामिनिवेषी झलक से आपूर्ण हो उठती है। इसमे स्मृति के साथ ही प्रत्याशा भी क्रियाशील पाई जाती है। इसमे मानस की शुद्ध शक्ति मूर्तिमान होकर थिरकने लगती है। इसी स्थिति में संगीत के स्वरूप का निर्माण होता है। संगीत आरम्भ होते ही हमारे में एक ललक जगती है, जिससे हम पूर्वग्रहो से मुक्त होते है और उस वातावरण के साथ एकतानता का अनुभव करने लगते हैं, जिसको संगीतकार संगीत को समझने की आवश्यक शर्त के रूप मे सृजित कर रहा है। मुक्त-मानस या मुक्त-हृदय (इसी को शुक्ल जी ने हृदय की मुक्तावस्था कहा था) सगीत की ध्वनियों के साथ प्रवाहित होने लगता है। संगीतकार सगीत के विकास क्रम मे स्वर के आरोह-अवरोह के द्वारा मानस संवेदनों को मुक्त करता जाता है। वे मुक्त संवेदन श्रोता के हृदय की मुक्तावस्था मे उसके संवेदन बनते जाते है। परिणाम यह होता है कि वह अपने तरल मानस को संगीत के साथ प्रवाहित करने लगता है। श्रवण की स्थिति में श्रोता की ललक और बलवती होती जाती है, संगीत अपने विकास-क्रम में उसे सहलाता-दुलारता सन्तुष्टि की ओर प्रेरित करता जाता है। संगीत के अन्त में हम पुन. ललक के उतार से परिचित होते है। इस तरह सारा सगीत प्रत्याशाओं के वर्गीकरण के ऐसे समन्वित रूप मे हमारे समक्ष उपस्थित होता है जिसका वह उद्दीपन और शमन करता रहता है।[६६] संगीत के आरम्भ में हम स्वभाव को अभाव में बदलते है, और पुनः उस अभाव को संगीत के प्रभाव से भर देते हैं। दूसरे शब्दों में हम यह भी कह सकते है कि आरम्भ मे सगीत हमारे स्वभाव को अभाव मे बदलता है जो उसके विकास क्रम के साथ पुनः प्रभावों से उद्दीप्त हो उठता है। अभाव ही प्रभाव को ग्रहण करने का प्रमुख साधन होता है। संगीत की गति दो तरह की होती है—(१) चक्रिल और (२) रैखिक। रैखिक गति में संगीत के विकास के साथ ही काल का विकास भी दृष्टिगोचर होता है, पर चक्रिल गति पुनरावृत्ति प्रधान होती है। इस तरह के संगीत

में एक पंक्ति को स्वर के आरोह-अवरोह के विभिन्न स्वरूपों में दुहराया जाता है। इसके साथ ही गायक की ही नहीं, अपितु सहृदय की चेतना भी निश्चित क्रम से अध.-उर्ध्व स्थितियों मे नर्तन करती रहती है। ध्वनि के चरम उत्कर्ष पर पहुचने के साथ उसका प्रभाव भी चरम उत्कर्ष पर पहुँच जाता हे। इससे श्रोता की चेतना का उन्मेष होता है। पुन अवरोह की स्थिति में चेतना भी नीचे उतरती है। सगीत जहाँ से शुरू हुआ था, चेतना को वही पहुँचाकर एक आनंदानुभूति छोडकर शान्त हो जाता है। फिर तो केवल उस सचेतन अभियान की स्मृति भर रह जाती है जिसका शान्ति के क्षणो मे हम अनुभव करते है। संगीत की यह विशेषता कविता मे विद्यमान रहती है। सगीत के क्षण व्यंजना मे परिपूर्ण रहते है। व्यजना भी तरलित मन के साथ तरलित हो उठती है। सगीत के क्षण जैसे अपनी पूर्णता मे एक दूसरे से मिलकर वृहत्तर बोध के जनक बनते है, वैसे ही व्यंजना भी एक दूसरी से मिलकर वृहत्तर व्यंजना-वृत्त के सृजन मे सक्षम होती है। यही सगीत और काल के युगपत् सम्बन्ध का रहस्य है। संगीत के क्षणो मे काल भी अपना सामान्य विशेषता को त्याग कर नाद के प्रभाव से अनुरणित हो उठता है अतएव उसे सामान्य काल न कहकर सगीत का काल कहना अधिक तर्क संगत है। संगीतकार की इस क्रिया मे रिक्त काल की योजना भी मिलती है। यह विधान हमे भावगत काल की विशेषता से परिचित कराता है। इस अन्तराल मे सगीत की तडप, कसक और ललक और उद्दीप्त हो उठती है। हम अपने असली रूप मे आ जाते है।

संगीत और शान्ति के विवेचन के सन्दर्भ मे संगीत और काल की कुछ विशेषताओ का उल्लेख हुआ है, पर वह अपर्याप्त है। इसके पल्लवन की अपेक्षा है। लेजर ने लिखा है, 'हर संगीत प्रत्येक्षमान काल की व्यवस्था का सृजन करती है। इसमे उसका सजीव स्पन्दन अन्य सम्बन्ध से ग्रथित होकर क्रियाशील रहता है।'[६७] संगीत, काल को शब्द और उसके रूप और सातत्य को संवेद्य बनाता है।[६८] यह निर्विवाद सत्य है कि संगीतकला काल का एक प्रकार है, उसे समझने के लिए काल की मान्यताओ को समझना जरूरी है। काल के विषय मे कई मान्यताये मिलती है। बोचलिन ने इसके विविध स्वरूपों का उल्लेख किया है। उन्हे हम अधोलिखित रूप मे प्रस्तुत कर सकते है :—[६९]

(१) विशुद्ध काल हमारी चेतना के गहनतम स्वरूप का प्रतीक है। यह बाह्य जगत से मुक्त होता है। यह जीवनोन्मीलन मे सहायक माना जा सकता है।

(२) मनोवैज्ञानिक काल वह काल होता है जिसका प्रभाव जीवन के घटना-क्रम मे ग्राह्य किया जाता है। इसमे कभी-कभी मिनट शताब्दी जैसा ज्ञात होता है और घण्टा अचानक बीत जाता है।

(३) गणितीय माध्यम से ज्ञातकाल, और

(४) संगीत का काल—निस्सन्देह संगीत-श्रवण का काल विशुद्धकाल से मिलता-जुलता है।

इस उपर्युक्त मान्यता से स्पष्ट है कि संगीत का काल विशुद्धकाल का परिचायक होता है। विशुद्धकाल की तीन विशेषताओं का उल्लेख किया गया है। यह चेतना के गहनतम स्वरूप का परिचायक होता है। बाह्यजगत से मुक्त होता है और जीवन के उद्घाटन मे सहायक होता है। संगीत के काल मे 'क्लॉक टाइम' स्थगित रहता है। स्थापत्य, मूर्ति और चित्र मे काल के स्थान पर स्थान की परिकल्पना स्थगित पाई जाती है। चित्र बनाया जाता है और उसमे रंग भरा जाता है। रंगो के माध्यम से चित्रकार ऊँचाई-नीचाई और दूरी का संकेत करता है। इस स्थान-परिकल्पना और जीवन मे यथार्थ स्थान की स्थिति मे स्पष्ट भेद होता है। इस चित्रण मे हम स्थान की व्यंजना पाते है स्थान का ज्ञान नही। एक उदाहरण से इसे समझा जा सकता है। मान लीजिए पर्वत की ऊँची चोटियो मे एक स्रोतस्विनी प्रवाहित होती हुई तलहटी मे आ रही है। उस नदी के किनारे एक गृहस्थ का घर है। उसके आस-पास कुछ वृक्ष उगे हुए है। गृहस्थ अपने हल-बैल के साथ काम कर रहा है। चित्रकार इन घटनाओ को चित्र के माध्यम से व्यक्त कर रहा है। ऊँची पर्वत श्रेणी, उसके बीच से प्रवाहित नदी, पर्वत की तलहटी मे बना हुआ गृहस्थ का घर और उसका कार्य-संलग्न होना सब कुछ निश्चित रंगो के माध्यम से चित्रित दिखाई पड़ रहा है। एक छोटे से पटल पर चित्रित इस कार्य-व्यापार की व्यंजना हमे अस्वाभाविक नही ज्ञात होती है। इसके प्रभाव से हमारा अविश्वास स्वेच्छया स्थगित हो जाता है और हम चित्र के आस्वादन मे तल्लीन हो जाते हैं, पर यह स्थान-चित्रण का परिचायक है। यही स्थिति संगीत की भी होती है। इसका काल संगीत का काल होता है। उसके माध्यम से हमे शाश्वतता की व्यंजना मिलती है। संगीत में काल का उपयोग अभिव्यंजना के तत्व के रूप मे किया जाता है। वह उसका सारतत्व होता है। चित्रकला की अपनी रवानी होती है। वह सामंजस्यपूर्ण चित्रण से प्राप्त होती है। स्थापत्यकला से भी स्थायित्व और सौन्दर्य की व्यंजना प्राप्त होती है। अन्तः सम्बन्ध के कारण पूरी कला की एक निश्चित रवानी होती है। इसीलिए रस्किन ने उसे स्थान-संगीत कहा था। पर संगीत मे जो एक तरलता, प्रवाह और गति पाई जाती है, वह चित्र-कला मे कुछ अंशों मे विद्यमान रहती है, पर स्थापत्य कला मे नहीं। पुनरावृत्ति सभी कलाओं में पाई जाती है, पर यह संगीत का प्राण होती है। संगीत में पुनरावृत्ति से उसका रूप निखरता ही नही सँवरता भी है। इसका उल्लेख रैखीक और चक्रिल स्वरूपों के चित्रण मे किया जा चुका है। संगीत मे नैरन्तर्य, सातत्य और अप्रतिहतता पाई जाती है। ये सभी गुण उसकी गति के सूचक होते हैं। सभी कलायें जीवन से सम्बद्ध होती हैं, लौकिक होती है। देश का अस्तित्व काल पर निर्भर करता है। काल विहीन देश की कल्पना असंगत है। स्थान प्रधान कलाओं में

भी काल को नकारने की क्षमता होती है, पर काल उनका प्रमुख उपजीव्य नहीं होता। उससे न तो उनका रूप प्रभावित होता है और न काल उनमे कोई विशिष्ट भूमिका अदा कर पाता है। वे काल मे निर्मित होती हैं और उसी में आस्वादन का विषय बनती हैं, फिर भी उनसे काल का वैसा सम्बन्ध नही होता जैसा संगीत का होता है। कला मे काल के दो स्वरूपों का दर्शन होता है। (१) कला की बनावट-बुनावट मे निहित कलात्मक चिन्तन का काल (आर्टिस्टिक टाइम) और (२) अन्तस्थकाल (इन्ट्रिन्जिक टाइम)। हर कलाकृति का अपना प्रसार होता है, उसकी अपनी दुनियाँ होती है। इसे कलाकृति की दुनियाँ कहा जाता है। कला के आस्वादन की स्थिति में हम उसके सृजन के प्रसार को यथार्थ मान कर चलते हैं। इस प्रसार के निर्माण में देशकाल का उचित सहयोग होता है। इसे हम कलाकृति के निरूप्य विषय-वस्तु की दृष्टि से अन्तस्थ काल की संज्ञा दे सकते है। वह काल उस काल से भिन्न होता है जो कि कला के भौतिक रूप द्वारा अधिकृत है, अथवा जिसको हम कला के पढने या उसका चिन्तन करने मे लगाते है।[१००] उदाहरण के लिए निराला की 'राम की शक्ति पूजा' को लिया जा सकता है। पूरी कविता का एक काल है जिसमें घटनायें पाठक के समक्ष उस समय निरूपित और उद्घाटित होती है जब वह उन्हें पढता है। वह पूरी कविता पर अपना मत भी देता है। इस तरह हमारे समक्ष काल के दो स्वरूप आते है (१) घटना के वर्णन का क्रम और (२) कल्पित दुनियाँ में घटना-शृंखला का अन्तस्थ स्वरूप। पहले को हम कलात्मक काल की संज्ञा दे सकते हैं और दूसरे को अन्तस्थ काल की। कलात्मक काल, जिसे चिन्तन प्रधान काल कहा जाता है बहुत लम्बा नही होता। इसकी गंभीरता अधिक से अधिक दस बारह मिनट तक बनी रहती है। ललित कलाओं में अन्तस्थकाल का संगठन प्रायः नाक्षत्रिक, तरलित और प्रवहमान होता है। निरूपित नैर्मागिक क्षण के चारों ओर कलाकृति का काल कौंधा करता है।[१०१] इस तथ्य के पुनरावृत्ति की आवश्यकता नहीं कि संगीत कालावधि का एक रूप है। इसमें सामान्य काल की चेतना स्थगित रहती है और उसके आदर्श पूरक के रूप में संगीत का काल क्रियाशील होता है। लेकिन हम इसके विषय में पूर्ण चैतन्य नही पाए जाते। इसका कारण है। हमारी चेतना प्रमुख रूप से देश से अधिक नियंत्रित रहती है, काल से कम। स्थानाश्रित कलाओं में हम आदर्श स्थान-निरूपण और यथार्थ स्थिति के भेद से परिचित रहते हैं। चित्र हमें आदर्शकाल से परिचित कराता है, लेकिन जिस कमरे में वह रखा या जुडा हुआ है उसमें यथार्थ स्थान की विशेषतायें भी पाई जाती हैं। उन दोनों की प्रकृति भिन्न होती है। कहीं पर उनके सादृश्य के द्वारा चित्र की समग्र चेतना मूर्तिमान होती है तो कहीं असादृश्य के द्वारा। पर संगीत की स्थिति इससे भिन्न होती है। इसमे हमें यथार्थ काल की चेतना को पूरी तरह आत्मसात् करके संगीत की ध्वनि के साथ तादात्म्य स्थापित करना पड़ता है। ऐसी स्थिति मे हमारा अस्तित्व संगीत के अस्तित्व में विलीन हो

जाता है। इसलिये यहाँ केवल समानुभूति का सिद्धान्त चरितार्थ होता है, मानसिक दूरी, सादृश्य या बोध का सिद्धान्त नही। संगीतकार काल का उपयोग अभिव्यंजना के प्रमुख तत्व के रूप मे करता है। कालावधि ही उसका प्रमुख उपजीव्य होती है।[१०२] इसलिए वह छोटे-छोटे पदो को संगीत का विषय बनाता है। संगीत मे स्वर का महत्व होता है। हाटशाइन ने केन्द्रीय (सेन्ट्रल) और पारिधिस्थ (पेरीफेरल) स्वरो का उल्लेख किया है। केन्द्रीय विशेताओ मे 'पिच' और 'टोनल करेक्टर' प्रमुख है और परिधिस्थ विशेषताओ में कालावधि, तीव्रता और तान।[१०३] उनकी दृष्टि मे स्वर की विशेषता और वस्तु की विशेपता मे स्पष्ट भेद होता है। वस्तु की विशेपतायें उससे प्रत्यक्ष रूप मे जुड़ी रहती है, पर स्वर की विशेपताओं के विपय में यह बात नही कही जा सकती। वे इस विभेद को अवास्तविक और अयथार्थ मानते है। फिर भी वे यह स्वीकार करते है कि स्वर न तो वस्तु की तरह स्पृश्य है और न दृश्य। वह मूलत. एक क्रिया का परिचायक है।[१०४] हान्स हाइन्ज ड्रेगर शाइन की इस मान्यता से असहमत है। वे स्वर को वस्तु और क्रिया दोनो का परिचायक मानते है। उनकी दृष्टि मे संगीत की ध्वनि बोधपरक होती है। बोध से अनुभूति के प्रत्ययो का निर्माण होता है। इनकी अभिव्यक्ति सामाजिक आदर्शों से परिपुष्ट होती है। लय-तालबद्ध-शास्त्रीय-संगीत अवश्य ध्वनि चमत्कार का मुखापेक्षी होता है, पर उससे संवेदन प्रगोचित होते है। अतएव उनकी यह मान्यता कि स्वर-ताल की दृष्टि से परिगृहीत प्रक्रिया है[१०५] सर्वथा उचित है।

संगीत के साथ उसके श्रवण का प्रश्न भी जुड़ा हुआ है। इसकी कुछ विशेषताओ का हमने ऊपर उल्लेख किया है। इस सन्दर्भ मे हमने ध्वनि के साथ तादात्म्य स्थापित करने, उसके लयतान का अपेक्षित ज्ञान होने और संगीत के आदर्शकाल मे अपने को पूरी तरह निमज्जित कर देने की क्रिया पर प्रकाश डाला है। इसके अतिरिक्त इसके मूल स्वरूपो का विवेचन अपेक्षित है। यहाँ श्रवण का जीव-वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक विवेचन सम्भव नही है। अतएव केवल कुछ मूलभूत पर आवश्यक तथ्यों का उल्लेख किया जायगा। हेल्मट रीनाल्ड ने कुछ प्रमुख विशेपताओ की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। उनकी दृष्टि मे संगीत सुनने की क्रिया मनुष्य की सर्वोत्कृष्ट अभिव्यक्ति की परिचायक है। यह एक साथ ही हमारे व्यक्तित्व के कई स्तरों पर क्रियाशील होती है। मनुष्य आत्मा प्रधान जीव है। वह सामाजिक संबंधो से आबद्ध होता है और उसका ऐतिहासिक परिवेश के साथ अविच्छिन्न सम्बन्ध होता है। इस विशेषता के कारण संगीत श्रवण सवेदनशील, सामाजिक, और ऐतिहासिक क्रिया का परिचायक बन जाता है।[१०६] रीनाल्ड ने सामान्य श्रवण और संगीत-श्रवण के भेद का उल्लेख किया है। उनकी दृष्टि में जीव-वैज्ञानिक क्रिया के रूप मे श्रवण का सम्बन्ध प्रकृति का विषय है, पर ऐतिहासिक क्रिया के रूप में संगीत-श्रवण का प्रश्न संस्कृति का विषय है।[१०७] प्रकृति और संस्कृति शब्द पारि-

भाषिक है। प्रकृति मानव की सहज प्रवृत्तियो और उसके परिवेश से निर्मित विशेषता है जिसे स्वभाव भी कहा जाता है, पर संस्कृति मानव की क्रिया के घात-प्रतिघात से उत्पन्न महत्तर चेतना का कीर्तिमान है। प्रकृति मूलत वैयक्तिक होती है, पर कुछ उभयनिष्ठ विशेषताओ या अपेक्षाओ के कारण सामाजिक रूप मे हमारे समक्ष उपस्थित होती है। संस्कृति ऐतिहासिक सातत्य को मथकर निकाला गया नवनीत है जो अपने प्रभाव में सदैव शीतल और हितकर होता है। प्रकृति का अनुदात्त स्वरूप विकृति और उदात्त परिमार्जित और सयत स्वरूप संस्कृति का पर्याय है। संगीत को संस्कृति से संबद्ध करके रीनाल्ड उसकी इसी विशेषता का संकेत करते है। सस्कृति के तत्व एक दूसरे पर थोपे या लादे नही जाते, वे परस्पर सम्बद्ध और अन्वित होते हैं। संगीत के तत्वो के विषय में यही बात चरितार्थ होती है। संगीत-श्रवण के विविध स्तर असंबद्ध और आरोपित नही होते। वे तो परिवर्तित होकर आपस मे मिलकर एक नई समग्रता का ज्ञान कराते हैं।[१०८] सास्कृतिक चेतना प्रकृति प्रदत्त श्रुत स्वरो की अनन्त संभावनाओ मे से कुछ अपेक्षित स्वरो को चुनकर उन्हे नई व्यवस्था से मंडित करती है। इस क्रिया मे बोध विशेष रूप से सहायक सिद्ध होता है क्योकि वही हमारी अन्तरंग भाव-सत्ता को बहिरंग परिवेश से जोडता है।

इसके पूर्व हमने रचनात्मक दृष्टि से कला की सैद्धान्तिक व्याख्या के साथ ही उसके वर्गीकरण पर गम्भीरता से विचार किया है। इसी संदर्भ मे स्थापत्य, मूर्ति, चित्र और संगीत कला का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। पाश्चात्य विचारक काव्य को पाचवी कला की संज्ञा देते है, जबकि भारतीय विचारक उसकी गणना विद्या मे और अन्य कलाओ की गणना अविद्या मे करते है। पौरस्त्य विचारधारा मे कलाओ को क्रिया-प्रधान और विद्या को ज्ञान-प्रधान माना गया है। आधुनिक विचारको मे जयशंकर प्रसाद और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल[१०९] ने सस्कृत काव्यशास्त्र की परम्परा का अनुमोदन किया है। परवर्तीकाल मे पाश्चात्य दृष्टिकोण भी धीरे-धीरे प्रतिष्ठित होने लगा और 'कला की आँख से साहित्य और साहित्य की आँख से कला'[११०] के मूल्यांकन की आवश्यकता पर बल दिया गया है।

अब तक कविता क्या है ? इसपर अनेक लोगो ने बहुत कुछ लिखा है। अतएव यहाँ हम कविता और अन्य कलाओं के अन्त.सम्बन्ध पर विचार करके इस अध्याय को यही समाप्त करेंगे। शब्द-ब्रह्म के उपासक भारतीय मनीषियो ने वर्ण की उत्पत्ति का सिद्धान्त भी दिया था। योग मे पचास वर्णो का उल्लेख मिलता है और इनका स्थान मूलाधार से लेकर त्रिकुटी तक के चक्रो के दलो पर निर्धारित किया गया है। यहाँ कण्ठ मे सरस्वती का वास माना गया है और काव्य को उदात्त पृष्ठभूमि प्रदान की गई है। इन तथ्यो के अन्वेषण के बाद ही इनके पक्ष मे कुछ कहना उचित है। अज्ञान की स्थिति में ज्ञान की बात बहुत सार्थक नही होती। लेकिन अब न तो मंत्रद्रष्टा रह गए है और न ऋषि। अतएव उचित ज्ञान के अभाव मे प्राय: भारतीय

मनीषियों की उस मान्यता का आधार ही अदृश्य हो गया है जिसके आधार पर उन्होंने काव्य को कलाओं से भिन्न माना था। ऐसी स्थिति में काव्य और कलाओं के अन्त:-सम्बन्ध के विवेचन को अप्रासंगिक नहीं माना जा सकता।

देखने में आता है कि हर कला की अपनी शैली, शिल्प, माध्यम, अभिव्यक्ति-पद्धति और संप्रेषण-विधान है। इनके रचना और निर्माण में कल्पना का सहयोग होता है। निर्मित हो जाने के बाद ये बिम्बों अथवा प्रतीकों के माध्यम से अपने को संप्रेषित-करती हैं। दृश्य कलाओं का आधार ध्वनि या नाद-बोध है। हमने कला को प्रातिबोधिक यथार्थ के दीप्तिमय क्षण का कालातीत निरूपण माना है। इस परिभाषा के हर शब्द महत्वपूर्ण है। हर कला यथार्थ के मानसिक प्रत्यक्ष को व्यक्त करती है। इसमें रचनाकार का आत्मसंघर्ष निहित होता है। हर कला में ढलने के बाद विषय-वस्तु विशिष्ट बन जाती है। इससे स्पष्ट होता है कि कला का उपादानिष्ठ आधार अवश्य है। इधर मनोवैज्ञानिक की खोज से अब यह प्राय: स्पष्ट हो चुका है कि वर्ण-बोध और शब्द-बोध प्राय: समन्वित होते हैं। ऐन्द्रिय बोध भी मिश्र-बोध होता है। रंगों के अपने प्रतीक हैं। इनका शरीर पर प्रभाव पड़ता है। एक कला में दूसरी कला के गुण प्रभूत मात्रा में विद्यमान पाए जाते हैं। स्वर का अपना अलग महत्व होता है। राग से चित्र भी उभड़ता है। इसीलिए कुछ संग्रहालयों में रागों और रागिनियों के आरोह-अवरोह को चित्र द्वारा निरूपित किया गया है। काव्य के विषय में के० एम० रामस्वामी शास्त्री का कहना है, 'पोएट्री इज़ आर्किटेक्टॉनिक लाइक आर्किटेक्चर, स्टेचुएस्क लाइक स्कल्पचर ग्राफिक एण्ड पिक्चरस्क लाइक पेंटिंग एण्ड रिद्मिकल लाइक म्युज़िक[११]।' चित्रकला और कविता के अन्त:सम्बन्ध की ओर तो लोगों की दृष्टि पहले भी गई थी। चित्र को मूक कविता और कविता को मुखर चित्र कहा गया था। निराला की 'राम की शक्ति पूजा' को अगर चित्रों के माध्यम से व्यक्त किया जाय (जो प्रयत्न साध्य और कठिन है) तो एक चित्रशाला तैयार हो सकती है। धार्मिक स्थानों पर ऐसे आख्यानों का चित्रांकन मिलता है जिनके आधार पर कवितायें भी रची गई हैं। भारतीय कलाभवन चित्रावली के फलक दो और चार पर बिहारी और केशव की रचना विशेष को चित्र द्वारा प्रस्तुत किया गया है[१२]। काव्य के शिल्प से उभड़ने वाला सामंजस्य श्रव्य होता है। चित्र रचनों से छन्द-बद्ध बनता है। छन्द की दो व्युत्पत्तियां हैं, 'छन्दयति इति छन्द:' अथवा 'आच्छादयति इति छन्द:'। जो आनन्द प्रदान करे या आच्छादन करे उसे छन्द कहते हैं। चित्र में छन्द की ये विशेषतायें होती हैं। स्वच्छन्द धारा के कवियों का काव्य तो चित्र प्रधान है।

कविता और संगीत का सम्बन्ध भी विशेष महत्वपूर्ण है। निराला-साहित्य में यह सम्बन्ध चरम उत्कर्ष पर पाया जाता है। 'गीतिका' में निराला ने लिखा है, 'गीत सृष्टि शाश्वत है। समस्त शब्दों का मूल कारण ध्वनिमय ओंकार है। इसी

अशब्द संगीत से स्वर-सप्तकों की सृष्टि हुई है। समस्त सृष्टि स्वर का ही पुंजीभूत रूप है, अलग-अलग व्यष्टि मे स्वर-विशेष-व्यक्ति या मौन ११३।' वे पुनः लिखते हैं, 'स्वर संगीत स्वयं आनंद ही इसकी उत्पत्ति, स्थिति और परिसमाप्ति है। जहाँ आनन्द को लोकोत्तर कहकर विज्ञों ने निर्विषयत्व की व्यंजना की है-संसार से बाहर ऊंचे रहने वाले किसी की ओर इंगित किया है—आनंद की अमिश्र सत्ता प्रतिपादित की है, वहाँ संगीत का यथार्थ रूप अच्छी तरह समझ मे आ जाता है११४। 'निराला ने शास्त्रीय संगीतों की भी रचना की है। उनका विश्वास है कि इन गीतों के ढंग प्राचीन हैं, फिर भी ये नया रंग पैदा करने में समर्थ होंगे११५। आधुनिक कविता मे निराला का यह संगीत प्रेम अदृश्य हो गया है, फिर भी उनमे संगीत की एक प्रमुख विशेषता विद्यमान है। इसे हम तालानुगति अथवा रवानी की संज्ञा दे सकते हैं। आधुनिक कविता मे संगीत का नाद और ध्वनि-सौन्दर्य कलात्मक ढंग से गृहीत है। निराला काव्य मे हमे स्वर-संगीत, शब्द-संगीत और भाव-संगीत का दर्शन होता है। इनका विवेचन अनुभूति की रवानी, कविता की रवानी और नाद तथा ध्वनि के सन्दर्भ मे इसी शोध प्रबन्ध मे आगे किया गया है। कविता छन्द और लय प्रधान होती है। इससे वह संगीत के अधिक निकट पहुँच जाती है। स्वच्छन्द कविता गीत-प्रधान कविता होती है। अतएव उसके माध्यम संगीत की विशेषतायें सर्व-सामान्य को सुलभ होती है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि कविता के शब्द संगीत-प्राण और संगीत के स्वर कविता-प्राण होते है। भारतीय आलोचको मे शुक्लजी इस रहस्य से भलीभाँति परिचित थे। उन्होंने लिखा था, 'काव्य एक बहुत ही व्यापक कला है। जिस प्रकार मूर्त विधान के लिए कविता चित्र-विधा की प्रणाली का अनुगमन करती है, उसी प्रकार नाद-सौष्ठव के लिए वह संगीत का कुछ-कुछ सहारा लेती है। नाद-सौन्दर्य कविता की आयु बढ़ाता है।.....अतः नाद-सौन्दर्य का प्रयोग भी कविता का पूर्ण रूप खड़ा करने के लिए कुछ न कुछ आवश्यक होता है११६। रवीन्द्रनाथ भी इस तथ्य से से भली प्रकार परिचित थे। उन्होंने संगीत को विशुद्ध कला और सौन्दर्य का प्रत्यक्ष वाहक माना था। ..... इसीलिए उनकी दृष्टि मे महान् कवि विश्व को संगीत के माध्यम से व्यक्त करता है११७।'

निराला ने अपनी दृष्टि से कला पर विचार किया है। उनका कहना है, 'कला केवल वर्ण, शब्द, छन्द, अनुप्रास, रस, अलंकार या ध्वनि की सुन्दरता नही, किन्तु इन सभी से सम्बद्ध सौन्दर्य की पूर्ण सीमा है, पूरे अंगों की सत्रह साल की सुन्दरी की आंखों की पहचान की तरह- देह की क्षीणता- पीनता में तरंग सी उतरती-चढ़ती हुई, भिन्न वर्णों की बनी वाणी मे खुल कर क्रमशः मन्द मधुरतर होकर लीन होती हुई- जैसे केवल बीज से पुष्प की पूरी कला विकसित नही होती, न अंकुर से, न डाल से न पौधे से, जड़ से लेकर तना, डाल पल्लव और फूल के रंग रेणु-गन्ध फूल की पूरी कला के लिए जरूरी हैं, वैसे ही काव्य की कला के लिए काव्य के सभी लक्षण,

और जिस तरह 'फूलो' की सुगन्ध पेड़ के दृश्य समस्त भाग को ढँके हुए अपने सौन्दर्य तत्व के भीतर रखती है—पेड की काष्ठ निष्ठुरता दिखती हुई भी छिपी रहती है—उसी तरह काव्य-कला अशोभन वर्ण सम्प्रदाय को अपनी मनोज्ञता के भीतर डाले रहती है। तने, डाल, पत्ते और फूल के रंगों के भेद और उनके चढ़ाव उतार की तरह काव्य की भी प्रकाशन-धारा है, इसकी त्रुटि कला के एक अंश की त्रुटि होगी। इस प्रकार कला का मर्म स्थूल रूप से समझ में आ जाता है। एक केन्द्र से खीची हुई असंख्य रेखाओं की तरह काव्य-विषय की भी असंख्य कलाएँ है। सृष्टि स्वयं कला की असंख्यता का प्रमाण है। विवेचन के समय कला का प्रकार देखा जाता है, यही मालूम होता है, कला किस रूप की है, कैसे गति लिए हुए है और कहाँ तक पहुंची हुई है।[११८] स्पष्ट है कि निराला कला के सन्दर्भ मे सावयव विकास की बात उठाते है। वे समग्रता को कला का प्राण समझते है। 'तुलसीदास' मे भी उन्होने लिखा है, 'वह अकल कला गह सकल छिन्न जोड़ेगी।' इन उपर्युक्त अंशों से उनकी कविता और कला सम्बन्धी अवधारणा स्पष्ट होती है।

माराश यह कि कला और दर्शन मे अब भी कुछ ऐसा निहित है जिसे केवल विज्ञान की आख से नही समझा जा सकता। कला ओर विज्ञान की भाषा में सामान्य भेद होता है। फिर भी विज्ञान की कुछ मान्यताओ से कला के क्षेत्र का विस्तार हुआ है। कला मूलत: प्रातिबोधिक यथार्थ के दीप्तिमय क्षण का कलातीत निरूपण है। इसे अनेक तरह से समझने और समझाने का प्रयत्न किया गया है। इसी के परिणामस्वरूप सादृश्यमूलक, सौन्दर्यमूलक, भाव-संवेग मूलक, स्वय प्रकाशमूलक और मनोवैज्ञानिक निष्पत्तियाँ सामने आई हैं। इन कलाओं की रचना मे कुछ उभयनिष्ठ तत्व पाए जाते हैं, अतएव कुछ लोगो के अनुसार उसका वर्गीकरण संभव नही है। लेकिन इन उभयनिष्ठ तत्वों के अतिरिक्त उनकी अपनी निजी विशेषताओ को ध्यान मे रखकर कला को वर्गीकृत किया जा सकता है। कलाओं को प्राय. पाँच तरह का माना गया है। प्राचीन भारतीय विचारक काव्य को विद्या मे परिगणित करते थे। लेकिन उस विभाजन के आधार को लुप्त होने मे काव्य को कला का पाँचवाँ वर्ग मान लिया गया है। कलाओं मे ही अन्त. सम्बन्ध नही होता। कविता मे स्वत: अन्य कलाओं की विशेषतायें पाई जाती है। इससे इसकी व्यंजकता बढ जाती है।

द्वितीय अध्याय

सृजन-सिद्धान्त, व्याख्या और निराकरण

उत्तरदायित्व इससे बढ़ गया है। वह अपनी कूपमण्डूकता से कुछ नहीं पा सकता है। उसे तो दुराग्रह त्याग कर बद्धपरिकर होना है, दृष्टिकोण को व्यापक और प्रशस्त बनाना है तथा सर्वग्राही और समन्वयशील प्रतिभा का उन्मेष करना है। यह तभी सम्भव हो सकता है जब कला और कलेतर विषयों की निष्पत्तियों को समन्वित किया जाय और उन्हें एक दूसरे के पूरक रूप में ग्रहण किया जाय। कला-सृजन-प्रक्रिया को समझने के लिए तो यह अति आवश्यक है। इसके लिए ज्ञान-विज्ञान की विविध निष्पत्तियों से सहायता लेनी पड़ती है। मनोविज्ञान से मन-शरीर-मस्तिष्क सम्बन्धी ज्ञान, शरीर-विज्ञान से स्नायु संस्थानों और क्रियाओं का ज्ञान, औषधि विज्ञान से शारीरिक संरचना और मांसल गतिविधि का ज्ञान, विज्ञान से देश-काल सम्बन्धी मान्यता, दर्शन से जीव-जगत सम्बन्धी परिकल्पना और योगदर्शन से सचेतन आत्म-अभियान और मानव-मस्तिष्क पर उसके प्रभाव को ग्रहण करना पड़ता है। यंत्र-विज्ञान अपनी नित नई गवेषणाओं से, कम्प्यूटर, राडार और स्पुतनिक के ज्ञान से हमारे लिए चुनौती बन गया है। हम इसे भी दृष्टि से ओझल नहीं कर सकते। लेकिन इसके सम्यक् परिग्रहण के लिए व्यापक तत्वाभिनिवेशी दृष्टि की अपेक्षा है। वस्तुस्थिति तो यह है कि इस ज्ञान के वृहत्तर प्रसार से आज का व्यक्ति चाकचिक्य की स्थिति में पड़ गया है—वह किंकर्त्तव्य विमूढ हो गया है। इसीलिए वाल्मीकि के प्रथम अनुष्टुप् छन्द के साथ 'किम् इदम्' की जो जिज्ञासा पैदा हुई थी वह अभी तक 'कयम् इदम्' में नहीं परिणत हो सकी है। अगर हमने अर्वाचीन-प्राचीन ज्ञान-सरणि का सम्यक् आलोड़न किया होता, आवश्यक सूत्रों को आपस में सम्बद्ध किया होता, तो उससे प्रस्तुत समस्या का समाधान अवश्य हुआ होता। हम यह नहीं कहते कि प्रयत्न नही हुए। प्रयत्न हुए, पर उस रूप में नही हुए जिस रूप में होना चाहिए था।

ज्ञान के क्षेत्र के प्रशस्त हो जाने से व्यक्ति की दृष्टि भी प्रशस्त हो जाय यह आवश्यक नही। बुद्धि को प्रशस्त बनाने के लिए तो ज्ञान को प्रशस्त सन्दर्भो में ग्रहण करना अपेक्षित है। बीसवीं शताब्दी में इसका बडा अभाव है। ज्ञान-विज्ञान के बावजूद अब भी अधिकांश लोग 'मैटर, और 'स्पिरिट', 'आब्जेक्ट' और 'सब्जेक्ट' के द्वन्द्व में उलझे हुए हैं। विज्ञान की प्रगति ने अंशतः इस द्वन्द्व को निर्मूल सिद्ध कर दिया है। कार्य-कारण-शृंखला में बँधकर वह द्वन्द्व नए सन्दर्भो का वाहक बन गया है। हम उपलब्ध निष्कर्षों के आधार पर शाश्वत निर्माणोन्मुख क्रियाशीलता के स्पन्दनों की प्रतिध्वनि सुनने की स्थिति में पहुँच रहे है। जिसे कल तक जड़ समझा जाता था वह आज हमारे लिए चेतन बन चुका है, लेकिन हम अपनी डफली पर अपनी पुरानी तान टेरने से बाज नही आ रहे हैं। धार के विरुद्ध नाव खेने वाले अक्लमन्दों के करिश्मों से चकित होकर लोग उन्हीं का अनुगमन कर रहे हैं। ऐसी स्थिति में तत्वाभिनिवेशी दृष्टि का कुछ समय के लिए अदृश्य हो जाना स्वाभाविक है। सम्भवतः यह लोप न तो कभी

166—वही, पृ० १६ ।
167—तुलसीदास, पृ० २२–२३ ।
168—परिमल, स्वप्न-स्मृति, पृ० १४५ ।
169—अनामिका, सरोजस्मृति, पृ० १२१ ।
170—वही, पृ० १३० ।
171—वही, पृ० १३५–३६ ।
172—अनामिका, दिल्ली, पृ० ६२–६३ ।
173—नये पत्ते, रानी और कानी, पृ० १६ ।
475—वही, आँख, आँख का काँटा हो गई, पृ० २७ ।
176—वही, दगा की, पृ० ३५ ।
177—वही, कुत्ता भौंकने लगा, पृ० ६२ ।
178—कुकुरमुत्ता, पृ० ४६ ।

स्थायी रहा है और न हो सकता है। आज इसका प्रमुख कारण व्यक्ति का मशीन पर निर्भर हो जाना है। उसका मानस भी मशीनीकरण से ग्रस्त है। इससे तत्व चिन्तन गौण हो गया है। जीवन की सहज स्वाभाविकता क्षत-विक्षत हो उठी है। निर्वैयक्तिकता का बोलबाला हो गया है। इससे आज के युग में 'मैटर' और 'स्पिरिट' के द्वन्द्व के स्थान पर मनुष्य और मशीन का नया द्वन्द्व सामने आया है। यही द्वन्द्व जीवन में तनाव का प्रमुख कारण है। व्यक्ति ने अपना उत्तरदायित्व मशीन के कन्धे पर डाल दिया है। मशीन उत्तरदायी तो बन नही पा रही है, पर व्यक्ति परतंत्र अवश्य बनता जा रहा है। पहले व्यक्ति का जीवन वैज्ञानिक नियमों से अनुशासित होता था, समाज की मान्यताओ से अनुशासित होता था, लेकिन आज वह मशीन से अनुशासित होने के लिए अभिषप्त है। वह अपनी स्वतन्त्रता, प्रतिभा और चिन्तन को मशीन के यहाँ धरोहर रख चुका है। उसकी सर्जनात्मकता बन्दी है, परवश है, और उसे बाध्य होकर मशीन का अनुगमन करना पड़ रहा है। तात्पर्य यह कि उसका प्रकृत स्वरूप जो उसकी स्वतन्त्रता का पर्याय था, उसके हाथ से खिसक चुका है। प्रश्न है, क्या मनुष्य और मशीन का यह द्वन्द्व भी समाप्त हो सकेगा? क्या इन्हे एक दूसरे का पूरक बनाया जा सकेगा? इसी प्रश्न के उत्तर पर व्यक्ति की भावी सृजनशीलता का भविष्य निर्भर करेगा। तकनीकी ज्ञान की अभूतपूर्व प्रतिद्वन्द्विता में व्यक्ति को अभी इस पर विचार करने का अवकाश नही है। समय आयेगा जब इस प्रश्न की प्रासंगिकता स्वयं सिद्ध सार्थकता का रूप ले सकेगी।

जब हम उपर्युक्त पृष्ठभूमि मे सृजन के विवेचन और विश्लेषण के लिए तत्पर होते हैं तो हमारे समक्ष एक दूसरे से मिलते-जुलते कई शब्द उपस्थित होते है। इनमे 'डिस्कवरी', 'इन्वेन्शन' और और 'क्रिएशन' प्रमुख है। इन शब्दों को समानार्थी मानना उचित नही है। 'डिस्कवरी' या खोज का सम्बन्ध तथ्य से होता है, 'इन्वेन्शन' या आविष्कार का सिद्धान्त की खोज से और सृजन का संश्लेषण के माध्यम से कलाकृति की रचना से। आर्किमिडिज ने घनत्व के सिद्धान्त की खोज की थी। भाप का इंजन, वायुयान या स्पुतनिक बनाने वाले व्यक्ति ने उसका आविष्कार किया था और 'मेकबेथ' या 'अभिज्ञान शाकुन्तल' को लिखने वाले ने उसकी रचना की थी। सृजन-क्षमता का उपयोग सभी ने किया था, पर उनका सृजन की विशेषताओ के आधार पर भिन्न-भिन्न संज्ञाओ और विश्लेषणो से अभिहित किया गया। इसके तात्विक स्वरूप को समझने के लिए हमें सृजन और निर्माण के भेद को समझना होगा। वस्तुतः ये दोनों शब्द एक ही पिता के दो पुत्रो के सदृश है जो समान वंश-परम्परा और वातावरण के बावजूद अपनी मानसिक रुझान के कारण हमें कुछ भिन्न ज्ञात होते है। सृजन-क्षमता किसी की बपौती नही होती। उस पर किसी का एकाधिकार असम्भव है। प्रतिभा के उपयोग और उपलब्धि की अपनी विशेषताये होती है। उनमें गुणात्मक भेद कम और परिमाणात्मक भेद अधिक होता है। कला और

विज्ञान का भेद अथवा यों कहें कि सृजन और निर्माण का भेद प्रतिभा के द्वारा भाव-बोध को व्यक्त करने की पद्धति मे भिन्नता के कारण उत्पन्न होता है। हमें भूलना न चाहिए कि सृजन में हमे ऐसे तथ्य मिलते हैं, जो कलाकार की भाव-राशि को संश्लेषित करने के कारण उसकी अन्तःसत्ता के परिचायक होते हैं। वैज्ञानिक सृजन विश्लेषण प्रधान होने के कारण व्यक्ति मे उस रूप में नहीं जुड़ पाता है जिस रूप में कलात्मक सृजन। वह तो बाह्य दृष्टि से प्रस्तुत आवश्यकता के घात-प्रतिघात का प्रतिफलन होता है। सृजन बोध प्रधान होता है, निर्माण निर्णय प्रधान। सृजन संश्लेषण प्रधान होता है, निर्माण विश्लेषण प्रधान। संश्लेषण मे उसके तत्व आपस में मिलकर उसे नई व्यंजना प्रदान करते हैं, पर विश्लेषण में कोई तात्विक परिवर्तन नहीं होता। सृजन लालित्य प्रधान होता है पर निर्माण सौन्दर्य प्रधान। सृजन का सम्बन्ध अर्थवत्ता से होता है पर निर्माण का उपयोगिता से। सृजन का माध्यम सूक्ष्म होता है, निर्माण का स्थूल। इस तरह सृजन निर्माण की कुछ विशेषताओं से अलंकृत होते हुए भी उससे अंशतः भिन्न होता है। सृजन शब्द 'सृज्' धातुमूल से और क्रिएशन शब्द 'क्रिएर्' धातुमूल से निष्पन्न हुआ है। इनका अर्थ होता है सचेतन दृष्टि से स्वेच्छया तकनीक मुक्त रचना।

सृजन शब्द पर्याप्त व्यापक अर्थ-संहृति का परिचायक है। हिन्दी में इसकी अर्थसंगति मे रचना, सर्जन आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है। कहने की आवश्यकता नही कि सृजन भी उसी अर्थसंहृति को वहन करता है जो रचना और सर्जन द्वारा व्यक्त की जाती हैं। अतः इन्हे पर्याय रूप मे ग्रहण किया जा सकता है। सृजन की मूलभूत विशेषताओ का उल्लेख ऊपर किया गया है। पर उससे इसके केवल एक पक्ष का उद्घाटन होता है। इसीलिए अब हम इसके दूसरे पक्ष सृजन-क्रिया और सृजन के अन्तःसम्बन्ध पर विचार करते है। मानस मे कहा गया है, 'तेजवन्त लघु गनिय न रानी'। यह प्रश्न भी कम तेजवन्त नही है, अतएव इसे 'लघु' मानने की आवश्यकता नही। हर शब्द के निजी सन्दर्भ और विशेषतायें होती है। अतएव उसे समझने का सब से सरल और प्रामाणिक साधन इन्ही सन्दर्भो और विशेषताओं का उद्घाटन होता है। कहना न होगा कि सृजन, सर्जन या रचना किसी निश्चित क्रिया की परिचायक है, जिसके, माध्यम से रचना का कार्य संपादित होना है। इसका सबसे पहली आवश्यक शर्त है मौलिकता और नवीनता। जबतक कृति मौलिक नही होती, उसमे किसी नए पन का आभास नही मिलता, तबतक वह हमारे आकर्षण का विषय नही बन पाती। मौलिकता सापेक्ष अर्थ की वाहक होती है। किसी भी विचार को मौलिक कह पाना बडा कठिन है। हो सकता है उस विचार का पहले किसी न किसी रूप मे उपयोग हो चुका हो। इसका प्रमुख कारण यह है कि विचारों और कथारूढियो का चक्र चलता रहता है। हर देश और काल के लोग उनका उपयोग करते रहते है। फिर उन्हे मौलिक कैसे कहा जा सकता है?

मेरी दृष्टि मे विचार या भाव की मौलिकता केवल इस तथ्य की मुखापेक्षी होती है कि वर्तमान सन्दर्भों मे हमने उसे किस दृष्टि से ग्रहण किया है और उसके अभिव्यक्तीकरण के लिए किस आल-बाल की व्यवस्था की है। नए अनुषंगों, सन्दर्भो और अभिव्यंजक स्वरूपो से मुखरित होने वाले विचार नए बन जाते हैं। शर्त केवल यह है कि अभिव्यंग्य का यथार्थ के साथ सामंजस्य हो, उसका समसामयिक समस्याओं से लगाव हो और वह अपने निरूपण मे किसी उद्देश्य की पूर्ति का वाहक बन सके। उद्देश्य को कला पर आरोपित नही होना चाहिए, इसे तो मणि की विच्छित्ति की तरह उसकी संरचना से प्रतिच्छायित होना चाहिए। हमें यह भूलने की आवश्यकता नही है कि कला जीवन-रहस्य को समझने की अन्तर्दृष्टि को प्रशस्त, व्यापक और ग्राह्य स्वरूप प्रदान करती है। इसीलिए उसका सृजन शक्त्यानुसार सब के लिए आनन्दप्रद और ग्राह्य बन जाता है। लेकिन सृजन और जीवन में भेद होता है। सृजन अपनी लालित्यबोधीय व्यंजना मे सत्यं, शिवम् और सुन्दरम् को व्यंजित करता है। इसके समाधान वैयक्तिक नही अपितु सामाजिक होते हैं। रचना मानव जीवन के लिए नई व्यवस्था, नई आशा और नए विश्वास की जनक होती है। वह सामान्य जीवन-अनुभवो की सीमा के पार जाकर, नए उपलब्ध अनुभवों को अभिनव ढंग से संश्लेषित करके एक ऐसी अभिनव कृति प्रदान करती है जिसमें भूत का सार, वर्तमान का समाधान और भविष्य का जीवन-स्पन्दन निहित होता है।

रचना की ही तरह हमे रचनाकार से भी अपेक्षा होती है। वह अपनी विशेषताओं के कारण हमारी इस अपेक्षा की पूर्ति करता है। रचनाकार व्यक्ति होता है। वह वंशपरम्परा, वातावरण और बौद्धिक घात-प्रतिघात से उसी रूप में प्रभावित होता है जिस रूप में सामान्य व्यक्ति प्रभावित होता है। अतएव उसकी कुछ विशेषतायें उभयनिष्ठ होती है। लेकिन कुछ बातो मे यह सामान्य व्यक्तियों से भिन्न होता है। वह स्वतंत्र-चिन्तन-सक्षम और सतेज-बुद्धिप्रधान-व्यक्ति होता है। वह न तो केवल बाहर के आकर्षण के नागपाश से बंधता है और न केवल अन्त जीवन—स्पन्दन से। वह दोनो को अपेक्षित महत्व प्रदान करता है और उनको समन्वित करके प्रस्तुत करता है। आन्तरिक भावसंवेदना और अनुभूति को अंतर्दृष्टिप्रवण सामान्य रुझान में रचनाकार सामान्य व्यक्ति से भिन्न होता है। वह अधिक सहिष्णु और संवेदनशील पाया जाता है। इसीलिए वह प्रिय-अप्रिय, शुभ-अशुभ, शान्त-अशान्त, द्वन्द्वपूर्ण और द्वन्द्वातीत स्थितियों को सहज अभिव्यक्ति प्रदान करता है। यथा समय उसका हृदय द्वन्द्व और संघर्ष का रणक्षेत्र बन जाता है। फिर भी वह शान्त भाव से उनके आघातों को सहन करता रहता है। वह किसी भी ज्ञान को अन्ध श्रद्धा से नही ग्रहण करता है। वह अपनी अंतर्दृष्टि के द्वारा उसकी तह तक जाता है और अपने विश्लेषण मे अपनी परख से सभावनाओं के ऐसे मोती निकाल ले आता है जिससे रचनाकार ही नही उसकी रचना और पाठक भी चमत्कृत हो उठते है। वह प्रातिभज्ञान और सहज ज्ञान का उपयोग भी

करता है और सिद्धान्त का सहारा भी लेता है। लेकिन उनका उपयोग साधन के रूप में किया जाता है, साध्य के रूप में नही। रचनाकार का साध्य तो वह सार्थक यथार्थ होता है जो जीवन के अन्तराल मे प्रच्छन्न रूप से पडा रहता है और उसे सक्रिय-निष्क्रिय बनाता रहता है। उसकी ललित दृष्टि समूची कला मे उसी तरह विद्यमान रहती है जिस तरह शहद मे मिठास। इसी विशेषता के कारण कलाकृति आह्लाद और चमत्कार की जनक बनती है और सौन्दर्य प्राण सिद्ध होती है। स्विस मनोवैज्ञानिक युंग ने मानव-प्रकृति को पूरकता के सिद्धान्त मे अनुप्राणित माना है। उनकी धारणा है कि मनुष्य की चेतन और व्यक्त व्यक्तित्व की हर विशेषता अचेतन में उपस्थित अपने विरोधी तत्व की या तो पूरक होती है या प्रतिस्पर्द्धी। इससे वह आंशिक रूप मे उन विशेषताओ से प्रभावित हो उठती है जो अविश्लेष्य और अव्यक्त रूप मे हमारे मन मे निवास करती है। मन मे पड़ी इन भावनाओ के तीन रूप होते है। वे या तो हमारे उचित अवधान का विषय न होने के कारण तिरस्कृत होती हैं, अधिक कष्टप्रद होने के कारण अग्राह्य होती है, या बौद्धिक परिपक्वता के अभाव मे हमारी समझ के बाहर होती है। इन कारणो से दमित होकर ये भावनाये अचेतन का अंश बन जाती है। सचेतन रूप में अचेतन का अनुभव करना और उसे व्यक्त करना सरल नही है। युग के शब्दो मे यह कष्टसाध्य और भयावह होता है। जब हम केवल चेतन को अभिव्यक्ति प्रदान करते है तो जीवन के अर्द्धांश को व्यक्त करते है। सर्जक चेतन और अचेतन दोनों को व्यक्त करता है। उसमे जड परम्परा के विद्रोह, अनावश्यक के परित्याग और नवीन के संश्लेषण की अप्रतिम शक्ति होती है।

सृजक और सृजन की इन उपर्युक्त मान्यताओ का अपना महत्व है। इन्हे हम दिशानिर्देशक तत्व भी मान सकते है। इससे एक बात तो स्पष्ट हो ही जाती है कि विविध विशेषताओ से मण्डित सृजन की कोई एक परिभाषा नही की जा सकती है और अगर की भी जाय तो वह सबको ग्राह्य नही हो सकती है। इतना ही होता तो समस्या हल भी हो जाती। पर इससे भी आगे बढकर आज के बहुसंख्यक लोग युग की शब्दावली मे यह भी स्वीकार करते है कि उद्दीपन से सम्बद्ध प्रतिचेष्टा को व्याख्यायित किया जा सकता है, पर सृजन को व्याख्यायित करना सर्वथा कठिन है, क्योकि यह प्रतिचेष्टा का सर्वथा विरोधी होने के कारण मानव-प्रज्ञा को छलावे मे डाल देता है।[1] इन विचारो के लोग अब भी बीच मे कुछ इस तरह अडे हुए है कि आगे बढने का राजमार्ग अवरुद्ध हो गया है। इन हरिश्चन्द्रो का यह दृढव्रत टल कैसे सकता है? इन्हे टालने के स्थान पर अपने हा टल जाना अच्छा है। युग ने कठिनाई का निरूपण किया था, मार्गविरोधो से हमे परिचित कराया था, लेकिन वह किंकर्तव्य विमूढ होकर बैठ नही गया था। वह अपने जीवन मे इसके रहस्य को समझने के लिए ललकता रहा और कुछ हद तक उसे इसमे सफलता भी मिली। युग के समय से लेकर आज तक इसके संधान के लिए निरन्तर प्रयत्न हुआ है और पहले की अपेक्षा

इधर कुछ तथ्य भी सामने आये है । ये हमारे लिए मार्ग-दर्शन का काम कर रहे है। अतएव अब निराशा के लिए कोई स्थान नहीं रह गया है । आज की समग्र उपलब्धि के मूल मे मानव की सतत सघर्षशील चेतना का इतिहास निहित है । इसका संबल ग्रहण करने से बहुत कुछ उपलब्ध हो सकता है । सृजन-प्रक्रिया के क्षेत्र मे हमे बहुत कुछ मिला भी है । इसके प्रति दृष्टिकोण बदलने की आवश्यकता है । मैं यह नही कहता कि बदलाव नही आया है, वह आया है, पर उस रूप मे नही जिस रूप में आना चाहिए । पहले के लोग रचना और पाठक के अन्त सम्बन्ध पर विचार करते थे । आज के वैज्ञानिक युग मे रचना, रचनाकार और पाठक की त्रयी अपनी पूर्ण जटिलता मे उभर कर हमारे सामने आई है । इसका समाधान सृजन-क्रिया के विश्लेषण से ही सभव हो सकता है ।

सृजन-प्रक्रिया पर विचार करते समय उसकी परिभाषा का प्रश्न उठता है । हमने इसकी सीमा की ओर संकेत कर दिया है, फिर भी 'हौ पण्डितन केर पछलगा' । इसी आधार पर कुछ कहने का साहस भी करूँगा । सृजन-प्रक्रिया की कुछ परिभाषाओ को अधोलिखित रूप मे प्रस्तुत किया जा सकता है—

(१) सृजन-प्रक्रिया नए, अप्रत्याशित सम्बन्धो की परिचायक होती है ।[२]

(२) सृजनशीलता अभिनव मूल्यवान रचना को प्रदान करने का प्रमुख साधन है ।[३]

(३) सृजन-क्रिया विशिष्ट तरह की समस्या समाधानक क्रिया है । नवीनता, परम्परामुक्तता और अभिनिवेश इसकी प्रमुख विशेषताये है ।[४]

(४) यह ऐसी क्रिया है जिसमे मानव-मस्तिष्क बाह्यजगत् से बहुत कम ग्रहण करता है । इस क्रिया मे वह स्वय अपने पर क्रियाशील दिखाई पड़ता है ।[५]

(५) यह ऐसी क्रिया है जिसमे कल्पना द्वारा गृहीत तथ्य को स्वेच्छया इस रूप मे अभिव्यक्त किया जाता है कि वह तथ्यपरक मूर्तीकरण और साक्षात्कार का विषय बन जाता है ।[६]

(६) यह क्रिया तथ्य द्वारा अभिनव रचना की जनक बनती है ।[७]

(७) सृजनशालता को हम ऐसी क्रिया मान सकते है जो उपकल्पना के निर्माण, परीक्षण और परिणामो क संप्रेषण का कार्य संपादित करती है । ये उपकल्पनायें किसी निश्चित कालावधि मे अन्य व्यक्तियों के लिए उपयोगी, ग्राह्य और सतोषप्रद सिद्ध होती है ।[८]

(८) हम ऐसे व्यक्ति को सर्जक मान सकते है जो अपने बौद्धिक प्रयासो के विशिष्ट ज्ञान, शिशु सुलभ सहज जिज्ञासा और बोध के विरोधाभासो को समन्वित करता है[९] ।

(९) सृजनशीलता काल मे प्रसरित ऐसी क्रिया है जो मौलिकता, अनुकूलता और सिद्धि की विशेषताओ से मंडित होती है [१०]।

(१०) सृजन-क्रिया जिस अंश मे अचेतन स्रोतो की मुखापेक्षी होती है, उसी अंश मे उसमे नियन्त्रण की शिथिलता और काल्पनिक रूपों को ओर प्रत्यावर्तन निहित होता है। ये व्यवस्थाये शाब्दिक व्यवस्था के प्रति अन्यमनस्क पाई जाती है, द्वन्द्वों से प्रभावित नही होती हैं और सामान्य बुद्धि के नियमो और प्रतिबन्धो से मुक्त होती है[११]।

(११) इस दृष्टि से रचना अभिनव कृति है, जो निश्चित काल मे उपयोगी, ग्राह्य और सतोषप्रद मानी जा सकती है[१२]।

(१२) सृजन-क्रिया मे सर्जक इस विशिष्ट ढंग से अपने समग्र व्यक्तित्व को वातावरण पर आरोपित करता है कि वह उसके कार्य और कृति मे प्रतीक रूप में निहित हो जाय[१३]।

(१३) सृजनशीलता को निश्चित चित्तवृत्ति के रूप मे परिभाषित करते समय सृजक उसके द्रष्टत्व और भोक्तृत्व का विशेष उल्लेख करता है[१४]।

(१४) सर्जनात्मक क्षमता ऐसी क्षमता है जिसके माध्यम से भूत की अनुभूति के कल्पनाशील तत्व का निश्चित परिस्थिति में इस तरह उपयोग किया जाता है कि उस से हमे प्रत्यय और बोध हो सके। यह बोध परिस्थिति की प्रत्यक्ष प्रक्रिया से प्राप्त नही होता है। यह तो यथार्थ मे क्षण व्यक्ति की जटिलतम मस्तिष्कीय प्रतिक्रिया मे सवर्द्धित और परिवर्द्धित होता है[१५]।

(१५) सृजनशीलता व्यक्ति की ऐसी क्षमता है जिसके माध्यम से वह किसी नई रचना, निर्मिति या विचार को उत्पन्न करता है ....जिसका उसके पहले उसको कोई ज्ञान नही था। यह केवल आकलन या योग नही होती। यह तो यथार्थ मे कल्पना प्रधान क्रिया या विचार का संश्लेषण होती है। इसमे नई संघटना का आविर्भाव होता है..... जिसका आधारभूत कोई अनुभव .....नई परिस्थिति में प्राचीन सम्बन्धो का प्रतिरोपण और..... .....अभिनव सम्बन्धों का सयोजन हो सकता है। यह सादेश्य होती है ... ..। यह पूर्ण निर्मित नही होती। यह भी आवश्यक नही कि इसका तात्कालिक प्रायोगिक विनियोग हो सके। यह रचना कलात्मक, साहित्यिक या वैज्ञानिक किसी तरह की हो सकती है। यह प्रकृत्या प्रक्रियात्मक या रीत्यात्मक किसी भी रूप को ग्रहण कर सकती है[१६]।

(१६) सृजन-प्रक्रिया भावगत जीवन की व्यवस्था मे परिवर्तन, विकास और प्रसार की क्रिया होती है[१७]।

(१७) सृजन अंशतः कृत्रिम शब्द है जिसका प्रयोग कलाकारों द्वारा दृश्य वस्तुओं के चुनाव और संशोधन के द्वारा किए गए परिष्कार के लिए किया जाता है[१८]।

(१८) लालित्यबोधीय क्रिया चेतना के रूप मे विचार की क्रिया है। यह अनुभूति को कल्पना मे परिवर्तित करती है। इस परिवर्तन के बावजूद अनुभूति ऐन्द्रिय बनी रहती है।

(१९) कला-सृजन-प्रक्रिया को हम गवेषणा और सुलझाव की क्रिया कह सकते है।

उपर्युक्त अंश मे कला-सृजन की अनेक परिभाषायें दी गई हैं। इन पर दृष्टि-पात करने से अनेकानेक तथ्य सामने आते है। परिभाषाओ मे पर्याप्त भिन्नता है। कोई परिभाषाकार रचना को केन्द्र मे रखकर अग्रसर हुआ है तो कोई रचयिता और उसके परिवेश को। कोई अन्य रचनाशक्ति के महत्व से अत्यधिक प्रभावित है तो कोई शक्ति से युक्त मानस और रचनाशील चित्तवृत्ति से। इससे इन्हे किसी एक दृष्टि से मूल्याङ्कित कर पाना कठिन है। सृजन की विशेषताओ का परिभाषा के पूर्व उल्लेख किया जा चुका है। यहाँ केवल इस तथ्य का संकेत करना आवश्यक है कि उपर्युक्त परिभाषाओं मे रचना के नए अप्रत्याशित सम्बन्ध, अभिनव स्वरूप, समस्या समाधानक विशेषता, परम्परायुक्त अभिनिवेश, आन्तरिक स्वरूप, आत्म साक्षात्कार-परक पक्ष, संप्रेषण, समन्वय, मौलिकता, अनुकूलता, सामान्य बौद्धिक अनुशासन से मुक्ति, निश्चित देशकाल मे सन्तोषप्रदाता क्षमता, द्रष्टत्व और भोक्तृत्व, गवेषणा, तनाव और सुलझाव और भागवत जीवन की व्यवस्था मे परिवर्तन, विकास और प्रसार का उल्लेख किया गया है। इसके आधार पर हम कह सकते है कि कलात्मक सृजन अभूतपूर्व संवेदन की स्थिति मे कलाकार के मानसिक वैशिष्ट्य के स्वरूप का ऐसा प्रातिभ निरूपण है जिसमे मूल्य के अभिज्ञान के साथ ही आनन्द प्रदाता क्षमता निहित रहती है। कलासृजन की अपरिहार्य विशेषता उसकी मूल्यवत्ता है। इसको मूर्त रूप प्रदान करने के लिए सृजक को मात्र द्रष्टा होना आवश्यक है। मात्र आत्मगत स्वरूपो का चितेरा नही अपितु वस्तुगत स्वरूपो का भावक होना आवश्यक है। सृजन-क्रिया में रत होते ही सृजक के प्रातिभज्ञान, सहज ज्ञान और उसकी रचनाशक्ति स्वयमेव उद्दीप्त हो उठती है। प्रातिभ ज्ञान के माध्यम से वह आवश्यक तथ्य और सत्य को हृदयंगम करता है, सहज ज्ञान के माध्यम से वह जीवन स्पन्दनो का यथार्थ बोध प्राप्त करके उन्हे निश्चित स्वरूप मे ग्रहण करता है और कल्पना के माध्यम से वह पूर्वापर सम्बन्ध निर्धारित करके अपने भावबोध को कलात्मक रूप मे मूर्तिमान करता है। कलाकार की संवेदनशीलता और प्रतिभा के युगपत् सम्बन्ध से ही कला का स्वरूप सँवरता ही नही निखरता भी है। सृजक अमूर्त को मूर्त और निराकार को साकार बनाता है। अतएव इसे दोनो का साक्षात्कार करना पड़ता है। चिन्तनरत

स्थिति में चेतना तरंगिणि दोनो छोरों को छिटका कर निर्बाध हिलोर लेने में तल्लीन रहती है। वहाँ बोध असीम और निराकार होता है, लेकिन—सृजन क्रिया मे बँधते ही यह ससीमता की ओर उन्मुख होने लगता है। असीम को ससीम और ससीम को पुनः अनंत व्यंजनाओ से भर कर असीम बनाने का यह रहस्य सृजन-क्रिया की मूलभूत विशेषता है।

इन तथ्यों को तात्विक और वैज्ञानिक दृष्टि से समझने के लिए यह अति आवश्यक है कि हम सर्जको के वैयक्तिक अनुभव के उस पक्ष को पूर्णता से हृदयंगम कर लें जिसका उन्होने सृजन के आत्मचरित के रूप मे उल्लेख किया है। सृजन-प्रक्रिया पर विचार करने वाले सभी लोगों की दृष्टि Poincare के गणित के अनुसंधान की ओर गई है। गणितीय अनुसधान पर अपने भाषण मे उन्होने इस क्रिया के स्तरों का तार्किक विश्लेपण किया है। आरम्भ मे उन्होंने गवेपणा से सबंधित अपने विचारो को संग्रथित और समन्वित करने का प्रयत्न किया था। बहुत परिश्रम करने पर भी वे इसमे सफल नही हो सके थे। दो सप्ताह के अनवरत सचेतन संघष के पश्चात् उन्हे उस कार्य मे प्रथम अन्तर्दृष्टि-प्रधान-स्फुरण का साक्षात्कार हुआ था। एक दिन अपनी आदत के विरुद्ध उन्होने काफी पी, जिससे उन्हे नीद न आ गई। उनके मानस मे मूलभूत समस्या से सम्बन्धित विचार की शृंखला उठने और आपस मे टकराने लगी। इसके पश्चात् उनके युग्म आपस मे स्वयमेव ग्रथित होने लगे। दूसरे दिन प्रातःकाल तक उन्हे Fuchian function के एक अंश के अस्तित्व का ज्ञान हो गया। उन्होने थोडे समय मे उसके परिणाम को अंकित कर लिया। इसके पश्चात वे भूगर्भशास्त्रीय पयटन क लिए निकल पडे। पर्यटन मे उनका ध्यान मूलभूत समस्या से हट गया। कुछ दिन बाद जब वे बस पर चढ रहे थे उस समस्या से सम्बन्धित विचार उनके मानस मे पुनः कौधने लगे। अपने आवास पर लौटने पर उन्होने उसके परिणामो की परीक्षा की। अब की बार भी समस्या का समाधान न हो सका। उसके एक पक्ष का हल न मिल सका। सचेतन रूप मे उन्होने उस पर पर्याप्त श्रम किया, पर वह निष्फल सिद्ध हुआ। एक दिन जब वे टहल रहे थे तो उससे सम्बन्धित विचार तात्कालिक निश्चितता, आकस्मिकता और सक्षिप्तता के साथ पुनः उनके मानस मे कौधने लगे। उन्होने उसके सचेतन परीक्षण को स्थगित रखा। वे अवकाश के समय मे उस पर सोचते अवश्य रहे। बाद मे उन्हे अनिवार्य सैनिक सेवा के लिए जाना पडा। वह समस्या अब पूर्णतः उनकी स्मृति से अदृश्य हो गयी। उसी सेवाकाल मे पुन वैचारिक दीप्ति के माध्यम से उन्हे पूर्ण समाधान मिल गया। वे अपनी गवेषणा मे सफल हो गए।

इसी तरह का एक उदाहरण नृत्य से भी प्रस्तुत किया जा सकता है। मेरी-विगमान ने इसका उल्लेख किया है। उन्होने लिखा है कि मेरा उद्देश्य भाव-संवेगो की व्याख्या करना नही है। कष्ट, आनन्द और भय आदि इतने रूढ़ शब्द है कि इनके

आधार पर उन स्रोतों की व्याख्या हो भी नहीं सकती। नृत्य अस्तित्व के निश्चित बिन्दु से प्रवाहित होता है। चेतना के विविध स्तरों से भाव-संवेग के अनेक रूप उत्पन्न होते है और इनमे नृत्य के वातावरण के सृजन मे सहायता मिलती है। उन्होंने अपने "पैन्टोरेल" की रचना के स्वरूप का अधोलिखित रूप मे उल्लेख किया है। वे एक दिन अपने स्टुडिओ मे गईं और पूर्ण शैथिलीकरण की स्थिति मे डूब गईं। गम्भीर निस्तब्धता और शान्ति के क्षणों मे उनके हाथ और अन्य शारीरिक अवयव स्वयं संचालित होने लगे। उन्होंने अपने सहायक को पुकार कर कहा कि वे नहीं जानतीं कि उनकी उस मन स्थिति से क्या उत्पन्न होगा? कुछ उत्पन्न होगा भी या नहीं? फिर भी उनकी इच्छा है कि बाँसुरी पर एक साधारण राग को बार-बार आवृत्ति की जाय। बाँसुरी की ध्वनि के साथ नृत्य विकसित होने लगा, पर उस दशा में न तो वादक सचेतन रहा और न संगीतज्ञ। संगीत और नृत्य के सामंजस्य की बात उठाई जाती है। मैं पहले नृत्य की योजना तैयार करके उसके अनुरूप संगीत की उद्भावना नहीं करती। मैं तो पहले 'थीम' पर विचार करती हूँ और उसके पूरी तरह परिभाषित होने के पहले अपने संगीत के स्वरूप को निर्धारित कर लेती हूँ। उस पर कई तरह के प्रयोग करती हूँ और अन्ततोगत्वा उसका रूप स्वयमेव निश्चित हो जाता है।

चित्रकला मे सृजन के स्तरों का उल्लेख कई निष्णात चित्रकारों द्वारा किया गया है। पिकासो मेरी दृष्टि मे विशेष महत्वपूर्ण है।[२४] उन्होंने अपने विषय में लिखा है कि वे चित्र मे उन सभी स्वरूपों को ग्रहण करते हैं जो उन्हे प्रिय है। उनके चित्र का विकास निश्चित क्रम से होता है। वे उसके पूर्ण होने तक उसमें निरन्तर कुछ जोडते जाते है। लोगो की दृष्टि मे चित्र जोड़ का परिणाम है, पर पिकासो की दृष्टि मे वह ताड का परिणाम है। चित्र बन जाने पर वे इन्कार करना चाहते हैं, पर कर नहीं पाते। प्राय. लोग यह देखना चाहते है कि चित्रलेखन मे मानस किस तरह क्रियाशील होता है? लेकिन देखना यह आवश्यक है कि चित्र कहीं आरम्भिक परिकल्पना से भिन्न तो नहीं हो गया है? प्रथम बिम्ब की त्रुटि को दूर करने के लिए चित्र मे कुछ अन्य बातों का समावेश किया जाता है, लेकिन चित्र बन जाने पर यह त्रुटि अदृश्य हो जाती है और पूर्ण चित्र मेरी पहली कल्पना का चित्र होता है। चित्र का मानसिक बिम्ब अवश्य उपस्थित रहता है। निर्माण मे गतिशील विचार उससे जुडते जाते है। जिस तरह व्यक्ति के जीवन मे अनुभव निरन्तर एकत्रित होकर समृद्ध होते है, उसी तरह चित्र मे भी अनुभवों का सहयोग होता है। चित्र में रंग के समन्वित अंश निश्चित रवानी से आरम्भ मे सम्बद्ध होते है। चित्र के आरम्भ के समय कोई न कोई सहयोगी भाव या आदर्श होता है, पर अन्त तक चित्रकार अकेले रह जाता है। पूर्ण होने पर संशोधन और परिवर्द्धन का कार्य संपादित किया जाता है। चित्रकला और प्रकृति का सम्बन्ध होता है, प्रकृति जो रूप, रंग या आकर्षण प्रदान करती है, चित्रकार को उसे ग्रहण करना पडता है। इसमे चित्रकार में ऐसे

भाव पैदा होते हैं जिन्हे चेतना का आवश्यक उपजीव्य कहा जा सकता है। इस प्रभावोत्पादन के साथ यथार्थ स्वरूप अदृश्य हो जाता है। सत्य काल्पनिक तथ्य में बदल जाता है। मै उसे रूप-रंग से बाँधने का प्रयत्न करने लगता हूँ। चित्रकला के साथ वैसे ही व्यवहार करना पड़ता है जैसे व्यक्ति के साथ। चित्रकार दो मनः-स्थितियों का साक्षात्कार करता है। आरम्भ मे वह भावो और विचारो से भरा होता है पर उन्हे चित्रित कर देने पर उसका यह भाण्डार समाप्त हो जाता है, चुक जाता है। पिकासो ने स्पष्ट शब्दों मे इसका उल्लेख किया है कि सौन्दर्य पर विचार करने की शास्त्रीय पद्धति झूठी सिद्ध हो चुकी है वह धोखेबाज होती है और सत्य से विरत करती है। सौन्दर्य के बने-बनाए आदर्श थोथे और निस्सार होते है। इसे प्राप्त करने के लिए हमे बने-बनाए साँचे से हटकर सहजानुभूति और बुद्धि के माध्यम से जीवन की गवेषणा करनी पड़ती है। कलाकार क्या करता है, वह महत्व-पूर्ण नही है, वह क्या है, यह महत्वपूर्ण है। कुछ लोग चित्र को अपनी तरह से समझते है, चित्रकार की तरह से नही। यह दृष्टिकोण त्रुटिपूर्ण है। चित्रकार की उस मनोभूमि को समझना अति आवश्यक है जिसकी चित्र मे व्याख्या की गई है।

काव्य-सृजन पर भी सर्जको ने अपने विचार व्यक्त किए है। 'पोएट्स ऐटवर्क' नामक पुस्तक मे चार प्रमुख कवियो ने सृजन-प्रक्रिया पर विचार किया है। इसके अतिरिक्त भी बहुत कुछ कहा गया है। ए० ई० हाउसमैन ने अपनी सृजन-प्रक्रिया पर विचार करते हुए लिखा है, "मध्याह्नोत्तर मेरे जीवन का सबसे नीरस और अबौद्धिक समय है। एक दिन इसी समय थोडा 'बिअर' पीकर मै टहलने के लिए निकला। टहलते समय मैं किसी निश्चित बात पर विचार नही कर रहा था, केवल आसपास की प्रकृति की वस्तुओ को देख रहा था। इसी समय मेरे मानस मे एक विचित्र अकथनीय भाव-संवेग के साथ कभी कविता की एक दो पंक्तियाँ उद्भासित होती थीं तो कभी पूरा पद। इसके पश्चात् कुछ समय मानस शान्त रहता था। पुनः रचना के स्रोत फूटने लगते थे। घर लौट कर हमने उन पंक्तियो को लिख लिया। जहाँ स्पष्ट नही हुआ था या भूल गया था वहाँ पर रिक्त स्थान छोड़ दिया। मै आशा करता था कि दूसरे दिन पुनः प्रेरणा मिलेगी। कभी-कभी वह मिलती भी थी। फिर भी बाद मे कविता को अपनी बुद्धि के अनुसार पूरा करना पडा।"

सर्जको की इस उपर्युक्त आत्मकथा पर विचार करने से कुछ महत्वपूर्ण निर्देश प्राप्त होते है। इनको ध्यान मे रखते हुए सृजन-क्रिया के विकास के स्तरों को उद्घाटित किया जा सकता है। इन्हे चार भागो मे विभक्त किया जा सकता है, (१) तैयारी का काल—इस काल मे लेखक सामग्री के चयन और उसके संश्लेषण का प्रयत्न करता है। इस प्रयत्न में वह पूर्णतया सफल नही हो पाता, फिर भी सृजन के संकल्प और परिकल्पना से उसका मानस प्रभावित होता रहता है। प्रयोग के आधार पर देखने मे आया है कि ये अधिकाश विचार बाद मे परिवर्तित हो जाते है। पर

तैयारी का यह काल सृजन की आधारभूमि होता है। (२) पूर्वगृहीत विचारों के पोषण संवर्द्धन और परिवर्द्धन का काल—समाधान न प्राप्त कर सकने या सृजन मे सफल न हो सकने के कारण वैज्ञानिक या कलाकार कुछ अन्य कार्यों मे रत हो जाते है। दृश्य रूप से वे इस समय पूर्व विचार मे मुक्त ज्ञात होते हैं, पर अदृश्य रूप से तैयारी के काल मे ग्रहण किए गए विचार उनके अन्तर्मन या अचेतन मे पड़े रहते है। अचेतन उस विचार को पोषित करके प्रच्छन्न रूप से विकसित करता रहता है (३) स्फुरण या दीप्ति का काल—इस काल मे अन्तर्दृष्टि मे स्फुरण से चित्त-वृत्ति और विचार निश्चित उद्देश्य मे सम्बद्ध हो जाते है। इससे सृजन का अधिकाश कार्य संपादित हो जाता है। सृजक इन विचारो को अंकित कर लेता हैं। (४) परीक्षण का काल—इस काल में रचनाकार पूर्ववर्ती स्तरो पर प्राप्त सामग्री का परीक्षण करता है। वह उन्हें संशोधित और परिवर्द्धित करके स्वयं उनकी व्याख्या करता है [२५]। इनका वर्गीकरण औपचारिक है। कभी-कभी देखने मे आता है कि परीक्षण और तैयारी के पूर्व ही प्रच्छन्न रूप मे विचारो के संवर्द्धन और पोषण का कार्य चलता रहता है। स्पेन्डर [२६] ने कवि के सर्जनात्मक प्रयत्न के पाँच स्वरूपो का उल्लेख किया है, (१) अवधान का केन्द्रीकरण, (२) प्रेरणा, (३) स्मृति, (४) विश्वास और (५) गीत। अवधान का केन्द्रीकरण यहाँ बोध का परिचायक है। स्पेण्डर यह मानते है कि कवि अपने विचार की जटिलता और विकास से परिचित होता है। केन्द्रीकरण दो तरह का होता है (१) पूर्व और तात्कालिक और (२) पिपीलिका धर्मी या अध्यवसायी। तात्कालिक केन्द्रीकरण सहज होता है और पिपीलिका धर्मी प्रयत्न साध्य और कई स्तरो में पूर्ण होने वाला। स्पेण्डर ने कविता को कल्पना की आँख से ग्रहण किए गए बिम्ब की संज्ञा दी है। है। लेकिन वे यह भी स्वीकार करते है कि जब हम ध्यान को केन्द्रित करके अपने अनुभव को व्यक्त करना चाहते है तो वह मुरझा जाता है। प्रेरणा कवि के मानस मे अवतरित होने वाला पहला विचार है जो अभिव्यक्ति के बाद अन्त तक कविता मे बना रहता है। प्रेरणा, शब्द, विचार, मुहावरा या भाव का वह स्वरूप है जो अपनी अभिव्यक्ति के लिए मचलती रहती है। कविता का एक अंश प्रेरणा का विषय होता है, शेष श्रम का। स्मृति मे ऐन्द्रिय प्रभावो को उनके टटकेपन मे बनाए रखने की क्षमता होती है। विश्वास को भी दो तरह का माना गया है (१) कविकर्म में विश्वास (२) परीक्षित सत्य मे विश्वास। कवि की रचना मे संगीत के कारण रवानी का समावेश होता है। आर० एल० विल्सन ने काव्य सृजन के स्तरो को अधोलिखित रूप मे प्रस्तुत [२७] किया है—

(१) वातावरण का विशिष्ट बोध — विकास क्रम मे रचनाकार जो अनुभव प्राप्त करता है उनमे कुछ स्वभावगत विलक्षणता से सम्बद्ध होते हैं, तो कुछ सामाजिक होते है। पहले तरह के अनुभव से उसे व्यक्तिगत रचनाये मिलती है और दूसरे तरह

के अनुभव से संप्रेष्य और सामाजिक। रचनाकार संवेदनशील व्यक्ति होता है अतएव सामान्य व्यक्ति की तुलना मे वह अधिक अनुभव एकत्रित करता है।

(२) तकनीक का ज्ञान – अनुभव को रूपायित करने के लिए तकनीक की अपेक्षा होती है।

(३) संयोगों और अभिस्रावणों को मन:सृष्टि में बाँधना – इस मन: सृष्टि के क्षण मे कलाकार मौलिक मूर्तीकरण मे सक्षम होता है। इसे अन्तर्दृष्टि, प्रेरणा और सहजज्ञान की संज्ञा दी जा सकती है। इसे नियमित या व्यवस्थित नहीं किया जा सकता है, क्योकि यह सचेतन प्रयास से मुक्त होता है।

(४) मन:सृष्टि के व्यवस्थापन की शिक्षा–पूर्वस्तर पर प्राप्त मन: सृष्टियों को ग्रहण करने का निश्चित ढंग होता है। बिना शिक्षा के यह संभव नही हो पाता है।

(५) कविता का अन्त और कवि के लिए उस का अर्थ – इस स्तर का संबंध रचना के पुनर्मूल्याकन, संवर्द्धन, परिवर्द्धन और शुद्धीकरण से होता है।

आरम्भ मे हमने सृजन के चार स्तरो का उल्लेख किया है, तत्पश्चात् स्पेण्डर और विल्सन द्वारा निरूपित पाँच स्तरो पर विचार किया गया है। प्रश्न उठता है कि क्या सृजन क्रिया को स्तरो मे विभक्त किया जा सकता है? अगर हाँ, तो क्या इसका निरूपण हो सकता है? अगर नही, तो क्या इस तरह का प्रयत्न वैज्ञानिक है? इसके उत्तर तक पहुँचने के लिए हमे ऊपर के अंश में निरूपित सृजन स्तरो पर पुनर्विचार करना पडेगा। स्पेण्डर ने जिन स्तरों का उल्लेख किया है वे यथार्थ मे रचना के उपस्कारक तत्व है न कि विकासक्रम के स्तर। प्रेरणा, स्मृति और विश्वास एक दूसरे से इतने संबद्ध है कि उन्हे स्तरो की संज्ञा नही दी जा सकती। विल्सन द्वारा निरूपित अन्तिम तीन स्तरो को हम स्फुरण और परीक्षण का पर्याय मान सकते है। तैयारी का काल सामग्री चयन और संश्लेषण के प्रयत्न का काल होता है। उस अवधि मे विचार एकत्रित किए जाते है, अतएव वातावरण के विशिष्ट बोध को उसमे अन्तर्भुक्त माना जा सकता है। रह गया तकनीकी ज्ञान का प्रश्न। हमने स्फुरण या दीप्ति के काल में चित्तवृत्ति और विचार को निश्चित उद्देश्य से सम्बद्ध होने की क्रिया का उल्लेख किया है। यह क्रिया स्वयं तकनीक की उद्भावना मे सक्षम होती है। अतएव हम घूम फिरकर पुन उन चार स्तरो पर आ जाते है जिन्हे हमने अधोलिखित रूप मे प्रस्तुत किया था—

(१) तैयारी का काल (२) पूर्वगृहीत विचारो के पोषण संवर्द्धन और परिवर्द्धन का काल (३) दीप्ति या स्फुरण का काल और (४) परीक्षण का काल।

रचना-प्रक्रिया अति सूक्ष्म और गहन विषय है। हमने आरम्भ मे ही संकेत कर दिया है कि ये स्तर औपचारिक है। इनसे हमे अपने कथ्य को अधिकतम स्पष्ट करने मे सहायता मिल सकती है। इसी संकेत के साथ हम इन स्तरो के विवेचन

की ओर उन्मुख होते है। जीवन मे हर कार्य के लिए हमे तैयारी करनी पड़ती है, तत्परता दिखानी पड़ती है। हमारा यह प्रयत्न कार्य की पूर्वपीठिका होता है। इससे संस्कार बनते हैं और हमारा ध्यान प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से उद्देश्य-केन्द्रित और उद्देश्य-निर्देशित हो जाता है। हमने प्रथम अध्याय मे केन्द्रीय-परिधिस्थ-चित्तवृत्तियो का उल्लेख किया है। प्रयत्न से परिधिस्थ चित्तवृत्तियाँ केन्द्रीय चित्तवृत्तियो की चुम्बकीय शक्ति से आकर्षित होकर उसमे मिल जाती है, उसे उद्दीप्त करती है या सादृश्य-असादृश्य द्वारा उसकी विशेषताओ को और व्यंजनापूर्ण बना देती है। जब तक हम प्रयत्न मे नही डूबते, तब तक रचना की पृष्ठभूमि नही तैयार हो सकती। बड़े संघर्ष से अचेतन अंश चेतन तक आ पाता है। हम जितने गहन चिन्तन मे उतरते है, अपने उद्देश्य को जितना धारावाहिक और सातत्यपूर्ण बना सकते है, सृजन की भावी सभावनायें उतनी ही बलवती होती जाती है। प्रयत्न का स्तर आत्म-संघर्ष का स्तर होता है, अन्तर्मंथन का स्तर होता है, घात-प्रतिघात और अनुभूति-शबलता का स्तर होता है। सृजक अपने प्रयत्न का रूप देना चाहता है। पर इस क्रिया के प्रति वह आवश्यकता से अधिक सचेतन हो जाता है। सचेतनता अनन्त जिज्ञासा को जनक होती है। जिस तरह बडे से बड़े तालाब मे हम छोटी सी कंकड़ी फेक कर उसके जल को निरन्तर आन्दोलित करते रहते है, उसी तरह मानस मे सचेतन जिज्ञासा से संग्रहीत भावो मे एक हलचल की स्थिति पैदा हो जाती है। सचेतनता से भाव निरन्तर आन्दोलित होते रहते है और उनमे अस्थिरता पैदा हो जाती है। लेकिन यह हल-चल भी सृजन के लिए आवश्यक होती है। इससे मानस की उर्वरता मे वृद्धि होती है और क्षमता और सहिष्णुता मे चार चाद लग जाता है। अन्तर्मथन से ही सिसृक्षा की भावना का जन्म होता है। प्रमुख विचारक इलियट ने काव्य-बीज का उल्लेख किया है। अन्तर्मथन से उत्पन्न सहिष्णु और धैर्यपूर्ण हृदय मे यह बीज पडता है। इसका सम्बन्ध या तो प्रातिबोधिक अनुभूति से होता है या सचेतनता से। इलियट ने सर्जनात्मकता को मानसिक क्रिया की सज्ञा दी है। 'विचार के आदान-प्रदान मे इस क्रिया का सम्बन्ध आत्मगत और वस्तुगत दोनो स्वरूपो से होता है। सर्जक न तो केवल वस्तुगत से सम्बन्धित होता है न आत्मगत से। वह न केवल दृश्य के नागपाश से आबद्ध होता है न अदृश्य के। वह तो इन दोनो के पटल को भेदकर उस प्रच्छन्न सामंजस्य तक पहुंचना चाहता है, जो इन दोनो की क्रियाशीलता का कारण है। लेकिन इस सामंजस्य की परख सरल नही प्रयत्नसाध्य है। प्रयत्नसाध्य का यह अर्थ नही कि उसे केवल प्रयत्न के माध्यम से प्राप्त किया जा सकता है। उसकी केवल यह व्यंजना है कि प्रयत्न के अभाव मे उसे प्राप्त नही किया जा सकता। यही बात सचेतन प्रयास के विषय म भी कही जा सकती है। केवल सचेतन प्रयत्न से रचना नही हो सकती, लेकिन सचेतन प्रयत्न से उत्पन्न पृष्ठभूमि के अभाव मे भी वह नही हो सकती। इस तरह प्रयत्न स्वत. मे अपूर्ण है और प्रयत्नाभाव अस्तित्वहीन।

कुछ लोग सृजन के क्षेत्र मे आकस्मिकता की बात उठाते है। ये लोग क्षण विशेष की उपलब्धि को पूर्वापर सम्बन्ध से विच्छिन्न करके मूल्यांकित करना चाहते है। दीप्ति तो क्षण विशेष का विषय होती है, लेकिन सचेतन प्रवाह से विच्छिन्न होने पर वह गतिहीन और निष्क्रिय बन जाती है। सन्दर्भ-विच्छिन्न-देशकाल निरर्थक और निस्सार होता है। आकस्मिक बोध हमे आकस्मिक होने का आभास देती है, पर यथार्थ मे वह वैसी होती नही है। वह प्रबुद्ध कर्म-कारण-शृंखला से आबद्ध होती है। कभी-कभी विकास के क्रम मे छलाग की बात सामने आती है। इससे घटने वाली घटना अप्रत्याशित ज्ञात होती है, पर अन्तरंग संबंधो मे विश्लेषित होने पर इस भ्रम का भी निवारण हो जाता है।

कहा जा चुका है कि पहला स्तर सृजन की तैयारी का स्तर होता है। तैयारी का क्या मतलब होता है? यही न कि इस काल मे हम कला की रचना के स्वरूप पर विचार करते हैं, उससे सम्बन्धित सामग्री का विश्लेषण करना चाहते है और प्रस्तुत सामग्री को जोड़-तोड़ कर कुछ बनाने का प्रयत्न करते है। हम अपनी अनुभूति, विचार, प्रत्यय और संवेदना को रूपायित करने का उपक्रम करते है। कला की सामग्री प्रकृति और समाज से मिलती है। इन पहलुओ पर आलोचना मे गभीर विचार किया गया है और उनके हर भाव-कोण को उद्घाटित करने की हरचन्द कोशिश की गई है। कहने की आवश्यकता नही कि कलाकार एक ओर तो संसृति के कार्य-व्यापार का चितेरा होता है दूसरी ओर इन व्यापारो से प्राप्त प्रभावो को हृदयंगम करता जाता है। ये प्रभाव कला के प्रमुख उपजीव्य होते है। लेकिन अनुभव के द्वारा यह तथ्य भी प्रत्यक्ष रूप से सिद्ध होता है कि न तो प्रभाव ग्रहण की क्रिया द्वन्द्वातीत होती है और न प्रभावाभिव्यक्ति की क्रिया। दोनो स्थितियो मे मानस का स्वरूप उबलते हुए पात्र जैसा होता है। इनका उपयोग कोई बडा सधा कलाकार ही कर सकता है। अनुभव तो जीवन मे हर व्यक्ति प्राप्त करता है, लेकिन, वह कलाकार नही बन जाता है। कलाकार की स्थिति तो सचमुच रसोइये जैसी होती है जो अपने परिवेश से भोज्य सामग्री को ग्रहण करके उसे पकाकर, सुस्वादु बनाकर, पुन उसी परिवेश को समर्पित कर देता है। स्पेण्डर ने इसी का संकेत करते हुए कहा था, 'सृजन तत्व ऐसे व्यक्ति के व्यक्तिगत स्वप्नो से सम्बद्ध है जो वर्तमान समाज मे विघटित होते मूल्यो का प्रत्यक्षदर्शी है। वह प्रत्याशित विघटन से अलग होकर अपने नवीन मूल्यो का निर्माण करता है। वह वर्तमान सन्दर्भो का उपयोग करता है और इससे उसे अभिनव शक्ति प्राप्त होती है।' इस बात को निराला की 'सरोजस्मृति' के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। कवि सरोज की रुग्णावस्था से उद्विग्न है। वह उसकी सहायता करना चाहता है, लेकिन उसकी अन्तर्व्यथा को कोई नही समझ पाता है। वह पैसे के लिए प्रकाशक के पास जाता है। प्रकाशक कवि की माग को ठुकरा देता है। कवि की आशा पर पानी फिर जाता है। वह दुखी और उद्विग्न मन से लौट आता है। लेकिन

बिडंबना यहीं समाप्त नही होती। कवि की व्यग्रता बहुत बढ़ जाती है। वह अपने जीवन पर गंभीरता से सोचता है। सारी घटनायें एक-एक करके उसके सामने उपस्थित हो जाती हैं। जीवन-संघर्ष सुरसा के मुख की तरह उसे निगलने के लिए तत्पर दीख पड़ता है। इसी स्थिति में सरोज की मृत्यु का समाचार मिलता है। निराला की मानसिक स्थिति अत्यधिक विस्फोटक हो जाती है। लेकिन उनका शोक तुरन्त श्लोक में नही बदल जाता है, वेदना की घुमड़ कविता मे नही उमड़ पड़ती है। भावों को स्थिर होने और पूर्वापर सम्बन्ध स्थापित करने मे समय लगता है। यही समय सरोज की मृत्यु और 'सरोज स्मृति' की रचना के बीच का समय है। जो बात निराला पर चरितार्थ होती है वही निराला जैसे अनेक कवियों पर चरितार्थ हो सकती है। कीट्स के 'हाइपीरियन ए विज़न' का उदाहरण द्रष्टव्य है। यह एक रूपक काव्य है। आरम्भ में वाटिका की विविधता का चित्रण किया गया है। इस चित्रण के द्वारा कवि ने प्रकृति और कला के अन्तःसम्बन्ध पर प्रकाश डाला है। उसकी दृष्टि में प्रकृति कला को अनुप्राणित करने का प्रमुख साधन है। वाटिका मे रखा हुआ शीतल पेय प्रकृति-प्रदत्त-अन्तर्दृष्टि का परिचायक है। इसको पीते ही कवि ऐन्द्रिय-संवेदन से मुक्त हो जाता है और चिन्तनपूर्ण अन्वेषण की ओर अग्रसर होने लगता है। वाटिका में उसे मन्दिर दिखाई देता है। यह मन्दिर सार्वभौम ज्ञान का प्रतीक है। यह भूत के ज्ञान का प्रकाशक, वर्तमान के ज्ञान का संरक्षक और भविष्य के ज्ञान का पथप्रदर्शन है। इस मन्दिर में देवी की प्रतिमा प्रतिष्ठित है। यही काव्य की देवी है। उस देवी की निजी परिचारिका है। कीट्स उसका आह्वान करने को उद्यत होता है। अन्त में उसे शीतल हवा का झोंका लगता है और वह निःसंज्ञ होकर मरणासन्न स्थिति को पहुँच जाता हैं। चेतना लौटने पर कवि नकाबपोश देवी से पूछता है कि वह मृत्यु से कैसे बच गया। उसका उत्तर देती हुई वह कहती है, 'तुमने जीवन मे इस बात का अनुभव किया है कि समय से पूर्व मर कर जीवित हो जाने का क्या अर्थ है?' तुम्हारी यही शक्ति तुम्हारे संरक्षण का कारण बनी। तुम्हे ज्ञात होना चाहिए कि वही व्यक्ति, जिसके लिए इस दुनियाँ की विपत्तियाँ यथार्थ विपत्ति है और उसे शान्तिपूर्वक नहीं रहने देती है, इस ऊँचाई तक पहुँच कर उस छाया तक जा सकता है।[२९] इसी सन्दर्भ मे कवि और स्वप्न द्रष्टा के विभेद को भी स्पष्ट किया गया है। पूरी कविता सृजन-प्रक्रिया के स्वरूप को उद्घाटित करती है। इसमें सृजन के स्तरों का भी निर्देश मिलता है। कीट्स ने स्पष्ट रूप मे इस तथ्य का उल्लेख किया है कि प्रच्छन्न सत्य (अवसाद) वही देख सकता है जिसमे श्रमपूर्वक जीवन रस को निचोड़ कर पीने की क्षमता होती है।[३०] कविता से एक महत्वपूर्ण तथ्य की व्यंजना होती है। कवि 'कीट्स' को 'मरजीवा' की स्थिति से गुज़रना पड़ा है। भारतीय संस्कृति का तो यही मूल आधार है। मरजीवा का एक रूप वह है जिसमे वह जीवन रूपी समुद्र की अतल गहराइयो को भेदकर सत्य रूपी मोती निकाल ले आता है और उससे कविता कामिनी

जाकर प्रकृति की प्रतिद्वन्दिता में कुछ ऐसा दे सके जो आध्यात्मिक-सावयवता से मंडित हो।[४२] इन सारी मान्यताओं को ध्यान में रखते हुए काण्ट ने प्राकृतिक सावयवता को अन्तस्थ, पर अचेतन रूप से सोद्देश्य और स्वयं को व्यवस्थित करने वाले अस्तित्व की संज्ञा दी है। इसमें निर्णयिक और प्रभावोत्पादक क्षमता होती है और वह अन्दर से बाहर की ओर विकसित होती है। उसके अंश-अंशी सम्बन्ध को साधन और साध्य के अन्तः सम्बन्ध के रूप मे पुनः निरूपित किया जा सकता है।[४३] यह सिद्धान्त निरन्तर संशोधित और परिवर्द्धित होता रहा। फ्रेडरिक स्केलिंग ने इसकी द्वन्द्ववादी व्याख्या की। उन्होने द्रष्टा और दृश्य, प्रज्ञा और प्रकृति तथा चेतन और अचेतन के अन्तर्विरोध का संकेत किया। उनके अनुसार इस अन्तर्विरोध को केवल प्रत्यय या सिद्धान्त के द्वारा समाप्त किया जा सकता है।[४४] शिल्लर ने सहज प्रतिभा को बाह्य प्रकृति के साथ सम्बद्ध करके देखा और इसी दृष्टि से कविता की व्याख्या की।[४५] भारतीय विचारकों ने भी प्रतिभा के सन्दर्भ मे इस विषय का सागोपाग विवेचन किया और इसे 'सहजा' और 'भासा' आदि शब्दो द्वारा व्यंजित करना चाहा। भरत ने नाट्यशास्त्र मे लिखा है।[४६]—

यथा बीजाद्भवेद्वृक्षा, वृक्षा पुष्पं फलं यथा।
तथा मूलं रसाः सर्वे तेभ्योभावा व्यवस्थिता।

यहाँ स्पष्ट रूप से बीज वृक्ष के ही सावयव विकास का कारण नही है अपितु कविगत रस का भी परिचायक है। अभिनव ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि जिस प्रकार बीज अंकुरित होकर वृक्ष का रूप ग्रहण करता है और पुनः फल-फूल से अलंकृत हो जाता है, उसी प्रकार कविगत रस (बीज) काव्य के रूप मे विकसित होकर अभिनय संबंधी रस-व्यापार (पुष्प) के द्वारा सामाजिक को रसास्वादन (फल की प्राप्ति) कराता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रतिभा के विकास के लिए काल की अपेक्षा होती है। केवल तत्परता स्वयं में अपूर्ण है। तत्परता की संघर्षपूर्ण स्थिति के पश्चात् धैर्यपूर्वक कुछ समय के लिए समाधान से विरत होकर विचारों को परिपक्व होकर अभिव्यक्ति सक्षम रूप मे विकसित करने की अपेक्षा होती है। बीजवपन के साथ ही फल की प्राप्ति नही हो जाती है। विचार और भाव को ग्रहण करते ही रचना भी नहीं हो सकती है। तटस्थ हो जाने पर विचारों को प्रौढ होने का अवसर मिलता है। प्रौढ़ विचार सृजन का विषय बनते है, इनके अतिरिक्त अन्य विचार छनकर वही रह जाते है। एरिक न्यूटन ने ठीक ही कहा है, कलाकार को निरन्तर पर्याप्त समय तक धैर्यपूर्वक जीवन का अवलोकन करके इस की सुख-दुखात्मक अनुभूति का संकलन करना चाहिए। फिर अन्त में वह दस पंक्तियाँ लिख सकता है जो सरलता से काल का ग्रास नही बन सकती[४७]।

अचेतन के साथ मनोविश्लेषको की मान्यतायें इतनी अधिक संबद्ध हो चुकी हैं कि इसका नाम लेते ही हमारे मन मे उनके विचार स्वयं कौधने लगते हैं। परिणाम

यह होता है कि इसे हम निश्चित अर्थ-सन्दर्भ मे ग्रहण करने के लिए बाध्य हो जाते है। यह महत्वपूर्ण तथ्य है कि फ्रायड के पूर्व भी अचेतन की परिकल्पना क्रियाशील थी और इस पर तार्किक ढग से विचार भी किया गया था [४८]। प्लोटिनस ने स्वीकार किया था कि भावसंवेग हमारे मानस मे सदैव उपस्थित रहते हैं, पर हम उनके विषय मे जानते नही है। चेतन बोध की अनुपस्थिति का यह अर्थ नही कि मानस क्रिया-हीन है। हमारे मानस मे एक दर्पण रहता है जो उचित उद्देश्य की ओर प्रेरित होने पर मानस मे चलने वाली क्रिया को प्रतिच्छायित करता रहता है [४९]। भारतीय सन्तो ने भी 'तेरा मन दर्पन कहलाए रे' के द्वारा इसी भावना को व्यक्त किया है। सन्त आगस्टाइन ने दर्पण की बात तो नही की है। वे अचेतन को स्मृतियो का संग्रहालय मानते है। वे अनुभव करते हैं कि अन्तर में जो एक अनन्त अज्ञान-क्षेत्र है, उस तक पहुँच पाना सबके लिए संभव नही है[५०]। भारतीय विचारक भी हृदयाकाश की परिकल्पना के साथ ही संस्कारो के विवेचन के सन्दर्भ मे इसी अनुभूति से होकर गुजरे है। यह परम्परा गतिशील रही है। इसी विकासक्रम मे मन और वस्तु का विवेचन भी सामने आया है। बोध को बहुत समय तक अचेतन का विषय माना गया है। यह निर्विवाद सत्य है कि हम हमेशा सचेतन नही रहते। हमारी सचेतन दीखने वाली स्थिति भी अचेतन के अधिक निकट होती है। जागृत अवस्था मे भी अचेतन की क्रियाशीलता अधिक होती है। जो भाव हमारे हृदय में प्रच्छन्न रूप से पडे रहते है, वे निरन्तर परिवर्तनो के बीच गुजरते हैं। कभी-कभी हम अज्ञात रूप से प्रभावो को ग्रहण करते जाते है और इस क्रिया से अपने अचेतन को समृद्ध बनाते जाते है। अचेतन विचारो की भाषा हमारी समझ के परे होती है। चिन्तन, चेतन और अचेतन के मध्य चक्कर काटता जाता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि उसकी मूलभूत जडे कही अचेतन मे निहित होती है। माण्ट मेसान ने अचेतन को उन सारी क्रियाओ से सम्बद्ध माना है जो चेतना के क्षेत्र से मुक्त होती है। उन्होने वंश-परम्परा से प्राप्त अचेतन, विचारो को व्यवस्थित करने वाले अचेतन और स्वयं-चालित अचेतन का उल्लेख किया है[५१]। सृजन के सन्दर्भ मे अचेतन की भूमिका पर प्रकाश डालते हुए उन्होने लिखा है, 'हम सामान्य रूप से देखते है कि ज्ञान में अचेतन प्रच्छन्न निर्णयो के रूप मे सहयोग प्रदान करता है। ये निर्णय अनुभवों को बोधपरक बनाते है। मानसिक क्रिया की स्थिति मे अचेतन विविध संवेदनो के निर्माण मे सहायक होता है। इसके माध्यम से दृश्य भ्रमो, आकार और बोध के निर्णयों को अनुमिति सिद्धान्त के सन्दर्भ मे व्याख्यायित करने मे सहायता मिलती है। यह स्मृति मे पूर्व प्रस्तुत विचार का बोज होता है। इस शक्ति के आधार पर कल्पना में दिवास्वप्नो की रचना और ध्यान मे विश्लेषित विचारो का स्फुरण संभव होता है। हम इसे अव्यक्त विचार की क्रियाशीलता से उपलब्ध सन्निकर्ष मे भी सहयोग प्रदान करते देखते है। उसका मंथर रोमंथन प्रमुख तर्को, विविध मान्यताओं और सादृश्यों

का मूल कारण होता है। हम अपने विश्वास, अविश्वास और विचार के लिए इसके ऋणी होते हैं।[५२] माण्ट मेसान की यह मान्यता अचेतन सम्बन्धी कई भ्रमों के निवारण में सक्षम है। फ्रायड ने जिस अचेतन की कल्पना की थी उस में रहस्यवाद और ओषधि-विज्ञान का संस्पर्श था और वह मानुमती का पिटारा बन गया था। उपर्युक्त मान्यता से अचेतन और उसकी क्रियाशीलता अधिक स्पष्ट हो जाती है। द्रष्टव्य है कि माण्ट मेसान की अचेतन सम्बन्धी परिकल्पना फ्रायड से भिन्न ही नहीं है अपितु वह चेतना से मुक्त मानसिकता का पर्याय बन गई है। माण्ट ममान ने स्पष्ट रूप से इस तथ्य का निरूपण किया है कि यथार्थ अर्थों में ज्ञान का उद्देश्य केवल वर्तमान के कुछ सम्बन्धों की खोज नहीं है, इसका तो स्पष्ट उद्देश्य है वर्तमान में भूत के मानसिक स्वरूपों की उपलब्धि। यह उपलब्धि उस नियम के सचेतन संप्रकाशन मे सहायक होती है जो अपनी रहस्यमय सक्रियता में गत वर्षों मे पूर्वगृहीत विचारो के स्वरूप-निर्धारण की जनक थी।[५३]

पूर्वगृहीत विचारो के पोषण की स्थिति मे उनको पोषण प्रदान करने वाले संस्थान मे एक तरह का विकासावरोध दृष्टिगोचर होता है। इससे विकट स्थिति उत्पन्न हो जाती है। अधिकाश सर्जको को इस विकट स्थिति का सामना करना पडता है। इस स्थिति मे सर्जक निराशा, तनाव, असफल प्रयत्न और कृत्रिम प्रेरणा के बीच चक्कर काटता रहता है। यह स्थिति संकटपूर्ण अराजकता की पर्याय होती है और सृजक के जीवन मे ही नही अपितु समाज के सास्कृतिक विकास मे भी कालान्तर मे दृष्टिगोचर होती है। एक समय ऐसी भी स्थिति आती है जब सब कुछ निश्चित हो जाता है। इसी को स्पेंग्लर ने संस्कृति के हिम-बिन्दु (फ्रीजिंग प्वाइण्ट ऑफ कल्चर) की संज्ञा दी है। लेकिन यह स्थिति अस्थायी होती है। अन्तर्निहित निर्माण और विघटन की क्षमता के क्रियाशील होते ही यह अंशत. अदृश्य हो जाती है या तिरोभूत बन जाती है। कई सर्जको ने पूर्ण तत्परता से बाद मे अनुभव किया है कि वे रचना मे सफल नही हो सकते। उन्हे ऐसा ज्ञात हुआ है जैसे वे अभी सर्जक नही रहे है। लेकिन बाद मे ऐसी स्थिति आ गई है जब उनकी यह जड़ता समाप्त हुई है और वे अभूतपूर्व सृजन मे सक्षम हुए है। रवि रवीन्द्र मे कुछ उदाहरण प्रस्तुत है। वे लिखते है, 'आज प्रभात काल मे सूर्य की एक किरण अचानक अपना पथ क्यो भूल गई है? यह मेरी समझ मे नही आता है। उसे ठहरने का स्थान नही मिल रहा है। वह आकर मेरे प्राणो पर गिर रही है। मेरी रक्त-धारा के प्रत्येक बिन्दु में [illegible] मेरे अन्धकार मस्तिष्क-राशि पर स्वर्ण की एक किरण रेखा के रूप मे अंकित हो गई है।' वे पुनः अपनी दूसरी कविता मे लिखते है, '[illegible] मेरे पास क्यो आ रहे है? पर समझ मे नही आ रहा है। जाग्रत स्थिति मे उन्हे ज्ञात होता है कि वे चारो तरफ पाषाण-निर्मित-कारागार मे बन्द है। हृदय के ऊपर अन्धकार विराजमान होकर अपने स्वरूप

का ध्यान कर रहा है। वे पुनः अपने से पूछते हैं 'इतने दिन बाद मेरे प्राण क्यों जगे हैं, यह मेरी समझ मे नही आता है ?[५४] इसी तरह की अनुभूति का संकेत पूर्व पृष्ठों में किया जा चुका है। निराला को भी इसी तथ्य का अनुभव हुआ था। उदाहरण के लिए 'तुलसीदास' की अधोलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य है—

'थे मुँदे नयन ज्ञानोन्मीलित
कलि मे सौरभ ज्यो चित्त मे स्थित
अपनी असीमता मे अवसित प्राणाशय?
जिस कलिका मे कवि रहा बंद
वह आज उसी मे खुली मंद
भारती रूप मे सुरभि छन्द निष्प्रश्रय।[५५]

निराला ने इसके पूर्व उस विकासावरोध का अनुभव किया था जो रचना को जड़ता से बाँध कर उसके विकास को रोक देता है। अचानक सृजनशीलता के आवेग से यह स्थिति छिन्न-भिन्न हो जाती है और कवि को अनुभव होता है कि जग का कानन-मण्डल और पर्वत-तल उसी से अनुरणित और अनुगूजित है। वह भाव विह्वल होकर कह पड़ता है—

जागो जागो आया प्रभात
बीती यह बीती अन्धरात
झरता झर-ज्योतिर्मय-प्रपात पूर्वाचल
बाँधो बाँधो किरणे चेतन
तेजस्वी है तमजिज्जीवन
आती भारत की ज्योतिर्घन महिमा दल।[५६]

इसका कारण रचनाशीलता के सन्दर्भ मे समझना पड़ेगा। ऊपर हमने मनोवैज्ञानिको के कुछ मतो का उल्लेख किया है। हमने इस तथ्य पर दृष्टिपात किया है कि समय के साथ भाव भी परिपक्व होते है। परिपक्व होते ही वे अन्य भावों से मुक्त होकर अभिव्यक्ति के धरातल पर कौधने लगते है। इसका तात्पर्य यह है कि भावों का विकास भी सावयव विकास की क्रिया के अनुरूप ही होता है। मनोविज्ञान में इसे अन्य रूप में विवेचित और विश्लेषित किया गया है। चेतना प्रवाहवाद के सन्दर्भ में पुनर्पोषण (feed back) या पुनर्दीप्ति (flash back) के सिद्धान्त को विशेष मान्यता मिली है। इन्हे समझने के लिए कुछ अन्य बातो का उल्लेख करना पड़ेगा। रचना मे कई स्थितियाँ सामने आती है। आवश्यकता पड़ने पर कुछ विचार तो रचनाकार को तत्काल मिल जाते है, पर कुछ अन्य नही सुलभ होते है। कुछ अन्य विचारो को वह ध्यान के केन्द्रीकरण की स्थिति में प्राप्त करता है। शेष विचार रचनाकार को दिग्भ्रमित करते रहते है। वे उसे मृगमरीचिका मे डाल देते है। यही स्थिति कवि के लिए उस कारावास सदृश है जिसने गंगाजल को रोक रखा है। अगर उसे

तोड़ा जाय तो कविता रूपी गंगा मुक्त हो करके प्रवाहित हो सकती है।[५७] जब तक यह बन्धन टूटता नहीं कवि उद्विग्नता की स्थिति में बना रहता है। यह स्थिति निरर्थक नहीं होती। इसमें प्रच्छन्नरूप से विचारों के पुनर्पोषण की क्रिया चलती रहती है। इससे वैचारिक परिपक्वता, स्पष्टता, संश्लेषण और मूर्तिमत्ता को अपेक्षित सम्बल प्राप्त होता है। हमें दैनिक जीवन मे इस बात का अनुभव होता रहता है कि प्रयत्न करने पर कोई निश्चित विचार हमारे मानस में नहीं उपस्थित हो रहा है। कुछ समय शान्त रहने पर वही विचार अनायास मानस मे कौंधने लगता है। पुनर्पोषण के द्वारा जब सावयव विकास सम्भव होता है, तभी 'भूले-बिसरे चित्र' पुनः हमारे मानस में कौंधते है। रचना के आरम्भ से लेकर अन्त तक रचनाकार के मानस में यह पुनर्पोषण की क्रिया अनेक रूपों में सक्रिय रहती है। पुनर्पोषण के अतिरिक्त इसमें समकालिकता का भी प्रचुर सहयोग होता है। इससे कवि को प्रयोग की क्षमता प्राप्त होती है। वह ऐतिहासिक सातत्य और संस्कृति की उर्ध्वमुखी अनाविल परम्परा मे अपने को मूल्यांकित करता है, नए भावो के अनुरूप भाषा की खोज में संलग्न होता है। ऐसी स्थिति मे उसे और कोई चाह नहीं होती। वह तो कवि निराला के साथ केवल यही कामना करता है—

आज नहीं है मुझे और कुछ चाह
अर्धविकच इस हृदय कमल मे आ तूँ
प्रिये, छोड़ कर बंधनमय छन्दों की छोटी राह,
गजगामिनि, वह पथ तेरा संकीर्ण कण्टकाकीर्ण,
कैसे होगी उससे पार।[५८]

समकालिकता अभिनव उत्कर्ष की जननी होती है। इस बात का उल्लेख किया जा चुका है। रचना की आवश्यक शर्त है नवीनता। अतएव हम यह भी कह सकते हैं कि समकालिकता ऐतिहासिक-सांस्कृतिक-दृष्टि है, जिसके आधार पर कवि भावों को यथावत् उचित सन्दर्भ प्रदान करता है। यही दृष्टि आधुनिकता की आवश्यक शर्त है। निराला ने अपनी रचनाशील प्रतिभा से उसे पूरा किया है। इसलिए वे मुक्त-भाव से स्वीकार भी कर सके है—

उपवन में मेरी शायरी के शब्द यों आए
जैसे फूलों को हार दिए जा रहा हूँ मै।
दुनियाँ के शायरों के किताबों मे जो आई।
उस युवती को शृंगार दिए जा रहा हूँ मै।[५९]

फर्नान्दो पेसोदोआ ने लिखा है, 'नींद और स्वप्न के बीच / मुझमें और जो मेरे अन्तस्तल मे है, उसके बीच / एक नदी प्रवाहित है। जिसका अन्त कहीं भी नहीं है।[६०] यह एक सर्जक की स्पष्ट स्वीकारोक्ति है जो तत्वाभिनिवेशी और तथ्यपरक है। नींद और स्वप्न के बीच की बात पर तो बाद मे विचार किया

जायगा, यहाँ मुझमे और मेरे अन्तस्तल के बीच जो है उसी पर विचार करना मेरा प्रमुख उद्देश्य है। इसको समझने के लिए, या यो कहे कि अन्तर्दृष्टि पूर्ण कौंध को समझने के लिए हमे मन और शरीर के अन्तःसम्बन्ध पर विचार करना होगा। हमारे इस विवेचन-विश्लेषण से सृजन के पूर्व-निर्धारित द्वितीय स्तर की ही मान्यतायें स्पष्ट न होगी अपितु उसके तृतीय स्तर पर भी समुचित प्रकाश पड़ेगा। अब तक यह तथ्य निर्विवाद रूप से स्पष्ट हो चुका है कि चेतन-अचेतन सातत्य से ही सृजन कार्य संपादित होता है। इसे अनेक विचारको ने अनेक नामों से अभिहित किया है। जेम्स ने इसे जागृत समाधि (waking trance), गाल्टन ने संलग्न प्रकोष्ठ (ante chamber) वेरेडाक ने अग्रचेतन (fore conscious), स्केलिग ने पूर्वचेतन (Preconscious) फ्रायड ने अवचेतन, टॉबनर और ग्रीन ने पूर्व-तार्किक (prelogical) और क्यूबी ने पूर्वचेतन (preconscious) कहा है। इसकी स्थिति को 'ताओ' के निर्बन्ध घटना प्रवाह, ह्वाइटहेड के परिग्रहण और वाइल्ड के सहज ज्ञान की स्थिति के सदृश माना जा सकता है[६४]। इसे हम अवसीमा या चेतनेतर (off conscious) कहना अधिक उचित समझते है। इसकी कुछ प्रमुख विशेषतायें है। यह शान्त, मुक्त, प्रभाव-ग्रहण-सक्षम और सृजन-सक्षम होता है। इसमे चुंबकीय शक्ति होती है और यह तथ्यों को 'नान काशस माईंड' से 'काशस माइण्ड' मे ले आने मे सफल होता है। इसे अवसीमोत्तर मानस (Transliminal Mind) भी कहा जा सकता है। गाल्टन ने मानस के प्रकोष्ठो की कल्पना की थी और इसे दो तरह का माना था (१) सचेतन विचारो की उपस्थिति का प्रकोष्ठ और (२) संलग्न-प्रकोष्ठ। जैसा नाम से ही ज्ञात होता है सचेतन विचार जिस प्रकोष्ठ मे क्रियाशील पाए जाते है उसे 'प्रेजेन्स चैम्बर' कहा जाता है, यह हमारी पहुँच मे होता है, पर संलग्न-प्रकोष्ठ जिससे इच्छानुसार वह विचार ग्रहण करता रहता है, हमारे प्रज्ञा-परिसर के बाहर होता है। संलग्न-प्रकोष्ठ से विचारो को ग्रहण करने की यह क्रिया बड़े मशीनी ढंग से संपादित होती है।[६३] कोलरिज का अनुभव भी इसी के सदृश था। उसकी अवधारणा थी कि विचार और बिम्ब विकासशील रूप मे चेतना की अवसीमा पर पाए जाते है। यह अवसीमा स्मृतियों के संयोग और सर्जनात्मक शक्ति का प्रमुख केन्द्र होती है।[६४] एल० ए० तेनने मानव मस्तिष्क की तुलना ऐसे प्रेक्षागृह से की थी जो आरंभ मे बहुत संकरा होता है, वहाँ एक पात्र किसी तरह खड़ा हो सकता है, पर बाद मे वह क्रमशः चौड़ा होता गया है, अतएव वहा अनेक पात्र खड़े हो सकते है।...इससे आगे बढ़ने पर उसकी रंगभूमि और पृष्ठभूमि मे उसके अनंत प्रच्छन्न स्वरूप है। इनका उपयोग किसी आवश्यकता के समय ही संभव हो पाता है।[६५] गाल्टन और तेन का विचार लगभग समान है। गाल्टन ने उस केन्द्र का प्रत्यक्ष रूप से निर्देश किया है जहाँ पर विचारो को ग्रहण किया जा सकता है, पर तेन ने विचारों को ग्रहण करने के एकाधिक स्तरों का उल्लेख किया है। उनकी दृष्टि निश्चित

केन्द्र की ओर नही गई है। विगत पृष्ठो मे केन्द्रीय और परिधिस्थ विचारो का उल्लेख किया गया है और इस तथ्य पर विचार भी किया गया है कि हमारा ध्यान परिधिस्थ विचारों पर केन्द्रित नही हो पाता। वे हमारे ध्यान की सीमा के परे होते हैं, पर आवश्यकता पड़ने पर उन्हे केन्द्रीय विचारों के सीमा-क्षेत्र मे लाया जा सकता है। ग्राहम वैलेस की मान्यता भी इससे मिलती जुलती है।[६६] समीक्षा और सृजन के क्षेत्र पर कई दशको तक मनोविलेषकों की विचार-धारा का आधिपत्य रहा है। इधर इन विचारको से भिन्न मत सामने आए हैं। एरिक फ्राम, फ्रायड और युग से असहमत हैं। उनकी दृष्टि मे हम जो भी सोचते या अनुभव करते है उसका आधार हमारा कार्य होता है। सचेतना से भी हम अपनी सक्रियता मे ही परिचित होते है। अचेतनता मानसिक अनुभूति है। इस अनुभूति मे बाह्य जगत से आदान-प्रदान की क्रिया निलंबित रहती है और हम कार्य पर ध्यान न देकर आत्मानुभूति से संलग्न पाए जाते है। चेतन और अचेतन यथार्थ मे भिन्न मनःस्थितियाँ है जो हमारे अस्तित्व के भिन्न स्तरों का संकेत करती है।[६७] मोर्टन प्रिम ने भी अचेतन को मानसिक क्रिया का पर्याय माना है। क्रिया हमारे दैनिक-व्यावहारिक जीवन मे व्यवस्थित और तार्किक ढंग से सहयोग प्रदान करती है। कुछ स्थितियो मे यह भावना-प्रधान-सहज-वृत्तियों के कारण आंशिक रूप से अव्यवस्थित भी हो जाती है। लोग यह मानते है कि हम अपनी चेतनता मे कार्य करते है, पर यह गलत है। सत्य यह है कि हम अपने अचेतन के सहयोग से चिन्तन का कार्य सपादित करते हैं। हम उससे ऐसे विचारों को चुन लेते हैं जो हमारे अनुकूल होते है। इससे स्पष्ट है कि हमारी समस्याओ को सुलझाने मे अचेतन का विशेष सहयोग होता है।[६८]

उपर्युक्त अश मे अवसीमा या अवसीमोत्तर मानस को सृजन का केन्द्र माना गया है। अवसीमा मानस चेतन और अचेतन की अवसीमा का संकेत करता है। अचेतन मे विचारो का विकास-क्रम चलता रहता है और उन्हें हम चेतन की आवश्यकता के अनुरूप ग्रहण करते रहते है। प्रकोष्ठ और संलग्न प्रकोष्ठ की कल्पना से हमारे समक्ष एक ही दीवाल से बने कई कमरो का चित्र उभड़ता है जो विभाजित है पर उन्हे संलग्न करने के लिए मार्ग की व्यवस्था है। हम अपने ड्राइंग रूम' मे बैठे रहते है, पर आवश्यकतानुसार अन्य कमरो से आवश्यक सामग्री ग्रहण करके उनका उपयोग करते रहते है। अचेतन और चेतन का सबंध भी कुछ इसी तरह का है। वुण्ट ने भी प्रकारान्तर से इसी तथ्य का उल्लेख किया है कि अचेतन मानस एक अज्ञात व्यक्ति जैसा है, जो हमारे लिए उत्पन्न करता है और आत्मगौरव तैयार माल (पके फलो) को हमे समर्पित कर देता है।[६९]

विलियम जेम्स ने [illegible] और [illegible] के अन्तर को स्पष्ट किया है। उनकी दृष्टि मे रहस्यवादी चेतना अनुभवगम्य तो होती है, पर अभिव्यक्ति सक्षम नही। इसका प्रमुख कारण यह है कि इन मनःस्थितियो का सम्बन्ध संवेदन

से अधिक और बुद्धि से कम होता है। यह चेतना प्रज्ञात्मक (Noetic) होती है। इसमें संवेदना की विशेषताये झलकती रहती है। जो इनका अनुभव करते हैं, वे इनको ज्ञान के निश्चित स्वरूप के रूप में ग्रहण कर सकते है। ये सत्य के गहनतम स्तरो में निहित अन्तर्दृष्टि प्रवण स्थितियाँ है जिन्हे तार्किक ढंग से नही जाना जा सकता है। वे अमूर्त होती हैं। इन्हे महत्वपूर्ण दीप्तिमय संप्रकाशन की संज्ञा दी जा सकती है। इनका भविष्य के लिए विशेष महत्व होता है [७०]। इससे इतना तो अवश्य स्पष्ट हो जाता है कि मानव के हर कार्य-व्यापार का अनुभव और अनुचिन्तन संभव है। इसमे भाव-संवेग और चिन्तन मिले रहते है। सृजन-प्रक्रिया इसका अपवाद नही है। सृजन भी प्रज्ञात्मक होता है। हाँ, दीप्तिमय स्फुरण को लेकर लोगों मे अवश्य मतभेद है। देहातों में एक कहावत प्रचलित है कि प्रेत जब व्यक्ति के रक्त का स्वाद पा जाता है तो वह बोलने लगता है। कविता में भी यह बात देखने को मिलती है। सोक्रेटीज और गेटे विश्वास करते थे कि उन्हे रचना की प्रेरणा दानवी शक्तियों से प्राप्त होती थी। कुछ अन्य लोग ध्वनि और शब्द सुनने की बात स्वीकार करते थे। कतिपय लोगों को तो यह भी ज्ञात हुआ था कि उनको रचनायें किसी अन्य के द्वारा उन्हें 'डिक्टेट' की जाती हैं। वे केवल माध्यम भर होते हैं। कुछ सर्जकों ने 'आफ कांशस क्रिएशन' का उल्लेख भी किया है [७१]। बाद मे सृजन और सम्मोहन (Hypnotism) की चर्चा भी की गई है। इसमें शक नही कि सम्मोहन जनित शान्ति की स्थिति मे दांत और पैर की शल्य-चिकित्सा की गई है। सम्मोहन के समर्थकों को मानस के ऐसे क्षेत्र का पता भी चला है जो अवसीमोत्तर मानस के कार्य-व्यापार से मिलता-जुलता है। इससे सृजन के इस क्षेत्र की धारणा और बलवती होती है। हैरोल्ड रग ने कई उदाहरणों से अवसीमोत्तर मानस को सृजन का केन्द्र सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। इस दृष्टि से क्यूबी की अधोलिखित मान्यता द्रष्टव्य है, 'एक निश्चित प्रकार के कार्य-व्यापार को हम तकनीकी शब्दावली मे पूर्ण चेतन व्यवस्था की संज्ञा देते है। यह व्यवस्था हर प्रकार की सृजन-क्रिया की आवश्यक शर्त है। जब तक पूर्वचेतन स्थितियाँ स्वतंत्र रूप में प्रवाहित नही होतीं, तबतक यथार्थ-सृजन संभव नही हो सकता[७२]।' क्यूबी ने यह भी स्वीकार किया है कि जीवन का सारा कार्य-व्यापार चेतन-अचेतन सातत्य का मुखापेक्षी होता है। क्यूबी और रग केवल एक दृष्टि से असहमत हैं। क्यूबी चेतनमुक्त (off-conscious) को सृजन का केन्द्र मानते हैं जबकि रग महोदय अवसीमोत्तर मानस (Transliminal mind) को।

इसी संदर्भ में रग महोदय ने डेनिस गैबर के सृजन की संभावनाओं पर विचार किया है। उनकी दृष्टि में सृजन-क्रिया के चार प्रमुख अभिघटक है, (१) प्रातिभोचित अनुभूति का सतत् प्रवाह—इसका सम्बन्ध हमारी ऐन्द्रिय अनुभूति से होता है जिसे हम देख-कान की सीमा में ग्रहण करते हैं, (२) चेतन-अचेतन सातत्य तक प्रसरित बिम्ब

HQ1|S62K 8.GH 7192

का सतत् प्रवाह, (३) स्नायु संस्थानीय क्रिया और (४) मानस का व्यवस्थित प्रत्ययी बोध। इन चारों अभिघटकों को हम प्रतिबोध, चेष्टा, स्नायु संस्थानीय व्यवस्था, बिम्ब और प्रत्यय कह सकते है। मानस में इनकी उपस्थिति दीप्तिमय कौंध की प्रथम आवश्यक शर्त है। दूसरी आवश्यक शर्त की पूर्ति अवसीमा या अवसीमोत्तर मानस द्वारा होती हे। इसका संकेत किया जा चुका है कि वहाँ पर प्राणिबोधिक अनुभूति और बिम्बों का सतत् प्रवाह क्रियाशील रहना है और स्नायु-संस्थानीय क्रिया चलती रहती है। इसमे गति और प्रतिक्रिया पैदा करने की क्षमता होती है। अवसीमा मानस अनुज्ञापक या स्वीकृति सूचक ही नही होता है, वह सशक्त रूप से वेगवान और संचरण-शील भी होता है। शेरिंगटन ने प्रमस्तिष्क बाह्यक (cerebral cortex) की विद्युत-रासायनिक क्रिया का उल्लेख किया है।[७३] इसी क्रिया से मानस में कौंध होता है। हम सभी यह जानते है शरीर के करोडों कोशाणुओ का सम्बन्ध शारीरिक गति से होता है। यह गति सुषुप्ति और जागृति दोनो स्थितियों मे चलती रहती है, पर इन दोनो मे भेद होता है। सुषुप्ति मे मस्तिष्क हृदय की गति का निरीक्षण करता रहता है और वह रक्तप्रवाह को व्यवस्थित बनाए रखना चाहता है। इस स्थिति मे गति का क्षेत्र मानस का सीमावर्ती क्षेत्र होता है कुछ अवान्तर के साथ चिनगारियाँ छूटती हैं और वे रीढ़ की हड्डी की ओर अग्रसर होती रहती है। जब यह प्रच्छन्न गति 'हेडपीस' के साथ जुड़ जाती है तो वहाँ उस सीमित क्षेत्र में विशिष्ट तरह की क्रिया होती है। महस्रों विश्राम-बिन्दुओं से निर्मित एक चमकीला प्रकाश-पुंज निश्चित रवानी के साथ हर क्षण फूटने लगता है। पहले साधारण प्रकाश होता है जो बाद मे बढ जाता है और पुनः क्रमशः घटकर अदृश्य हो जाता है। कुछ अवान्तर के साथ यह गति चलती रहती है। हर कौंध के साथ प्रकाश की रवानी स्नायु सस्थान के साथ सम्पर्क स्थापित करती है और यह श्वसन क्रिया मे सहायक सिद्ध होती है।[७४] कोध की यह स्थिति जागृत दशा में बदल जाती हे। शीर्षान्त पर जहाँ पहले अन्धकार था अब चमकते हुए प्रकाश-पुंज का उदय होता है और वह कई दिशाओ मे प्रसरित होने लगता है। क्रमशः समूचा शीर्ष आकर्षक पर अस्पष्ट दर्शन-स्थल मे बदल जाता है। यहाँ लाखो कोशाणु कौंध कर प्रकाश-पुंज का निर्माण करते हे। अन्य गौण क्षेत्र इसी मे विलीन हो जाते है। व्यक्ति के सुषुप्ति से उठते ही यह प्रकाश-पुंज नीचे की ओर आकर शरीर के निष्क्रिय स्नायुओं को सक्रिय बना देता है। व्यक्ति का शरीर अब कौंधते प्रकाश-स्फुल्लिगों से भर जाता है। यह क्रिया उसे दिन का कार्य करने की शक्ति प्रदान करती है।[७५] इस उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि सारा शरीर विद्युत्-रासायनिक-क्रिया से आपूर्ण होता है। मनोवैज्ञानिक अब यह भी स्वीकार करने लगे है कि इस तरह के हर विकास से नई स्नायविक-व्यवस्था उत्पन्न होती है, जो चित्तवृत्ति की जनक बनती है। इस तरह एक कौंध दूसरे कौंध का सहायक बनकर चित्तवृत्ति-संरक्षण-केन्द्र को समृद्ध बनाया करता है। इससे यह निष्कर्ष भी प्राप्त होता है कि

मानव-चित्तवृत्ति और परिस्थिति प्रायः सम्बद्ध होती है। चित्तवृत्ति के ही माध्यम से प्रतिचेष्टा को उद्दीपक तक पहुँचाया जा सकता है। चित्तवृत्तियो के व्यवस्थापन से ही अर्थस्फोट होता है। भिन्न-भिन्न चित्तवृत्तियाँ आपस मे मिलकर अन्य चित्तवृत्तियों का निर्माण भी करती है। यह क्रम चलता रहता है। इसमे अवसीमा मानस अर्थ-स्फोट की क्षमता प्राप्त करता है।

कला-सृजन मे 'प्रायः' कल्पना की बात की जाती है पर कल्पना के अंगीभूत सत्य से कम लोग परिचित होते है। इससे एक अपरिहार्य अस्पष्टता पैदा होती है। साहित्य और विज्ञान की भाषा के विभेद के सन्दर्भ मे प्रथम अध्याय मे इस तथ्य का उल्लेख किया गया है, पर वह पर्याप्त नही है। हम लासेलाट लो ह्वाइट की उक्ति से सर्वथा सहमत है कि 'ब्रेन-माइण्ड' क्रिया की प्रमुख विशेषता है, आत्म व्यवस्थापन की अन्तर्निहित प्रवृत्ति। इसी के माध्यम से निश्चित स्थितियो मे आंशिक और अपूर्ण स्वरूप, परिवर्द्धित और पूर्ण स्वरूप में हमारे समक्ष प्रस्तुत किये जाते है। ये स्वरूप तार्किक और ज्यामितीय क्रम और लालित्यबोधीय अधिक होते है। चूँकि ब्रेन-माइण्ड का अन्त सम्बन्ध निरन्तर घटित क्रियाओ से संवर्द्धित होता रहता है, अतएव अन्ततोगत्वा उन्ही क्रियाओ को दस्तावेजो के स्वतः स्फूर्त व्यवस्थापन की पद्धति मान सकते है।[७७] आर० डब्लू० गेरार्ड ने सर्जनात्मक कल्पना को मानस का अभिनव विचार या अन्तर्दृष्टि उत्पन्न करने वाला कार्य-व्यापार कहा है। यह व्यक्ति के समक्ष कौंध के रूप मे प्रस्तुत होता है।[७८] यह रवानीपूर्ण विद्युत रासायनिक सहजवृत्तियो और गतिशील बिम्बो का तरंगायित स्वरूप होता है, जो क्षणभर के लिए हमारी चेतना मे प्रतिबोध और प्रत्यय के रूप मे केन्द्रित हो जाता है।[७९] इसे स्वीकार करने पर भी एक प्रश्न ज्यो का त्यो बना रह जाता है। प्रश्न है, कल्पित प्रत्ययो का दीप्तिमय स्फुरण कैसे होता है? इसके उत्तर स्वरूप तनाव की बात उठाई गई है। इस तनाव का सम्बन्ध सर्जनात्मक शक्ति के केन्द्र से होता है। कौंध या स्फुरण का कारण गति होती है। यह गति कार्यक्षमशक्ति (Potential power) को गतिमूलक शक्ति (Kinetic Power) मे बदलने से उत्पन्न होती है। इसी बदलाव से भावावेग भी उत्पन्न होते है। विभिन्न मनःस्थितियों और अवस्थाओं मे शक्ति का यह स्वरूप बदलता रहता है। कोशाणुओ मे तनाव-सुलझाव-तनाव की क्रिया चलती रहती है। इसी से गति भी पैदा होती है। कोशाणु हर क्रिया के पश्चात् अपने को नया बनाते जाते है। इसी तनाव से प्रेरणा का सम्बन्ध होता है। शारीरिक तनाव से शरीर शक्तिमान बनता है और मानसिक तनाव से मानस। इस तनाव की अभिव्यक्ति चार रूपो मे होती है। (१) आँतो के तनाव—इससे भूख, प्यास, तापमान का ज्ञान, काम-चेष्टा और वात्सल्य की भावना का सम्बन्ध होता है। (२) कार्य प्रणाली या आन्तरिक गति से उत्पन्न तनाव—इससे मास पेशियो मे तनाव का अनुभव होता है। इनमे संकोच या विस्तार से कार्यक्षमता पैदा होती है। (३) मस्तिष्क का

प्रेरणा को समझने का प्रयत्न किया गया है, लेकिन सारे प्रयास के बावजूद वह अब भी अविश्लेष्य बनी हुई है। उसके विषय में बहुत कुछ कहने के बाद भी कुछ अनकहा रह जाता है और यही अव्यक्त स्वरूप रचना का सारतत्व हुआ करता है। हैरोल्ड आरबार्न ने ठीक ही कहा है कि जो विचार प्रेरणा के कारण कवि या कलाकार के मानस मे उपस्थित होते हैं वे यथार्थ में कृति मे निरूप्य भावसंवेग नहीं होते अपितु कलात्मक सामग्री के तत्व होते है।[११] ये विचार विचित्र ढंग से कलाकार के समक्ष उपस्थित होते हैं, और अपनी अन्तर्निहित शक्ति से कला को एक रूप दे जाया करते हैं। आर्थर कोएस्लर ने भी इसी तथ्य को स्वीकार किया है। उनका कहना है कि जब चुनौती अधिक उत्तेजक बन जाती है तो पथप्रदर्शक प्रकृति जो उचित समस्या का समाधान करने के लिए विचार सन्दर्भित क्षेत्रो की खोज मे संलग्न है अधिक दीप्तिमय और सामान्य चिन्तन के घिसे-पिटे कार्यक्रम से पृथक हो जाती है। इस स्थिति मे अतिरिक्त सचेतन क्रियायें अधिक महत्वपूर्ण भूमिका संपादित करती है।[१२] कोएस्लर ने 'बाइसोशिएशन' (Bisociation) पर विचार किया है। यह शब्द विचार सन्दर्भित क्षेत्रों (गर्भाशियों) के स्वतंत्र और अन्य निरपेक्ष स्वरूप की विशेषताओ को द्योतित करता है जो सृजन-प्रक्रिया के संदर्भ में एक दूसरे के संपर्क मे आते हैं। सहकारी विचार या सवयक पूर्व प्रस्तुत गर्भाशय के सदस्यों में क्रियाशील पाया जाता है। विचार-सन्दर्भित—गर्भाशय के इन सदस्यो को उपकौशल की संज्ञा दी जा सकती है। जो गर्भाशय पूर्णतः स्वयं प्रेरित स्वरूप ग्रहण कर लेते है उनमे केवल 'कोड' इस बात को निश्चित करता है कि किस सदस्य को किस रूप मे क्रियाशील होना है[१३]। हर नवीन विचार की कौध मे विचारों के दो स्वतंत्र गर्भाशय आपस में मिलते है और उनमे निहित विचार समन्वित होकर हमारे समक्ष उपस्थित होते है। प्रेरणा इसी संयोजन का कार्य करती है। इसीलिए सृजन प्रक्रिया में चेतना के कई स्तरों का सहयोग होता है। हम दूसरे अध्याय मे इस तथ्य पर प्रकाश डाल चुके है कि सृजन में अचेतन का बहुत अधिक सहयोग होता है। जिस तरह हम कुएँ से जल निकालकर ऊपर ले आते है, उसी तरह अपने अचेतन रूपी कुएँ से सामग्री ग्रहण करके रचना को रूप प्रदान करते है। कोएस्लर इस तथ्य को स्वीकार करते है कि सृजन प्रक्रिया मे सहयोगी मानस अन्य क्रियाओं के सहयोगी मानस से विशिष्ट होता है। इस विशिष्टता का आधार—दीप्तिमय कौध का प्रमुख केन्द्र—किसी न किसी प्रेरणा का ऋणी होता है। मौलिकता का आविर्भाव दो विचार सन्दर्भित क्षेत्रों (गर्भाशियों) के मिलने से होता है। इसमे अर्द्धचेतन या अवसीमोत्तर मानस का सहयोग होता है। इससे पुनर्संजनात्मक शक्ति सक्रिय बनती है। इससे अतिनमनीयता और नवीनता होती है। इसका परिणाम विध्वंस और सृजन में सक्षम होता है। साहित्य में हमें दो तरह की प्रवृत्तियों का दर्शन होता है, (१) अतीत व्यामोह और (२) वर्तमान के जटिल विकास के ज्ञान। ये

क्रियायें देखने से भिन्न ज्ञात होती है, पर प्रायः सम्बद्ध होती हैं। नव-प्रेरणा से जब बोध या चेतना के दो भिन्न विचार सन्दर्भित क्षेत्र आपस मे मिलते हैं तो कोएस्लर के शब्दो म तीन स्थितिया हमारे सामने आती हैं, (१) उनमे संघर्ष के परिणामस्वरूप हास्य उत्पन्न होता है, या (२) उनमे अभिनव बौद्धिक संश्लेषण प्राप्त होता है, या (३ उनकी मुठभेड़ से लालित्यबोधीय अनुभूति का प्रादुर्भाव होता है। इस तरह सृजन-क्रिया क क्षेत्र मे कियाशील 'बाइसोशिएटिक एक्ट' त्रिकोणात्मक होता है। विचार सन्दर्भित क्षेत्र के एक ही युग्म से हमे सुखान्त, दुखान्त या बौद्धिक दृष्टि से चुनौती भरी स्थितियाँ प्राप्त हो सकती है।[१४] सृजन के सन्दर्भ मे बाइसोसिएशन द्वारा प्राप्त अभिनव संश्लेषण, अर्द्धचेतन से तथ्य परिग्रहण अथवा वैचारिक परिपक्वता के कारण उपलब्ध दीप्तिमय कौध के मूल मे प्रेरणा सदैव क्रियाशील रहती है। इन विचारो के आधार पर प्रेरणा के रहस्य को समझा जा सकता है। इस तथ्य का उल्लेख सर्वथा अनपेक्षित नही है कि सृजन के सन्दर्भ मे प्रेरणा पर विचार करने वालो मे मध्यकालीन सर्जको ने ईश्वर प्रदत्त स्वरूप या उसके अनुग्रह को विशेष महत्व दिया है। कालिदास, भवभूति, तुलसी, मिल्टन आदि ने ईश अनुग्रह को स्वीकार किया है। सुकरात ने भी स्वीकार किया है कि हर महान् कवि अपनी अच्छी रचना को कला के द्वारा नहीं बल्कि प्रेरणा के द्वारा रचता है।[१५] सबसे महत्वपूर्ण बात तो यह है कि इस विचारधारा के लोगो ने कवि को केवल माध्यम माना है, जिसके द्वारा भगवान स्वतः बोलता है। भगवान को केन्द्र मे रखने से इन कवियो को कविता के कुछ रहस्यमय स्वरूपो को उद्घाटित करने की छूट मिल गई है। ये इस तथ्य को सरलता से प्रतिपादित कर सके है कि सृजन स्वतः स्फूर्त, स्वयंप्रेरित, इच्छानिरपेक्ष और उदात्त होता है और उसका प्रमुख उद्देश्य आनन्द प्रदान करता है। भगवान रसमय है अतएव कवि का सृजन भी रसमय होता है। लेकिन ज्ञान-विज्ञान के विकास के साथ प्रेरणा के इस सिद्धान्त के प्रति लोगो की आस्था घटने लगी है। नवपरम्परादर्शवादियों मे इसके पुनरुज्जीवित होने का संकेत अवश्य मिला है, पर पुनः इस सिद्धान्त का मूल्य समाप्त हो गया है। रेपिन ने इस विचारधारा पर समन्वयात्मक ढग से विचार किया है। प्रेरणा की बात तो स्वीकृत रही पर ईश्वर प्रदत्त प्रेरणा और अनुग्रह की बात अस्वीकृत हो गई। भारतवर्ष की भी स्थिति प्रायः समान थी। गेटे ने 'ब्राइड ऑव कोरिन्थ' से प्रेरित होकर जो कुछ कहा था वह स्वच्छन्दतावादी काव्य सिद्धान्त के अधिक निकट था। उसने प्रेरणा के स्वतः प्रेरित स्वरूप पर प्रकाश डाला था।[१६] साहित्य मे इस स्वरूप को पर्याप्त मान्यता भी मिली थी। कीट्स ने स्वयं इसका अनुभव किया था कि कभी-कभी वह जो कुछ लिखता है वह उसे आश्चर्यचकित कर देता है। उसे ऐसा ज्ञान होता है मानो वह किसी दूसरे की रचना है। जार्ज इलियट ने भी स्वीकार किया था 'जो कुछ भी उसकी महत्वपूर्ण उपलब्धि का सूचक है उसमे,

वह स्वयं उपस्थित नही है। उसके अतिरिक्त कुछ है जो उसपर अधिकार कर लेता है। उसे ऐसा ज्ञात होता है कि उस का व्यक्तित्व केवल वह साधन है जिसके माध्यम से वह महत्तर चेतना क्रियाशील होती है।' थैकर की आत्म-स्वीकृति कम महत्वपूर्ण नही है, 'मै अपने कुछ चरित्रों के निरीक्षण से स्वयं स्तंभित हूँ। मुझे ऐसा ज्ञात होता है मानो कोई रहस्यमय शक्ति मेरी लेखनी का उपयोग कर रही है[१७]।' सृजन के स्वत. प्रेरित और स्वत स्फूर्त होने के साथ ही प्रेरणा के सन्दर्भ मे अतिघनीभूत उत्तेजना, जीवन और निश्चित भावनात्मक व्यंजना का उल्लेख भी किया जाता है। पूर्व पृष्ठो मे इसका मनोवैज्ञानिक दृष्टि से आंशिक उल्लेख किया जा चुका है। यहाँ पर हम उसके विषय मे कुछ रचनाकारो के विचारो को प्रस्तुत करेंगे। कुमारी हार्डिंग ने चाइकोव्स्की के मत को अधोलिखित रूप मे प्रस्तुत किया है, 'उस आनंद के अनअवगाहनीय आह्लाद की स्थिति को शब्दो मे व्यक्त करना व्यर्थ है जिसका मेरे पर प्रभाव पडता है। उसके साथ ही मेरे मन मे नया विचार पैदा होता है और निश्चित स्वरूप ग्रहण करने लगता है। मै सब कुछ भूल जाता हूँ और पागल व्यक्ति की तरह व्यवहार करने लगता हूँ। मेरे अन्दर सब कुछ स्पन्दित होता दिखाई देता है। मैने अभी लिखना भी शुरू नही किया है कि एक के बाद दूसरा विचार आने लगता है।.....अगर आत्मा और मन की वह स्थिति जिस प्रेरणा को संज्ञा दी गई है बिना किसी व्यवधान या विरति के लंबे समय तक बनी रहना तो कोई कलाकार उसमे अधिक समय न रह सकता।[१८] शेली ने भी इसी तथ्य को प्रेरणा और सृजनशीलता के अन्तःसम्बन्ध के सन्दर्भ मे निरूपित किया है, 'कोई व्यक्ति यह नही कह सकता कि मै रचना करूँगा। बडा से बड़ा कवि भी यह गर्वोक्ति नही कर सकता, क्योकि सृजन की स्थिति मे मन बुझते हुए कोयले जैसा होता है, जिसे कोई अदृश्य प्रभाव एक अस्थायी हवा के रूप मे क्षणिक दीप्ति मे परिणत कर देता है। यह शक्ति अन्त करण मे उद्बुद्ध होती है.... यह अगर निरन्तर बनी रहती तो उसके परिणामो की महत्ता की भविष्यवाणी कर सकना कठिन होता है। जब रचना शुरू होती है तो प्रेरणा क्षीण होने लगती है। विश्व का महत्वपूर्ण काव्य इसी मौलिक प्रेरणा की क्षीण और अस्पष्ट छाप है। मै विश्व के महान् कवियों को यह बताना चाहता हूँ कि अध्ययन और श्रम के आधार पर रचना की बात तर्क सगत नही है। इनका सम्बन्ध केवल प्रेरित क्षण के सावधान निरीक्षण से होता है।....मिल्टन ने 'पैराडाइज लॉस्ट' की आंशिक रचना के पूर्व ही उसको अन्तःकरण मे सूत्रबद्ध कर लिया था[१९]। टी० एस० इलियट ने स्वास्थ्य और रचना के सम्बन्ध मे प्रेरणा का उल्लेख किया है। उनका कहना है, 'मैं जानता हूँ कि अस्वस्थता के कुछ स्वरूपो, रक्ताल्पता और रुग्णता या अशक्तता से भी अनुकूल परिस्थितियो मे कविता का स्रोत फूटता है जो लगभग स्वयं चालित लेखन के तुल्य होता है। इस तरह की कविता की सामग्री कवि के मानस मे

पुनर्पोषित होती रहती है,....इस तरह व्यक्ति जो भी लिखता है, वह सामान्य मनः स्थिति के अनुसार मूल्यांकित होने पर खरा उतरता है। विचार अन्त.करण में पड़े रहते है और उनका पुनर्पोषण चलता रहता है। जबतक वे प्रकट न हो जायँ तबतक प्रामाणिक ढंग से हम यह नही कह सकते कि किस प्रकार के अण्डे को हम से रहे है। इन क्षणो मे हम दैनिक जीवन को पीड़ित और व्यथित करने वाले अव्यक्त विचारो से आकस्मिक रूप से मुक्त होते है। उस समय एक निषेधात्मक स्वरूप हमारे समक्ष उपस्थित होता है। हम इसे प्रेरणा की संज्ञा नही दे सकते है। इसे हम अपनी स्वाभाविक सीमा के विघटन सदृश मान सकते है। यह क्षिप्र गति से अपने पुनर्निर्माण मे सक्षम होती है। इसके मार्ग की बाधायें कुछ समय के लिए अदृश्य हो जाती है। जो सहकारी संवेदन हमे प्राप्त होता है, वह सकारात्मक आनन्द का नही अपितु जीवन के अवहनीय और असहनीय भार से मुक्ति का होता है।..... यहाँ मै यह नही कहना चाहता कि मेरे द्वारा संकेतिक यह उपर्युक्त अनुभूति हर उदार कवि की सर्वोत्कृष्ट कृति की रचना के लिए उत्तरदायी है। क्योकि मै इस तथ्य से अच्छी तरह परिचित हूँ कि इससे मनोवैज्ञानिक दृष्टि से कविता को समझने मे सहायता मिल सकती है। लेकिन (इससे) कविता के प्रति उचित समझदारी नही पैदा हो सकती।[२०]

आरम्भ में मनोवैज्ञानिको के प्रेरणा संबंधी मत का उल्लेख किया गया है। पुन. इस तथ्य का संकेत किया गया है कि अनुभूतिमय विचार अद्भुत ढग से कवि के समक्ष उपस्थित होकर प्रेरित कर जाया करते है। किसी भी विचार की नवीनता का कारण दो विचार सन्दर्भित क्षेत्रों का सम्मिलन होता है। इस सम्मिलन मे प्रेरणा विशेष रूप से सहायक होती है। इसी के पश्चात् रचनाकारों के प्रेरणा सम्बन्धी सिद्धान्तों को निरूपित किया गया है। उसके सारांश को हम अधोलिखित रूप मे प्रस्तुत करते है :—

(१) प्रेरणा मे विचार सन्दर्भित क्षेत्रो की परस्पर टकराहट से हास्य, अभिनव बौद्धिक संश्लेषण और लालित्यबोधीय अनुभूति का प्रादुर्भाव होता है।

(२) ईश्वर प्रदत्त अनुग्रह और प्रेरणा का सिद्धान्त बहुत समय तक प्रचलित रहा है। उस धारा के लोग कवि को केवल माध्यम मानते रहे हैं।

(३) प्रेरणा को महत्व देने के कारण रचना को प्रयत्न निरपेक्ष और आनंदमय मानने की प्रथा चल पड़ी है।

(४) प्रेरणा से कवि मे घनीभूत उत्तेजना पैदा होती है जो कवि को प्रभावित करती है। उसके अन्त. करण मे विचारो का स्रोत फूट पड़ता है और वह कला के रूप में रूपायित होता जाता है।

(५) प्रेरणा अस्थायी होती है, वह निरन्तर बना नहीं रहता····· क्षीण हो जाती है। इससे काव्य केवल मौलिक प्रेरणा की छाया मात्र बनकर हमारे समक्ष उपस्थित होता है।

(६) अस्वस्थता और शारीरिक क्षीणता की स्थिति में अन्तःकरण में कुछ विचार पड़े रहते हैं जो पुनर्पोषित होकर प्रेरणा से रचना का रूप ग्रहण करते हैं। इससे कवि को सामान्य मानवात्मक उद्वेलन से मुक्ति मिल जाती है।

मनोवैज्ञानिकों और रचनाकारों के पूर्वपृष्ठों में प्रस्तुत विचारों के औचित्य और अनौचित्य पर दृष्टिपात करने के पूर्व हम इसके कुछ अन्य सूक्ष्म स्वरूपों का उद्घाटन आवश्यक समझते हैं। सृजन की प्रेरणा के सन्दर्भ में बार-बार अन्तर्दृष्टि (insight) और सहज प्रतिभा या स्वयप्रकाश (intuition) की बात उठाई जाती है और इनसे प्रेरणा का सम्बन्ध भी स्थापित किया जाता है। हम अपने दैनिक जीवन में इस तथ्य से भलीभाति परिचित हैं कि चिन्तन का एक क्षण वह होता है जिसमें हम तर्कपूर्ण ढंग से विचार करते हुए, उपलब्ध सामग्री में कार्य-कारण सम्बन्ध स्थापित करते हुए, निःसंशय भाव से अग्रसर होते हैं। यह क्रिया क्षिप्रगति से विकसित नहीं हो पाती, पर पिपीलिकाधर्मी होने के कारण अध्यवसाय से उद्देश्य की ओर बढ़ती जाती है। तार्किक सम्बन्धों का ज्ञान अनुषंगों में ढल कर, अनुशासित होकर, गन्तव्य की ओर उन्मुख होता है। इसमें अस्पष्टता नहीं होती। हम योजनायें बनाते हैं, उन-पर चलते हैं और अन्ततोगत्वा अपने गन्तव्य को प्राप्त कर लेते हैं। यथास्थान इसमें भी सहज ज्ञान से अपेक्षित सहायता मिलती है, पर वह अन्तर्दृष्टि प्रधान नहीं बल्कि अनुभव प्रधान होती है। अंतर्दृष्टि का सम्बन्ध उन समस्याओं से होता है जिनका समाधान प्रयत्न सापेक्ष्य नहीं होता है। रचना के सबध में यहां तथ्य चरितार्थ होता है। प्रयत्न करके हम कविता नहीं बना सकते। निश्चित क्षण पर उसकी रचना के कार्य-कारण-सम्बन्ध अन्तर्दृष्टि से स्वयमेव संयुक्त होकर एक नए रूप में हमारे समक्ष उपस्थित हो जाते हैं। इसीलिए अन्तर्दृष्टि के विषय में निश्चित रूप से कोई भविष्य-वाणी भी नहीं की जा सकती। हम केवल इतना कह सकते हैं कि यह समस्या समा-धान के प्रेरक विषय की अन्तस्थ विशेषताओं से निर्धारित और निर्देशित होती है।[२१] लेखक या रचनाकार के लिए चिन्तन अन्तर्दृष्टि की एक क्रिया है····जो समस्या प्रधान परिस्थिति में····उपयुक्त प्रतिचेष्टा की ओर उन्मुख करता है।[२२] हम यह भी कह सकते हैं कि अन्तर्दृष्टि सृजन का प्रमुख मेरुदण्ड है। अन्तर्दृष्टि के क्षण में विचारों की बाढ़ आ जाती है, समस्या के समाधान की वैकल्पिक व्यंजनायें क्षिप्र अनुक्रम में दृष्टिगोचर होने लगती हैं। इनमें से कई रूपायित होने की क्षिप्र संकुलता में सरलता से ग्रहण नहीं की जा सकती है।[२३] प्रेरणा के सन्दर्भ में एकाधिक विचार सन्दर्भित

क्षेत्रो के सम्मिलन का उल्लेख किया गया है : ओ० डी० हेब ने इसी तथ्य को दूसरे रूप मे प्रस्तुत किया है। उनका कहना है कि अभिनव अन्तर्दृष्टि पूर्व प्रस्तुत मध्यस्थ क्रियाओं के पुनर्संश्लेषण मे अन्तर्निहित पाई जाती है। इस तरह के पुनर्संश्लेषण सृजनात्मक और मौलिक होते है।[२४] अन्तर्दृष्टि को अध्यवसाय और शिक्षा द्वारा नही प्राप्त किया जाता। द्वितीय अध्याय मे इसपर पर्याप्त विचार किया जा चुका है और विभिन्न अनुशासनों के सन्दर्भ मे इसकी प्रामाणिक व्याख्या भी की गई है। यहा हम केवल इतना ही संकेतिक करना चाहते है कि अन्तर्दृष्टि और सृजन का यथास्थान पूरक रूप मे ही प्रयोग नही किया गया है, पर्याय रूप मे भी प्रयोग किया गया है। अतएव हम यह कह सकते है कि प्रेरणा अन्तर्दृष्टि की जनक है जो सृजन मे सहायक होती है। हर प्रेरणा से अन्तर्दृष्टि नही प्राप्त होती, लेकिन सृजक को उसको प्राप्त होने का अभिज्ञान होता है। प्रेरणाभास का सम्बन्ध अपरिपक्व विचारो से होता है। वे विचार न तो प्रभावोत्पादक होते है और न विश्वसनीय। प्रेरणा की बात तो सभी लेखक करते है, पर वे इस तथ्य से परिचित नही रहते कि केवल छः-सात प्रतिशत लोगो की प्रेरणा उपयुक्त होती है, शेष लोगों की अनुपयुक्त। अनुपयुक्त प्रेरणा सृजक को छलावे मे डाल देती है। विज्ञान और गणित के क्षेत्रो मे प्रयोग से यह सिद्ध हुआ है कि प्रेरणाभास के नागपाश मे फंसकर अधिकाश लोगो ने अपना महत्वपूर्ण समय व्यर्थ खो दिया है। इन क्षेत्र' मे तो उसको परखने और प्रमाणित करने के उचित साधन उपलब्ध है, पर साहित्य प्रकृत्या गणित और विज्ञान से भिन्न है। यहा पर उसको परखने का एक मात्र मानदण्ड रचना की प्रभावोत्पादकता; विश्वसनीयता और खरापन है। दैवी प्रेरणा की बात सर्वथा त्रुटिपूर्ण तो नही है, पर सामान्य लोगों को वह अविश्वसनीय लग सकती है। सारा विश्व शक्ति के अनंत स्रोतो से अनुप्राणित है। देवता इन्ही शक्तियो के किसी विशिष्ट पक्ष के आस्था और विश्वासमय निरूपण होते है। जब हम अथक प्रयास से उन शक्तियो को अपना बना लेते है तो उनके माध्यम से कार्य भी संपादित कर सकते है। शरीर-विज्ञान, मस्तिष्क और शरीर की आधुनिक मान्यताओं मे इस तथ्य को पर्याप्त बल मिला है। इनका समुचित उल्लेख इसी अध्याय के आगे के पृष्ठो मे किया जायगा। आस्था और विश्वास के अभाव मे जो लेखक इस प्रेरणा का उल्लेख करते हैं, वे अपने लिए खतरा मोल लेते हैं। उनकी कृति कभी भी विश्वसनीय और मर्मस्पर्शी नही बन पाती है। रचनाकार के मानस मे तत्परता के स्तर से ही अनेक विचार कौधते रहते है। उनके अपने निजी स्वरूप होते है, पर प्रेरणा की स्थिति मे उनमे से कुछ प्रतिच्छायित होते है, और शेष वही पडे रह जाते है। प्रेरणा की स्थिति मे पूरी कविता मानस मे कौध सकती है, उसका अंश विशेष हमारे समक्ष उपस्थित हो सकता है, या उसका बीज मात्र हमारे अभिज्ञान मे उतर कर तिरने लगता है। छोटी कविताओ का तो प्रेरणा से सम्बन्ध स्थापित भी किया जा सकता है। बडी रचनाओं का सम्बन्ध पूरी तरह

स्थापित नही हो पाता है। स्वयंचालित लेखन की बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। समर्थ, प्रतिभासम्पन्न, अथवा लेखक को जीवन के कठोर अनुशासन के रूप में ग्रहण करने वाले लेखकों में यह प्रवृत्ति आंशिक रूप से अवश्य विद्यमान रहती है। साधना से संप्रज्ञात समाधि तक पहुँचने वाले लेखक में यह प्रचुर मात्रा में देखने को मिलती है। ध्यान के केन्द्रीकरण से भी इसकी विशेषतायें सृजक में उत्पन्न हो जाती है। कल्पना-शिल्पी को अभ्यास से भी इसकी कुछ विशेषताओं का साक्षात्कार हो जाता है। लेकिन इन सभी स्थितियों में सतर्कता न बरती जाय तो प्रेरणाभास की संभावनाये बनी रहती हैं। सृजन के सन्दर्भ मे कल्पना का विशेष उल्लेख किया जाता है। मैं कल्पनाभास के एक उदाहरण के द्वारा इसे स्पष्ट करने का प्रयत्न करूँगा। बीवरिज ने स्वीकार किया है, 'कल्पना अज्ञात के अंधेरे में हमें परिभ्रमण करने के लिए विवश करती है। इस स्थिति मे हम अपने ज्ञान के अपूर्ण प्रकाश मे अपनी रुचि के कुछ विषयों को प्राप्त कर लेते है, लेकिन जब हम उसकी परीक्षा करते हैं तो हमें ज्ञात होता है कि उसने अपने आकर्षण में हमें व्यर्थ ही फँसा रखा था। यह निर्विवाद सत्य है कि कल्पना हर तरह की इच्छा और प्रेरणा का स्रोत है, पर यथास्थान वही निराशा की जनक भी बनती है [२५]।

प्रेरणा की स्थिति मे जीवन्त उत्साह सर्जक के व्यक्तित्व पर छा जाता है, ऐसी लोगों की मान्यता है। इसके उदाहरण स्वरूप इसके यूनानी पर्याय 'एन्थूजिअज्म' को उद्धृत किया जाता है। मुझे इस तथ्य को स्वीकार करने मे आपत्ति है कि हर प्रेरणा के साथ उत्साह और आनंदानुभूति संलग्न होती है। विगत पृष्ठों में हमने चाइकोव्स्की, शेली और इलियट की मान्यताओं को उद्धृत किया है। चाइकोव्स्की के अनुसार प्रेरणा में अनिर्वचनीय आह्लादक स्थिति होती है, पर यह तभी तक विद्यमान रहती हैं जबतक सर्जक पर उसका प्रभाव रहता है। यह बड़े सौभाग्य की बात है कि प्रेरणा का अस्तित्व अल्पकालिक होता है, अन्यथा उसे झेल पाना दुष्कर होता। यह स्थिति प्रेरणा प्रदत्त उस अन्तर्दृष्टि में होती है जिसमें सृजक अचानक 'पा लिया' की मानसिकता से गुजरता है। शेली का कहना है कि स्थायी प्रेरणा से आशातीत महत्वपूर्ण काव्य की रचना संभव होती है। उसके अस्थायित्व के कारण महान् से महान् काव्य केवल मौलिक प्रेरणा की प्रतिच्छाया बनकर रह जाता है। इलियट ने प्रेरणा के शान्तिप्रद और विरेचक प्रभावों का उल्लेख किया है। इससे स्वतः स्पष्ट है कि प्रेरणा के आनंदप्रद स्वरूप के विषय में मतभेद है। अलेक्ज़ेण्डर गेरार्ड ने प्रेरणा के विवेचन के सन्दर्भ में उत्साह का उल्लेख किया है। लेकिन इससे भी महत्वपूर्ण वस्तु यह है, उस स्थिति मे जब विधायक कल्पना और प्रतिभा के समक्ष विचार की विचक्षण गति आकस्मिक रूप से प्रस्तुत होती है तो विधायक कल्पना क्षिप्र गति से क्रियाशील हो जाती है। इस क्षिप्रता से उत्कण्ठा और उद्दीप्त हो उठती है। गति की तीव्रता से तो वह और भी उद्दीप्त हो उठती

है। गति और प्रचन्ड हो जाती है। यह क्रिया तब तक चलती रहती है जब तक मस्तिष्क विषय से उल्लसित नही हो उठता है और आह्लाद मे नहीं डूब जाता है। इस तरह प्रतिमा की दीप्ति, दैवी प्रेरणा की तरह मानस को उच्च भूमिका में प्रतिष्ठित कर देती है। इस संचालित और अनुप्राणित स्थिति मे ललित कल्पना उसकी संश्लेषणात्मक क्षमता को शक्ति और सक्रियता प्रदान करती है और उसे इस योग्य बनाती है कि वह आवश्यक विचारों की गवेषणा के लिए उन्मुख हो सके [२६]।' इस उद्धरण की दो बातों का सृजन की दृष्टि से अत्यधिक महत्व है, (१) क्रिया की क्षिप्रता और तज्जनित मानसिक रूझान और (२) सृजक की स्थिति मे मानव का सामान्यतः उच्च मनोभूमि मे प्रतिष्ठित होना। प्रायः सभी सर्जक और आलोचक इस तथ्य से सहमत है कि सृजन की स्थिति में भावोद्दीपन, विवशता, अनिवार्यता, उद्वेग, आकस्मिकता और अप्रत्याशितता से संबलित होकर विचार अन्य कार्यों मे संलग्न मस्तिष्क मे प्रवेश करते हैं। इस स्थिति मे ये विचार सृजक के लिए अपरिचित होते हैं। इसीलिए अधिकांश सर्जकों को प्रेरणा-प्ररोचित सृजन के पश्चात् ऐसा ज्ञान हुआ है कि जो कुछ भी उन्होने रचा है, वह उनकी रचना नहीं है। इसका एक अन्य कारण भी है। जब दो विचार सन्दर्भित क्षेत्र आपस मे मिलते हैं तो उनके संश्लेषण से सर्वथा अभिनव बोध उत्पन्न होता है। मनोवैज्ञानिकों ने विचार सन्दर्भित क्षेत्र के स्थान पर मन के चेतन और अचेतन स्वरूप की कल्पना की है। उनकी धारणा है कि अर्द्धचेतन मानस से उमड़े विचार अचेतन में आकर कौधने लगते हैं। इस तरह के सिद्धान्त की अपनी सीमायें हैं, जिनकी ओर कम लोगो का ध्यान गया है। हर उच्च या निम्न कोटि के सृजन के मूल मे प्रेरणा को स्वीकार किया गया है, पर यह बतलाने का प्रयत्न नहीं किया गया है कि उत्कृष्ट रचना और निकृष्ट रचना की प्रेरणा मे क्या भेद होता है। पूर्वपृष्ठो में हमने उपयुक्त और अनुपयुक्त प्रेरणा की बात उठाई है। अगर इनपर गंभीरता से विचार किया गया होता तो संभवतः प्रेरणा जनित इस विभेद को समझने के सूत्र मिले होते। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि प्रेरणाप्रदत्त कलात्मक सामग्री को अन्य अनुषंगों और संयोगो की भी अपेक्षा होती है। अगर अनुषंग उपयुक्त हैं तब तो प्रेरणा प्रदत्त आँकड़े सहृदय तक पहुँच सकते हैं, अन्यथा नहीं।

मनोवैज्ञानिकों और सर्जको की उपर्युक्त मान्यताओं के विवेचन और विश्लेषण के पश्चात् हम प्रेरणा के स्वरूप को सर्वथा अभिनव रूप में समझने के लिए पुनः शारीरिक, मनोवैज्ञानिक मान्यताओं का उल्लेख आवश्यक समझते हैं। पुनः शब्द का प्रयोग सार्थक है। द्वितीय अध्याय में हमने सृजक मानस के स्वरूप के स्पष्टीकरण के सन्दर्भ में 'थ्रेशोल्डमाइण्ड,' 'ट्रान्सिलमिनल माइण्ड' या 'आफ कांशस माइण्ड' का उल्लेख किया है। प्रेरणा का संबंध भी इस क्षेत्र की

क्रियाशीलता से स्थापित किया जा सकता है। इस तथ्य के पुनरावृत्ति की आवश्यकता नहीं है कि दीप्तिमय कौंध अवसीमा मानस में स्थान ग्रहण करती है। यह दीप्ति ही अन्तर्दृष्टि की पर्याय है। इसके पूर्व हमने अन्तर्दृष्टि को प्रेरणा-प्रेरित परिणाम की संज्ञा दी है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि प्रेरणा का कार्यक्षेत्र भी यही अवसीमा मानस है जिसे सृजन का प्रमुख केन्द्र कहा गया है। पुनः इन तथ्य को पूर्ण स्पष्टता के साथ प्रस्तुत करना चाहूँगा कि इसका क्षेत्र चेतन और चेतनेतर (जिसे आप अचेतन भी कह सकते हैं) का मध्यवर्ती होता है। इसी को ताओ और योग दर्शन मे अमनी दशा (no mind) कहा गया है। यहां निर्बन्ध घटनाक्रम क्रियाशील रहता है। यह स्वयंचालित होता है। इसी को अरविन्द के अधिमानस की संज्ञा दी जा सकती है। यही विवेक नेत्र या तृतीय नेत्र है, जिसके खुलते ही 'भावांस्त्रैलोक्य वर्तिनः[२७] की बात चरितार्थ होती है। अधिकांश प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्रियों ने अपने विवेचन में इसका उल्लेख किया है। सभी लोग यह मानते हैं कि अन्तर्दृष्टि प्रवण दीप्तिमय कौंध की आवश्यक शर्त इसमें स्वयमेव उपस्थित रहती है। यह चेतन और चेतनेतर मानसिक जगत स्वतंत्र रूप से रचना-सामग्री ग्रहण कर सकता है और हर तरह के प्रतिबन्धों से सर्वथा मुक्त होता है। यह नियन्त्रण मुक्त, प्रशान्त और संवादों के प्रति आशुग्राही होता है।[२८] जब मानस अन्य प्रतिबन्धों से मुक्त होता है तो उसमे स्वतंत्र अनुषंग स्वयमेव क्रियाशील हो उठते हैं। इसके माध्यम से परिस्थिति की मांग के अनुकूल तथ्य स्वतः रूपायित होते रहते हैं। निर्णायक क्रिया स्वतंत्र और आत्मनिर्देशित होती है। इसके तीन प्रमुख सिद्धान्त हैं (१) संगति या समरूपता या व्यवस्था का सिद्धान्त—बाह्य दृश्य और आन्तरिक आवश्यकता की द्विध्रुवीय क्रिया इस बात की द्योतक है कि रूप क्रिया का अनुगमन करता है, इसके विभिन्न अंश इससे एक व्यवस्थित समरूपता मे ढलते जाते हैं। (२) सहजता और संक्षिप्तता का सिद्धान्त—निर्माणक क्रिया परिस्थिति की मांग के अनुसार संक्षिप्त और सहज कार्य को चुनती है। (३) यह परिस्थिति की अपेक्षा के अनुसार क्रियाशील होती है।[२९] इस सन्दर्भ में यह उल्लेख कर देना भी आवश्यक है कि केवल मस्तिष्क सृजन का कार्य नहीं करता, वह नियंत्रित-निर्देशित करता है और उपयुक्त तथ्य की तलाश करता है। लेकिन यह कार्य भी शारीरिक कारणों द्वारा प्रस्तुत विचार सन्दर्भित क्षेत्र में संपादित होता है। बार-बार अन्तर्दृष्टि की कौंध की बात उठाई जाती है। इस सन्दर्भ में यही कहना पर्याप्त है कि अन्तर्दृष्टि की कौंध स्वयं प्रेरित एवं निर्माणक क्रिया ही नहीं है वह रूपान्तरण की क्रिया भी है।....कल्पित विचार से ही सृजन का कार्य संपादित होता है। इस सन्दर्भ में प्रेरणा की बात एक महत्वपूर्ण वैचारिक आयाम को ग्रहण करती दृष्टिगोचर होती है। द्वितीय अध्याय में इस तथ्य का उल्लेख किया गया है कि प्रतिबोध, चेष्टावहा स्नायुसंस्थानीय व्यवस्था, बिम्ब और प्रत्यय सृजक मानस के उपजीव्य हैं। मानव परिस्थिति और बोध या चित्तवृत्ति परस्पर

सम्बद्ध होते है। इन्ही वृत्तियो के व्यवस्थापन से अर्थबोध होता है। चित्तवृत्तियां मिलकर अन्य चित्तवृत्तिओ का निर्माण करती जाती है। यह क्रम निरन्तर गतिशील रहता है। इसी से अवसीमा मानस मे अर्थस्फोट की क्षमता उत्पन्न हो जाती है। प्रायः अब यह स्वीकृत हो चुका ह कि शरीर मे तनाव और गति की क्रिया चलती रहती है। जब कार्यक्षम शक्ति को गतिमूलक शक्ति मे परिणत किया जाता हे तो गति उत्पन्न होती हे। इसी परिणति से भाववेग उत्पन्न होते है। जब भी भाववेग की क्रिया से शरीर मे तनाव उत्पन्न होता है, जो सृजन क्रिया को उद्दीप्त करता है तो उसे प्रेरणा की संज्ञा दी जाती है। इस दृष्टि से उच्च कल्पना प्रधान तनाव अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं; जिनमें अनेक अनुषंग युग्मो और समूहो मे क्रियाशील पाए जाते हैं। प्रेरणा का यह विवेचन अधिक तर्क संगत और वैज्ञानिक है।

प्रेरणा के स्वरूप को उद्घाटित करने वाले अनेक काव्य—सिद्धान्त साहित्य में प्रचलित है। इनमे स्पष्ट रूप से प्रेरणा के सिद्धान्त का उल्लेख तो नही है, पर प्रकारान्तर से ऐसी मान्यतायें प्रस्तुत की गई है जिनसे उसके स्वरूप पर प्रकाश पड़ता है। उदाहरण के लिए हम अधोलिखित काव्य-सिद्धान्तो को ले सकते हैं।

(१) क्रीड़ा और कला सिद्धान्त।
(२) आनंदानुभूति का सिद्धान्त।
(३) आत्माभिव्यक्ति का सिद्धान्त—रागात्मक उद्वेलन।
(४) यथार्थवादी सिद्धान्त और यथार्थोन्मुख आदर्श का सिद्धान्त।
(५) सौन्दर्यानुभूति का सिद्धान्त।
(६)अनुकरण सिद्धान्त।

कला और क्रीडा के सिद्धान्त मे प्रेरणा के कुछ मूलभूत स्वरूपों पर प्रकाश डाला गया हे। इस मान्यता से संबंधित प्रायः सभी विचारको ने आप्लुत शक्ति (over flowing energy) को कला का प्रमुख उपजीव्य माना है। क्रीड़ा में हम अपनी इस शक्ति को रचनात्मक ढंग से लगा देते हैं। इससे हम उसके अन्य प्रभावों से मुक्त हो जाते हैं क्रीडा और रचना दोनों के लिए निश्चित नियमों के अतिरिक्त अपेक्षित स्वतंत्रता आवश्यक होती है। खेल के नियम अनुशासन के साधन होते हैं, स्वतत्रता को अनावश्यक रूप से प्रतिबाधित कर देने के उपक्रम नही। इसी तरह लालित्यबोधीय खेल (रचना) के भी नियम है पर वे नैतिकता और आवश्यकता से सर्वथा मुक्त होते है। कला के खेल की आवश्यक शर्त अनुभूति है। इस स्थिति में अभिरुचि के सहयोग से बिम्बो का स्वतः स्फुरित स्वरूप गतिशील हो उठता है। विकास-क्रम के साथ सही बिम्बवादी क्रिया कला के रूप मे प्रकट होती है।

शिल्लर ने प्रवृत्तियों को दो तरह का माना है (१) ऐन्द्रिय सहज वृत्ति और (२) औपचारिक सहज वृत्ति। प्रथम दृष्टि से व्यक्ति देशकाल की सीमा से आबद्ध

है, पर द्वितीय दृष्टि से वह अपेक्षाकृत स्वतंत्र और विवेक सम्पन्न है। औपचारिक सहजवृत्ति ऐन्द्रिय सहजवृत्ति से उपलब्ध बोध और प्रभाव की विविधता को अनुशासित करती है। शिल्लर स्वीकार करते हैं कि व्यक्ति न तो पदार्थ है और न चेतना, वह इनका मिला जुला रूप है। इस स्वरूप को पूर्ण समन्वित नहीं माना जा सकता। क्रीडा की प्रवृत्ति का संबंध सौन्दर्य-प्राण कला से होता है, अतएव वह इन्हें समन्वित करने में पूर्ण सफल होती है। ऐन्द्रिय सहज ज्ञान की प्रवृत्ति का प्रमुख उपजीव्य जीवनी शक्ति और सजीवता है और औपचारिक सहजवृत्ति का रूप या आकार। क्रीडा की सहजवृत्ति इन दोनों को संश्लेषित करती है। इसके द्वारा उपलब्ध संश्लिष्ट स्वरूप को हम जीवन्त आकार (living form) की संज्ञा दे सकते हैं। स्पेंसर विकासवादी सिद्धान्त से प्रभावित थे। उनकी दृष्टि में शारीरिक शक्ति और मानसिक क्रियायें मनुष्य को सुरक्षा प्रदान करने और उनकी जाति को प्रगतिशील बनाने में लगी रहती है। केवल कला और क्रीड़ा की प्रवृत्ति अपवाद है, क्योंकि यह आवश्यकता और उपयोगिता के बन्धन से सर्वथा मुक्त होती है। इन प्रवृत्तियों को विलासोपकरण भी माना जा सकता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि अप्रत्यक्ष रूप से ये जीवन को चाहे जिस रूप में प्रभावित करती हों, प्रत्यक्ष रूप से उनका उसके जीवन में कोई उपयोगितावादी सम्बन्ध नहीं होता। क्रीड़ा में व्यक्ति की अतिरिक्त शक्ति का उद्देश्यहीन उपयोग किया जाता है। अपनी विशेषताओं के कारण कला भी क्रीड़ा की कोटि में आती है। कोनार्डलैंज ने क्रीड़ामय सम्मोहन का उल्लेख किया। उन्होंने क्रीडा को बचपन की कला और कला को प्रौढ क्रीडा की संज्ञा दी। दोनों के लिए आप्लुत शक्ति की अपेक्षा है और इसी शक्ति का उनमें उपयोग भी होता है। ये दोनों क्रियायें सचेतन आत्म प्रवंचना के भाव से ग्रस्त होती हैं। दोनों मुक्ति की परिचायक होती हैं। संसार की कटुता और विद्रूपता से मुक्ति का साधन क्रीडा है और भौतिक विभीषिका से मुक्ति का साधन कला है। कला का सम्बन्ध 'मेकबिलीव' से होता है और इसके सृजन में एक अद्भुत तरह का आनन्द निहित रहता है। लैंज महोदय ने कला और क्रीडा के अन्तः सम्बन्ध को निम्नांकित आंकड़े से प्रस्तुत किया है—

ध्वनि से सम्बन्धित क्रीडा	—संगीत
दृष्टि से सम्बन्धित क्रीडा	—अलंकरण
गति से सम्बन्धित क्रीडा	—नृत्य
नाट्य से सम्बन्धित क्रीडा	—ऐतिहासिक कला नाट्यकला
चित्र से सम्बन्धित पुस्तकों का अवलोकन	—चित्रकला
गुडियों से खेलना	—ललित कला
निर्माणक क्रीड़ा	—वास्तुकला
कहानी कहना	—प्रबन्ध काव्य

लैंज के अनुसार केवल गीतिकाव्य के लिए किसी क्रीडा का विधान नहीं है।

आनन्दानुभूति और कला के अन्तः सम्बन्ध पर दो तरह से विचार किया जा सकता है। पहला स्वरूप वह है जिसमें यह स्वीकार किया गया है कि कलाकार अपने अन्तस्थ उल्लास को व्यक्त करने के लिए कला का उपयोग करता है और दूसरा वह है जिसके अनुसार कला-प्रेरणा के मूल मे आनंद-प्रदाता-क्षमता को मान्यता दी गई है। कुछ लोगो ने इन्हें अलग-अलग महत्व दिया हे, पर कुछ सिद्धान्तों मे इन दोनो पक्षो को एक साथ समेटने का प्रयत्न किया गया है। यह निर्विवाद सत्य है कि कला-सृजन और कलास्वादन की क्रिया मे भेद होता है। 'काव्य रचना के क्षणों में कवि मनोगत स्थायी भावो का विभावादि मे परिवर्तन और विभावादि का रस में परिवर्तन करता है, अर्थात् अन्तर्गत भाव की वस्तुनिष्ट भाव मे परिणति साहजिक है। आस्वादन की क्रिया वस्तुगत स्वरूपो को ग्रहण करक मनोगत भावो तक पहुँचती है। दोनो क्रियाओ मे अनुभूतिमय आनद (कभी-कभी शोक की भी क्योकि रस सुख-दुखात्मक होता हे) की स्थिति मान्य है। पाश्चात्य देशों मे भी कवि के सृजन की दुहरी आनंद प्रदाता क्षमता को स्वीकृति मिली है। वह सृजनकाल मे कवि को आनन्द प्रदान करता है और आस्वादन काल मे भावक या सहृदय को। इस तरह कला आनन्द का स्रोत होती हे। कुछ लोगो ने इस आनन्द की विशेषता का भी उल्लेख किया है। उनकी दृष्टि से इसे उपयागिता रहित आनंद की संज्ञा दी जा सकती है। आनंद को प्रेरणा के रूप मे स्वीकृति प्रदान करने की यह परम्परा प्राचीन से लेकर अर्वाचीन काल तक फैली हुई है।

आत्माभिव्यक्ति और रागात्मक उद्वेलन के सिद्धान्तो का विशेष प्रचलन है और इनका पर्याप्त विशद विवेचन भी हुआ है। पहले आत्माभिव्यक्ति पर विचार किया जाय। यो प्रच्छन्न रूप से स्वच्छन्दतावादी काव्यशास्त्र मे इसको आरम्भ से ही किसी न किसी रूप मे मान्यता मिली है, पर मनोविज्ञान के आविर्भाव के साथ इस सिद्धान्त को विशेष बल प्राप्त हुआ है। व्यक्तिगत विशिष्टता कलाकार की अपनी धरोहर है। अतएव पूर्णरूपेण साधारणीकृत होने पर भी, वह किसी न किसी रूप में कला मे व्यंजित अवश्य होती रहती है। इस सम्बन्ध मे पक्ष और विपक्ष मे अनेक मत आए है। कुछ लोग काव्य म कवि की बात उठाते है, कुछ लोग कवि मे काव्य की बात उठाते है तो, कुछ अन्य लोग काव्य को इन दोनो से मुक्त देखना चाहते हैं। यह विवाद जटिल है। यहाँ इसके निराकरण की आवश्यकता भी नही है। कवि के व्यक्तित्व से ही रागात्मक उद्वेलन का भी संबंध होता है। भाव कला का प्रमुख उपजीव्य होता है। भारतीय शोक-श्लोक-समाकरण, रससिद्धान्त और पाश्चात्य विरेचन से लेकर रिचर्ड्स के सामंजस्य सिद्धान्त तक इसकी विविध रूपों मे चर्चा की गई है। इसकी अवधारणा का सूत्रपात पुनरुत्थान काल की व्यक्तिवादी भावना से हुआ है और स्वच्छन्दतावादी विचारको मे इसका पूर्ण उत्कर्ष देखने को मिला है। परवर्ती विचारको ने इस मान्यता को यत्किचित परिवर्द्धित किया है। भाव

संवेग का स्थान अनुभव ने ले लिया है। इसको ध्यान में रखकर कला के संक्रमण (infection) सिद्धान्त और संप्रेषण सिद्धान्त का व्यापक विवेचन-विश्लेषण किया गया है। यथा समय संवेगों के उद्बोधन और अभिव्यक्तीकरण के सिद्धान्त भी सामने आए है। इसी सन्दर्भ मे अभिव्यक्ति-जनित-विश्रान्ति का उल्लेख भी मिलता है।

विज्ञान की प्रगति के साथ यथार्थ के विविध स्वरूपों को प्रेरणा का प्रमुख आधार माना गया है और कलाकार के सामाजिक स्वरूप के प्रति विशिष्ट आग्रह बढा है। यह मान्यता बलवती होने लगी है कि साहित्य एक सामाजिक निकाय है और भाषा सामाजिक विकास का प्रतिफलन। सभी साहित्यिक उपादान प्रकृत्या सामाजिक होते है। इनका स्वरूप समाज द्वारा निर्देशित, निर्धारित और अनुशासित होता है। लेखक और समाज के अन्तः सम्बन्ध को समझने के नए सूत्र सामने आए है। इस दृष्टि से साहित्य की समाज शास्त्रीय व्याख्या का विशेष महत्व है। मनोविज्ञान मे भी व्यक्ति और समाज के अन्तः सम्बन्ध को समझने के नए सूत्र प्राप्त हुए हैं। विज्ञान, मनोविज्ञान और समाज विज्ञान की इस त्रयी के घात-प्रतिघात से यथार्थवाद के कई स्वरूप विकसित हुए है। इसमें यथार्थवाद, अतियथार्थवाद, मनोविश्लेषणवाद, और समाजवादी यथार्थवाद प्रमुख हैं। यथार्थोन्मुख आदर्शवाद का विकास के दो सोपानो को व्यवस्थित और समन्वित करने की जिज्ञासा से उत्पन्न हुआ है। इसका स्वरूप समन्वयवादी और उद्देश्य यथार्थ और आदर्श को कमजोरियो से साहित्य को मुक्त करना रहा है। इधर ज्ञान के क्षेत्र के विकसित होने से नया दृष्टिकोण उभड़ कर सामने आया है। जिसे कल तक आदर्शवादी और रहस्यवादी माना जाता था, आज हमारे लिए वह यथार्थ का रूप ग्रहण करता जा रहा है, जिसे कल तक कपोल-कल्पित कहकर टाल दिया जाता रहा है, वह जीवन की अनिवार्य आवश्यकता बनता जा रहा है। इससे विभेद की परंपरित खाई मिटता जा रही है। अनुभव इस तथ्य का साक्षी है कि जीवन मे आदर्श और यथार्थ सर्वथा अलग नही दृष्टिगोचर होते। गंभीरतापूर्वक विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि हर आदर्श का अपना यथार्थ होता है और हर यथार्थ का अपना आदर्श। जीवन मे उत्कृष्टता और निकृष्टता आपस में मिली रहती हैं। इन्हें विशुद्ध स्थिति मे देख पाना कठिन है, अतएव उनको अभिव्यक्ति का दो भागो मे विभाजित करके चिन्तन का विषय बनाना बड़ा दुष्कर है। भाषा व्यंजनाओं के माध्यम से क्रियाशील होती है। उसका अपना सीमित शक्ति है। हम प्रतीक बिम्ब और रूपक का सहारा लेकर क्रिया विशेष या अनुभूति विशेष को व्यक्त करते है। ऐसी स्थिति मे अभिव्यंग्य की अन्य विशेषताओं मे हमारा ध्यान हट जाता है। उदाहरण के लिए 'मुख कमल' को लिया जा सकता है। इस अभिव्यक्ति मे कमल की अन्य विशेषताओं से हमारा ध्यान हटकर केवल बाह्य सौन्दर्य पर केन्द्रित हो जाता है। यही स्थिति

कला-अभिव्यक्ति की अन्य स्थितियों में भी देखी जा सकती है। भावनात्मक या रागात्मक उद्वेलन या आदर्श और यथार्थ की स्थिति में भी सर्जक केवल कुछ निश्चित अवस्थाओं को ही चित्रित करने मे समर्थ होता है। इस दृष्टि से कला को दिए गए ये विशेषण कुछ निश्चित अपवादों में अपनी अर्थवत्ता चरितार्थ कर पाते हैं।

सौन्दर्य सृजक की अनन्त जिजीविषा, चिर-संचित-अभिलाषा और जीवन की महनीय परिकल्पना को अनुप्राणित करने का प्रमुख माध्यम है। लेकिन अनुभूति के धरातल पर यह शब्द जितना सरल और साधारण दृष्टिगोचर होता है, सृजन के धरातल पर उतना ही जटिल और विवादास्पद बन जाता है। हर काल के साहित्यकार ने अपने शब्द भाण्डार का यथाशक्ति उपयोग करके इसकी व्याख्या करनी चाही है, लेकिन कथन की स्थिति मे किसी बिन्दु पर उसकी गिरा पंगु हो गई है। हम सबको गेटे की तरह इस बात का अनुभव करना पड़ा है कि सौन्दर्य अवर्णनीय है। यह मंडराती, प्रवाहित होती और जगमगाती छाया है। इसका वाह्य स्वरूप परिभाषा की पकड़ मे नही आ पाता है।[११] इसी का संकेत 'चित्ते निवेश्य परिकल्पित सत्व योगा' के माध्यम से किया गया है। लेकिन सर्जक भी कम साहसी व्यक्ति नही होता। वह जिस-जिस उपादान से मोहित और आह्लादित होता है, जिसे देखकर उसकी ललक अनन्तमुखी हो उठती है और वह अपनी सुधि-बुधि खो बैठता है, उसे बाँध लेने के लिए तत्पर हो उठता है। साहित्य मे अभिव्यक्त अनन्त सौन्दर्य उसके इसी प्रयास का परिणाम है। सृजनोन्मुख चेतना इसका स्पर्श पाकर कृत-कृत्य हो उठती है। कलाकार ने जीवन भर जिस मधु-गरल को एकत्रित किया है, जिसमे उसकी चेतना तन्मय होकर रमी है, जिसकी अनुभूति से उसके रोम-रोम पुलकित हुए है और जिसके सुखद-स्वप्न को उसने अपने मानस मे संजोया है उसकी अभिव्यक्ति दुर्निवार प्रेरणा का रूप लेती है। वह अभिनिवेश और अभिरुचि जिसके माध्यम से उसने सौन्दर्य का साक्षात्कार किया है; संवेदन, सहज ज्ञान और अनुभूति के रूप मे बदल कर फूट पड़ती है। परिणामस्वरूप सौन्दर्य-प्राण कला का आविर्भाव होता है। सृजक अपनी इसी सृष्टि मे जीता और निवास करता है। यही उसकी चेतना का प्रस्थान और पर्यवसान बिन्दु होता है। इन्ही दोनो छोरो के बीच उसकी सौन्दर्य-चेतना केन्द्रीभूत रहती है। सर्जक की सौन्दर्यावगाहिनी प्रतिभा और अन्तर्निहित संश्लेषणात्मक क्षमता उसे सजा संवार कर हमारे समक्ष प्रस्तुत करती है। यह अभिव्यक्ति स्वतः मे सृजक की सौन्दर्यानुभूति का प्रतिमान बन जाती है।

कला और अनुकरण पर विविध दृष्टि से विचार किया गया है और अनुकरण जनित बोध को कला प्रेरणा के रूप मे ग्रहण किया गया है। विचारकों की दृष्टि से प्रकृति और जीवन के अनुकरण, आदर्श के अनुकरण और तकनीक के अनुकरण

की ओर गई है। मध्यकाल तक यह शब्द साहित्यिक कृतियों के अनुकरण से जुड़ा हुआ था; परम्परादर्शवादी साहित्य मे यह नवीन अर्थ का वाहक बन गया। यहाँ इसे अनुभूति के आदर्श निरूपण की पद्धति की संज्ञा दी गई, पर इस तथ्य का निर्देश भी किया गया कि इसे प्राचीन शास्त्रीय मान्यताओं का तिरस्कार नहीं करना चाहिए। स्वच्छन्दतावादी साहित्य मे इसका सम्बन्ध प्रकृति और विधायक कल्पना से जुड़ गया। इधर इसकी नवीन व्याख्या की गई। यह कहा जाने लगा कि कला प्रकृति का अनुकरण नही करती, वह वस्तुतः उस सिद्धान्त का अनुकरण करती है जो प्रकृति की सृष्टि और उत्पादन का मूल कारण है। कला और प्रकृति के आन्तरिक नियम होते है। जिस प्रकार प्रकृति-संघटना मे इनका अभिन्न सहयोग होता है उसी प्रकार कला की संघटना में इनका महत्व स्वयंसिद्ध है।

उपर्युक्त पृष्ठो मे प्रेरणा पर प्रकाश डालने वाले कुछ सिद्धान्तों का सामान्य उल्लेख किया गया है। इनसे कई तरह के विचार हमारे सामने आए हैं। अतिरिक्त शक्ति, अन्तस्थ उल्लास, यथार्थवादी अनुभूति, सौन्दर्यानुभूति तथा प्रकृति और जीवन के आदर्शो के अनुकरण का हर कलाकार के जीवन के साथ संबंध होता है और वे उसकी कला मे यथास्थान अभिव्यक्ति भी पाते हैं। अतएव इन्हे प्रेरणा का प्रमुख आधार माना जा सकता है।

'निराला' युगप्रवर्तक कलाकार थे। उनकी नियति वही थी जो योरप मे शेली और कीट्स की थी। उनमे एक साथ ही शेली का ओज, कीट्स की ऐन्द्रियता, शेक्सपीयर की कारयित्री प्रतिभा, कालिदास की सौन्दर्य चेतना और भवभूति की करुणा की अतल रपर्शिनी स्निग्ध मानसिक उपलब्धियां विद्यमान थी। उन्होने जीवन की पाठशाला मे रम कर उसके विविध पक्षो का आस्वादन किया था। इतना विराट और बहुमुखी व्यक्तित्व किसी मान्यता के कटघरे मे नही अंट पाता है। ऐसे विशाल-हृदय, युगचेता, संघर्ष को चुनौती देकर उसे पराजित करने वाले कलाकार की रचना के निष्कर्ष स्वतः उसकी रचना मे प्राप्त होते हैं। दूधनाथ सिंह ने लिखा है, 'दरअसल, सच्चा रचनाकार-घनी सुनहली अयालो वाला एक सिंह होता है, जिसकी जीभ पर उसके स्वयं के भीतर निहित रचनात्मकता का खून लगा होता है। अपनी सिंह-वृत्ति के कारण वह कभी भी इस खून का स्वाद नही भूलता और हर वक्त अपने शिकार की ताक मे सजग रहता है—चारो ओर से अपनी नजरें समेटे, एकाग्रचित्त, आत्म-मुग्ध, एकाकी और कोलाहलपूर्ण शांति मे डूबने और झपटने को तैयार। इसी तरह की एकाग्रचित्तता और आत्ममुग्धता मे सिंह को मचान पर बैठे शिकारी का ध्यान नही रहता। यही से एक प्रखर अपमान, यंत्रणा और दुरन्त की सृष्टि होती है, जिससे वह अपनी सारी गर्जनाओ के बाद भी मुक्त नही हो पाता और मारा जाता है—महान और मौलिक कलाकारो का यही बिम्ब बार-बार मेरे दिमाग में बनता

है।[१२] 'उन्होने इसी स्थापना को आगे बढ़ाते हुए पुनः लिखा है, 'कला के प्रति आत्मसमर्पण उसे बाहरी दुनियाँ से बेखबर कर देता है। वह दोनो दुनियाओ में सामंजस्य नही स्थापित कर पाता ···इस तरह का एकान्त समर्पण एक तरह का आत्मभोज होता है। कला-रचना के प्रति वह अनन्त आस्था एक प्रकार के आत्म-हनन की पर्याय होती है, जिससे किसी मौलिक रचनाकार को मुक्ति नही है। जो जितना ही अपने को खाता जाता है—बाहर उतना ही रचता जाता है। लेकिन बुनियादी तौर पर वह धीरे-धीरे विनष्ट, समाप्त और तिरोहित तो होता ही चलता है। महान और मौलिक रचना के लिए यह आत्मबलि शायद अनिवार्य है।[१३] सिंह के सन्दर्भ मे आत्महन्ता स्वरूप के इस विवेचन से किसी भी समझदार आलोचक का सहमत होना कठिन है, पर रचना के सन्दर्भ में कवि की आत्महंता आस्था और उसकी आत्मबलि को नकारना भी कठिन है। दूधनाथ सिंह ने त्रुटिपूर्ण उदाहरण से एक महत्वपूर्ण सत्य का संकेत किया है। ग्रीक मियक तरह-तरह की कथाओं का पुंज है। उसमे से एक कथा का उल्लेख अपेक्षित है। किसी परम सुन्दरी नायिका को यह शाप है कि जब भी वह अपना रूप देखेगी तो वह मर जायगी। सुन्दरी अपनी सचेतना मे इससे बचती रहती है। एक दिन वह अपने शिकारी कुत्तो के साथ जंगल में शिकार करने जाती है। उसे जोर की प्यास लगती है। वह एक निर्मल झरने से जलपान करने के लिए आगे बढती है। उसकी छाया अचानक जल मे पडती है। वह उसे देखते ही शापवश हरिण मे बदल जाती है और उसी के शिकारी कुत्ते उसे काटकर टुकड़ो मे विभक्त कर देते है। मेरी दृष्टि मे कला-सृजन का यह बिम्ब अधिक सार्थक और उपयुक्त है। कलाकार अप्रतिम सौन्दर्य को संजोने वाला रचनाशील व्यक्ति है। यही रचनात्मकता उसका अभिशाप है। जब भी वह इस ओर उन्मुख होकर आत्मगवेषण में रत होता है तो ऐसी स्थिति भी आती है जिससे वह आत्म-साक्षात्कार की अपरिहार्य दुखद स्थिति से गुजरता है। यहाँ पर वह अपनापन खो बैठता है। उसकी आत्म चेतना लुप्त हो जाती है। उसी के हृदय मे सुषुप्त पड़ी अन्तस्थ वृत्तियाँ जाग्रत हो उठती हैं और वह उनके द्वारा एक भयंकर प्रतारण का स्थिति का अनुभव करता है। यह वेदना मृत्यु तुल्य होती है। कीर्केगार्द ने इसी पर प्रकाश डालते हुए लिखा है, 'कवि ऐसा अवसाद ग्रसित जीवन होता है, जिसका हृदय प्रच्छन्न वेदना मे विह्वलता रहता है, पर उसके जादूगर ओठ हृदय से निस्सरित हाहाकार वाले इस वेदना-प्रवाह को मधुर संगीत मे परिणत करते जाते है। उनका भविष्य उस अभागे व्यक्ति के सदृश है, जिसको निरंकुश 'फलारिस' ने बाँधकर विविध यातनायें दी थी, पर उसकी करुणासिक्त वाणी उस तक पहुँच भी न पाई थी। यातना से क्षीण होकर जब वह पहुँची भी तो उसे वह मधुर संगीत के सदृश ज्ञात हुई। उसके करुण-क्रन्दन को सुनकर लोगों ने कवि को घेर लिया और उससे कहने लगे हमलोगो के लिए पुनः वही गान गाओ। इस

मांग से ऐसा ज्ञात होता है कि वे कवि से संगीत नही सुनना चाहते अपितु प्रकारांतर से यह कहना चाहते है कि तुम्हारा हृदय पुनः कष्ट की अनन्त वेदना से पीड़ित हो और उससे पुनः ऐसा संगीत प्रवाहित हो उठे जो आनन्दप्रद हो। निराला का सारा जीवन निरंकुशता से बँध कर प्रताड़ित होने वाला जीवन था। अपनी जीवन्त करुणा-गाथा को उन्होंने उन तक पहुँचाने का कम प्रयत्न नही किया, लेकिन दुर्भाग्य है कि वह उन तक पहुँच न सकी। अगर वह पहुँची भी होती तो 'निराला' पन्त बन सकते थे, महादेवी और प्रसाद बन सकते थे, वे संभवतः 'निराला' न बन सके होते। निराला की प्रेरणा के मूल में यही तथ्य क्रियाशील है। उनके सम्पूर्ण रचना-संसार का ताना-बाना इसी के द्वारा बुना गया है। उनका सारा जीवन, संघर्ष और आत्म-बलिदान का जीवन है। रवीन्द्र ने अपनी किसी कविता मे इसी भाव को व्यक्त किया है। प्रथम पंक्ति है, 'ए तो माला नय गोएछ ए तोमारि तरवारि'। रवीन्द्र के समक्ष भी यह प्रश्न है। प्रथम मिलन की बेला मे जहाँ फूलो की सेज होनी चाहिए थी, वहाँ उन्हे काटो का ताज दिखाई पड़ा था। वे किंकर्तव्य विमूढ़ हो गए थे। लेकिन इस रहस्य से वे बाद मे परिचित हो सके थे। रहस्य था, 'वह जिसे प्यार करता है उसे फूलो की सेज नही देता, काँटों का ताज देता है।' निराला को यही काँटो का ताज मिला था और यही उनकी समूची काव्य-प्रेरणा का मूल स्रोत भी था। उन्होने अपनी रचनाओ मे इसका अनेक स्थलो पर संकेत किया है, संभवतः आरम्भ में ही पारिवारिक क्लेश और जीवन और मृत्यु की लीला को देखकर उन्होने लिखा था—

जब कड़ी मारे पड़ी दिल हिल उठा।
पर न कर चूँ भी कभी पाया यहाँ।[३५]

यही परवशता थी जो निराला को निरन्तर व्यथित करती रही। उन्होंने इसका समाधान खोजने का प्रयत्न भी किया—वेदान्त मे, दर्शन में और जीवन मे। इसके परिणामस्वरूप राग और विराग, कर्म और सन्यास को लेकर अद्भुत द्वन्द्व सामने आया। इस द्वन्द्व के समाधान का संकेत 'अधिवास' नामक कविता मे मिलता है—

छूटता है यद्यपि अधिवास;
किन्तु फिर भी न मुझे कुछ त्रास।[३६]

निराला ने स्वीकार किया कि 'अधिवास' के छूटने का उन्हे कोई त्रास नही है, पर जिस प्रच्छन्न संस्कार के प्रभाव को उन्होने सन्यासियो के बीच रहकर इस काल मे अर्जित किया था, वह जीवन-पर्यन्त किसी न किसी रूप मे निरन्तर उपस्थित रहा। वे भूखे पेट, नंगे शरीर और अभावग्रस्त जीवन की थाती लेकर सरस्वती साधना मे रत हो गए। अपने दीन और दुनियाँ को उसी को समर्पित कर अहर्निश उसी का स्वप्न देखने लगे। निराला उन बिरले लोगो मे थे जिन्हे अपनी

रचना के महत्व का ज्ञान था। लेकिन दुर्भाग्य यह कि वह समय के चिन्तन से बहुत आगे थे, परम्परा-विद्रोही थे और हिन्दी में उन आदर्शों की प्रतिष्ठा करना चाहते थे, जो प्रतिभा-प्रसूत और सहज होने के कारण शास्त्रीय सीमाओं मे अँट नही पाते थे। युगचेता-कलाकार केवल एक ओर प्रहार करता है पर आत्मसजग कलाकार चतुर्दिक प्रहार करता है। निराला की आत्मसजगता से उन्हे एक साथ अनेक मोर्चों पर संघर्ष करना पड़ा। शक्ति रहते वे कर्तव्यपराङमुख नही बने। लेकिन व्यक्ति के रूप मे उनकी निजी सीमा थी। उन्हे परिस्थितियो ने बार-बार अपने जाल मे फँसा कर झुकने को बाध्य किया, पर वे झुके नही। अतएव उनको टूटना पड़ा। यह क्रिया निराला के साहित्य मे प्रवेश करने के साथ ही शुरू हो गई और मृत्यु-पर्यन्त बनी रही। डॉ० राम विलास शर्मा ने लिखा है, 'राम की शक्ति पूजा के साथ सन् ३६ में निराला की काव्य-साधना का पहला चरण समाप्त होता है, 'नए पत्ते' से सन् ४६ मे दूसरा चरण, शेष रचनाएँ सन् ६१ तक तीसरे चरण की है। इन तीनों चरणो मे निराला की विचारधारा और भावबोध मे कोई अन्तर नही है।[३७] वे लिखते है, जो उदात्त है, ओजपूर्ण है वह प्रथम चरण की रचना है। दूसरे चरण में संघर्ष का स्वर प्रधान है। साथ ही निराला अब हँसते अधिक है और यह हँसी हमेशा मन का सहज उल्लास नही होती, उसके नीचे गहरा विषाद छिपा होता है। तीसरे चरण मे उन्होंने मृत्यु और विषाद के जैसे गीत रचे, वैसे उन्होंने पहले कम लिखे थे। दूसरे कवियों मे भी वैसी रचनाये मुश्किल से मिलती हैं।[३८] श्री दूधनाथ सिंह का कहना है, 'जिस नरक विशेष की चर्चा डॉ० राम-विलास शर्मा, निराला के जीवन के एक समय विशेष मे करते हैं, दरअसल वह नरक यात्रा तो उनके जीवन मे सर्वत्र फैली हुई है।'[३९] हमने भी ऊपर इस तथ्य का संकेत किया है कि रचना के आरम्भिक स्तर से ही निराला में संघर्षजनित पीडा और अवसाद के क्षण दृष्टिगोचर होने लगे थे। पर सन् ३६ तक उनमे ओज और उल्लास भी था जो उनकी रचनाओ से निरन्तर झलकता रहता था। इसी को डॉ० शर्मा ने उदात्त और ओजपूर्ण की संज्ञा दी है। दूसरे चरण मे प्रथम स्तर से अर्जित निराशा और अवसाद की छाया और घनी होती है। यह संघर्ष नही बल्कि आत्म-संघर्ष की मध्यम स्थिति है। उनकी अन्तर्दृष्टि अतल-स्पर्शी और बोध अत्यधिक खरा हो जाता है। वे अब जीवन और जगत को समझ चुके है, उसके आवर्तों को झेल चुके है। इसीलिए उनके लिए अब सब कुछ सहज है। वे अपने उन्मुक्त अट्टहास से उसकी निरंकुशता को अंगीकार करने लगे है। तीसरे धरातल पर सन् ४६ के बाद स्वतन्त्र भारत मे उस मनीषी का यह बोध फैलकर सम्पूर्ण जीवन को ग्रस लेता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वैचारिक मान्यताओं के आरम्भ से अन्त तक एक होने के बावजूद रचना की प्रगति के साथ वेदना का संसार अत्यधिक महत्व प्राप्त करता गया है। घुटने और टूटने की जो प्रक्रिया आरम्भ में आशा और निराशा

के दो छोरों के बीच 'पेण्डुलम' की तरह चक्कर काटती रही है, वह जीवन के तीखे बोध के उभाड़ और संघर्ष के पश्चात् अधिक एकोन्मुखी, तीव्र और घनीभूत संवेदनाओं से आपूर्ण होती गई है। आशा की किरणें क्षीण होती गई हैं और वे अन्ततः निराशा के गर्त में विलीन हो गई है। काफ्का ने चूहे के 'फैबुल' मे इसी तथ्य का संकेत किया है। चूहा कहता है, 'अफसोस है कि विश्व प्रतिदिन सिकुड़ता जा रहा है : आरम्भ में यह इतना बड़ा था कि मैं भयभीत हो गया था। मै लगातार दौड़ता रहता था, लेकिन मै इस तथ्य को देखकर प्रसन्न होता था कि मेरे दाहिने-बायें, दीवाले अधिक दूर हैं। लेकिन ये दूरवर्ती दीवाले इतनी जल्दी सिमट गईं कि मै अब अन्तिम प्रकोष्ठ मे पहुँच चुका हूँ और वही मेरे समक्ष चूहेदानी है जिसमे एक न एक दिन मुझे अवश्य फँसना है।[४०] निराला के जीवन का बोध भी कुछ इसी तरह का था। आरम्भ मे उनकी अभिलाषाओ-आकाक्षाओ, सफलताओं-असफलताओ का जगत व्यापक था। पर अनाहूत और अप्रत्याशित जीवन-संघर्ष से वह निरंतर सिकुड़ने लगा। एक ऐसी भी स्थिति आई जिसमे वह सिकुड़ कर बहुत छोटा हो गया। जो मृत्यु सत्य होते हुए भी उनके लिए आरम्भ मे कल्पना का विषय थी, वह मूर्तिमान होकर उनके सम्मुख उपस्थित हो गई, और वे बार-बार इसका अनुभव करने लगे—आरम्भिक स्तर और अन्य स्तर के भेदों को स्पष्ट करने के लिए अधोलिखित उद्धरण प्रस्तुत हैं—

१. जीवन चिरकालिक क्रन्दन
मेरा अन्तर वज्र कठोर
देना जी मरमक झकझोर
मेरे दुख की गहन अन्धतम
निशि न कभी हो भोर।[४१]

२. हो गया व्यर्थ जीवन मै रण मे गया हार।[४२]

३. दुख ही जीवन की कथा रही।
क्या कहूँ आज जो नही कही।[४३]

४. बोला मै-बेना नही ध्यान
लोगों का जहा
खिली हो बन कर वन्य गान।[४४]

५. यही सत्य सुन्दर
नाचती वृन्त पर तुम ऊपर
होता जब उपल प्रहार प्रबल
अपनी कविता
तुम रहो एक मेरे उर मे
अपनी शुचि में सच्चरिता[४५]

६. मेरे दुख की गहन अन्ध–
तम निशि न कमी हो भोर।[४६]

७. ठूंठ है यह आज
गई इसकी कला
गया है सकल साज।[४७]

८. फिर सुना–हँस रहा अट्टाहास रावण खल-खल (अ)[४७ अ]
... .

वह एक और मन रहा राम का जो न थका
जो नही जानता दैन्य नही जानता विनय। (ब)[४८]

९. विश्व सीमाहीन
बाँधती जाती मुझे कर-कर
व्यथा से दीन
दिए थे जो स्नेह चुंबन,
आज प्याले गरल के घन
कह रही हो हँस–पिया प्रिय,
पियो, प्रिय, निरुपाय
मुक्ति हूँ मै मृत्यु मे
आई हुई न डरो।[४९]

दिल पर कड़ी मार पड़ने और परवश होकर उसे झेलने की अनुभूति कवि को सन् चौबीस के आस-पास हो चुकी थी। सन् सत्ताइस में कवि को इस तथ्य का अभिज्ञान हो गया कि 'जीवन चिरकालिक क्रन्दन है। इसके गहन अन्धतम (निराशा) का कभी अन्त नहीं होगा।' सन् ३७ की कविताओं में यह प्रवृत्ति पहले से अधिक घनीभूत हो गई है। निराला अब भली प्रकार समझने लगे हैं कि जीवन व्यर्थ हो गया है। जिस युद्ध को वे लड़ने के लिए तत्पर थे उसमें वे हार चुके हैं। उनकी रचनायें 'बेला' के सदृश है जो वहाँ पर लिखी हैं जहाँ उन्हें कोई देख नही सकता। वे अरण्य-गान के सदृश हैं। उनपर तो जंगल में मोर नाचा किसने देखा की कहावत चरितार्थ होती है। फिर भी उनमें कुछ ऐसा है जो सत्य और सुन्दर का परिचायक है, क्योंकि जब उन पर घोर प्रहार होता रहता है तो भी वे अपनी डाली पर निरन्तर नृत्य किया करती हैं। लेकिन इस स्थिति में भी उन्हे निरन्तर अन्याय के (रावण) मस्त होकर हँसने का स्वर सुनाई देता है। उसका नृत्य बन्द नहीं है। निराला मे अब भी ऐसा कुछ है जो घुटना टेकने के लिए परवश नहीं है, जो अपराजित है। सन् सैंतीस के बाद अनुभव कुछ और तीखा और गहरा

होता है। वे यह तो पहले से ही अनुभव कर रहे थे कि वे अब अनुवर (ठूठ) हो रहे हैं, उनकी कला अब धीरे-धीरे दूसरी दिशा की ओर बढ रही है। विश्व का सीमाहीन स्वरूप उन्हे व्यथा से निरन्तर दीन बनाकर बाँधता जा रहा है। जीवन का संचित स्नेह अब गरल से लबा-लब भरे प्याले में बदल चुका है और कोई उनसे बार-बार यह अनुग्रह कर रहा है कि तुम इस विष का पान करो। मैं मृत्यु के रूप मे तुम्हारे समक्ष उपस्थित हूँ। तुम्हे इस दुनियाँ के कष्ट से मुक्त कर दूँगी। स्पष्ट है कि दिल पर पडी मार का ही यह विकसित रूप है जहाँ सन् ३८ तक निराला मृत्यु मे मुक्ति प्राप्त करने के अभिलाषी बन गए हैं। इसका विकास-क्रम किसी न किसी रूप मे निरन्तर उन्हे प्रमथित कर रहा है। उन्हें अब स्पष्ट रूप से यह दिखाई पड़ने लगा है कि उनके जीवन की संध्या बेला आ रही है[५०]। क्योंकि जीवन अब उनके लिए आशा रहित कारागार बन गया है। प्रच्छन्न स्वार्थ से वे बुरी तरह लुट चुके है। जड़ता ने उन्हे चारो ओर से घेर लिया है। प्रेम से गले लगाकर बातचीत करने वालो का अभाव हो गया है। अब उनके जीवन रूपी आकाश मे प्रेरणा के कोई उपादान नही रह गए हैं। वे कल्पना के अनन्त सागर से घिरे हुए है। वह उनके शक्तिहीन, कंकाल-काय को घेर कर गरज रही है। वे घोर निराशा की स्थिति मे पड़ गए हैं। उन्हे इस तथ्य का ज्ञान नही हो पा रहा है कि उससे मुक्ति का रास्ता क्या और कहाँ है[५०]। निराला ने इसी बोध को 'स्नेह निर्झर बह गया है[५१]' गीत मे भी व्यक्त किया है। 'बेला' मे उन्होने इतना ही कहा था कि वह वहाँ खिली हुई थी जहाँ लोगो का ध्यान न जा पाता था। तात्पर्य यह कि कवि ने अपनी तुलना बेला से की थी। लेकिन यहाँ सब कुछ परिवर्तित हो गया है। कवि संकेत कर रहा है—

आम की यह डाल जो सूखी दिखी,
कह रही है—'अब यहाँ पिक या शिखी
नही आते, पंक्ति मे वह हूँ लिखा नहीं
जिसका अर्थ
जीवन ढह गया है[५२]।

यह संकेत बड़ा मर्मस्पर्शी है। वे अपनी तुलना आम की सूखी डाल से कर रहे हैं जो अब अपने प्रेमियो से सर्वथा परित्यक्त है। निराला की भी वही स्थिति है। वे आम की सूखी डाल की तरह ही निरर्थक पंक्ति हो गए है। लेकिन ऐसा क्यो हुआ है? उन्होने अपनी प्रतिभा से जो एक समय सबको चकित किया था, क्या वह क्षणिक या नश्वर न था? अगर वह सब कुछ मूल्य रहित और बेकार न था तो निराला को आज जीवन की विषम-स्थिति का सामना करने का अन्य कारण क्या हो सकता है? आज तो वेदना ही सारी उपलब्धि का आधार है[५१]। लेकिन यह भी सत्य है—

मरण को जिसने वरा है
उसी ने जीवन भरा है [५४]।

स्पष्ट है कि छत्तीस से लेकर छियालीस तक वेदना का घनत्व ही नहीं बढ़ा अपितु उसको व्यक्त करने वाले विशेषण भी पहले से कुछ भिन्न हो गए। अन्तिम दौर में यह मृत्यु परिकल्पना और प्रत्यक्ष हो गई है। 'धीरे-धीरे हँस कर आई, मेरे जीवन की परछाई' अथवा 'मरा हूँ हजार मरण'[५५] उन्हीं की रचनायें हैं। इस दौर में वेदना के साथ भक्ति का संयोग हो गया है। उदाहरण के लिए कुछ निम्नांकित पंक्तियाँ उद्धृत की जा रही हैं—

(१) शाप तुम्हारा गरज उठे सौ सौ बादल।
ताप न वारा काँपे पृथ्वी के तरुदल।[५६]

(२) सुख का दिन डूबे डूब जाय
तुम से न सहज मन ऊब जाय।[५७]

(३) सीधी राह मुझे चलने दे
अपने ही जीवन फलने दे
जो उत्पात घात आए है
और निम्न मुझ को लाए है
अपने ही उत्ताप बुरे फल
उठे फफोले सा गलने दे।[५८]

(४)मानव जहाँ बैल घोड़ा है
कैसा तन-मन का जोड़ा है।[५९]

(५)व्यर्थ प्रार्थना जैसे अब है
पंजर-पिंजर कर से
अब अंधियारी ही बढ़ती है।[६०]

इस काल की कविताओं में वेदना के साथ ही किसी सत्ता की स्वीकृति का भाव भी है। जब व्यक्ति पीड़ित और व्यथित होता है तो उसे किसी महत्वपूर्ण सत्ता की स्मृति हो आती है। निराला ने राम और कृष्ण को याद किया है, पर उनकी अधिकांश कवितायें शक्ति को ध्यान मे रखकर लिखी गई हैं। ये अद्भुत व्यक्तित्व के कवि रहे हैं। इनका सारा जीवन कर्मयज्ञ का अभूतपूर्व उदाहरण है। इन्होंने जीवन में मुक्ति की आकांक्षा नहीं की है। ये तो सदैव शक्ति अर्जित करने के अभिलाषी रहे है। इसी से वे कर्मयोग का अप्रतिम उदाहरण रख सके हैं। वैसे तो आस्था (आस्तिकता) का बीज कलकत्ते मे ही पड़ चुका था। पर जीवन के तीसरे काल में यह पूर्ण पल्लवित और पुष्पित होकर सामने आया। अवसाद और रहस्य स्व-

च्छन्द कविता की मुख्य विशेषतायें हैं। निराला में यथास्थान रहस्य भावना भी है पर इसकी तुलना मे उनकी भक्ति भावना अधिक प्रबल है। कुछ लोगों की दृष्टि मे यह मन. स्थिति छलांग या 'लीप' की परिचायक है पर मेरी दृष्टि में यह उनकी अन्तस्थ आस्था का सावयव विकास है। निराला ने सन चौबीस में ही 'अधिवास' के छूटने और उससे त्रासमुक्त होने के भाव का उल्लेख किया है। यही बिन्दु उनकी आस्था और अनास्था के द्वन्द्व का बिन्दु है। परवर्तीकाल मे परिस्थितियों के आवर्त में यह द्वन्द्व एकोन्मुख बन गया है। 'अनामिका' में ही कवि इसका संकेत कर देता है—

क्या गाऊँ ?—माँ ! क्या गाऊँ ?
गूँज रही है जहाँ राग-रानियाँ,
गाती हैं किन्नरियाँ-कितनी परियाँ
कितनी पंचदशी कामिनियाँ,
वहाँ एक लेकर वीणा दीन
तंत्री-क्षीण, नही जिसमे कोई झंकार नवीन,
रुद्ध कण्ठ का राग अधूरा कैसे तुझे सुनाऊँ ?
माँ ! क्या गाऊँ ?[६१]

'अनामिका' के बाद 'परिमल' मे इन गीतो की संख्या पहले से अधिक हो गई है। इसके पश्चात् 'कुकुरमुत्ता' और 'नये पत्ते'[६२] संग्रहो को छोडकर प्राय सभी संग्रहो मे भक्तिपरक गीत विशेष रूप से संग्रहीत है। 'अर्चना' और 'आराधना' मे भक्ति प्रधान गीतो की ही बहुलता है। इससे यह स्वत: सिद्ध होता है कि निराला के जीवन मे संघर्ष, कटुता, विद्रूपता, पराजय और एकाकीपन का बोध जितना ही तीव्र होता गया है, उनकी दृष्टि अर्चना और भक्तिपरक गीतो की ओर उतनी ही आकृष्ट होती गई है। इस दृष्टिकोण का विकास भी स्तरो मे हुआ है और आरंभिक स्तर से लेकर अन्तिम स्तर तक उसमे कई मोड भी आए है। रचनात्मकता की दृष्टि से ये बिन्दु प्रेरणा के प्रसार और घनत्व के साथ ही कवि की मानसिकता के पर्याय बन गए है। कवि का व्यक्तित्व वैयक्तिक होते हुए भी प्रशस्त, व्यापक और सार्वभौम होता है। इसका श्रेय उसकी रचनात्मकता को है जो उसके 'स्व' तक पहुँचाता ही नही, बल्कि उसका साधारणीकरण करके उसे सार्वजनीन और सार्वभौम स्वरूप प्रदान करती है। द्वितीय अध्याय मे हमने अनेक उदाहरणो के द्वारा रचना के धरातल पर अनुभूत उस कारागार का उल्लेख किया है जो कवि की रचनात्मकता को बाधित करने का प्रमुख साधन होता है। कवि संवेदनशील और सृजक होता है। वह भावो के जगत मे जीता ही नही अपितु अपनी रचना से सम्पूर्ण जगत को भावमय बनाने का प्रयत्न करता है। निराला की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि रचना के आरम्भ से ही वे इस स्थिति से भली प्रकार परिचित हैं। उन्हें इसका पूर्ण ज्ञान है। रचनाकार

का ज्ञान शास्त्र-ज्ञान या दर्शन-ज्ञान नहीं होता है। वह तो व्यक्ति की उस अखण्ड सत्ता का ज्ञान होता है जो कुछ अपवादों के साथ अपने वृहत्तर बोध में समूचे समष्टि-बोध को बाँध लेने की हिमाकत रखता है। आरंभिक स्तर पर कवि की प्रेरणा से उद्बुद्ध व्यथा का स्वरूप वैयक्तिक होते हुए भी समष्टि कल्याण की चेतना से स्पन्दित और अनुप्राणित है। उसे अपने चतुर्दिक विकीर्ण जड़ से संघर्ष करना है जो चेतन को ही बंधक नही बना चुका है, अपितु निराशापूर्ण अज्ञान के रूप मे सम्पूर्ण सृष्टि पर छा गया है। अन्धकार निराला के लिए अज्ञान का परिचायक है और प्रकाश ज्ञान का। वे 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' के आदर्श सिद्धान्त से अनुप्राणित हैं। रचना कवि की मुक्ति का साधन होती है, और रचनाकार में यदि खरा जीवन बोध है तो वह अन्य लोगो की मुक्ति का साधन भी बनती है। कवि को प्रेरणा, उसे जीवन का बोध तो व्यक्तिगत मानसिकता मे कराती है पर उसकी रचना उसे व्यक्तिगत मुक्ति के साथ ही सार्वभौम मुक्ति का साधन बना देती है। निराला का यही बोध उनकी अधोलिखित कविता से उमड़ता है .—

जग को ज्योतिर्मय कर दो।
प्रिय कोमल पदगामिनी ! मन्द उतर
जीवन्मृत तरु गुल्मो की पृथ्वी पर
हँस-हँस निज पथ आलोकित कर,
नूतन जीवन भर दो।
जग को ज्योतिर्मय कर दो[१३]।

जग अगर ज्योतिर्मय होता है तो निराला भी ज्योतिर्मय होते हैं। 'जीवन्मृत तरु गुल्मों' को अगर जीवन दान मिलता है, जीवन स्पन्दन प्राप्त होता है तो वह निराला जैसे आम को सूखी डाल के लिए जीवन के सतत् विकास का परिचायक होगा। यह ज्ञान के अभाव में असंभव है। निराला ने इसका अनुभव भी किया है कि उनका प्रिय करुणा की किरणों से उन्हें बार-बार आपूर्ण कर दे रहा है। इससे उनके पीड़ित हृदय को शान्ति मिल रही है। उनकी करुणा, जो अनन्त धाराओं में विकीर्ण होकर, शतशः प्रकृति में आँसू की बूंदों के रूप में प्रसरित है, उसको यह प्रिय पोंछ दे रहा है। उनके जीवन में पुनः आशा रूपी प्रभात का संचार हो रहा है।[१४] निराला यह मानते है कि उसकी कृपा न होती तो भला जीवन के इस 'कुटिल-अन्धतम-जाल' में फँसा व्यक्ति, 'रश्मि चमत्कृत-स्वर्णालंकृत नवल प्रभात' का दर्शन कैसे कर पाता। जीवन तो केवल श्रम का पुज है, कठोर कर्म का पर्याय है। चतुर्दिक निराशा के बादल उमड़ कर कवि को घोर अन्धकार की स्थिति में डालते रहते है, किंकर्तव्य विमूढ़ बनाते रहते हैं। ऐसी स्थिति में कवि उसे प्राप्त करने में असमर्थ है। अगर कही वह कृपा करे, कवि की दृष्टि को उधर प्रेरित कर दे, या उसपर करुणा करके उसका जीवन सर्वस्व 'भूला जीवन भोर' खोजकर

उसे समर्पित कर दे तो तब तो उसका कल्याण हो सकता है, अन्यथा नहीं ।[६५] निराला को प्रकाश प्रिय है, क्योंकि अन्धकार से लड़ने मे वही उन्हें सक्षम बना सकता है। इसे निराला ने केवल अपने वेदान्त ज्ञान से नही प्राप्त किया था, अपितु उन्होने जीवन के जड़-चेतन-संघर्ष के साथ हर मोर्चे पर लड़ाई लड़कर प्राप्त किया था। निराला मूलत: विद्रोही कवि थे—क्रांति की आकांक्षा मे जीने वाले, मानवता को मुक्ति का सन्देश देने वाले और सम्पूर्ण भारत को हनुमान या सरस्वती के रूप में ग्रहण करने वाले कवि। उनके विशाल व्यक्तित्व में उदीयमान रचनाकारों को उनका मार्गदर्शक, संस्कृति के उन्नायको को भारत की गरिमा का उद्‌बोधक, अन्याइयों को अन्याय-विध्वंसक, तिरस्कृतों को उनका समर्थक और संघर्षरत व्यक्तियों को उनका संबोधक स्वरूप प्राप्त हुआ था। अनन्त मोर्चों पर अनन्त रूपो मे संघर्षरत कवि की एक मात्र यही आकाक्षा थी,

बुझे तृष्णाशा—विषानल भरे भाषा अमृत निर्झर
उमड प्राणो से गहन तर छा गगन ले अवनि के स्वर।[६६]

सारी आकाक्षायें विशुद्ध स्वच्छन्दतावादी और मानवादी ! अकेले अपने तेजोद्दीप्त प्रभा-मंडल मे अन्धकार और अज्ञान के सर्वनाश का संकल्प ! सब कुछ उचित था। लेकिन निराला की शक्ति सीमित थी। वे इससे पर्‌ चित थे। भारतवर्ष मे शक्ति की उपासना के द्वारा अनन्त शक्तिमान बनने की प्रथा प्रचलित थी। शक्ति स्वत: मे अज्ञान के विनाश के लिए (महिषासुर वध के लिए) सभी देवताओ के तेजोद्दीप्त उपकरणों से निर्मित थी। निराला इससे भी अच्छी तरह परिचित थे। इसीलिए उन्होंने शक्ति की अनेक रूपों में कल्पना की है। कुछ स्थलों से तो स्पष्ट भी हो जाता है कि इसके प्रति उनका विशेष आग्रह भी रहा है। उन्होंने यथास्थान लिखा भी है :—

ज्ञान-तन्तु तुम, जग अजान मन—
शव-शिव शक्ति महान।[६७]

निराला में वेदान्त दर्शन के प्रभाव से शक्ति को माया की प्रकृति के पर्याय के रूप मे स्वीकृति मिली है। शक्ति ने ही निराला को अधिक प्रभावित किया है। राम तब उद्देश्य पूर्ति मे सफल होते हैं जब वे शक्ति की मौलिक कल्पना करके उसको प्राप्त करते है। शिव का भी शक्ति के समक्ष कोई विशेष महत्व नही है। शक्ति के अभाव मे वे 'शव' सदृश हैं। शक्ति ही उन्हे सिसृक्ष बनाती है। शक्ति ने तुलसी को सिसृक्ष बनाया है। उसकी दो स्थितियाँ हैं,

(१) अन्तस्थलीन और (२) युगनद्ध या सिसृक्ष। निराला इन दोनों से भलीभाँति परिचित हैं। वे शक्ति के उस स्वरूप के उपासक हैं जो उन्हे सिसृक्षा प्रदान करे। वे तो स्पष्ट रूप से कहते है, कि अगर तुम मुझे कविता के उपहार दोगी

तो मैं भी तुम्हे भैरव के दो चार पद सुना दूँगा। कितना निश्छल स्नेह है उनका! उन्हें लगता भी है कि माँ ने उनकी प्रार्थना सुन ली है .—

मै कवि हूँ पाया है प्रकाश
मैंने कुछ अहरह रह निर्भर
ज्योतिस्तरणा के चरणो पर[६८]

काव्य की देवी सरस्वती है। लेकिन श्रद्धा के अभाव मे लोग उसे देखते हुए नही देख पाए हैं, सुनते हुए नही सुन पाए है, जब कि उसकी स्थिति उस जाया के सदृश है जो अपने प्रियतम के समक्ष अपने शरीर को पूरी तरह खोलकर रख देती है।[६९] इसी आत्मप्रकाशक स्वरूप को ऊपर 'ज्योतिस्तरणा' विशेषण के द्वारा व्यक्त किया गया है। निराला इस स्वरूप से परिचित है इसीलिए 'गीतिका' के प्रथम गीत मे ही उन्होने लिखा है—

वर दे, वीणावादिनि वरदे!
प्रिय स्वतंत्र रव अमृत-मंत्र नव
भारत मे भर दे!
काट अन्ध उर के बंधन स्तर
बहा जननि, ज्योतिर्मय निर्झर;
कलुष-भेद तम-हर प्रकाश भर
जगमग जग कर दे!
नवगति, नव लय, ताल छन्द नव
नवल कण्ठ, नव जलद-मन्द्र रव
नव नभ के नव विहग वृन्द को
नव पर नव स्वर दे।[७०]

जिस प्रकाश की बात विगत पृष्ठो मे उठाई गई है उसी का संकेत यहाँ भी है। निराला देवी के तीनो रूपो से परिचित हैं। अन्धकार को दूर करके प्रकाश की वे जहाँ कल्पना करते है वहाँ प्रायः महासरस्वती रूप का स्तवन है। देवी के अन्य रूपों का संकेत भी उनकी रचना मे मिलता है। 'राम की शक्ति पूजा' में महादेवी स्वरूप का उल्लेख आया है। अंजना रूप में उनका प्रकट होना, और प्रबोध देकर बजरंगबली हनुमान के मन को नीचे उतारना उसी स्वरूप का परिचायक है। पुनः आगे चलकर 'पार्वती कल्पना है उसकी मकरन्द बिन्दु' से भी उसी का संकेत मिलता है। कलकत्ते मे रहकर, रामकृष्ण के भक्तों के संपर्क से निराला को महाकाली के स्वरूप का ज्ञान भी हुआ था[७१]। इनके अतिरिक्त उन्होने यथास्थान, राम

---

[७१]परिमल की 'आवाहन' कविता मे उन्होंने काली के 'मुण्डमाला', खड्ग और खप्पर युक्तस्वरूप का उल्लेख किया है।

शिव, कृष्ण, हनुमान आदि का स्मरण भी किया है। निराला के विचार परम्परित कम और प्रगतिशील अधिक है। उन्होंने अन्त तक अपने साथ ही मनुष्य-मात्र को केन्द्र में रखकर उसकी भलाई की शुभकामना की है। तुलसी मे यह प्रवृत्ति अवश्य है, पर निश्चित रूप से वह निराला से कम है। प्रपत्ति के भी दो स्वरूप हो सकते हैं, (१) ज्ञानमूला प्रपत्ति और (२) भक्तिमूला प्रपत्ति। ज्ञानमूला प्रपत्ति की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि ज्ञानी अपने को ब्रह्म समझता है, आपको ब्रह्म समझता और सारे संसार को ब्रह्मस्वरूप मानता है। इस तरह वह अभेदवादी बन जाता हैं। इसका स्वरूप हमे शकराचार्य मे दिखाई देता है। एक ओर वे अद्वैत का मण्डन करते है पर दूसरी ओर शिव, पार्वती, देवी का स्तवन करते है। भक्ति मूला प्रपत्ति अपने को निरन्तर अपने इष्टदेव के चरणो में डाल कर उनके अनुग्रह की कामना करती है। इस दृष्टि से निराला तुलसी के अधिक निकट अवश्य है, पर ज्ञानकाण्डी शंकराचार्य और कबीर की छाया भी उनपर पडती दृष्टिगोचर होती है। निराला ने तुलसी की तरह व्यथित होकर कष्ट दूर करने की कामना भी की है, लेकिन कबीर की तरह चुनौती भी दी है। विपत्तियो से जूझने-जूझने उनके रहस्य मे वे परिचित हो चुके है। अपनी पीडा से वे दूसरे की पीडा को समझने का सूत्र प्राप्त कर सके है। इसीलिये वे 'तिमिरदारण मिहिर दरसो'; 'जीवन की गति कुटिल अन्धतम जाल', 'माँ अपने आलोक निखारो' जैसी रचनायें दे सके है। अन्त तक ज्ञानमूला प्रपत्ति के स्थान पर भक्ति मूला प्रपत्ति की प्रधानता अवश्य हो गई है, लेकिन उनकी केन्द्रीय मानववादी चेतना अक्षुण्ण बनी रही है। यही निराला की सबसे बडी विशेषता है और इस दृष्टि से वे सर्वथा आधुनिक है।

वेदना, अवसाद और प्रपत्ति के अतिरिक्त अन्य अनुभूतियाँ भी हैं जिनमे कवि की प्रेरणा के क्षण पूरी तरह सुरक्षित है। हम प्रेम और सौन्दर्य की प्रेरणा का उल्लेख करते है। निराला को केवल छायावाद तक सीमित करके देखना उनका उपहास करना है। लोगो की दृष्टि अगर उससे आगे बढी है तो वह रवीन्द्र और निराला की तुलना से उलझ गई है अथवा रीतिकाल के स्थूल सौन्दर्य और निराला के गतिशील सौन्दर्य के चित्रो के सामान्य विभेद से। वस्तुत: प्रेम और सौन्दर्य के चित्रण की दृष्टि से निराला संस्कृत के कुछ कवियो के अधिक निकट है। इस दृष्टि से कालिदास के कुछ स्थलो का उल्लेख अपेक्षित है। कालिदास की दृष्टि मे सुन्दर सदैव सुन्दर रहता है। शकुन्तला के सौन्दर्य-निरूपण के सन्दर्भ मे उन्होने लिखा है;

सरसिज मनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं,
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्य लक्ष्मीतनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापितन्वी,
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्।[७१]

इस तरह के सौन्दर्य-निरूपण की अपनी विशेषतायें होती हैं। जब कलाकार अपने सात्विक चित्त में विश्वव्यापी सौन्दर्य को आलोड़ित करके उसके सार से कोई रचना करता है और पुनः उसमे प्राण प्रतिष्ठा करता है, तब कही पार्वती या शकुन्तला का आविर्भाव होता है। उसकी यह क्रिया सौन्दर्य को अभिषिक्त करके किसी पात्र में प्रतिष्ठित करने के सदृश होती है। रचना-प्रक्रिया भी इसी की परिचायक होती है। उसके द्वारा निर्मित वपु मे त्रिलोक-सौन्दर्य समाविष्ट हो जाता है।[७२] कालिदास यह भी स्वीकार करते हैं कि जीवन में महत्तम उपलब्धि के लिए केवल शारीरिक सौन्दर्य अपेक्षित नही है, अपितु आत्मिक सौन्दर्य भी अपेक्षित होता है। इस दूसरे कोटि के सौन्दर्य को प्राप्त करने के लिए तप आवश्यक है।[७३] सारे संघर्षों और विडंबनाओ से घिरे हुए निराला को देखकर एक परम तपोरत योगी का चित्र उभड़ता है, जो अपनी उपलब्धियों से परिचित होने के कारण, ठोंकर पर ठोंकर लगने के बावजूद अपने उद्देश्य की ओर बढता जाता है। हर कलाकार अपनी प्रेरणा को प्यार करता है, उसे सहलाता, दुलारता, पुचकारता और गले लगाता है और उचित अवसर पर अपने प्रयत्नो से उसे सजा कर मूर्त रूप में हमारे सामने प्रस्तुत कर देता है। पूर्व पृष्ठो में निराला की मानसिकता के, उनकी प्रेरणा के कुछ बिन्दुओं को उजागर किया गया है। भावों की सीमा निश्चित होती है। कवि उन्ही के बीच चक्कर काटा करता है। मानसिक सांचे मे पड़कर वे जो मोड़ लेते हैं कवि उधर ही मुड़ जाता है। इसमे प्रेरणा के क्षण मे उद्‌बोधित भावबोध का प्रमुख सहयोग होता है। उस स्थिति मे संश्लेषण के द्वारा रचना का कुछ अंश उजागर हो उठता है। कवि को रचना के संकेत प्राप्त हो जाते है। हो सकता है आरम्भ मे यह संकेत जल पर पडने वाले तैल बिन्दु के सदृश हो, अन्ततोगत्वा वह फैल कर रचना का रूप ले लेता है। यह क्रिया कष्ट साध्य होती है। निराला ने इसका संकेत करते हुए लिखा भी है—

कठिन शृंखला बजा बजाकर गाता हूँ अतीत के गान।[७४]

लेकिन उनके समक्ष उससे बचने का कोई उपाय भी तो नही है? उन्हे तो इसका ज्ञान है कि,

'इसी रूप में रह स्थिर,
इसी भाव मे घिर-घिर,
करोगे अपार तिमिर—
सागर को पार।'[७५]

रचनात्मकता की वही अनिवार्य प्रेरणा और उसका परिग्रहण ही तो तिमिर सागर से पार होने का साधन है। बार-बार भावों से घिरने को ही तो प्रेरणा का घनीभूत रूप माना जा सकता है। स्वच्छन्द धारा के कवियों का प्रेम सीधी

और सपाट सड़क नही होता जिसपर निर्विघ्न संचरण संभव हो सके, वह तो अनन्त अभिलाषाओ व्यथाओं और आपदाओ का शरणस्थल होता है। वह अनन्त विस्मय और कुतूहल से भरा होता है। कवि को अनुभव होता है;

बंद तुम्हारा द्वार !
मेरे सुहाग शृंगार !
द्वार यह खोलो ।
सुनी भी मेरी करुण पुकार ?
जरा कुछ बोलो ?[७६]

जीवन की अनन्त परवशता प्रेम को भी अवरुद्ध किए है। कवि के लिए उसके दरवाजे भी बन्द हैं। नियति भी तो उसका साथ नहीं देती। असमय में ही पत्नी की मृत्यु होती है, सन् १८ में परिवार के लोगों को अकाल काल कवलित होना पड़ता है। पिता के रूप मे, अथवा यों कहें कि परिवार के प्रमुख सदस्य के रूप में भरण-पोषण का साधन जुटाने के लिए उन्हें दर-दर की ठोंकर खानी पड़ती है, नासमझ लोगों के आक्रमण को झेलना पड़ता है, साहित्यिक वाद-विवाद में उलझ कर अनन्त वेदना को झेलने का अवसर प्राप्त होता है। तात्पर्य यह कि जीवन में कोई ऐसा प्रतारण-पूर्ण कष्ट नही शेष रहता जो अपनी शक्ति-परीक्षा निराला के साथ नही करता। सन् छत्तीस तक वे इन संघर्षो को झेलते है, पर इन्हें अपने पर पूर्णतः हावी नही होने देते। सन् ४६ तक इन संघर्षो का विष उनकी नसों में मिल जाता है। कवि का पराजय-बोध बढ जाता है। प्रेम की स्रोतस्विनी सूख जाती है और राग के स्थान पर विराग प्रतिष्ठित हो जाता है। निराला का सम्पूर्ण जीवन बाधामय कण्टको से बिंधा हुआ है, प्रेम के सभी मार्ग रुंधे हुए हैं, उनकी करुण पुकार पर उन्मुक्त हृदय से उनसे मिलने वालों का अभाव है। निराला की स्थिति समसामयिक कवियों से ही भिन्न नहीं है, रवीन्द्र से भी भिन्न है। फिर भी वे प्रेम के गीत गाते हैं ? ऐसा क्यों ? इसका उत्तर सरल नहीं है। फिर वही तपोरत व्यक्ति की बात सामने आती है। निराला का तप योगी और भोगी दोनो के तप से भिन्न एक रचनाकार का तप है जो अपनी प्रेरणा के प्रति सतत्, सतर्क और जागरूक है। इस कारण उनके गीतों में एकतानता और एक ही दृष्टि-बिन्दु की व्यापकता है। उनका जीवन-दर्शन भी उनसे झलकता रहता है। पर जीवन के उतार-चढ़ाव के साथ इनमे सघनता और विरलता भी आई है। जीवन को अगर हम एक लंबी कविता मानते है, तब तो वे गीत उसके अंश अवश्य है, क्योकि निराला ने अपने जीवन मे जो जिया है, वही अपनी रचना में रचा है। उनकी रचनाये हंसती-बोलती, जीती-जागती जीवन-छवियाँ है। यह क्षमता कुछ विरलों को ही मिली है। निराला उनमे से एक हैं। निराला ने भी स्वच्छन्दतावादियों की तरह सपने देखे हैं, पर वे सपने जिस भी तरह के हों, जीवन के रस मे सराबोर

हैं। इसका यही कारण है कि निराला ने जीवन को कल्पना में नहीं यथार्थ में जिया है। प्रेम और सौन्दर्य की कवितायें भी इसीलिए सोंधी धरती और नीले आकाश की रचनायें बन जाती है। निराला मे अप्रतिम ऊर्जा और शक्ति है, पुरुषत्व है और जीवन-रहस्य के तह तक जाकर उसे समझने की जिज्ञासा ही नही क्षमता भी है। इसलिए उनके प्रेम और सौन्दर्य के रंग भी निराले बन गये हैं। 'सम्राट् अष्टम एडवर्ड के प्रति' कविता में उन्होने लिखा है,

'ये दीपक जिसके सूर्य चन्द्र
बंध रहा जहा दिग्देशकाल
सम्राट उसी स्पर्श से खिली
प्रणय के प्रियंगु की डाल-डाल।'[७७]

इससे प्रेम के विषय मे उनकी धारणा स्पष्ट हो जाती है। वे इसे परम सत्ता का परम श्रेयष्कर उपहार मानते है। अतएव जो इसको वर्जित करना चाहता है वह प्रकृति विरोधी है। यौवन मद और नदी की बाढ़ किसी को देखकर रुकना नही जानती। उनकी तो मान्यता है :—

जो करे गन्ध मधु का वर्जन
वह नही भ्रमर।[७८]

कवि भ्रमर वृत्ति का होता है वह प्रकृति मे विकीर्ण राशि-राशि सौन्दर्य का आस्वादन करता है। अगर वह 'गन्ध-मधु' का तिरस्कार करने लगे तो उसे भ्रमर नही कहा जा सकता है। मनुष्य, मनुष्य मे कोई भेद नही होता। किसी तालाब के पंक को भेदकर उत्पन्न मानव रूपी कमल मे भेद करना अनुचित है। इसके पूर्व संकलित 'प्रेयसी' नामक कविता मे भी निराला लिख चुके है कि हम दोनों 'भिन्नवर्ण, भिन्न जाति, भिन्न रूप और भिन्न धर्मभाव' के व्यक्ति थे। लेकिन अपनाव से हम एक हो चुके थे। इसका प्रमुख कारण यह था कि 'अपनाव' ने दो प्राणों को एक प्राण मे बदल दिया था। वह अपनाव क्या था ? प्रेम ही न। आखिर वह प्रेम क्या है ? इसका उत्तर वे देते हुए कहते हैं।

प्रेम सदा ही तुम असूत्र हो
उर-उर के हीरो के हार
गूँथे हुए प्राणियो को भी
गूँथे न कभी, सदा ही सार।[७९]

असूत्र होकर भी विश्वव्यापी प्रभाव उत्पन्न करके द्वैत मे अद्वैत की प्रतिष्ठा का श्रेय प्रेम को ही तो है। वह उर-उर के हीरो का हार ही नही है, अपितु हृदय में प्रिय नूतन आनन्दप्रवाह के द्वारा चेतना को लुप्त करके उस प्रथम चाह को जागृत करने वाला भी है जिसमे कवि अपनापन भूल करके निर्निमेष उसी की शोभा को

निरखने में तल्लीन हो जाता है।[८०] वह प्रेम विश्व-व्यापक सत्ता से उत्पन्न ही नहीं हुआ है, अपितु उसके मधुर अधरो से सारी संसृति विचुम्बित होकर ऐसे भावों से भर उठती है जो शोक और सन्ताप को हरने वाले हैं। उन्होंने निराला के शोक सन्ताप को भी हरा है, इसीलिए तो वे प्रेम के गीत गा सके हैं, 'प्रेयसी' 'रेखा' और 'उक्ति' जैसी रचनायें दे सके है। 'प्रेयसी' का अधोलिखित प्रसंग द्रष्टव्य है :—

दिए नही प्राण जो इच्छा से दूसरे को,
इच्छा से दूसरे के प्राण वे हो गए
दूर थी,
खिच कर समीप मै ज्यों हुई
अपनी ही दृष्टि में,
जो समीप था विश्व
दूर-दूर तर दिखा।[८१]

निराला ने प्रेम के सहज स्वरूप का प्रस्फुटन दिग्दर्शित किया है। इसमे इच्छा के लिए कोई स्थान नही होता। मन-तन और शरीर किसी के बन जाते है। पहले जगत का नाता टूट जाता है : वह एक दूसरे जगत से जुड़ जाता है। उन्होने प्रेम को कई स्थलो पर 'अपनाव' शब्द से व्यक्त किया है। हम उसी को अपनाते है जो हमे आकर्षक लगता है। निराला इससे परिचित है। उनके अनुसार आकर्षण मे एक ही तत्व के दो केन्द्र मिलते है। ये केन्द्र सृष्टि के ही कारण नही होते अपितु कविता के 'काम-बीज' भी हुआ करते है। प्रेम के आकर्षण के उत्पन्न होने के बाद एक साथ ही भावनाओ का ज्वार आ जाता है। निराला ने बड़े मनोवैज्ञानिक ढंग से उसके प्रभाव को चित्रित किया है—

उत्सुकता वेदना
भीति मौन, प्रार्थना
नयनो के नयनों से
सिंचन सुहाग-प्रेम,
दृढ़ता चिबुक की
अधरों की विह्वलता,
भ्रू-कुटिलता, सरलहास,
वेदना कण्ठ में
मृदुता हृदय मे
काठिन्य वक्षस्थल में
हाथो मे निपुणता
शैथिल्य चरणों में

दीखी नहीं तब तक
एक ही मूर्ति मे
तन्मय असीमता ।

अथवा

सब कुछ तो था असार
अस्तु, वह प्यार ?
सब चेतन जो देखता
स्पर्श में अनुभव—रोमाच
हर्ष रूप में—परिचय
विनोद, सुख गध मे
रस में मज्जनानंद
शब्दों मे अलंकार
खोवा उसी ने था हृदय यह
जड़ों में चेतन गति कर्षण, मिलता कहाँ ?

प्रेम की यह विशेषता है कि वह अपने रस से हमें सिक्त कर देता है, हम भूल जाते है अपनी अहन्ता को। लेकिन निराला को प्रेम में केवल इतना ही नहीं दिखाई देता। वे तो एक ही मूर्ति मे 'तन्मय-असीम' को देखते हैं, वे तो 'नयनों के नयनों से सिचन को सौभाग्य और प्रेम की संज्ञा देते है। इसके पश्चात् तो उन्होंने प्रेम की स्थिति मे उत्पन्न परस्पर विरोधी भावों की झड़ी लगा दी है। भ्रू-कुटिलता-सरल हास, वेदना-मृदुता, काठिन्य-कोमलता, निपुणता-शैथिल्य के द्वारा जैसे उन्होंने मनोभावों को जीवन्त बना दिया है। नीचे के पद में तो जैसे अनुभूति के विविध भाव-कोणों की अव्यक्त व्यंजना रमणी के सौन्दर्य की तरह फूट-फूट बिखर रही है। यह अन्तर्दृष्टि संभवतः किसी अन्य छायावादी कवि को नही मिली है। प्रेम के इस चित्रण मे 'जूही की कली' का ही विकास-क्रम दृष्टिगोचर होता है, पर वह अधिक स्वच्छन्द होते हुए भी अन्तर्दृष्टि प्रवण बन गया है। कवि की आँखों के समक्ष उसके हाव-भाव के सभी स्वरूप उपस्थित है और उसकी भाषा उन्हे बाँधने में सक्षम है। 'परिमल' मे भी कुछ अनुपम स्थल है। प्रेम की संकुलता की वही वेगवती धारा यहाँ अनेक रूपो मे प्रवाहित है। जिस प्रेम-प्रेरणा को वे जीवन ही नहीं कविता मे भी गले से लगाए हुए थे वह और रूपवती और शालीन होकर मन को मोह लेती है। प्रेम की चरम परिणति (प्रणय) के रूप में कवि यही कामना करता है—

तन-मन थक जायँ
मृदु सुरभि सी समीर में

बुद्धि बुद्धि में हो लीन
मन मे मन जी जी में
एक अनुभव बहता रहे
उभय आत्माओ में ।[८१]

ऊपर के विवेचन मे स्पष्ट है कि निराला प्रेम को सहज वरदान मानते हैं, इसमें वे जाति-पाँति और कुल-मर्यादा की सीमा को नहीं स्वीकार करते हैं, इसके सहज और स्वतःस्फूर्त विकास को विशेष महत्वपूर्ण मानते हैं और अद्वैत की स्थिति को स्वीकार करते हैं। निराला की रचनाशील प्रेरणा को यहाँ चार चाँद लग जाता है। ऐसा ज्ञात होता है कि वे उसकी अनुभूति-प्रक्रिया के बीच से गुजर रहे हैं, और सूक्ष्म से सूक्ष्म संवेदनों को, जिन्हे पूर्ववर्ती कवि नही अंकित कर पाए हैं, अंकित करते जाते है। वे न तो सन्तों की तरह उसका सर्वथा उदात्तीकरण करके उसे लोकोत्तर बना देते हैं और न मध्यकालीन कवियों की तरह सर्वथा पार्थिव। उनके प्रेम-गीतों में ये दोनों सीमायें मिट गई है और वे अपने को अनुभूति की एक सर्वथा नवीन स्थिति में पाते हैं। इन गीतों को केवल स्वच्छन्दतावादी कहकर उन्हे केवल उस शब्द से सम्बद्ध कुछ विशेषताओं तक सीमित कर देना अनुचित है। निराला के प्रेम-गीतों में उनकी चेतना के तार-तार, अनुभूति के स्तर, संवेदना के अनेक स्वरूप और तज्जन्य प्रभाव के विविध पक्ष स्वयमेव रूपायित है। इस दृष्टि से उनपर राम विलास शर्मा की यह उक्ति सर्वथा चरितार्थ होती है; 'निराला नारी के सौन्दर्य पुरुष और नारी की काम-चेतना और उस चेतना की स्वाभाविक परिणति के कवि है।' वे अपनी विशेषताओ मे हिन्दी के कालिदास हैं। उन्ही की तरह ये भी प्रेम को रोमांच, आह्लाद, तन्मयता और परम पवित्रता का पर्याय मानते है। निराला प्रेम को आदि रस की संज्ञा देते है और प्रेम-साधना को अन्य किसी भी साधना से महत्वपूर्ण मानते है। साधको के लिए उनकी साधना पवित्र, निश्छल और मुक्ति प्रदाता होती है, निराला के लिए उनका प्रेम ही मुक्ति प्रदाता है। साधक के मुक्तिमार्ग के जितने पडाव है, वे निराला के प्रेममार्ग मे देखे जा सकते है। निराला के आदि रस की कल्पना भक्तिकाल में किसी न किसी रूप मे क्रियाशील थी। वाम-मार्गी साधना, मधुराभक्ति और कृष्ण-भक्ति म इसके अनेक रूप विकसित हो चुके थे। पर किसी ने इसके विस्तार को खुलकर मुक्ति का साधन नही माना था। सब लोग इसे प्रतीक व्यंजना का रूप प्रदान करते थे। निराला ने ही 'आदि रस' के विस्तार को स्पष्ट रूप से मुक्ति का साधन कहा। इसका कारण था। वे इसके उस विश्व-व्यापक प्रभाव से परिचित थे। संस्कृत और हिन्दी के कवियों ने 'मदन के पंचशर' के प्रभाव में रुचि ली थी और उसे किसी न किसी धर्माख्यान के सन्दर्भ में विवे-चित किया था। अन्ततोगत्वा उसका अन्त मदन-दहन प्रसंग में हुआ था। निराला

अपने प्रेमगीतों में उनकी उस मान्यता से असहमत थे । उन्होंने प्रेम को सृष्टि के उद्‌भव का कारण माना, व्यक्ति-व्यक्ति को जोड़कर मानव की प्रतिष्ठा का सूत्र माना। यही एक ऐसी स्थापना है जहाँ निराला सर्वथा आधुनिक बन जाते हैं । इन्होंने काम व्यापार को उस दलदल से मुक्त किया है जिसमें इसके पूर्व वह फँसा था। 'गीतिका' का यह गीत इस दृष्टि से द्रष्टव्य है:—

स्पर्श से लाज लगी,
अलक-पलक मे छिपी छलक
उर से नव राग जगी ।
चुंबन चकित चतुर्दिक चंचल ।
हेर-फेर मुख कर बहु मुखछल,
कभी हास, फिर त्रास, साँस बल
उर सरिता उमगी ।
प्रेम चयन के उठा नयन नव,
बिधु चितवन मन मे मधु कलरव,
मौन पान करती अधरासव
कण्ठ लगी उरगी ।
मधुर स्नेह के मेह प्रखरतर,
बरस गए रस निर्झर झर-झर,
उगा अमर अंकुर उर भीतर,
संसृति भीति जगी ।[८५]

सारे रति-विलास का चित्रण स्पष्ट और मुक्त है। प्रेम के सन्दर्भ मे अन्य अध्यायों में और बाते कही जायँगी । उपर्युक्त विवेचन से इतना अवश्य स्पष्ट हो जाता हे कि प्रेम निराला की काव्य-प्रेरणा का मुख्य सोपान है ।

प्रेम के साथ ही सौन्दर्य भी जुड़ा होता है । प्रेम और सौन्दर्य अपनी युगनद्धावस्था में ही काव्य-रचना के प्रमुख कारण सिद्ध होते हैं। निराला के काव्य में हमें प्रकृति-सौन्दर्य और मानव-सौन्दर्य दोनो का दर्शन होता है । प्रकृति अनन्तकाल से कवि की प्रेरणा स्रोत रही है । उसी के बिम्बों और कार्य-व्यापारों के माध्यम से कवि को स्पष्ट रूप से कुछ कहने की प्रेरणा मिलती है । वे प्रकृति के दार्शनिक पक्ष के रहस्योद्‌घाटन में तल्लीन दीखते है । प्रकृति-पुरुष की पुरानी पहेली उनके हृदय को मथती रहती हैं । इस रूप मे प्रकृति-सौन्दर्य अपनी अनन्तता से उन्हे मुग्ध कर लेता है । उसका निरवलंब प्रवाह पृथ्वी से लेकर आकाश और जड़ से लेकर चेतन, सब पर समान रूप से छाया रहता है । उसी के इंगित से निराला को प्रकृति में विकास की

साकार क्रिया का दर्शन होता है। इसीलिए निराला का सौन्दर्य प्रकृति की क्रोड़ में फलता-फूलता और विकसित होता है। निराला काव्य मे तत्वो का काव्यमय उल्लेख मिलता है और उन्हीं के व्याज मे उन्होंने शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध की अद्भुत व्यंजना की है। कही पृथ्वी आकाश में बदलती है तो कही आकाश पृथ्वी में। उनकी कविता की पृथ्वी सोंधी गंध मे भरी हुई है। मनुष्य शरीर भी अपनी सुन्दरता मे इन तत्वों को समेटे हुए है। पृथ्वी से निराला को विशेष प्रेम है। उनकी कविता के बीज उसी मे पडे और उसी से प्रस्फुटित हुए है। इसी लिए निराला की कविता पृथ्वी पुत्र की कविता है, पृथ्वी तनया की कविता है। जब इन पर किसी तरह की विपत्ति आ जाती है तो पृथ्वी के अन्य सहचर, आकाश, वायु, अग्नि और जल उसे भरसक दूर करने का प्रयत्न करते हैं। इसी को डॉ० रामविलास शर्मा ने प्रकृति के तत्वों के 'सह अस्तित्व'[८६] की संज्ञा दी है। निराला के लिए आकाश अनन्तता का प्रतीक है और उसकी नीलिमा रहस्य की। हर स्वच्छन्द धारा का कवि इससे अधिक प्रभावित है। प्रकृति का एक रूप ऋतु-चक्र के रूप मे दिखाई देता है। हर स्वच्छन्द कवि के लिए बसन्त ऋतुराज माना जाता है। निराला के पूर्व प्रकृति आलंबन या उद्दीपन का माध्यम रही है। वह कवि की भावानुभूति से रंगी हुई पाई गई है। इस क्रिया से वह कुछ निश्चित मान्यताओ मे आबद्ध होकर अपनी गतिशीलता खो देती है। निराला कारा को तोड़कर गगाजल-धारा प्रवाहित करने के हिमायती हैं। अतएव उनकी प्रकृति पूर्ववर्ती परम्परा से मुक्त है। निराला के प्रकृति चित्रण मे उनके सुखद या दुखद भाव संवेग की एक तान परिणति विशेष रूप से द्रष्टव्य है। वैसे तो यथास्थान सभी ऋतुओ पर उनकी रचनाएं है, पर बसन्त और वर्षा ऋतु पर सर्वाधिक रचनाये मिलती हैं। कुछ लोगों ने इन ऋतुओ को लेकर लिखे गए गीतो की संख्या के आधार पर इनके महत्व को प्रतिपादित करना चाहा है। संख्या या परिमाण के आधार पर इस तरह के महत्व को नही समझा जा सकता है। उसे समझने के लिए तो कवि की तल्लीनता को ही मानदण्ड बनाना पडेगा। निराला के जीवन मे ग्रीष्म की कमी न थी। आशाओ पर निरन्तर तुषारापात से पतझड़ के बीच भी उन्हे निरन्तर गुजरना पड़ा। कमी थी तो बसन्त और वर्षा की। बसन्त कवि के लिए अपने जीवन की क्षतिपूर्ति का साधन है। निराला के लिए जीवन मे जो भी अप्राप्य था, या नियति नटी के नग्न ताण्डव से उनसे जो कुछ भी छीन लिया गया था, बसन्त उसी का परिचायक था। समृद्धि, विकास, उन्मुक्त-ह्रास-विलास, पूर्ण यौवन और उसकी अन्त दीप्त-विच्छित्ति, सब कुछ तो बसन्त का विषय था। हर साल बसन्त कवि को ढाढस बँधा जाता है, उसके रिसते घावो पर एक मरहम लगा जाता है। उसकी आशा बंधती है कि उसके जीवन में भी बसन्त आएगा। जब तक यह आशा बधी रहती है तब तक वह उसके आह्वान में गीत रचता जाता है। ज्यो-ज्यों यह आशा क्षीण होती जाती है, उसका स्थान वर्षा ऋतु लेती जाती है। अन्त को कविताओ मे वर्षा प्रमुख हो जाती है और बसन्त अदृश्य।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि बसन्त कवि के लिए उसकी स्वतः प्रदीप्त उल्लास-मय चेतनता का प्रतीक है। 'गीतिका' का यह पद द्रष्टव्य है।

सखि, बसन्त आया।
भरा हर्ष बन के मन,
नवोत्कर्ष छाया।
किसलय वसना नव-वन-लतिका
मिली मधुर प्रिय-उर तरु-पतिका,
मधुप वृन्द बन्दी—
पिक स्वर नभ सरसाया।
लता-मुकुल-हार गन्ध भार भर
बही पवन बन्द मन्द मन्दतर;
जागो नयनों में वन—
यौवन की माया।
आवृत सरसी-उर-सरसिज उठे
केशर के केश कली के छुटे
स्वर्ण शस्य अंचल,
पृथ्वी का लहराया।[८७]

यह बसन्त गीत नहीं है निराला के हृदयस्थ उल्लास का गीत है जो बसन्त के व्याज से फूटकर निकल पड़ा है। छन्द की बन्दिश अपने बसन्त के नवोत्कर्षपूर्ण उल्लासमय स्वरूप के साथ ही निराला के जीवन से भी अन्तः सम्बन्धों से संग्रथित है। बसन्त काम का सखा है। निराला इससे अच्छी तरह परिचित हैं। अतएव 'नव वनलतिका' किसलय वसना बन गई है, 'तरुपतिका' मधुर प्रिय उर का आलिंगन कर रही है, आवृत्त सरसी उर पर पूर्ण विकसित कमल दिखाई पड़ रहे हैं। पृथ्वी का सुनहला शस्य श्यामल अंचल लहरा रहा है। सर्वत्र, विकास, उल्लास, आनन्द और अभीप्सित सुख की प्राप्ति का वातावरण है, तो निराला उससे कैसे वंचित रह सकते हैं।

वर्षा के गीतों में अधिक बांकपन, व्यंजना और भावात्मक निखार है। वर्षा के कार्य-व्यापार मे कवि का मन बसन्त से कम नही रमा है। वर्षा में बादल छा जाते हैं, उमड़ते-घुमड़ते और चमकते हैं, फिर बरस पड़ते हैं। तपन शान्त हो जाती है,

लता-पुष्प लहरा उठते हैं और धरती नई हरियाली से लद जाती है। निराला के लिए वर्षा उनकी रचनात्मक मानसिकता की प्रतीक है। भाव के बादल चढ़ते हैं, उमड़ते-घुमड़ते और बरसते है और उनके काव्य-ससार मे एक अप्रतिम आकर्षक हरियाली का आगमन होता है। यथास्थान बादलो की घुमड़ और गरज से कवि को विप्लव और क्रान्ति का संदेश मिलता है। अणिमा का अधोलिखित स्थल द्रष्टव्य है—

बादल छाये,
ये मेरे सपने
आँखों से निकले, मण्डराये।
बूंदे जितनी
चुनी अधखिली कलियां उतनी
बूंदी की लड़ियों के इतने
हार तुम्हें मैंने पहनाये
गरजे सावन के घन घिर-घिर,
नाचे मोर वनों में फिर-फिर
जितनी बार चढ़े मेरे भी तार
छन्द से तरह-तरह तिर
तुम्हें सुनाने को मैंने
नहीं कहीं कम गाने गाए।[८८]

प्रेरणा का इतना सुन्दर वर्णन कम स्थानों पर दिखाई पड़ता है। बादल छाए हैं। निराला को लगता है उन्ही के रूप में उनके सपने आँखों से निकलकर साकार रूप में इधर-उधर मंडरा रहे हैं। बूंदे क्या हैं, भाव की अधखिली कलियाँ हैं, जिन्हें गूंथ कर कवि हार बनाकर समर्पित करना चाहता है। वर्षा मे कवि की चेतना के तार भी चढ़ जाते हैं। बादल ही नहीं उमड़ते तरह के छन्दों में उसके भाव उमड़ने लगते हैं। परिणाम है कि वह अनेक तरह की रचनायें करने में समर्थ हो जाता है। एक स्थिति वह है जिसमें बादल उसकी प्रेरणा के ही कारण नहीं बनते उसकी सम्पूर्ण रचनात्मकता के पर्याय बन जाते हैं। दूसरी स्थिति वह है जिसमें वह अनुभव करता है कि उसके जीवन-घन बादल के रूप मे आए हुए है और निराला मंत्र मुग्ध होकर निष्पलक नेत्रों से उसे देख रहे हैं। जीवन-घन को देखने से उनमें अद्‌भुत परि-वर्तन हो रहा है। उनके अंग-प्रत्यंग में रोमांच भर गया है।' 'ज्यों-ज्यों निहारिए

नेरे ह्वै नैनन, त्यों त्यों खरी निखरै सी निकाई' की उक्ति चरितार्थ हो रही है। स्पर्श-सुख से आकर्षित होकर हर्षित चल चितवन लक्ष्य के पार पहुँच रही है। नव चितवन की चोट को झेलने से हृदय व्याकुल हो गया है, वह बादल की तरह शतशः धार में विगलित होकर बह जाना चाहता है। उससे हृदय में प्रेम के अंकुर उमड़ रहे है और मन शनैशनैः उस मधुरता में डूबता हुआ शान्ति की ओर अग्रसर हो रहा है। संसार का सृजन और पालन-पोषण करने वाली जलधार की वृष्टि हुई है। स्रोतस्विनी प्रवाहित होकर उदधि के हृदय से मिल कर कृतकार्य हुई है। निराला के भी प्रेम की क्षितिज अब पूर्णतया मुक्त हो चुकी है। पंच तत्वों के पंच-गुण उन्हे उपलब्ध है और वे उन्मुक्त भाव से उनका आस्वादन कर रहे हैं।[८६] अन्य कवियो की दृष्टि लक्ष्यपरक है, वे बादल को उद्दीपन के रूप में ग्रहण किए हैं। निराला की दृष्टि उस ओर भी रहती अवश्य है, पर वे उस सीमा को अतिक्रमित करके बादल को अपनी सम्पूर्ण मानसिकता का पर्याय बना देते है। उनके लिए बादल न तो दार्शनिक रहस्य के उद्घाटन का साधन है और न विरही की विरह व्यथा को उद्दीप्त करने का माध्यम। उनके लिए तो वह अपने को पूरी तरह पा लेने का साधन है। बादल की क्रियाओ मे वे अपने को बिखेरकर उससे एकतानता स्थापित करते हैं, पुनः अपने कलात्मक शब्द-गुंफ से बीजस्वरूप उन भावों को उचित लय और छन्द की भंगिमा मे बिखेर कर उसे इस रूप में व्यक्त करते हैं जिसमे उनका सम्पूर्ण मानसिक ऊहा-पोह मूर्तिमान हो उठता है। इससे बादल की ही 'विश्वसृज' जलधार नही बरसती, निराला की विश्वसृजन छन्दोधार फूट कर निकल पड़ती है जो उनके स्नेह के क्षितिज की उन्मुक्तता की ही परिचायक नही अपितु उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व की उन्मुक्तता की परिचायक है। यही वह मरजीवा स्थिति है जिसका मैंने सृजन के सन्दर्भ मे अनेकों बार उल्लेख किया है। निराला अपने को पूरी तरह खोकर पाने की क्रिया मे विशेष प्रवीण हैं। उनके हृदय में प्रेरणा के परिणामस्वरूप भाव उठते है, वे उनमें अपने को खोते जाते है, पूरी तरह खो जाने के बाद, अपने स्वत्व को पूरी तरह उसी के स्वत्व में विलीन कर देने के बाद, वे जब पुनः अपने को पाते हैं, तो वे केवल निराला नही होते, वे वह भी होते है जिसे उन्होने अभी-अभी पाया है। यही उनके 'भरा हर्ष बन के मन नवोत्कर्ष छाया' का रहस्य है। मन के शतशः विगलित होकर प्रवाहित हो उठने का रूपक निराला को विशेष प्रिय है। इससे प्रेरणा-प्रसूत रचनात्मकता के उस स्वरूप के प्रति उनकी जागरूकता व्यक्त होती है जो रचना-प्रक्रिया का जीवन-धन है। यही स्थिति 'बादल राग' की कविताओ की भी है। रसो के विवेचन मे हममें परिगणन शैली को ही महत्व दिया है, इसमे उनका स्वरूप उस रूप मे हमारे सामने नही आ पाया है जिस रूप मे उसे आना चाहिए। शृंगार को जब रसराज कहा गया था तो उसका कारण था। क्लीव न तो वीर हो सकता है और न जीवन का उचित भोग

कर सकता है। करुणा को मात्रा भी उसमे एक सामान्य व्यक्ति से कम नहीं होती है। इस तरह शृंगार, वीर और करुण का एक युग्म बन जाता है जिनमें कुछ उभयनिष्ठ विशेषतायें होती हैं। निराला का भी सारा जीवन इन्ही के चतुर्दिक चक्कर काटता रहता है। बादल के माध्यम से अगर उनके प्रेम और करुणा संबंधी भाव-बोध को प्रेरणा मिली है तो उनके ओज और उत्साह को भी उचित पोषण प्राप्त हुआ है। 'गीत गुंज' और 'सांध्य काकली' के गीतों मे यही अवसाद प्रमुख हो गया है। उदाहरण के लिए 'शाप तुम्हारा गरज उठे सौ-सौ बादल', 'गगन मेघ छये' 'घन आए घनश्याम न आए' आदि गीतों मे वही स्वर प्रमुख है। संभवतः निराला को अधोलिखित गीत अधिक प्रिय था,

बादल रे जी तड़पे
किए उपाय सैकड़ों तन के
मन के, चरण मिले सज्जन के
व्यर्थ प्रार्थना जैसे अब है
पंजर-पिंजर करके।

सांध्य काकली में 'तड़पे' की जगह 'तरसे' शब्द छपा है और उसी के अनुसार तुक मिलाने के लिए 'पंजर पिंजर कर से' बना लिया गया है। यहाँ बादल घनीभूत वेदना की अभिव्यक्ति का माध्यम है। पर 'बादल राग' के दूसरे और छठें पद मे वही विप्लव और क्रान्ति का अग्रदूत बन गया है। इसी भावना का विकास उनकी देश-प्रेम की कविताओं में भी हुआ है।

निराला प्रेरणा के धनी कवि रहे है। जीवन-पर्यन्त यह उनके लिए सुलभ रही है। कुछ अन्य कवियों की तरह उन्हें यह शिकायत नहीं करनी पड़ी कि प्रेरणा ने उनका साथ छोड दिया। किसी भी कवि को प्रेरणा की विजय या पराजय सदैव मानववादी मोर्चे पर हुई है। अपने जीवन को विपत्तियों को निरन्तर झेलते-झेलते निराला की चर्म-चक्षु के सपने घटने लगे थे, पर उनकी अन्तर्दृष्टि अधिक तीव्र, तेजो-दीप्त और यथार्थोन्मुख बन गई थी। निराला खुशनसीब नही थे, हो भी नही सकते थे, क्योकि 'लेखकों में तो लण्ठ' ही खुशनसीब हो सकते हैं। रचना के आरम्भ से ही उपेक्षितों, असहायों के प्रति उनमें अनन्य प्रेम था। इसकी प्रच्छन्न धारा कवि जीवन के आरम्भ से ही क्रियाशील थी। ६० जीवन का बोध जितना खरा होता गया उनकी यह प्रवृत्ति उतनी ही मुखर होती गई। 'कुकुरमुत्ता' की रचना के समय के पूर्व भी निराला ने व्यंग्य प्रधान रचनायें की थीं। 'अनामिका' की 'मित्र के प्रति' तथा 'दान' रचना मे इसका ज्वलन्त प्रमाण है। यह प्रवृत्ति क्रियाशील थी और पूर्वप्रवृत्तियां से मोहभंग की स्थिति में 'कुकुरमुत्ता', 'गर्म पकौड़ी', 'प्रेम संगीत', 'रानी और कानी'

तथा 'खजोहरा' जैसी रचनायें सामने आईं। इनकी रचना आकस्मिक न थी। इसके भूमिका प्रच्छन्न रूप से क्रमशः तैयार हो रही थी। उसी मनोवृत्ति के संप्रकाशन का यह प्रतिफल था।

निराला काव्य के अध्ययन के इस उपर्युक्त स्वरूप से ज्ञात होता है कि उनके जीवन-दर्शन मे भावों—प्रेम-सौन्दर्य, अवसाद, प्रकृति, प्रेम, मानव प्रेम और प्रपत्ति—के युग्म आरम्भ से ही विद्यमान रहे है। इन्हें हम विभिन्न विचार सन्दर्भित क्षेत्र की संज्ञा दे सकते हैं। प्रेरणा-विशेष से शारीरिक तनाव अथवा यों कहें कि उच्च कल्पना प्रधान तनाव से ये युग्म आपस में टकरा उठे हैं और उन्ही के मिलने से जो संश्लेषण प्रस्तुत हुआ है, वही निराला की प्रेरणा और काव्य का प्रमुख हेतु सिद्ध हुआ है। इसके कतिपय स्वरूपों का पूर्वपृष्ठो में उल्लेख किया गया है। इसी शोध-प्रबन्ध के चतुर्थ अध्याय के विवेचन मे इसके स्वरूप को स्पष्टतापूर्वक निराकृत करने का प्रयत्न किया जायगा।

चतुर्थ अध्याय

कलानुभूति

सृजन के सन्दर्भ में कलानुभूति का महत्व स्वतः सिद्ध है। साहित्य के विवेचन और विश्लेषण के क्रम में इस शब्द का सर्वाधिक प्रयोग किया गया है। प्रमुख विचारक एरिक न्यूटन ने लिखा है, 'केवल अनुभूति ही उस विचार-सन्दर्भित-क्षेत्र को उर्वर बना सकती है जिससे कला का उद्भव होता है। विधायक कल्पना वस्तुतः मशीनी क्रिया है। इससे कला की मानस-प्रतिमा के निर्माण में सहायता मिल सकती है, उसकी रचना मे नहीं। कल्पना रूपी मशीन से जीवनानुभूति का चुनाव किया जाता है और पुनः उसका कला में निरूपण संभव होता है।[1] होग्रेफ[2] ने सृजन को कतिपय विशेषताओं के सन्दर्भ में अनुभूति के महत्वपूर्ण पक्ष पर प्रकाश डाला है। सृजन की दृष्टि से उन्होंने मौलिकता (Originality), निर्व्याजता (Honesty), महत्वपूर्ण विषय की खोज, उसके उपयोग तथा प्रेरणा के नियंत्रण और सृजन की शिक्षा पर गंभीरता से विचार किया है। अनुभूति की विशेषताओं के विवेचन के संदर्भ, मे उन्होंने स्पष्टता के साथ इस तथ्य को प्रतिपादित किया है कि, (१) कलात्मक सृजन के द्वारा अनुभूति को कलात्मक रूप में सप्रेषित किया जाता है। (२) सशक्त अन्तःप्रेरणा मस्तिष्क, संवेग और शारीरिक क्रिया के सहयोग की मुखापेक्षी होती है। (३) मनुष्य इन्द्रियों के द्वारा ही सजीव अन्तःप्रेरणा की अनुभूति करता है। कलाकार इसी का पुनर्सृजन करता है। इस क्रिया मे वह स्व-संवेद्य को परसंवेद्य बनाता है। (४) अनुभूति विशिष्ट होती है अतएव उसका निश्चित देशकाल, स्थान, चित्तवृत्ति अथवा परिस्थिति से संबंध होता है। (५) सृजन एक क्रिया है। (६) परिवर्तन और विकास के सन्दर्भ में कलाकार की अनुभूति अधिक सशक्त और व्यापक रूप ग्रहण कर लेती है। (७) कथानक का सावयव विकास प्रयुक्त सामग्री का मुखापेक्षी और प्रमुख रूप से अनुभूति वैविध्य के अभिव्यक्तीकरण का प्रमुख साधन होता है। (८) रचना मे प्रयुक्त तकनीक भी अनुभूति को अभिव्यक्ति मे सहायक होती है। हेनरी जेम्स ने भी सृजन और अनुभूति के अन्तःसम्बन्ध पर विचार करते हुए लिखा है, 'अनुभूति कभी सीमित या पूर्ण नहीं होती। यह स्वतः अनन्त स्पंदनशीलता का परिचायक है। यह चेतना मे लटकाए गए महीन सिल्क-तन्तु से निर्मित उस मकड़ी के जाल के सदृश है जो अपने प्रसार मे सूक्ष्म से सूक्ष्म भावनाओं को ग्रहण कर लेता है। अनुभूति ही मानस के सम्पूर्ण परिवेश की निर्मात्री है। जब प्रतिभा सम्पन्न कलाकार का मानस विधायक कल्पना की दीप्तिमय क्रिया से आलोकित हो उठता है तो अनुभूति सामान्य से सामान्य जीवनानुभूति को सशक्त, स्पन्दनपूर्ण और प्रभावोत्पादक कलात्मक रूप प्रदान करने मे सक्षम सिद्ध होती है। यह दृश्य से अदृश्य को अवगाहन करके उपादान मे निहित रहस्य को सुलझा सकती है और सम्पन्नता के आधार पर अन्तर्निहित सामंजस्य को

अभिज्ञान करा सकती है। इसमें जीवन के रहस्यमय कोणों को आलोकित करने की अद्भुत शक्ति होती है।[१] उपर्युक्त अंश में हमने तीन प्रमुख विचारकों का उद्धरण प्रस्तुत किया है। एरिक न्यूटन की दृष्टि में अनुभूति ही विचार सन्दर्भित क्षेत्र की उर्वरता का प्रमुख साधन है। उसी से रचना की सामग्री प्राप्त होती है। अतएव उसे रचना का प्रमुख उपजीव्य माना जा सकता है। होग्रेफ ने भी इसी तथ्य का प्रतिपादन किया है। लेकिन इसके साथ ही उन्होने अनुभूति की कलात्मक परिणति के कतिपय सोपानों से हमें परिचित कराया है। हेनरी जेम्स ने अनुभूति के स्वरूप और उसकी क्रियात्मक गतिविधि का उल्लेख किया है। उन्होंने अनुभूति की असीमता, अपूर्णता, चेतना की कोमल तंत्री को झंकृत करने की क्षमता, कल्पना प्रवण मस्तिष्क की नवोन्मेषशालिनी प्रक्रिया, दृश्यपटल को भेद कर अदृश्य में छिपे रहस्य के साक्षात्कार की दक्षता और व्यापक जीवन-स्पन्दन की सूक्ष्मातिसूक्ष्म विश्लेषण क्षमता पर विचार किया है। इन उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि अनुभूति रचना की उपस्कारक ही नही अपितु उपजीव्य भी है।

इसे पूर्णतया समझने के लिए हम पूर्व अध्यायों मे प्रतिपादित तथ्यों पर विहंगम दृष्टि डालना आवश्यक समझते है। द्वितीय अध्याय में सृजन के चार स्तरों का उल्लेख किया गया है। बौद्धिमय स्फुरण या वैचारिक कौंध पर विशेष रूप से प्रकाश डाला गया है। उसी विचार-क्रम में चेतन-अचेतन-सातत्य और मन-मस्तिष्क के कार्यव्यापार के सन्दर्भ मे सृजन और अवसीमा मानस के अन्त.सम्बन्ध पर भी विचार किया गया है। तृतीय अध्याय में प्रेरणा के विवेचन के सन्दर्भ में विचार-सन्दर्भित-क्षेत्रों के मिलने की क्रिया से उत्पन्न अभिनव संश्लेषण और शारीरिक-मानसिक-तनाव और सुलझाव को विवेचित और विश्लेषित किया गया है। हमने अवसीमा मानस को सृजन-क्षेत्र की संज्ञा दी है और इस तथ्य पर प्रकाश डाला है कि यह क्षेत्र ऐसी विशेषताओ से अलंकृत होता है जो सृजन की स्वयंचालित या स्वयंप्रेरित क्रिया मे सहायक होती है। अवसीमा का एक ओर चेतन मन से सम्बन्ध होता है तो दूसरी ओर अचेतन मन से। किसी भी प्रेरणा की स्थिति में जब बौद्धिमय बोध क्रियाशील होती है और वैचारिक स्फुरण होता है तो उसके आकर्षण से चेतन-अचेतन-सातत्य से रचना की सामग्री स्वयमेव खिचती चली आती है। रचना की क्रिया के पूर्व जो अस्पष्टा और अनिश्चितता की स्थिति थी, वह समाप्त हो जाती है। सृजक उस सामग्री को अपने शिल्प से मूर्तिमान करता जाता है और रचना का प्रारूप निर्मित होकर हमारे समक्ष उपस्थित हो जाता है। इस तरह रचना के माध्यम से जो कुछ संप्रेष्य बनता है, उसी को कलात्मक अनुभूति की संज्ञा दी जाती है। 'राम की शक्ति पूजा', 'सरोज स्मृति' या 'पंचवटी प्रसंग' के रूप में हमारे समक्ष जो अनुभूति के प्रत्ययों का प्रवाह उपस्थित होता है उसी को हम अनुभूति की संज्ञा से अभिहित करके संतुष्ट हो जाते है। लेकिन

गंभीरतापूर्वक विचार करने पर हमें यह सरलता से ज्ञात हो जाता है कि जो प्रत्ययपूर्ण भावनात्मक प्रवाह हमारे समक्ष रचना के माध्यम से उपस्थित हुआ है, उसका स्वरूप-निर्माण न मालूम कितने मानसिक घात-प्रतिघातों का प्रतिफलन है। जो आलोचक अपने को केवल संप्रेष्य अनुभूति तक सीमित करके उसके आन्तरिक अन्तःसंबंध और अन्तर्भंयन को दृष्टि से ओझल कर देना चाहते हैं, वे सार को ग्रहण करने का आग्रह तो प्रदर्शित करते हैं, पर उसकी उपलब्धि को श्रमसाध्य पर सार्थक क्रिया से अनायास अपरिचित रहना चाहते हैं। रचना-प्रक्रिया के विश्लेषण की सार्थकता तभी सिद्ध हो सकती है जब हम चेतना के उस मूल बिन्दु तक जाने का प्रयत्न करें जो रचना का प्रमुख हेतु है। हमने द्वितीय अध्याय मे इस तथ्य का स्पष्टता के साथ प्रतिपादन किया है कि रचना क्षण-विशेष की आन्तरिक दीप्ति से प्ररोचित होती है, लेकिन उस प्ररोचन और उद्‌बोधन मे प्रकारान्तर से रचनाकार के समग्र व्यक्तित्व का सहयोग होता है। रचना की अनुभूति बने-बनाए रूप में रचना मे उपस्थित नही होती है। वह आवश्यकतानुसार छन कर, परिवर्द्धित और संशोधित होकर, अर्थसंकोच या अर्थविस्तार की क्रिया के दौर से गुजर कर,अथवा विचार-सन्दर्भित-क्षेत्रो के टकराव से नवीन संश्लेषण के रूप में ढलकर रचनाकार को उपलब्ध होती है। उसकी स्थिति वृष्टि के समय सरिता के स्रोत का निर्माण करने वाले अनेक सम्बद्ध जल-स्रोतो के सदृश होती है। वृष्टि के पूर्व सरिता का वक्षस्थल सूखा होता है, रचना के पूर्व रचनाकार भी सामान्य रूप मे शान्त होता है। वृष्टि होते ही अनेक जलस्रोत प्रवाहित होकर, एक दूसरे से मिलकर सरिता की गति के कारण बन जाते है, वैसे ही रचना की स्थिति मे भी अनेक विचार-सन्दर्भित-क्षेत्र आपस में मिलकर, चेतन-अचेतन सातत्य मे उचित सामग्री ग्रहण करके भाव-प्रवाह के कारण बनते है। यह क्रिया शरीर-मन और मस्तिष्क के अन्त संबंध मे परिचालित होती है। अतएव उसमे रचनाकार का समूचा व्यक्तित्व सक्रिय योगदान प्रदान करता है। महत्वपूर्ण तथ्य तो यह है कि प्राकृतिक वृष्टि बाहर होती है, जब कि रचना की भाव-विचारमय वृष्टि सदैव अन्दर होती है। पहली से प्रकृति मे हरियाली फैल जाती है, और दूसरी से मन मे। अतएव अनुभूति पर विचार करने की सबसे पहली आवश्यक शर्त है कवि के समूचे व्यक्तित्व पर विचार करना, उसकी मानसिकता के उन मूल स्रोतो तक पहुँचने का प्रयत्न करना जिनका रचना से संबंध होता है। रचना और व्यक्ति एवं रचना और समाज के अन्त संबंधों की छानबीन कम नही हुई है, लेकिन उसकी सबसे बडी त्रुटि यह रही है कि हमने रचना मे व्यक्ति के जीवन के स्थूल-घटना-क्रमो को खोजने का प्रयत्न किया है। इसका परिणाम यह हुआ कि हम न तो रचनाकार को समझ पाए है और न रचना को। उत्पादन या निर्माण की दृष्टि से सम्बन्धो की यह खोज उपयोगी सिद्ध हो सकती है, लेकिन रचना को समझने की दृष्टि से यह सर्वथा अनु-

पयोगी बन जाती है। रचनाकार भौतिक जीवन की अनुभूतियों का ऋणी अवश्य होता है, पर अभिव्यक्ति की क्रिया मे ये अनुभूतियाँ बदल जाती है, वे उदात्तीकृत हो उठती हैं, कला की आवश्यकता के अनुसार परिवर्तित हो जाती है, या उनपर कलाकार की मानसिकता का रंग चढ़ जाता है, इसलिए लैजर के शब्दों में वे 'अदरनेस फ्रॉम रियलिटी' या शिल्लर के शब्दों में यथार्थ के प्रतिभास की पर्याय बन जाती है। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि रचनाकार के लिए स्थूल घटनाक्रम का कोई महत्व नही होता, महत्व होता है उसके मानसिक संघात का जो संवेदन और अनुभूति के जनक बनते है। इसीलिए जब हम, अनुभूति के विवेचन के सन्दर्भ मे पूर्ण व्यक्ति का उल्लेख करते है तो हमारे लिए बाह्य स्थूल-घटना-क्रम का उतना महत्व नही होता जितना उसके भावमय जीवन-वृत्त का।

कलाकार की अनुभूति का प्रश्न उठाते समय हमें कम से कम उसके 'मनोमय जीवन' के स्वरूप पर दृष्टिपात करना आवश्यक हो जाता है। एक शिशु के रूप मे वह समाज मे आता है और रचना मे प्रवृत्त होने के पूर्व वह समाज की गतिविधि और परिवेश का अनेक रूपो में अनुभव करता है। बचपन से लेकर बड़े होने तक वह अनेक तरह से जीवन के संघर्षों को झेलता है, कल्पना मे सुखों के सपने देखता है और कही अपने भावी जीवन के सपने भी संजोता है। वह इन सपनों मे यथास्थान अपने को खोता और पाता है। इन स्थितियो मे वह अपने को भूल जाता है। एक तरह से उसका वह कार्य-व्यापार मनोमय-जीवन की पुनर्रचना का पर्याय होता है। बचपन से ही वह लोगो के सम्बन्ध का परिचय प्राप्त करता रहता है। बडे होने पर इस परिचय का क्षेत्र कुछ अंशो मे व्यापक पर कुछ अन्य अंशों मे संकीर्ण भी बन जाता है। जहां वह व्यापक होता है, वहाँ वह अपने को खोकर अन्य लोगो के सुख-दुख का जनक बनता है, लेकिन जहाँ वह संकीर्ण है वहाँ वह केवल अपने सुख-दुख का भोक्ता रह जाता है। इन दोनो स्थितियो को रचना की मुक्ति और रचना के व्यवधान के सदृश माना जा सकता है। आरम्भ से ही सृजक को दो विश्वों का चितेरा होना पड़ता है। बाह्य जगत और आभ्यन्तर जगत। रचनाकार अपने आभ्यन्तर जगत की शक्तियो के द्वारा बाह्य जगत का अनुभव करता रहता है। ये अनुभव उसे निरन्तर प्राप्त होते रहते है और उसके स्नायुसंस्थान मे अंकित होते जाते है। चूंकि अनुभव की क्रिया निरन्तर चलती रहती है अतएव वे अंकित अनुभव परिमार्जित, परिष्कृत और समृद्ध होते जाते है। इसी को विगत पृष्ठो मे चक्रिल आवर्त की संज्ञा दी गई है। इसके माध्यम से रचनाकार के बोध, कल्पना, स्मृति, बिम्ब, ज्ञान और चिन्तन सशक्त होते रहते है। अनुभूति का जो स्वरूप उसमे निर्मित होता है वह मूलतः सामाजिक-मनोवैज्ञानिक होता है। इसी को कुछ विचारको ने बाह्य अभिघात और अन्त परिग्रहण (reaching out and receiving in)[४] या अनवरत आभ्यन्तरीकरण[५] के क्रिया की संज्ञा दी है। इससे अनुभूति के प्रत्यय

निर्मित होते है जो परिपक्व होकर रचना के लिए वैचारिक अथवा भावात्मक सामग्री प्रदान करते हैं। कोई भी कल्पना स्नायु संस्थानों में अचेतन रूप में संग्रहीत पर उचित रचनात्मक क्षण में परिपक्व होकर रूपायित होने वाले इसी स्वरूप को रचनात्मक सामग्री के रूप में ग्रहण करती है। मानव शरीर में विभिन्न इन्द्रियों के साथ उनके संवेदन को वहन करने और उनको निश्चित केन्द्र पर संरक्षित करने वाली नाडियों का जाल होता है। इन्ही संस्थानो के माध्यम से द्रष्टा बाह्य जगत के साथ सम्बन्ध स्थापित करता है। अनुभूति की अभिव्यक्ति के समय इन विभिन्न प्रभावों के संश्लेषण से जो अभिनव स्वरूप उत्पन्न होता है उसका प्रभाव-क्षेत्र पहली अनुभूति से भिन्न हो जाता है। दैनिक जीवन में ग्रहण किए हुए अनुभव सामान्य-असामान्य किसी कोटि के हो सकते हैं, इनका कोई निश्चित स्वरूप नही होता, लेकिन कलात्मक अनुभव के रूप मे प्रतिच्छायित होने और संश्लेषण का क्रिया से गुजरने के कारण इनपर कल्पना जगत के रूप का आरोप हो जाता है। यहाँ एक महत्वपूर्ण प्रश्न सामने आता है कि क्या सभी द्रष्टा दृश्य को एक ही तरह से देखते है ? इसका सीधा और स्पष्ट उत्तर यही है कि नही। इसका प्रमुख कारण यह है निश्चित सांस्कृतिक और ऐतिहासिक परिवेश मे जीवन-यापन करने मे कलाकार जीवन और जगत के विषय मे एक निश्चित दृष्टि-कोण विकसित कर लेता है, वह अपनी मानसिक रुझान के अनुसार बाह्य दृश्यों का अवलोकन करता है। रुचि-भिन्नता के कारण अवलोकन की क्रिया भी भिन्न हो जाती है। कुछ लोगो की दृष्टि उपयोगिता और दुराग्रह से ग्रस्त हो जाती है, अतएव वे वह नही देख पाते जिसे उन्हे देखना चाहिए, अपितु वह देखते हैं जिसे उन्हे नही देखना चाहिए। इस क्रिया मे सारा कार्य-व्यापार एकागी और दुराग्रहपूर्ण बन जाता है। इसी स्थिति का संकेत करते हुए पॉलवेलरी ने कहा था, 'अधिकाश व्यक्ति आँख से न देखकर बुद्धि से देखते है। वे पुतलियो का प्रयोग न करके शब्दकोश का प्रयोग करते है। परिणामस्वरूप उन्हे जीवन के सुख-दुखात्मक स्वरूप का यथार्थ ज्ञान नही हो पाता है। उनका प्रभाव सीमित होता है।'[७] इस सीमित प्रभाव के लोग प्रकृति-प्रदत्त-सामग्री को भी अपने सुख-दुख मे बाध लेते है। वे 'स्व' की सीमा से ऊपर नही उठ पाते है। परिणाम होता है कि उनका जीवन-दर्शन संकीर्ण और सीमित होकर निकम्मा बन जाता है। उसकी प्रयोजनवादिता समाप्त हो जाती है। प्रकृति का अवलोकन प्राय सभी युग के कवियो ने किया है। जीवन के कार्य-व्यापार पर सबकी समान दृष्टि रही है, लेकिन रूढिग्रस्त लोगों के लिए वह नायक और नायिका के विरह को उद्दीप्त करने का प्रमुख साधन बनकर रह गया है जबकि छायावाद के लिए वही एक व्यापक जीवन-दर्शन के रूप मे सामने आया है। इस भिन्नता का कारण स्पष्ट है। छायावादी कवियो ने, उसे अपने मानस मे अंकित ही नही किया है, अपितु वे उस सूक्ष्मातिसूक्ष्म के मध्य मे खोकर डूबे है जो प्रकृति और जीवन मे उपस्थित ही नही रहती अपितु उसे सदैव ही चलती रहती है। इस प्रकार द्रष्टा रूप मे उन्होने जीवन और प्रकृति मे उस क्षेत्र का वर्णन किया

है जिससे युग-युग से महान कला अनुप्राणित होती रही है। निराला जैसे कवियों को तो वही अपनी सृजनशीलता का उन्मुक्त दर्शन प्राप्त हुआ है। जीवन और प्रकृति के दर्शन के कई धरातल होते हैं। जीवन के सतही धरातल पर भौतिकता और प्रकृति के सतही धरातल पर उसके कार्य-व्यापार की विविधता दिखाई देती है। इसके नीचे के धरातल पर जीवन में विविध समुदायों का कार्य-व्यापार मनोभावों का संघर्ष और प्रकृति में उसके नियामक किसी अनुशासन का दर्शन होता है। इस धरातल पर रचनाकार पूरी तरह सास्कृतिक और प्राकृतिक चेतना से अभी नहीं जुड़ पाता है। तीसरे धरातल पर उसका साक्षात्कार उस अन्त.प्रेरणा स्वरूप अनुभूति से होता है जो कला को निर्बन्ध सृजनशीलता प्रदान करके उसको देशातीत और कालातीत बना देती है। यहाँ तक पहुँचने या इस अनुभूति का साक्षात्कार करने के लिए उसे 'मरजीवा' बनना पड़ता है, 'स्व' का विलयन करना पड़ता है और सतत् जागरूक अन्तर्दृष्टि और अत:प्रेरणा की प्रतिध्वनि को सुनना पड़ता है। रचनाकार जीवन में 'आत्मपोषण, आत्मस्थायित्व, आत्मसन्तोष और आत्मनियंत्रण' के लोकाचारों को स्वीकार करके चलता है, पर अपनी कला मे इन्हे कुछ इस रूप में संश्लेषित कर देता है कि वे हमारी पकड़ से बाहर हो जाते हैं। यही संश्लेषण सृजन का मेरुदण्ड होता है। इसी के कारण उसकी अनुभूति यथार्थ में कलात्मक बनती है। जीवन का यथार्थ बोध ज्ञान को खरा बनाकर अनुभूति को व्यापक अर्थ-सन्दर्भ प्रदान करता है। इससे कलाकार की प्रज्ञा और बुद्धि का विस्तार होता है। वह अपने से ऊपर उठकर कुछ प्राप्त करने की बात सोचता है। निराला की परी नागरी नभ के पार जाकर, जीवन के व्यवधानों मे हार न स्वीकार करके इस तथ्य को प्राप्त करती है। इसीलिए उनकी अनुभूति सतही और छिछली नही बल्कि तत्वाभिनिवेषी बन जाती है।

देशकाल का भी अनुभूति से निकट का सम्बन्ध होता है। कवि अपने स्नायुसंस्थानों में संगृहीत भूत के विचारो में से कुछ को ग्रहण करके अमर रचना छोड़ जाता है। कहने के लिए वह वर्तमान मे जीता है, पर भूत उसके द्वारा इसके पूर्व जिए गए जीवन का प्रतीक और भविष्य उसके बाद मे जिए जाने वाले जीवन का परिचायक होता है। भूत, वर्तमान और भविष्य मे रचनाकार एक सातत्य पाता है। अत: रचना की स्थिति मे इन्हे एक दूसरे से अलग कर पाना कठिन होता है। देखने में यह आता है कि कलाकार सदैव अपने वर्तमान मे संघर्ष करता है, लेकिन वर्तमान का हर क्षण उसके समक्ष ही जुड़कर अतीत का अंग बनता जाता है। यही अतीत अनुभूति सृजन के वर्तमान क्षण मे उभर कर भविष्य की निधि बनती है। इस तरह काल और कला का सम्बन्ध भी कम महत्वपूर्ण नही होता है। उपन्यास मे अनुभूति के चित्रण के लिए काल के कई स्वरूपों का उपयोग किया जाता है। उदाहरण के लिए काल-परिवर्तन (टाइम शिफ्ट), सोद्देश्य विलम्ब (Purposed longuer) कालातीतता, कालखंड (Time coulisses) तथा क्षण या सर्जनात्मक क्षण (moment) को लिया जा सकता है। काल परिवर्तन का उपयोग संप्रकाशन की सामग्री को उपन्यास मे बिखेरने

के लिए किया जाता है। सोद्देश्य विलम्ब की स्थिति में अनुभूति को वातावरण से जोड़कर विवेचित किया जाता है, इससे कालप्रवाह कुछ समय के लिए निलंबित हो जाता है। कालातीतता का सम्बन्ध स्वच्छन्दतावादी साहित्य से भी रहा है। इस स्थिति में रचनाकार बाह्य घटनाक्रम के विवेचन से अपने को काटकर स्मृति प्रधान अन्तस्थ घटनाओं के विवेचन में तल्लीन हो जाता है। काल खड्ड के मूल मे युग के मूलादर्श की भावना क्रियाशील पाई जाती है। मूलादर्श व्यक्ति की सामूहिक चेतना का परिचायक होता है। इसे मिथक के द्वारा व्यक्त किया जाता है। संस्कृति के विकास के साथ मूलादर्श-सन्दर्भित-मिथकों मे किंचित परिवर्तित पुनरावृत्ति से विकास के इसी स्वरूप को परखा और देखा जा सकता है। काल के साथ ही देश की अनुभूति का सम्बन्ध भी पाया जाता है। निराला साहित्य मे इसके चित्रण के विविध स्वरूपों का दर्शन होता है। छोटी कविताओं मे तो क्षण की दीप्ति प्रसरित होकर अपनी रवानी और एकतानता से केन्द्रीय भाव के चतुर्दिक एक संक्षिप्त शब्दार्थ का जाल बुन देती है। वहाँ अनुभूति की सघनता विद्यमान रहती है। केन्द्रीय भाव भाषा में अनायास ढलते जाते है। कुछ कार्य-व्यापारों के चित्रण के द्वारा कवि अपने अभीप्सित प्रभाव को उत्पन्न करके अपनी अनुभूति को मूर्तिमान कर देता है। इस कोटि की कुछ कवितायें प्रगीत का उत्कृष्ट उदाहरण है। उनमें गेयता, भावात्मक उद्वेलन, शुद्धता और वैन्द्रीयता, भावान्विति, संक्षिप्तता, स्वाभाविकता, सहज आत्माभिव्यक्ति भाव के उपयुक्त गेय संघटना और अनुभूति तथा बुद्धि के युगपत् सम्बन्ध का मणि-कांचन योग पाया जाता है। 'निराला' के उच्चकोटि के कलात्मक प्रगीतों मे भाव-प्रसार की 'आर्गैनिक' क्रिया का दर्शन होता है। इसके तीन स्वरूप विशेष रूप से क्रियाशील पाए जाते है। पहली स्थिति में प्रत्यक्ष रूप से भाव, प्रस्ताव या 'सजेशन' की स्थिति पाई जाती है। दूसरी स्थिति इसके प्रति बौद्धिक प्रतिक्रिया या विचारात्मक तत्व की होती है और तीसरी स्थिति सम्पूर्ण विचार के निश्चित सम्मूर्तन, रूपायन और शान्तिपूर्ण भावदशा की होती है। प्रथम स्थिति मे भाव-स्फुरण या प्रेरणा का बीजारोपण होता है। इसमे रचनाकार अपने हृदय मे गतिशील भावों और उनके संप्रेषण की अनिवार्यता से परिचित होता है। इसमे दूसरी स्थिति हमारे समक्ष उपस्थित होती है। इस स्थिति मे भावानुभूति विकसित और प्रसरित होती है। रचना के योग्य उपयुक्त अनुभूति परिपक्व होकर शब्द और अर्थ मे बँधने लगती है और अनुपयुक्त अनुभूति तिरस्कृत हो जाती है। विधायक कल्पना से भाव संश्लेषित होकर युग्मों म हमारे समक्ष उपस्थित होने लगते हैं। रचनाकार उन्हें अभीप्सित अथवा भावनिर्देशित साँचे मे ढालता जाता है। अभिव्यक्ति से क्रमशः बंधने के कारण भाव अवरोहण की स्थिति मे आ जाते है। रचनाकार शान्त हो जाता है और वह अपनी रचना पर पुनः बौद्धिक ढंग से विचार करता है। प्रगीत के भाव या तो पहले से उपस्थित रहते है, या रचना के समय अचानक मानस मे कौधकर अन्दर

ही अपने प्रभाव-क्षेत्र का निर्माण कर लेते हैं। कुछ भाव तो सहज ढंग से व्यक्त होते चले जाते है पर कुछ को व्यक्त करने के लिए प्रयत्न करना पड़ता है। इसे एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है—

(प्रिय) यामिनी जागी।
अलस-पंकज-दृग अरुण मुख
तरुण-अनुरागी।
खुले केश अशेष शोभा भर रहे,
पुष्टग्रीवा-बाहु-उर पर तिर रहे,
बादलों से घिर अपर दिनकर रहे,
ज्योति की तन्वी, तड़ित—
द्युति ने क्षमा माँगी।
हेर उर-पट फेर मुख के बाल,
लख चतुर्दिक चली मन्द मराल,
गेह मे प्रिय स्नेह की जयमाल
वासना की मुक्ति, मुक्ता
त्याग मे त्यागी।[८]

प्रथम पंक्ति से ही कवि की केन्द्रीय अनुभूति स्पष्ट हो जाती है। अपने प्रियतम के साथ रात्रि-जागरण के द्वारा रति-रंग का मुक्त आनन्द लूटने वाली नायिका का प्रत्यूष बेला में क्या स्वरूप होता है, इसी का चित्रण कवि को अभीप्सित है। नायिका ने रात भर प्रियतम के साथ जागरण किया है। जिस तरह प्रातःकाल का सूर्य कमल के विकास का कारण होता है, उसी प्रकार नायक के सूर्य की तरह लाल मुख मे वह अब भी अनुरक्त है। रतिलीला के कारण उसके लम्बे बाल छूटकर उसकी पुष्ट ग्रीवा, बाहु और हृदय पर बिखर गए है। बाल काले हैं। अतएव उनसे घिरा हुआ मुख बादलो मे घिरे हुए सूर्य की तरह सुशोभित हो रहा है। नायिका का शरीर ज्योति के वलयित पुंजो का केन्द्रस्थल है। उसकी इस दीप्तिमय शोभा के समक्ष बिजली भी तुच्छ है। वह रतिक्रीड़ा से उत्पन्न खिंचे वस्त्रों और मुख पर बिखरे हुए बालों को ठीक करके हंसिनी की तरह इधर-उधर देखकर मन्दगति से चलती है। वह इसके पूर्व अभी रति-प्रसंग मे अपने शिरस्थ मे गूंथी गई माला बनी हुई थी। लेकिन अब वह वासना से मुक्त होकर सुशोभित हो रही है। ऐसे देखने मे ऐसा ज्ञात होता है, मानो वह मोती है, जो त्याग रूपी तागे मे पिरोई गई है। कविता क्या है कवि की जीवनानुभूति का जीवन्त-रागात्मक चित्र है। कवि की रचना शब्दों के माध्यम मे ज्यो-ज्यो अग्रसर होती है, त्यो-त्यो चित्रण की धारा को उतरती जाती है। उसका प्रमुख उद्देश्य रचना-प्रक्रिया मे गुहा अनुभूति के पर्त-दर-पर्त का उकेल कर जीवन-सत्य को प्रस्तुत करना है। आत्म-विगलन की जो प्रक्रिया 'तरुण अनुरागी'

से आरम्भ होती है, वह 'त्याग में त्यागी' मे जाकर पूर्ण हो जाती है। बीच मे अनुभूति को व्यक्त करने के लिए जागरण-जनित-प्रभाव और उसके स्वरूप को उद्घाटित किया गया है। बाल बिखरे हुए है, वे शरीर के अंगों को ढँक रहे है। लेकिन निराला का सौन्दर्य बोध इतने से ही सन्तुष्ट नहीं है। उन्हे तो उस दीप्ति, विच्छित्ति और पानिप का संकेत करना है, जो सौन्दर्य की प्रमुख विशेषता है। 'ज्योति की तन्वी' के द्वारा वे उसका संकेत कर देते है। पुनः वे नायिका की मुद्रा का संकेत करते हैं, जब वह कुछ चैतन्य होकर इतस्ततः बिखरे वस्त्रों और बालो को ठीक करके चलने के लिए तत्पर होती है। 'मन्दमराल' और 'लखचतुर्दिक' सार्थक-क्रिया-सूचक प्रयोग है, लेकिन अन्त तक पहुँचते-पहुँचते कविता पुनः अछूते भावकोणों का स्पर्श करने लगती है। कविता की अपनी बन्दिश है। उपमान रूढ़ है, पर जिस सन्दर्भ मे उन्हें प्रस्तुत किया गया है, उससे वे काव्य के सहज स्वरूप के लिए बाधक नहीं बन पाए हैं। संपूर्ण कविता के शब्दचयन का भावानयन के साथ गहरा सम्बन्ध है। 'अलस पंकज दृग' को बालादित्य की अपेक्षा है जिसकी पूर्ति 'तरुण-अनुरागी' के द्वारा हो जाती है। इसी तरह के अनेक प्रयोगों से कविता भरी पड़ी है। कविता के कुछ स्थलों की अनुभूति को कवि ने विशिष्ट ढंग से चमत्कृत करके प्रस्तुत किया है। उदाहरण के लिए 'अलस पंकज दृग अरुण मुख तरुण अनुरागी', 'ज्योति की तन्वी तड़ित द्युति ने क्षमा मांगी' या 'वासना की मुक्ति मुक्ता त्याग मे त्यागी' को लिया जा सकता है। ये अनुभूति के वे बिन्दु हैं जिन्हे कवि अपनी प्रतिभा के 'फोकस' द्वारा विशेष रूप से चमत्कृत करके दीप्तिमय बनाता है। उन्ही के भीने झरोखे से उसकी रचनात्मक रुझान झाँकती और विशेष रूप से व्यंजित होती दृष्टिगोचर होती है। अन्त मे 'रही सही सोऊ कह दीन्ही हिचकिनि मो' की बात चरितार्थ होती है। कविता के अन्तःसंगीत और उसके 'रिद्मिक प्रतिध्वनि' से व्यंजना की रही-सही कमी भी पूरी हो जाती है। परिणाम यह होता है कि कवि की अनुभूति मे तिरने वाला मानस-प्रत्यक्ष झटिति प्रत्यय के द्वारा रचना से प्राप्त हो जाता है और कवि का जीवन-बिम्ब और कविता-बिम्ब एकमेक हो उठता है। कवि केवल केन्द्रीय भाव के आल-बाल नही संजोता, अपितु उस सन्दर्भ से मुक्त होकर कुछ अन्य उदात्त तथ्यो की व्यंजना मे भी समर्थ होता है। जूही की कली' की व्याख्या करते हुए निराला ने स्वयं लिखा है, 'यहाँ कला सुषुप्ति से जागरण मे आती है—यह उसका क्रम परिणाम है।··· सुषुप्ति मे प्रिय नही है, आत्म-विस्मरण भी है, फिर भी चूंकि जीवन है, इसलिए रूप है।····कली की सुप्ति—आत्म विस्मृति—मन के अन्धकार के बाद है जागरण····आत्म परिचय··· प्रिय साक्षात्कार··· मन का प्रकाश—खिलना। कली सोते से जगी हुई, खुली हुई पूर्ण मुक्ति से जागृति का वर्णन है, पर विवेच्य कविता मे जागृति ही जागृति है। निराला ने 'जागृति मे सुप्ति' नामक कविता भी लिखी है। २ मे उन्होंने बहुरंगी विहग के पंख जैसे नेत्रो मे स्वप्न के जडे होने, प्रिया के मौन

अधरों मे मादक स्वर के डूब जाने, थककर लाजमयी चेतना के अरुण किरणों में समा जाने के पश्चात् स्वयं प्रश्न किया है—

'जाग्रत प्रभात मे क्या शान्ति थी ।'

और इसका उत्तर भी दिया है,

'जागृति में सुप्ति थी,
जागरण क्लान्ति थी ।[१०]

इसका कारण है कि यहाँ अनुभूति का धरातल वही है जो 'प्रिय यामिनी जागी का है' लेकिन इसमे कवि ने रति-जनित-क्लान्ति पर विचार किया है । विवेच्य कविता मे प्रेम के माध्यम से पूर्ण मुक्ति का उल्लेख मिलता है । हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में 'दलित द्राक्षा की तरह अपने को निचोड़कर' दूसरे को समर्पित करने में भी मुक्ति का ज्ञान होता है । यही मुक्ति कविता का मूल स्वर है । निराला ने 'तुम और मैं' में लिखा है,

तुम विमल-हृदय-उच्छ्वास
और मैं कान्त-कामिनी-कविता ।'

यथार्थ में उनकी उपर्युक्त अनुभूति ही हृदय का विमल उच्छ्वास है जिससे उनकी रचना रूपी 'कान्त-कामिनी कविता' का आविर्भाव हुआ है ।

जीवनानुभूति और रचना के अन्त: सम्बन्ध को समझने के लिए उन्हीं के द्वारा विवेचित एक गीत को उद्धृत करके उनके दृष्टिकोण को स्पष्ट करना आवश्यक है । गीत है—

मौन रही हार
प्रिय पथ पर चलती, सब कहते शृंगार
कण-कण कर कंकण, मृदु किण-किण रव किंकिणी
रणन-रणन नूपुर, उर लौट लाज रंकिनी
और मुखर पायल ध्वनि करे बार-बार
प्रिय पथ पर चलती सब कहते शृंगार ।
'शब्द सुना हो तो अब लौट कहाँ जाऊँ ?
उन चरणों को छोड़ और शरण कहाँ पाऊँ ?
बजे-सजे उर के इस सुर के सब तार ।
प्रिय पथ पर चलती सब कहते शृंगार ।[११]

निराला ने इस पर अपना मत प्रकट करते हुए लिखा है, 'यह मेरे गीतों में प्रसिद्ध हुआ गीत है । यह कुछ दिन पतिसहवास में रह चुकी एक तरुणी की, आधी रात के समय पति सहशयन के लिए जाने की वर्णना है । मन में हार कर मौन रह गई (क्योंकि) उसके सारे शृंगार (बज-बजकर) कह रहे हैं कि यह प्रिय-पथ पर जा रही है ।

'कंकण कण-कण कर रहे हैं, किंकिणी मृदु किण-किण, नूपुर रणन-रणन; हृदय की लज्जा से रंकिनी सी होकर वह लौट पड़ती है, तब पायल और मुखर होकर बोलने लगती है।

(जब पायलों के शब्द से, लौटती हुई वह खड़ी हो जाती है, क्योंकि लौटते हुए, पायल जैसे और जोर से बोलते हों, तब हृदय में वाद्य होता है—'अगर उन्होंने यह आवाज सुनी हो तो अब कहाँ लौटकर जाऊँ? उन चरणों को छोड़कर मैं और कहाँ शरण पाऊँगी?' सजे हृदय के (भीतर से शृंगार से सजे हृदय के) इस स्वर के सब तार बजे।[१२])

वे पुनः इन्हीं भावों को पल्लवित करते हुए लिखते हैं, 'बाहर और भीतर दोनों जगह शृंगार का वाद्य होता है। बाहर वाले से भीतर वाला मधुर है। प्रिय भावना के अनुकूल। यह प्रदर्शन यहाँ कला है। गीत ऐसी जगह समाप्त किया गया है कि वह पति के पास गई····। पहले वाले वाद्य से जो लाज हुई थी वह शृंगार के दैहिक सम्बन्ध की कल्पना से। वाद्य बाहर के हैं, दैहिक सम्बन्ध भी बाहरी सम्बन्ध हैं। फिर भीतर के हृदय के तार झंकृत होते हैं, जहाँ पति का यथार्थ प्रिय भाव—आत्मिक प्रेम बज उठता है—उसकी ऐसी धारणा है धर्म के विचार से, नित्य सम्बन्ध की भावना से, उसकी लज्जा दूर हो जाती है, वह मानवी से देवी बनकर पति के पास जाती है।[१३]

कवि ने अपने इस उपर्युक्त विवेचन मे अधोलिखित बातो पर विशेष प्रकाश डाला है—

(१) शृंगार का वाह्य और आभ्यन्तर स्वरूप—शारीरिक से आत्मिक पक्ष की ओर प्रयाण।

(२) उसके आभ्यन्तर स्वरूप का बाह्य की तुलना में चारुतर होना।

(३) भाव की सांकेतिक परिणति।

(४) धर्म के विचार से नित्य सम्बन्ध की भावना।

इसका संकेत प्रायः निराला के अधिकांश प्रेमगीतों में है। उनकी अनुभूति 'स्व' के दायरे मे नहीं अँट पाई है। इसीलिए उसमें कुछ ऐसे संकेत निहित हो गए हैं जो उन्हे अन्य कवियों से ऊपर उठा देते हैं। इन कविताओं में कवि स्पष्ट रूप से मनोमय जीवन से प्राप्त अनुभूति से शुरू करता है, पर अचानक एक झटके में सारी कविता को एक मोड़ दे देता है। अनुरणन का प्रयोग पूर्ववर्ती कवियों ने भी किया है। तुलसी के 'कंकण किंकिणि नूपुर धुनि सुनि' या विद्यापति के 'नूपुर धुनि रव बाजे' की चरम परिणति 'मदन दुन्दुभी दीन्हा' के अर्थ में ही होती है। लेकिन निराला की प्रेमानुभूति वहीं तक सीमित नहीं है। वह लोक के साथ इस चमत्कार पूर्ण ढंग से लोकोत्तर का स्पर्श करती है कि उसकी दीप्ति से सम्पूर्ण कविता को एक

अभिनव अन्तर्दृष्टि और आयाम मिल जाता है। निराला क्रिया और गति के साथ ही इनके प्रभाव का दिग्दर्शन कराने में बड़े पटु है। यह प्रभाव समूची संघटना से उस अव्यक्त रूप में व्यंजित होता है कि पाठक भी थोड़ी देर के लिए चमत्कृत हो उठता है। 'लौट रही हार' की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें भावों का आरोह-अवरोह और उसके क्रम में मानसिक तनाव और सुलझाव का स्वरूप बड़े ही नाटकीय ढंग से व्यक्त हुआ है। मानसिक ऊहापोह अपने विश्रामस्थल पर जाकर शमित हो जाता है। निराला काव्य में समर्पण का भाव पूरी तरह पाया जाता है—पूर्ण आत्मसमर्पण का भाव। यही आदर्श कविता में भी कौंधता रहता है। निराला जीवन के प्रति प्रतिबद्ध है, उसके कीचड़ में कमल खिलाने की कला मे बेजोड़। प्रेमगीतों में अनुभूति की सघनता विशेष रूप से दिखाई देती है। उससे उनका पौरुष रह-रह कर झलकता रहता है। तात्पर्य यह कि निराला इन कविताओं से अपनी व्यक्तिगत क्षितिज का ही विस्तार नही करते है, कला की क्षितिज का भी विस्तार करते हैं। इसका प्रमुख कारण यह है कि निराला की अनुभूति वैयक्तिक आदर्शों के सकीर्ण पथ को छोड़कर मूलादर्शों के राजपथ की अनुगामी होती है। उनका अचेतन वैयक्तिक आशाओं-अभिलाषाओं का केन्द्र न होकर सामूहिक आशाओं और अभिलाषाओ का परिचायक होता है। हर अनुभूति की अपनी रवानी (Rhythm) और अपनी संघटना (Pattern) होती है। अनुभूति से दीप्त मानस की स्थिति में यह रवानी और संघटना वैचारिक स्फुरण मे स्वत: कौंधने लगती है। कवि तटस्थ भाव से उसका आलेख कर देता है। वे अपनी रचनाओं को जब भी नया मोड़ देते हैं तो उसमें उनके दीप्त मानस का प्रचुर सहयोग होता है।

विगत पृष्ठों मे अनुभूति के देशकाल से निर्मित होने के तथ्य का उल्लेख किया गया है। इसका सम्बन्ध इतिहास से होता है—भूत और वर्तमान के इतिहास मे। छायावादियों में यह प्रवृत्ति प्रसाद में अधिक मुखर रही है। जब कोई रचनाकार अपने इतिहास से कट जाता तो वह देश-काल के सातत्य से कट जाता है। लेकिन जब वह इतिहास पर विचार करता है तो उसके सातत्य के बीच अपने को रखकर अपने वर्तमान की उपलब्धि और सीमा का विश्लेषण करना चाहता है। इस तरह ऐतिहासिक अनुभूति रचना की आवश्यक शर्त सिद्ध होती है। साहित्यिक रचना उस बिन्दु से आरम्भ होती है, जहाँ पर ऐतिहासिक रचना असफल सिद्ध हो चुकी होती है। इतिहासकार प्राय: मानव को प्रभावित करने वाले उन भागवत स्वरूपों को छोड़ जाया करता है जिनका व्यक्ति और समाज के साथ अविच्छिन्न सम्बन्ध होता है। इतिहास 'रेकार्ड' प्रस्तुत करता है, पर साहित्य सृजन। जब भी रचनाकार इतिहास को सृजन का मेरुदण्ड बनाता है तो उसके द्वारा कल्पना के कलेवर में तथ्य को प्रस्तुत करने का प्रयत्न करता है। 'अनामिका' की 'दिल्ली' और 'परिमल' की 'जागो फिर एक बार' (२) 'महाराज शिवाजी का पत्र'

प्रथम स्तर

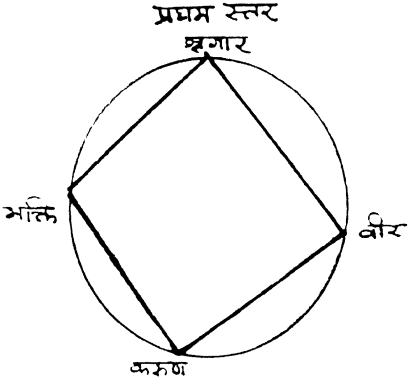

तृतीय स्तर

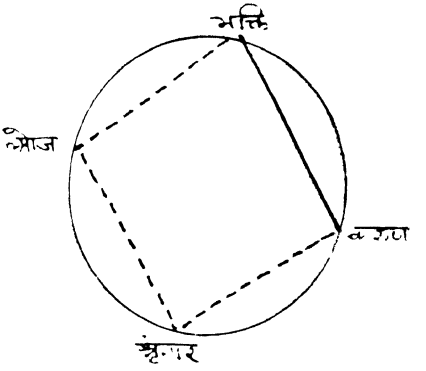

द्वितीय स्तर

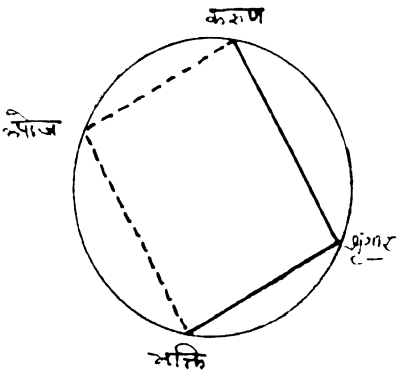

चतुर्थ स्तर

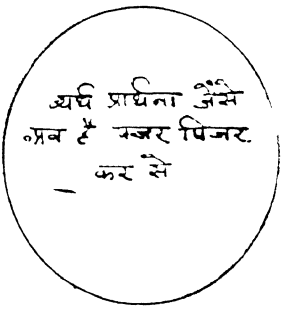

उनकी ऐतिहासिक दृष्टि की परिचायक हैं। प्रायः सभी कविताओं के माध्यम से देश की अतीत गौरव-गाथा को जगा कर वर्तमान को उद्‌बुद्ध करने का प्रयत्न किया गया है। कवि की अनुभूति ऐसी स्थिति में वर्तमान-अतीत के दो छोरों का अवगाहन करती दृष्टिगोचर होती है। वह सोचता है,

क्या यह वही देश है
परिवर्तित होता हुआ ही देखा गया जहाँ
भारत का भाग्य चक्र।[१४]

कवि के समक्ष भारत दुर्दशा के कई स्वरूप हैं। इस दुर्दशा के मूल में उसे प्रमुख रूप से तीन बातें दिखाई देती हैं, (१) बाह्य आक्रमण (२) आन्तरिक कलह और स्वार्थलिप्सा (३) सांस्कृतिक अधःपतन। कवि ने 'दिल्ली' में स्पष्ट रूप से उसका उल्लेख किया है कि तृष्णा के आकर्षण के वशीभूत होकर यहां सदैव बाहरी आक्रमणकारी आते रहे। यहाँ का धन लूटते रहे और दुर्दमनीय बर्बरता के द्वारा यहाँ की सांस्कृतिक चेतना को नष्ट-भ्रष्ट करते रहे। इसमें विदेशियों का ही सहयोग नहीं था, स्वार्थलिप्सु भारतीय भी इस स्थिति को बद-से-बदतर बना रहे थे। निराला को इस बात का ज्ञान था कि मुगलों के समय से ही कुछ लोग स्वार्थ के वशीभूत होकर देशद्रोही बन चुके थे। यह स्वार्थ लिप्सा उस काल में भी किसी न किसी रूप में बनी हुई थी जिस काल में अंग्रेजों के साथ देश-मुक्ति का संघर्ष चल रहा था। कवि इस स्वार्थवाद और सिद्धान्त विहीन अथवा धुरीहीन भावना से पीड़ित था। 'शिवा जी का पत्र' इसी भावना को व्यक्त करने का प्रमुख साधन है। आरम्भ में वे,

'किन्तु हाय ! वीर राजपूतों की
गौरव प्रलंब ग्रीवा
अवनत हो रही है आज तुमसे महाराज'[१५]

का शंखनाद फूँकते हैं। उसके पश्चात् भगवान से राजा जयसिंह को हृदय की आँख देने और न्यायमार्ग दिखाने की प्रार्थना करते है।[१६] राजपूतों के पतन के सन्दर्भ में इस उपर्युक्त प्रार्थना की व्यंजना स्पष्ट हो जाती है। जयसिंह शिवाजी पर चढ़ाई करने आए है। वे औरंगजेब की ओर से लड़कर शिवा को परास्त करना चाहते है। शिवाजी स्पष्ट रूप से इस तथ्य का संकेत कर देते हैं कि उनका पराजय राष्ट्र की पराजय है, धर्म और संस्कृति की पराजय है। शिवा जी को जयसिंह से पराजित होने का कष्ट नही है, कष्ट तो है अत्याचारी औरंगजेब के सेनानायक जयसिंह से पराजित होने का—कष्ट है भाई से भाई को लड़ा कर, 'विभाजित करो और शासन करो' की सफलता पर। कूटनीति के कुछ पक्षों को भी निराला ने स्पष्ट रूप से उद्‌घाटित किया है। अगर शिवाजी और जयसिंह की शक्ति आपस में टकराती है तो दो महान

हिन्दू राजाओं की शक्ति क्षीण होती है। परिणामस्वरूप दक्षिण भारत बिना प्रयत्न के ही औरंगजेब के अधिकार में जा सकता है। अगर ये दोनों शक्तियाँ आपस में मिलकर औरंगजेब का सामना करती हैं तो उसके लिए दक्षिण में चढ़ाई करना कठिन हो जायगा। इसीलिए वे जय सिंह के विवेक ज्ञान को उद्‌बुद्ध करके समय रहते उसे सचेत करना चाहते हैं। वे पूर्णतया स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि इसी के बाद छत्रसाल पर भी आक्रमण होगा। उसकी पराजय का परिणाम होगा कि जन्मभूमि सदैव के लिए एक क्रूर और अत्याचारी से पददलित हो जायगी। मुट्ठी भर बर्बर लोग इसके भाग्य-विधाता बन जायँगे। इससे बचने का जो साधन है उसका निराला स्पष्ट संकेत करते है—

'महाराज !
जितनी विरोधी शक्तियों से,
हम लड़ रहे है आपस मे,
सच मानो खर्च है यह
शक्तियों का व्यर्थ ही।[१७]

शक्ति संचय, स्वार्थलिप्सा से मुक्ति और राष्ट्रवादी चेतना का मूल स्वर यहीं 'शिवाजी का पत्र' का प्रतिपाद्य है। इसमें कवि अपनी ही छाया से अपने को ठगे जाने के दुष्परिणाम से परिचित है। वह स्पष्ट रूप से जानता है कि अगर राष्ट्र के लोग इस मृगमरीचिका से मुक्त हो सके तो;

'जितने विचार आज
मारते तरंगे हैं
साम्राज्यवादियों की भोग वासनाओं में
नष्ट होगे चिरकाल के लिए
आयेगी भाल पर
भारत की गई ज्योति,
हिन्दुस्तान मुक्त होगा घोर अपमान से
दासता के पाश कट जायँगे।'[१८]

कुछ आलोचकों को निराला की इस धारदार, सहज, प्रवाहशील और तेजोदीप्त अनुभूति के सही स्वरूप को समझने में बाधा हुई है। उन्हें यह शंका सता रही है कि 'निराला' को कहीं हिन्दुओं का कवि न कह दिया जाय। निरर्थक वाग्जाल और शंका का निराकरण पद्य की उपर्युक्त पंक्तियों के साथ ही अधोलिखित पंक्तियों से हो गया है—

उठती जब नग्न तलवार है स्वतन्त्रता की
कितने ही भावों से

याद दिला घोर दुख दारुण परतंत्रता का
फूँकती स्वतन्त्रता निज मंत्र से
जब व्याकुल कान,
कौन वह सुमेरु
रेणु-रेणु जो न हो जाय।[१८]

स्पष्ट है कि शिवा जी साम्राज्यवादियों की भोगवासनाओं से चिरकाल के लिए देश को मुक्त करके, उसके भाल पर उसकी विजय श्री पुनः प्रतिष्ठित करने के लिए जयसिंह का आह्वान करते हैं। यह संघर्ष किसी जाति का किसी जाति से संघर्ष नहीं अपितु शोषक और शोषित का संघर्ष है। हर शोषकों के समान हथकंडे है। निराला इससे भली प्रकार परिचित हैं कि औरंगजेब भी शोषक है और देश को परतंत्र बनाने वाले अंग्रेज भी शोषक हैं। उन्हें इन दोनों मे कोई भेद नहीं दिखाई देता। इसीलिए वे शिवा जी के माध्यम से उस शोषण के अन्त का आह्वान करते है। 'प्रसाद' ने यही कार्य अपने नाटकों के माध्यम से किया था।

इसी अनुभूति का विकास-क्रम उनकी देश-प्रेम प्रधान कविताओं के साथ ही 'तुलसीदास' और 'राम की शक्ति पूजा में' दृष्टिगोचर होता है। निराला की सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि आरम्भ से लेकर अन्त तक उनके जीवन-दर्शन में गुणात्मक नहीं परिमाणात्मक भेद आया है। आरम्भ में अनुभूति के जो पक्ष काव्य-सृजन के उपजीव्य रहे हैं वे अन्त में विरल हो गए हैं और आरम्भ में जो प्रवृत्ति विरल रही है वह अन्त में सघन हो गई है। इस प्रकार उनमें अनुभूति का एक चक्रिल आवर्त देखने को मिलता है। उनमें भावानुभूति की दृष्टि से शृंगार, वीर, करुण और भक्ति की प्रधानता है। सन् ३७ तक की रचनाओं में शृंगार और वीर रस की अनुभूतियों का समान महत्व है। उसके पश्चात् करुण रस को स्थान प्राप्त हुआ है। सन् सैंतीस से सैंतालिस तक की रचनाओं में शनैः-शनैः जीवन-विष को फैलने और संघर्ष करने से उनके जीवन में करुणा की प्रधानता हो जाती है, पर जीवन-रस अभी तक पूरी तरह सूख नहीं पाया है अतएव शृंगार की कुछ अत्यन्त महत्वपूर्ण रचनायें भी सामने आती हैं। भक्ति के जो गीत लिखे गए हैं, उनमे तन्मयता है। सैंतालिस के बाद उनके जीवन में क्रमशः निराशा का बोल-बाला होता गया है। काव्य-प्रतिभा और प्रेरणा का वेग पहले जैसा नहीं रह गया है। प्रपत्ति के द्वारा वे क्षतिपूर्ति का प्रयत्न करते हैं लेकिन अन्त में उसमें भी असफल हो जाते है। अतएव इन बातों को ध्यान मे रखते हुए उनकी अनुभूति की सघनता और विरलता को निम्नांकित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है:—

अनुभूति के जिस चक्रिल आवर्त का उल्लेख उनके सम्पूर्ण जीवन के सन्दर्भ मे किया गया है उसका विकासक्रम क्रमशः सघन से विरल और विरल से सघन स्थिति का द्योतक है और अन्ततोगत्वा शून्य की स्थिति को पहुँच गया है। कहीं-

कहीं मिश्रित अनुभूति को भी चित्रित किया गया है। बड़ी कविताओं में प्रेम, शृंगार, सौन्दर्य, अवसाद और प्रपत्ति की स्थिति एकाधिक बार देखने को मिलती है। इस तरह जीवन की तरह एक ही कविता में इन अनुभूतियों का चक्रिल आवर्त विशेष मनोहारी, मनोवैज्ञानिक और जीवन के निर्माणक भावों के प्रति आस्था और विश्वास का परिचायक बन गया है। 'सरोज स्मृति', 'राम की शक्ति पूजा' और 'तुलसीदास' इस तकनीक की सफलता की परिचायक हैं। इनके माध्यम से निराला की अनुभूति के वे सभी अभिघटक पूर्णतया कलात्मक ढंग से व्यंजित हुए हैं जिनका परवर्ती काल में विशेष विकास हुआ है। निराला की रचनायें उनके अन्तः अभियान-जनित-आत्म साक्षात्कार की परिचायक है। उस अभियान के निश्चित पड़ावों पर उन्हें विशेष भावानुभूतियों का दर्शन हुआ है और उनकी प्रदीप्त प्रतिभा ने उन्हें बाँधकर निश्चित रूप में सँजो दिया है। प्रगीत तो निश्चित अनुभूति के विकसित पर सघन स्वरूप के उच्छलन हैं, जिनमें यथास्थान 'स्व' और 'स्व' के अतिक्रमण की विशेषतायें विद्यमान है, पर लम्बी कवितायें भाव की अजस्र-स्रोतस्विनी के क्षिप्र तेजस्वी और यथास्थान शिथिल वेग के विविध स्वरूपों की परिचायक हैं। इन कविताओं का पट सघन और विरल अनुभूति के तन्तु से निर्मित हुआ है। जहाँ कवि ने दीप्त मानस, स्वयं प्रकाश या सहज जीवन बोध का आत्म साक्षात्कार किया है, वहाँ लम्बी कवितायें प्रगीत की घनीभूत भावानुभूति की परिचायक हैं, पर जहाँ सम्बन्ध-निर्वाह के लिए इतिवृत्त का सहारा लिया गया है, वहाँ अनुभूति विरल हो गई है। 'प्रिय-यामिनी जागी' और 'मौन रही हार' जैसे लघु आकार के प्रगीतों में भी अखण्ड अनुभूति के कुछ बिन्दुओं को निराला ने इस तरह प्रदीप्त और प्रातिभ बना दिया है कि उससे एक झटके से पूरी कविता सामान्य व्यंजना के साथ ही असामान्य व्यंजना से व्यंजित हो उठी है। यही 'फ्लैशबैक' और 'फीडबैक' की तकनीक बड़ी कविताओं की सफलता का रहस्य है। सभी बड़ी कविताओं की अनुभूति का धरातल एक नहीं है—वह एक हो भी नहीं सकता है—विश्व के किसी कवि में उसे एक बनाने की क्षमता नहीं है। फिर उनकी सफलता का मानदण्ड भी एक नहीं हो सकता। 'शिवाजी का पत्र', 'पंचवटी प्रसंग', 'स्वामी प्रेमानन्द जी महाराज', 'राम की शक्ति पूजा', 'यमुना के प्रति', 'सरोज स्मृति' और 'तुलसीदास' निराला की बड़ी कवितायें हैं लेकिन अन्तश्चेतना के अन्तर्निहित-स्पन्दन की दृष्टि से 'सरोज स्मृति', 'राम की शक्ति पूजा' और 'तुलसीदास' को कुछ अपवादों के बावजूद एक भावभूमि की कविता, निराला के उदात्त जीवन-बोध के आरोह-अवरोह की सफल छवि, उनकी काव्यानुभूति की चरम कलात्मक परिणति की संज्ञा दी जा सकती है। केवल लम्बाई के आधार पर शेष कविताओं को इनकी समानधर्मा घोषित करना त्रुटिपूर्ण दृष्टिकोण का परिचायक है। ऐतिहासिक रचना दुधारी तलवार होती है। उसके लिए अतीत न तो केवल अतीत है और न वर्तमान वर्तमान। ये तो उस अनन्त-

काल-प्रवाह की स्वरूप हैं जिसे समझने के लिए कुछ संज्ञाओं और विशेषणों का उपयोग किया गया है। इनकी यही इयत्ता है। प्रेमचन्द ने प्रसाद के नाटकों को इतिहास के गड़े मुर्दे उखाड़ने की संज्ञा दी थी। वैसे ही 'शिवा जी का पत्र' को कुछ लोग अतीत धर्मी और अप्रगतिशील दृष्टिकोण का परिचायक मानते है। ऐतिहासिक रचना भूत की असफलताओं के आधार पर समान वर्तमान सन्दर्भों से जुड़कर एक नए सन्देश की वाहक बनती है। मैंने इसे दुधारी तलवार कहा है। यह भूत पर विश्लेषणात्मक दृष्टि से विचार करके वर्तमान पर कुछ और तीखी निगाह डालती है। यह रचना वर्तमान जयसिंहों पर जो अंग्रेजी सरकार की नीतियों के समर्थक बनकर अपने ही लोगों के पैर में कुल्हाडी मार रहे थे, तीखा प्रहार करती है। अतएव इसकी सार्थकता स्वत: सिद्ध है। मुसलमान और हिन्दू शब्द का प्रयोग किया गया है, लेकिन ये शब्द अतीत में औरंगजेब की नृशंसता और शिवाजी की राष्ट्रीयता तथा देशमुक्ति की भावना के परिचायक है। ये यवन और आर्य संस्कृति के तत्कालीन द्वन्द्व से हमे परिचित कराते हैं। उस समय यवन शासन था, अतएव यवनों की साम्राज्यवादी लिप्सा और शिवाजी की राष्ट्र-मुक्ति की भावना के भी परिचायक है। वर्तमान सन्दर्भों मे वे लाक्षणिक रूप मे अंग्रेजो की साम्राज्य लिप्सा और राष्ट्रीय आन्दोलन को द्योतित करते है। अतएव सन्दर्भों की गलत व्याख्या के आधार पर केवल भावना के ज्वार मे उन्हे अनापशनाप ढंग से किसी जाति या वर्ग के साथ जोड़ना अनुचित है। 'साहित्य की मौलिक भूमि' मे निराला हिन्दू-मुसलमान के सम्बन्ध मे अपना मत प्रकाशित कर चुके थे। उसमे विश्वमैत्री और समता का स्वर मुखर हुआ था। इससे स्पष्ट हो जाता है कि 'निराला' का मुसलमान शब्द औरंगजेब की नृशसता, कट्टरता और धर्मान्धता का परिचायक था, जातीय संकीर्णता का नहीं। इस कविता की सबसे बडी विशेषता यह है कि इसमें अनुभूति बौद्धिक प्रत्ययो के सम्पर्क से विकसित हुई है। पूरी कविता को देखने से ऐसा ज्ञात होता है कि भावानुभूति न तो बुद्धि पर हावी हो पाई है और न बुद्धि भावानुभूति पर। दोनों मे मणिकांचन संयोग है। इसीलिए कवि का वक्तृत्व कौशल विशेष मुखर है। प्रसाद ने भी 'पेशोला की प्रतिध्वनि' मे इस पद्धति का सफल प्रयोग किया है।

'पंचवटी प्रसंग' की रचना के कारणों पर निराला ने स्वयं प्रकाश डाला है। उसपर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि उनके समक्ष गिरीश चन्द्र घोष नामक बंगाली अभिनेता-नाटककार की मुक्त छन्द की रचनाओं का आदर्श था और वे उसकी प्रभावोत्पादकता से परिचित थे। निराला ने मुक्त-छन्द मे पंचवटी प्रसंग की रचना शुरू की। सारी रचना गीतिनाट्य के आदर्श की परिचायक है। यूरोप में 'पोएटिक ड्रामा' की रचना हो चुकी थी। बंगला में भी उसकी प्रथा प्रचलित थी। भारतीय नाटकों पर पारसी कम्पनियों का प्रभाव था। निराला इस 'प्रभाव को बहुत सुखद

नहीं मानते थे। परिणामस्वरूप उन्होंने 'पंचवटी प्रसंग' द्वारा उससे मुक्ति का आदर्श प्रस्तुत करना चाहा और वे उस समय इसमें सफल भी हुए थे। अतएव उसके विवेचन के लिए इस दृष्टि-बिन्दु के साथ ही इस तथ्य को ध्यान में रखना भी आवश्यक है कि वह निराला की आरंभिक रचना है। अतएव उसमें वह परिपक्वता, अन्तर्दृष्टि, कौशल और ओजस्विता नहीं पाई जा सकती जो उनकी परवर्ती रचनाओं में है। 'पंचवटी प्रसंग' प्रकारान्तर से निराला की 'जूही की कली' की स्वच्छन्द-शृंगार-प्रिय अनुभूति से ही सजी-धजी है। निराला निःसंशय भाव से अनुभव करते हैं—

'प्रेम का पयोधि तो उमड़ता है
सदा ही निःसीम भू पर।
....
दिव्य देहधारी ही कूदते हैं इसमे प्रिये,
पाते है प्रेमामृत,
पीकर अमर होते हैं।[१९]

कली का प्रियतम पवन भी दिव्य देहधारी है, क्योंकि वह प्रेम के स्वच्छन्द प्रवाह में कूद कर उस अमृत का पान करता है और अमर हो जाता है। उसकी प्रियतमा जूही को कली भी प्रियतम को पास पाकर नम्रमुखी होकर उसके साथ रंग खेलती और खिलती है। पंचवटी प्रसंग की सीता भी कम खिली हुई नही हैं। लेकिन शूपर्णखा की स्थिति सीता और 'जूही की कली' से भिन्न है। वह तमोगुण प्रधान रूपगर्विता नायिका है। वह अपने को रमा और रंभा से सुन्दरी मानती है। सारी सृष्टि की सुन्दरता का सार उसके अंगों मे निहित है। सचेत चित्रकार ब्रह्मा उसके रूप की रचना कमी भी नही कर सकता था। एक वृद्ध, जिसके अंग काँप रहे हों, वह रूप कैसे उरेह सकता था। प्रकृति उस सौन्दर्य के समक्ष नतमस्तक है !! कवि की कल्पना थकित है !!! अपार-सौन्दर्य-रूप-राशि से ऋषि मुनियों का मान-मर्दन हो चुका है !!! सब उसके विश्वविमोहन रूप की कामना करते है। उसने सबको ठुकरा दिया है, दुत्कार दिया है। लेकिन वह रूप एक दिन 'निश्छल मनोहर श्याम काम-कमनीय' को देखकर 'जीवन-यौवन-नवीन' अर्पण करने के लिए तत्पर हो जाता है। लेकिन वह तत्परता व्यर्थ जाती है। 'पंचवटी प्रसंग' में कथा की एक दूसरी धारा भी है जिसका सम्बन्ध वेदान्त से है। उसमे मन, चित्त, बुद्धि, अहंकार और गुणों का उल्लेख किया गया है। वहाँ पर स्पष्ट है—

'पार करता रेखा जब समष्टि अहंकार की—
चढता है सप्तम सोपान पर,
प्रलय तभी होता है,
मिलता वह अपने सच्चिदानन्द रूप मे।[२०]

साधना में विज्ञानमय कोष को पार करके, या कुण्डलिनी योग की शब्दावली का प्रयोग करें तो, शिव शक्ति के अद्वैत से साधक परम पुरुषार्थ को प्राप्त करता है। निराला ने लिखा है—

शुद्ध चित्तात्मा में उगता है प्रेमांकुर।
चित्त यदि निर्मल नहीं,
तो वह प्रेम व्यर्थ है—
पशुता की ओर है वह खीचता मनुष्य को।[२१]

निराला की दृष्टि में शूर्पणखा का प्रेम मनुष्य को पशुता की ओर खींचने वाला है। इसीलिए वह न तो रामोन्मुख बन पाता है और न लक्ष्मणोन्मुख। 'पंचवटी प्रसंग' में 'निराला' का आत्मबोध है—अनुभूति-आवर्त है—'जो परवर्ती काव्य में वट-वृक्ष की तरह विकसित हुआ है। इस कविता में अतिरिक्त जो कुछ सामने आया है उसपर उस काल के सन्त समागम की स्पष्ट छाप है। उन्होंने जिस उपदेशात्मकता से बचने का उल्लेख अपने 'मेरे गीत और कला' निबन्ध में किया है, वह इस कविता में प्रच्छन्न रूप से विद्यमान है। इससे 'पंचवटी प्रसंग' के निराला 'जूही की कली' के 'निराला' के साथ ही रामकृष्ण मिशन के निराला भी हैं। गंभीरता पूर्वक विचार करने से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि 'तुलसीदास' के प्रति अनन्त श्रद्धा के कारण वे उससे बच भी नहीं सकते थे। इस तरह इस कविता को सर्वथा व्यर्थ सिद्ध करना अनुचित है। प्रेम का यही बीज जिसके प्रति निराला की आसक्ति रही है, अनुभूति की वही पवित्रता, प्रांजलता और निष्कलुषता परवर्ती प्रेमगीतों, गीतों और कविताओं में व्यक्त हुई है। निराला मिथक का उपयोग नए सन्दर्भों में न कर सकने के कारण उससे कोई नई व्यंजना नहीं दे पाए हैं, यह उनकी असफलता है। इसकी पूर्ति उनके परवर्ती काव्य द्वारा हुई है।

'सरोज स्मृति' शोक गीति है, पूर्व अंग्रेजी की शोक गीति परम्परा से सर्वथा मुक्त, सहज, स्वच्छन्द और अनुभूति के अनाविल प्रवाह की सूचक। इसे पढने से ऐसा ज्ञात होता है कि कवि की रचनात्मक-संघर्ष-जनित-आत्म-बोध और आत्म-साक्षात्कार की क्रिया उन्मुक्त होकर उसकी अनुभूति के पर्त-दर-पर्त को उकेलती हुई, उसे शब्द और अर्थ से बाँधती हुई अप्रतिहत गति से अग्रसर हो रही है। रचना का स्वरूप स्वतः स्फूर्त, स्वयं प्रेरित और स्वयं चालित है और गति किसी धरती के वक्षस्थल को भेदकर निकले जलस्रोत की तरह स्वयं विकासमान। कवि को अनुभूति को रचने की आवश्यकता नही है, अनुभूति का सशक्त प्रवाह ही कवि को रचना चलता है, उसे निर्देशित करता जाता है। अन्ततः उसकी अन्तः ऊर्जा—रचनात्मक शक्ति—का ज्वार घटने लगता है, कथ्य चुक जाता है और कविता अपने विश्राम-स्थल को पहुँच जाती है। आदि से अन्त तक जिस कलात्मक अनुभूति की गतिशीलता का निर्वाह 'सरोज-

स्मृति' में हुआ है, उसका अन्य कविताओं में सर्वथा अभाव है। इसीलिए निराला को यहाँ किसी इतिवृत्त की अपेक्षा नहीं है, किसी इतिहास, मिथक या लोकवृत्त की आवश्यकता नहीं है। उनका जीवन-संघर्ष ही उसके लिए लोकवृत्त बन गया है और उसकी एकतान अभिव्यक्ति परम उद्देश्य। संघर्ष-जनित-आत्म-स्वीकृति की अनुभूति सहज नही होती है; जटिल, दुरूह और आवर्तमय होती है। कवि की स्मृति ही उन बिन्दुओं से टकराकर उन्हें उद्दीप्त करके अभिव्यंग्य के रूप मे बदलती जाती है। अतएव सरोज-स्मृति ऐसी कविता है जिसमें कवि के जीवन संघर्षों की अनुभूति विभिन्न रंग के मणियों के रूप में गुँथी है। 'राम की शक्ति पूजा' में निराला ने लिखा है, 'जल राशि-राशि जल पर चढ़ता खाता पछाड़।' यहाँ राशि-राशि-अनुभूति, अनुभूति पर चढ़ती और पछाड़ खाती दृष्टिगोचर होती है। अनुभूति के सन्दर्भित विचार-क्षेत्रों के सम्मिलन से—टकराव के बाद सहज परिणति से—कविता सहज रूप में विकसित होती रहती है। सृजन-प्रक्रिया में अनुभूति के द्वन्द्व से विकास की चरम परिणति इसमें देखी जा सकती है—ठीक जल के प्रवाहों के टकराव से नवनिर्मित धार की तरह, गतिशील, वेगवान और तेजोदीप्त सहज परिणति। अनुभूति का एक रंग दूसरे पर चढ़ता, पुनः तीसरे का निर्माण करता हुआ एक बहुरंगीय चित्रफल के सृजन का परिचायक बन जाता है, जिसमें सबके समन्वित प्रभाव के कारण प्रभविष्णुता और एकतानता है। कविता के अन्त तक अनुभूति के प्रखण्ड मिल करके एक जीवन बोध के परिचायक बन जाते है। निराला ने अपने गीतों के विषय मे लिखा था कि खण्डों में इनका विश्लेषण संभव नही है। जीवन-संघर्ष के इसी समग्र बोध के कारण इस कविता को भी खण्डो मे विश्लेषित करने से अन्तर्धारा विघटित होती है। लेकिन खण्ड के माध्यम से होकर अखण्ड तक पहुँचने की परवशता से मुक्त होना भी तो संभव नही है।

'सरोज स्मृति' सृजन-जनित-अनुभूति की अन्तः दीप्ति की कविता है। स्मृति शब्द के द्वारा कवि ने इसी सत्य को हृदयंगम कराना चाहा है। इन अन्तर्छवियों की छाया आपस मे मिलकर एक पूर्ण छवि की छाया का निर्माण करती है। 'प्रेयसी' में निराला ने लिखा है—

तब तुम लघु पद बिहार
अनिल ज्यो बार-बार
वक्ष के सजे तार झंकृत करने लगे।
सांसो से, भावो से चिन्ता से कर प्रवेश।[२२]

ठीक इसी तरह सरोज के जीवन की स्मृति आरम्भ में ही कवि की हृदयानुभूति को झंकृत करके एक तान छेड देती है। कविता शुरू हो जाती है। कवि सरोज की मृत्यु का उल्लेख करता है। यह मृत्यु सरोज के लिए मृत्यु नही है, यह तो 'पूर्ण-आलोक वरण' या 'ज्योति शरण-तरण' है। निराला कवि हैं, उन्होंने अपना कुछ

समय ज्योतिस्तरण के चरणों में लगाया है। वे उसको समर्पित रहे हैं। इस समर्पण से उन्हें अन्तर्दृष्टि मिली है। उसके बल से वे 'अशब्द अधरों के भाष' को सुन सकते हैं। सरोज कवि की जीवित कविता है जो निरन्तर प्रहारों से जर्जर पिता को जीवित छोड़कर इसलिए पहले मृत्यु का वरण करती है कि जब उसके अक्षम पिता के जीवन का अन्त होगा तो वह उन्हें अपनी क्षमता से मुक्ति प्रदान करेगी। ये विचार आते ही कवि पुत्री के प्रति अपने कर्तव्य-निर्वाह के विश्लेषण की ओर उन्मुख होता है। उसे लगता है कि कहने के लिए तो वह सरोज का पिता था, पर उसके प्रति अपने कर्तव्य का समुचित निर्वाह करने में असफल रहा। क्यों ? इसीलिए न उसने हिन्दी के रिक्त भाण्डार को अपनी रचनाओं से भरने का व्रत ले रखा था। उसने उस संकल्पमय व्रत को पूरा भी किया। बार-बार सोचने पर उसे यही ज्ञात हुआ—

यह हिन्दी का स्नेहोपहार,
है नहीं हार मेरी, भास्वर
यह रत्नहार - लोकोत्तरवर।[२३]

कवि पराजित नहीं है। हिन्दी के स्नेह स्वरूप उसको जो भी उपलब्धि है, वह उसके पराजय का परिचायक नहीं है। वह तो भास्वर रत्नों का हार है, लोकोत्तर वर है। साहित्य शुद्ध भावों का क्षेत्र है। वह कला है—प्रबुद्ध कौशल की परिचायक कला। वहाँ पर कवि ने अपनी सफलता का प्रमाण प्रस्तुत किया है। लेकिन क्या इससे उसके जीवन संघर्षों मे किसी प्रकार की कमी आई है ? क्या उसका प्रतारण और शोषण बन्द हुआ है ? क्या कवि को उसकी महत्तम उपलब्धियों के सन्दर्भ में रचनाकार होने का मुआवजा प्राप्त हुआ है ? नहीं ? उसके संघर्ष तो तीव्र से तीव्रतर होते गए है। वह परवश और असहाय होकर उनका प्रत्यक्षदर्शी बना रहा है—

एक साथ शत घात पूर्ण
आते थे मुझ पर तुले तूर्ण
देखता रहा मैं खड़ा अपल
वह शरक्षेप वह रण कौशल।[२४]

और संघर्ष का यह स्वरूप बेकार नहीं गया। 'क्रुद्ध का रुद्ध कण्ठफल' और 'चीत्कारोत्कल' व्यक्त भी हुआ। लेकिन काव्य-देवी उसे अनेक रंगो से रंग कर अपने स्नेह की कूची से निरन्तर सजीव बनाए रही। संघर्ष के सातत्य से साधना और खरी बनती गई। कवि ने सरोज के जीवन की कहानी को उसी संघर्ष के सन्दर्भ मे विवेचित किया है। यथास्थान अर्थ-प्राप्ति की अक्षमता, महत्वपूर्ण रचनाओ का प्रकाशकों के द्वारा लौटाया जाना, दूसरे विवाह को स्वेच्छया खण्डित करना, आर्थिक परवशता में परम्पराओं को तोडकर सरोज का परिणय करना आदि ऐसे प्रसंग भी कवि अनुभूति में कौंधते हैं जिनसे निराला के जीवन-वृत्त मे अन्तर्दृष्टि प्राप्त होती है और उन

अवमानना और तिरस्कार के स्वरूपों पर भी प्रकाश पड़ता है जिनके कारण निराला का भावी जीवन नारकीय-बन गया था। कवि ने लिखा है,

'मुझ भाग्यहीन की तू संबल
युग वर्ष बाद जब हुई विकल,
दुख ही जीवन की कथा रही
क्या कहूँ आज, जो नहीं कही !
हो इसी कर्म पर बज्रपात
यदि धर्म रहे नत सदा माथ
इस पथ पर मेरे कार्य सकल
हों भ्रष्ट शीत के से शतदल।
कन्ये गत कर्मों का अर्पण
कर करता मैं तेरा तर्पण।[२५]

कविता में आत्मसंघर्ष की चरम परिणति का यह केन्द्र है। वेदना की तमिस्रा और उसके घटाटोप से कवि व्यथित हो चुका है। टूट चुका है। सारा जीवन उसे दुख की कहानी ज्ञात हो रहा है। उसने इसे कभी कहा नहीं था, इसका अनुभव भर किया था। लेकिन आज इसे स्वीकार करने के लिए परवश है। न चाहते हुए भी वह जीवन-संघर्ष के ऐसे बिन्दु पर पहुँच चुका है, जहाँ वेदना और परवशता की यह घुमड़ आत्मस्वीकृति और आत्मसाक्षात्कार का तीखापन, अनायास उसके रोम-रोम से फूटकर प्रतिध्वनित हो उठा है। दुनियाँ का कोई स्वरूप उसे ढाढ़स नहीं बंधा, पा रहा है, सन्तोष नहीं दे पा रहा है। उसे लगता है कि ऐसे कर्म पर बज्रपात हो जाय जो अपने लोगों के भरण-पोषण और सुख-सुविधा का माध्यम नहीं बन पाया है। कवि के पास पूर्व-जीवन के कर्मफल के अतिरिक्त है ही क्या? इस जन्म में उसने जो कुछ भी प्राप्त किया है, उसका प्रत्यक्ष फल सामने है। कन्या को अकाल काल-कवलित होना पड़ा है। लेकिन पूर्व जन्म के कर्म-फल भी तो उसका साथ नहीं दे पा रहे है। अगर उन्होंने साथ दिया होता तो कवि को इतना कष्ट क्यों झेलना पड़ता? लेकिन उसके अतिरिक्त कवि के पास है भी तो कुछ नहीं। अतएव वह उन्हीं के द्वारा अपनी कन्या का तर्पण करने के लिए उद्यत होता है। परवशता और मोह-भंग की यह चरमपरिणति है। यह है कवि की त्रासद अनुभूति का स्वरूप जिसमें एक साथ ही उसके अवसाद, पीड़ा, कष्ट, संघर्ष, करुणा, प्रच्छन्नमय और परवशता को मुखर अभिव्यक्ति प्रदान की गई है। अनुभूति का चित्रफलक इतना विशद, व्यापक और सघन है कि भावनाओं के ये स्वरूप उसमें अनायास उठने और तिरोहित होते रहते हैं, पर उसकी सहजता आद्योपान्त बनी रहती है। अनुभूति के द्वन्द्व और विकास, इच्छाशक्ति तथा संकल्प के अनुसार कार्य की अडिग आस्था और तज्जनित संघर्ष की विभीषिका, शुभ संकल्प और अशुभ-बाधक तत्वों का व्यवधान इस कविता

में पूर्णता से चित्रित है। यहाँ कष्ट का कारण चरित्रगत दोष नहीं अपितु उसका सर्वथा निर्दोष होना है। इसीलिए समूची कविता हमारी इस अनुभूति को और उद्दीप्त सघनता प्रदान करती है कि कवि अनावश्यक रूप से वह झेल रहा है, उसे भोग रहा है जिसे झेलने, और भोगने का वह अधिकारी नही है। सरोजस्मृति कवि की आत्मबोधपरक संक्षिप्त जीवन-गाथा है। अतएव इसमें कवि अनुभूति के वे सभी भावकोण व्यक्त हुए हैं जिनके बीच उसे गुजरना पड़ा है। तनाव, खीझ, बिलगाव, उपेक्षा, अवमानना और संत्रास सभी को यथास्थान व्यक्त किया गया है। कविता की अन्तिम पंक्तियों से कवि की संत्रस्त मानसिकता का बड़ा सटीक स्वरूप उभड़ता है। 'ये कान्य-कुब्ज कुल कुलांगार', 'ऐसे शिव से गिरिजा विवाह, करने की मुझको नही चाह' जैसे स्थान कवि की खीझ के परिचायक हैं। उपेक्षा के कई स्तर कविता में व्यंजित हैं। कवि का स्वयं सरोज के प्रति उपेक्षा का भाव, प्रकाशकों का कवि की कविता के प्रति उपेक्षा भाव, समाज का कवि के प्रति उपेक्षा भाव और अन्ततोगत्वा कवि का अपने प्रति उपेक्षा भाव इस दृष्टि से विशेष ध्यातव्य है। 'कन्ये मैं पिता निरर्थक था, कुछ भी तेरे हित कर न सका' में कवि का सरोज के प्रति परवश उपेक्षाभाव द्योतित है। प्रकाशकों का कवि के प्रति उपेक्षा भाव ही सरोज की मृत्यु का कारण बना है। कवि जो श्रम करता है उसका पारिश्रमिक उसे नहीं मिल पाता है। वह 'उपार्जन में अक्षम' होने पर भी कवि जीवन में व्यर्थ ही व्यस्त होकर अबाध गति से मुक्त छन्द लिखता है, लेकिन निरानन्द सम्पादक गण, एक पंक्ति मे दो उत्तर देकर कविता को लौटा देते हैं, इस तरह वे कवि-कौशल की अवमानना करते है। इससे कवि अपने को उपेक्षित जानकर अन्तर्मथन की विभीषिका को झेलने के लिए तत्पर होता है। वह भी अनायास आस-पास की घास नोंचकर इधर-उधर फेंकता जाता है, मानो उन संपादकों पर भाव की माला चटा रहा हो। ऐसे स्थल पर कवि का व्यंग्य बहुत खरा, तीव्र और कचोट उत्पन्न करनेवाला है। यह व्यंग्य कान्यकुब्ज लोगो के यथार्थ चित्रण के समय और भी तीव्र बन गया है। समाज का कवि के प्रति उपेक्षा भाव तो कविता में आद्योपान्त गुँथा हुआ है। लेकिन उपेक्षा का सबसे महत्वपूर्ण स्थल वह है जहाँ पर कवि स्वयं अपने को परवश और दीन-हीन न समझते हुए भी आर्थिक पथ पर बढ़ने के अनर्थ से परिचित होने के कारण स्वार्थ-समर में निरन्तर पराजित होता जाता है। इसका स्वरूप अधोलिखित पंक्तियों मे व्यंजित है—

'क्षीण का न छीना कभी अन्न,
मै रख न सका वे दृग विपन्न,
अपने आँसुओ अतः बिम्बित,
देखे हैं अपने ही मुख चित।'[२५]

अथवा

'देखता रहा मैं खड़ा अपल
वह शरक्षेप वह रण-कौशल।'[२६]

निराला शोषण नहीं कर सकते थे, लेकिन शोषितो के कष्टों को भी झेल पाना उनके लिए कठिन था। अपने स्वयं कष्ट झेलकर वे दूसरों के कष्ट निवारण के प्रति तत्पर रहते थे। 'मैं रख न सका वे दृग विपन्न' इसी का संकेत करता है। अपने प्रति उपेक्षा को अपनाने के कारण ही उन्हें जीवन मे कष्टों का सामना करना पड़ा है। लेकिन वे शूरवीर की तरह सिद्धान्त से बिना हटे उसका सामना करते रहे हैं। बिलगाव की कई स्थितियाँ सरोजस्मृति में आई हैं। इनके कुछ स्वरूपों का उपेक्षा और अवमानना के सन्दर्भ में विवेचन किया गया है। निराला की अनुभूति का यह बड़ा महत्वपूर्ण अंश है। कही तो वे अनुभव करते हैं कि वे अपनी रचना में बेजोड़ हैं, उन्होंने कविता को जो दान दिया है, वह विशिष्ट है। अतएव वे दूसरों से विशिष्ट है। लेकिन इस विशिष्टता का ज्ञान लोगों को नही है, इससे वे अन्यों से कुछ कट गए हैं। कही पर वे अनुभव करते है कि उनपर चारो तरफ से शस्त्रो का प्रहार हो रहा है और वे अकेले खडे होकर अडिग भाव से उनका सामना कर रहे हैं। कविता के एक स्थल पर उन्होने स्वयं लिखा है—

खण्डित करने को भाग्य अंक,
देखा भविष्य के प्रति सशंक।[२७]

जहाँ यह ओज उमड़ना है, कवि वहाँ भी अकेले पड़ जाता है। हर परम्परा-द्रोही-कवि को बिलगाव और बेगानगी का सामना करना पड़ता है। निराला रचना में ही नही जीवन में भी रूढि-विध्वंसक रहे हैं। अनुभूति के जो स्वरूप रचना के साँचे मे एक बार ढले है, उनका उपयोग या अनुकरण अन्य लोगों के लिए संभव नहीं रहा है। अतएव उन्हे अपनी प्रगतिशीलता और प्रयोगशीलता का बडा महँगा मूल्य चुकाना पड़ा है। वे विवाद के ही नही प्रहार के केन्द्र भी बन गए हैं—अनन्त दुराग्रह पूर्ण, अमानवीय और अदूरदर्शी प्रहार के केन्द्र। यह सब निराला के समाज, और जीवन से बिलगाव की ही प्रवृत्ति का द्योतक तो है। जीवन-संघर्ष की प्रतिध्वनि होने के कारण 'सरोजस्मृति' में ये सभी विचार अनुगुंजित होते रहते है।

हीगेल ने 'ट्रैजिक कॉन्फ्लिक्ट' का उल्लेख करते समय मानव की इच्छाशक्ति और परिवेश के द्वन्द्व पर प्रकाश डाला था। यह द्वन्द्व निराला की सृजनशीलता को उद्घाटित करने का प्रमुख साधन है। निराला की वैयक्तिक इच्छा प्रगतिशीलता और प्रयोगशीलता तथा परिवेश के बीच निरन्तर द्वन्द्व की स्थिति बनी रही और वे उसके जीवन भर भुक्तभोगी रहे। वर्तमान की गति को चुनौती देने वाले हर कलाकार की यही नियति होती है और उसे उसके दुष्परिणामो को भी भुगतना पडता है। 'सरोज स्मृति' उसी द्वन्द्वपूर्ण भोग की दास्ताम है। निराला

का समग्र व्यक्तित्व किसी त्रासदी के नायक के व्यक्तित्व के सदृश है। जैसे नायक को संघर्षों को झेलने के लिए बद्ध परिकर होते ही प्राकृतिक—अतिप्राकृतिक उपादान मोर्चे पर डट जाते हैं, वैसे ही निराला को 'रचना की राह' पर चलने का संकल्प लेते ही दैविक और आधि-दैविक विपत्तियाँ उनसे मोर्चा लेने के लिए सामने आकर उपस्थित हो जाती है। विषम-स्थिति तो तब पैदा होती है जब कवि को 'अन्याय जिधर हो उधर शक्ति' का ज्ञान होता है। प्रश्न स्पष्ट है, कवि फिर क्या करे? साधन से विरत हो जाय, मैदान छोड़कर भाग जाय या अपने मार्ग पर निरन्तर अग्रसर होता रहे। निराला को पलायन प्रिय नहीं था। वे अपनी 'शक्ति की मौलिक कल्पना' से परिचित थे। उन्हें जीवन में 'होगी जय होगी जय हे पुरुषोत्तम नवीन' की प्रतिध्वनि भी सुनाई पड़ी थी। उनके पुरुषोत्तम नवीन तो जीत जाते हैं, पर स्वयं निराला 'सरोज स्मृति' मे हार जाते हैं। 'पुरुषोत्तम नवीन' निराला की प्रथम काल की रचना के प्रतीक है, उल्लास, ऊर्जा और संघर्ष के प्रतीक हैं। अतएव उनकी जीत निराला के रचनात्मक कौशल की जीत है। 'सरोज स्मृति' के निराला जीवन-गरल के भोक्ता हैं, विपन्नता और परवशता को झेलने के लिए अभिशप्त हैं। अतएव उनकी हार निराला के जीवन की हार है। रचनात्मक ऊर्जा और अन्तः ओज के बने रहते कवि 'पुरुषोत्तम नवीन' बना रहता है। पर उसके शनैः शनैः क्षीण होने और चुक जाने का ज्ञान होने पर वह निराला बन जाता है। निराला तो दिखाई देते है पर 'पुरुषोत्तम नवीन' अदृश्य हो जाते हैं। 'पुरुषोत्तम नवीन' का जीवन संघर्षों मे शक्ति अर्जित करके विजयोन्मुख बनता है। निराला भी इसका प्रयास करते हैं, पर रचनात्मक ऊर्जा, अनुभूति-शबलता तथा स्वयंचालित लेखन की प्रवृत्ति चुकती जाती है और अन्ततः उन्हे ज्ञान होता है कि 'पंजर-पिंजर कर से' अब प्रार्थना भी व्यर्थ है। प्रथम चरण की रचनाओं में संघर्ष की उदात्त अनुभूति तो अपने पूर्ण वेग और गहनता मे विद्यमान है, परिस्थितियो में मृत्युबोध की प्रतारणा भी उन्हे झेलनी पड़ी है, पर सर्वथा पराजय-बोध का भाव केवल 'सरोजस्मृति' में ही दृष्टिगोचर होता है। प्रेमचन्द के साथ भी यही हुआ था। वे रहे होते तो उनकी मोहभंग-जनित-अनुभूति का चटकीलापन कुछ और तीखी-भाव-रंजित रचनाओं को हमे दे सका होता। एक नरक स्वतः 'सरोज-स्मृति मे अपनी यातनाओं की विविधता के साथ उपस्थित है और इसी का प्रसार और विकास उनके परवर्ती काव्य मे देखने को मिला है। एक झटके के साथ अनुभूति को सर्वथा अभिनव सन्दर्भ प्रदान करने की प्रवृत्ति यहाँ भी है। कुछ स्थल द्रष्टव्य हैं—

(१) 'पित. पूर्ण आलोकवरण
करती हूँ मै, यह नहीं मरण,
सरोज का ज्योतिः शरण-तरण [२८]।'

(२) 'जब पिता करेंगे मार्ग पार
यह अक्षम अति, तब मैं सक्षम
तारूँगी कर गह दुस्तरतम ।, [२९]

(३) 'खण्डित करने को भाग्य अंक
देखा भविष्य के प्रति सशंक ।' [३०]

और भी उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं । उपर्युक्त उद्धरणों में अनुभूति के इन केन्द्रस्थलों से केन्द्रीय अनुभूति में चटकीलापन आया है और परवशता का बोध और मुखर हुआ है । हमने विगत पृष्ठों में अनुभूति के विविध स्वरूपों के अनेक रंगों के आपस में मिलने से उत्पन्न अन्वितिपूर्ण चित्र का उल्लेख किया था । 'सरोज-स्मृति' से यह कला अपने पूर्ण विकास की ओर उन्मुख हुई है । इस कविता में अनुभूति का तनाव भी अपनी विविधता मे कम मोहक और आकर्षक नही है । मृत्यु से कविता शुरू होती है, परवशता के अनेक स्वरूपों को समेटती हुई, उनके रंगों से अपने को रंगती हुई स्रोतस्विनी की तरह यह अबाध गति से आगे को बढ़ती है, पुनः त्रासद अनुभूति के चरम विकास की स्थिति में समाप्त हो जाती है । निराला की अन्य कविताओं मे अनुभूति के चरमोत्कर्ष के विकास की स्थिति आरम्भ के बाद और अन्त के पूर्व कहीं न कहीं कलात्मक ढंग से नियोजित होती है । अन्त में प्रायः भाव का वेग शिथिल हो जाता है । पर 'सरोजस्मृति' में अन्त में भावानुभूति की प्रखरता दिखाई देती है । अनुभूति का तनाव, उसका संरचनात्मक निरूपण अन्त में अपने चरमोत्कर्ष को प्राप्त हुआ है । यह इसकी प्रमुख विशेषता है । 'सरोज स्मृति' में कवि की पूर्ववर्ती सौन्दर्य और प्रेम की प्रवृत्ति का स्वरूप भी पूर्ण विकसित रूप में उपस्थित है । यह 'वह रहा एक मन और राम का जो न थका' का परिचायक तो नहीं है, पर उनकी आस्था और विश्वास का परिचायक है जिसमे क्षणिक संतोष के लिए स्थान अवश्य है । निराला ने लिखा है–

'और भी फलित होगी वह छवि
जागे जीवन-जीवन का रवि ।
लेकर कर कल तूलिका कला.
देखो क्या रंग भरती विमला,
वांछित उस लांछित छवि पर
फेरती स्नेह की कूची भर ।[३१]

निराला ने सरोज को 'गीते' 'जीवित कविते', 'परी चपल', 'कनक', 'अपने जीवन की प्रभाविमल' 'मेरे वसन्त की प्रथम गीति', 'मेरे स्वर की रागिनी वह्नि' आदि विशेषणों से अभिहित किया है । ये विशेषण जिस सन्दर्भ में प्रयुक्त है वहां अनुभूति को उद्दीप्त, प्रसरित, या संकुचित करने का कार्य करते हैं । रचना मे अनुभूति के

विस्तार और संकोच की क्रिया को अपनाना पड़ता है। निराला इसके लिए विशिष्ट पद्धति का उपयोग करते हैं। शब्द, ध्वनि और लय के साथ ही इन विशेषणों का प्रयोग भी अनुभूति की अभिव्यक्ति मे सार्थक भूमिका का निर्वाह करते हैं। सरोज के सौन्दर्य का चित्रण कवि की सहज दीप्तिमय अनुभूति का संप्रकाशन है। इसका संकेत 'प्रिय यामिनी जागी' और 'लौट रही हार' के विवेचन में किया गया है। कुछ पंक्तियां द्रष्टव्य हैं—

धीरे-धीरे फिर बढ़ा चरण,
बाल्य की केलियों का प्रांगण
कर पार, कुंजतारुण्य सुघर
आई, लावण्यभार थर-थर
कांपा कोमलता पर सस्वर
ज्यों मालकोश नव वीणा पर,
नैश स्वप्न ज्यों तू मन्द-मन्द
फूटी ऊषा जागरण छन्द
कांपी भर निज आलोक भार,
कांपा बन कांपा दिक् प्रसार।
परिचय-परिचय पर खिला सकल
नभ, पृथ्वी, द्रुम, कलि, किसलय दल।
क्या दृष्टि! अतल की सिक्त धार
ज्यो भोगावती उठी अपार,
उमड़ता उर्ध्व को कल सलील
जल टलमल करता नील-नील,
पर बँधा देह के दिव्य बाँध
छलकता दृगों से साध-साध।[१२]

'लावण्य भार थर-थर', 'मालकोश नववीणा पर', 'नैश स्वप्न ज्यों मन्द-मन्द', फूटी ऊषा जागरण छन्द', 'ज्यों भोगावती उठी अपार' आदि प्रयोगों को देखना आवश्यक है। यहां देह की सीमा मे बंधकर दृगो से छलकने या भोगावती की तरह अचानक उमड़ कर ऊपर आ जाने का संकेत है। स्वयं-प्रकाश की अनुभूति की यही विशेषता होती है। वह स्वयं अनुभूति की अभिव्यक्ति के धरातल पर ही एक बन्धन को स्वीकार करके उसी के माध्यम से झलकती और छलकती रहती है। यह क्रिया अवसीमा मानस में स्थान ग्रहण करती है और आंशिक रूप से स्वयंचालित होती है। प्रेरणा के उठते ही चेतन-अचेतन सातत्य से सामग्री स्वयमेव खिचकर अवसीमा मानस में आकर एक निश्चित रूप मे व्यक्त होने लगती है। इसमे प्रयास कम और स्वतः स्फूर्तता अधिक होती है। कवि ने सरोज के स्वर के सन्दर्भ मे लिखा है, 'शिक्षा के

बिछा बना वह स्वर।' यही बात सरोजस्मृति के इन सौन्दर्य-निरूपक स्थलों के विषय में कही जा सकती है। सरोज को माता और पिता दोनों से संस्कारों की उपलब्धि हुई, कवि को सरोज की स्मृति से रचना की अनुभूति प्राप्त हुई है—'जागा उर में तेरा प्रिय कवि।' लेकिन यह सामग्री बेजोड़ है। यहां भाव की प्रधानता है बुद्धि की नहीं। लेकिन एक झटके के साथ कवि इस चित्रण को भी मोड़ देता है—

जाना बस पिक बालिका प्रथम
पल अन्य नीड़ मे जब सक्षम
होती उड़ने को, अपना स्वर
भर करती ध्वनित मौन प्रान्तर।[११]

कवि के रूप में निराला ने परिणय के समय अपनी कन्या की मनःस्थिति का चित्रण भी किया है जो पर्याप्त स्वच्छन्द पर स्नेह-सिक्त वात्सल्य का परिचायक है—

उर से भर झूली छबि सुन्दर
प्रिय की अशब्द शृंगार मुखर
तू खुली एक उच्छ्वास संग
विश्वास स्तब्ध भर अंग-अंग
नत नयनो से आलोक उतर
कापा अधरों पर थर-थर-थर।
देखा मैंने वह मूर्ति धीति
मेरे बसन्त की प्रथम गीति-
शृंगार रहा जो निराकार,
रस-कविता में उच्छ्वसित धार
गाया स्वर्गीया-प्रिया-संग
भरता प्राणों में राग-रंग,
रति रूप प्राप्त कर रहा वही,
आकाश बदल कर बना मही।[१४]

शोक की स्थिति में निराला ही इस तरह का चित्रण कर सकते हैं। इनके रहते किसी भी कविता को शोकगीति कैसे कहा जा सकता है? देखने में कविता में शोक और शोक-मुक्त दोनों तरह के मानस का दर्शन होता है। पर बात ऐसी नहीं है। घनीभूत वेदना की स्थिति मे निराला के समक्ष वे सभी जीवन-वृत्त उपस्थित हो जाते हैं जिनका सरोज के जीवन के साथ लगाव है। वियोग की स्थिति में मानस प्रायः उन सभी छवियों और विशेषताओं को पार करता रहता है जो दिवंगत की प्रमुख विशेषतायें है। लेकिन इसमे उसे रस नही मिलता, वह रस ले भी नहीं सकता। इन विशेषताओं की स्मृति तो शोक को और उद्दीप्त करने का काम करती है, शोकाग्नि

को और प्रज्वलित करने का साधन सिद्ध होती है। गुण-कथन से प्रवास की स्थिति में संतोष प्राप्त किया जा सकता है, पर शाश्वत विछोह की स्थिति में नहीं। ये सारे वर्णन शोकगीति की अवसादमय अनुभूति में मिलकर उसे और वेगवान बना देते हैं। स्वयं प्रकाश की परिकल्पना संभवतः कुछ लोगों को अग्राह्य हो। ऐसे लोगों के लिए हम यह कह सकते हैं स्मृति में अनुभूति के फान्तसी द्वारा निरूपित होने पर भी यही संघटना और स्वरूप हमारे समक्ष उपस्थित होता है। 'सरोजस्मृति' में सृजन के चारो स्तरों का स्पष्ट रूप से संकेत मिलता है। तत्परता का स्तर उस समय गतिशील हो उठता है जब कवि सरोज की मृत्यु के विषय में सुनता है, पर अवचेतन पुनर्पोषण की क्रिया उसके बहुत पहले से आरम्भ हो गई हे। मृत्यु की यथार्थ घटना और रचना के बीच के काल के अन्तराल में वह एक केन्द्रीय अनुभूति के चतुर्दिक अपने को व्यवस्थित करने का अवसर पाता है। केन्द्रीय अनुभूति है सरोज की मृत्यु-जनित-कष्ट और पीड़ा। परिपक्व और प्रौढ़ अनुभूति स्वतः अभिव्यक्ति सक्षम बन जाती है। 'सरोजस्मृति' इसका प्रमाण है।

'राम की शक्ति पूजा' और 'तुलसीदास' के अनुभूति के स्वरूप को समझने के पूर्व उसकी कुछ अन्य अवशिष्ट विशेषताओं को हृदयंगम कर लेना आवश्यक है। जान डेवी का कहना है, 'कला विशिष्ट तीव्रता के साथ उन क्षणों को निरूपित करके यशस्वी बनाती है जिनमें भूत वर्तमान को सशक्त बनाता है और भविष्य उस रूप में रूपायित हो उठता है जिनमे वह है या जिस रूप मे कवि उसे निरूपित करना चाहता है।.....अनुभूति अपने भौतिक जगत के द्वन्द्वात्मक संघर्ष और उपलब्धि में किसी संघटना की पूर्ति का साधन सिद्ध होती है। वह यथार्थ में अपने बीज रूप मे कला की ही परिचायक होती है। इसके अविकसित रूप में भी वे आनंदप्रद बोध निहित होते है जिन्हे हम लालित्यबोधीय अनुभूतिकी संज्ञा दे सकते हैं। यथार्थ और खरी अनुभूति उदात्त जीवन्तता की परिचायक होती है। यह व्यक्ति के वैयक्तिक जगत की अनुभूति और संवेदना को प्रतीक रूप में व्यक्त करने के स्थान पर जगत के सर्वोच्च स्वरूप के साथ उसके अन्त.सम्बन्ध को व्यक्त करती है। इसमें आत्म और अनात्म—वस्तुजगत और घटना क्रम—की पूर्ण व्याख्या पाई जाती है। अनुभूति मे विशृंखल भाव तरंगो के लिए कोई स्थान नहीं होता है। यह यथार्थ मे उस स्थायित्व की परिचायक होती है जो निष्क्रिय और निश्चेष्ट नही अपितु लयात्मक और विकासशील होती है।[३५] उनकी दृष्टि मे जीवन में सजीव व्यक्ति और परिवेश के घात-प्रतिघात के कारण अनुभूति का सातत्य निरन्तर बना रहता है। अनुभूति के निर्माण मे यथार्थ परिस्थितियो का विशेष सहयोग होता है। अनुभूति गतिशील और प्रवाहमय होती है। उसका अंश विशेष दूसरे से मिलकर स्पष्ट बनता जाता है। और अन्त मे एक समग्र अनुभूति मे उसकी विविध छायाओं

और प्रकाशों का अद्भुत समन्वय स्वयमेव स्पष्ट हो जाता है । संयोग और विकास की स्थिति में अनुभूति का प्रवाह कुछ समय के लिए अवरुद्ध हो जाता है, स्थिरता की स्थिति पैदा हो जाती है, पर इससे अनुभूति को स्पष्ट होने मे सहायता मिलती है और उसकी विच्छिन्नता और वाष्पीकरण की क्रिया रुक जाती है। अनुभूति का सतत् प्रवाह श्वासावरोध की तरह होता है जिसमें उसके घटक आपस में नहीं मिल पाते हैं। अतएव उनके स्पष्ट होने में कठिनाई पैदा होती है। कलाकृति में विभिन्न क्रियायें, कार्यव्यापार और घटनाक्रम आपस मे मिलकर अन्वित हो उठते हैं, पर वे न तो सर्वथा अदृश्य होते है और न अपनी विशेषताओ को खोते हैं।[१६] अनुभूति में अन्विति होती है। इसका अस्तित्व किसी एक विशेषता का मुखापेक्षी होता है जो इसके अभिघटकों की भिन्नता के बावजूद समग्र अनुभूति को प्रभावित करता रहता है। ओकेशाट ने अनुभूति को समग्र और पूर्ण माना है। इसमें रूपान्तरण संभव होता है, पर पूर्ण विभाजन असंभव। अनुभूति और विचार अविभाज्य होते है। इस दृष्टि से अनुभूति को एक प्रकार के विचार-प्रधान-निर्माण की संज्ञा दी जा सकती है।[१७] अनुभूति के सन्दर्भ मे संवेदन (Sensation) का उल्लेख किया जाता है। कुछ लोग संवेदन को विशुद्ध ऐन्द्रिय अनुभव मानते हैं जो अन्य विचारों और निर्णयों से मुक्त होता है। संवेदन स्पष्ट तात्कालिक अनुभव है जो विचार के हस्तक्षेप से मुक्त होता है पर निर्णय मे व्याख्या और पुनर्विचार निहित होता है। यह ज्ञान से संवर्द्धित-परिवर्द्धित होता रहता है। कभी-कभी संवेदन अपनी जटिलता के कारण निर्णय की कुछ विशेषताओ से अलंकृत हो जाता है और निर्णय अपनी सहजता के कारण संवेदन की कुछ विशेषताओ से। पर यह निर्विवाद है कि संवेदन न तो विचार है और न विचार संवेदन। दोनों अनुभूति के प्रकार हैं।[१८] लेकिन इस तरह के विवेचन से समस्या सुलझती नहीं है। मनोवैज्ञानिक चाहे जो भी कहें यह निर्विवाद सत्य है कि अनुभूति में चेतनता निहित होती है। चेतनता के लिए ऐसे द्रष्टा की अपेक्षा होती है जो संवेदन के क्षणिक स्वरूपों से मुक्त होता है। उसके लिए अन्तर्ग्रथित, व्यवस्थित और समन्वित अनुभूति आवश्यक होती है। फिर ऐसी स्थिति में संवेदन को—विचारमुक्त संवेदन को—अनुभूति नही माना जा सकता है। यह भी कहा जा सकता है कि संवेदन विचारमुक्त होता ही नही है।[१९] इसका सम्बन्ध चेतना से होता है, और चेतना का निर्णय से। निर्णय स्वतः में विचार होता है।[२०] प्रायः अनुभूति निर्णय प्रधान होती है। अगर हम इसको स्वीकार भी कर लें, तो भी हमारे समक्ष एक दूसरी समस्या प्रस्तुत हो जाती है कि, स्वयं-प्रकाश ज्ञान जो, अन्तर्दृष्टि को कौंध का मुखापेक्षी होता है और जिसमें निर्णय का अभाव पाया जाता है, उसे हम क्या कहेगे ? इसका संकेत पूर्व पृष्ठों में किया जा चुका है कि कोई भी स्फुरण किसी भी परिपक्व विचार के मानस में स्फुरित होने का संकेत करता है। विचारों के

पुनर्मोषण की स्थिति से हम भली प्रकार परिचित है। दोलिमय स्फुरण मे जो अनुभूति कौंधती है वह निश्चित रूप से पूर्ण निर्णय मुक्त नहीं होती है।

संवेदन और अनुभूति के अन्तः सम्बन्ध के इस उपर्युक्त स्वरूप के निराकरण के पश्चात् भी कुछ महत्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार करना आवश्यक है। कलाकार का ऐन्द्रिय संवेदन अनुभूति की प्रभावान्विति और इन्द्रियों की कुशलता का मुखापेक्षी होता है। मानव को पाँच इन्द्रियाँ प्राप्त हैं और उनसे पंचतन्मात्राओं का ज्ञान हमे होता है। लेकिन ध्यान देने की बात यह है कि इन इन्द्रियों और उनके विशिष्ट गुणों की सत्ता परस्परानुमोदित अभिज्ञान की आश्रित होती हैं। इनमें किसी एक के सक्रिय सहयोग के अभाव में दूसरी पंगु ही नहीं हो जाती अपितु अंशतः अपने कार्य को संपादित करने में असमर्थ हो जाती है। इससे यह सिद्ध होता है कि अनुभूति ऐन्द्रिय अवबोध-जनित अभिज्ञान की मुखापेक्षी भी होती है। इसके अतिरिक्त अनुभूति का एक निर्माणक तत्व है जो दृश्य संसृति से परे होता है। स्वय प्रकाशाश्रित अनुभूति का उल्लेख अभी किया गया है पर उसके साथ ही उसके कार्य-कारण-जनित स्वरूप का भी वहीं पर संकेत कर दिया गया है। इसके अतिरिक्त अनुभूति के अन्य स्वरूप भी देखने को मिलते हैं जिन्हे कार्य-कारण से प्रत्यक्ष रूप मे सम्बद्ध कर पाना कठिन है। यह विशिष्ट अनुभूति की अवस्था होती है। इस स्थिति मे रचनाकार जीवन के क्षीण से क्षीण निर्देशों पर दत्तचित्त होकर विचार करता है और इसके अनन्त अदृश्य स्पन्दनों को अनुभुति के रूप में मूर्तिमान करने के लिए लालायित हो उठता है। यहाँ उसकी सर्जक प्रतिभा, दृश्य से अदृश्य और शान्त से अनन्त की ओर क्रियाशील पाई जाती है। रचनाकार इस स्थिति में वस्तुओ के बाह्य और आभ्यन्तर स्वरूप मे सामंजस्य देखता है और उसका तत्सम्बन्धी बोध न केवल कलात्मक साँचे में ढलता जाता है, अपितु उसकी अर्थवत्ता उसके लिए स्वयं सिद्ध सार्थकता प्रमाणित होने लगती है। इस धरातल की अनुभूति दृश्य और अदृश्य के महामिलन की परिचायक बन जाती है और रचनाकार का स्वप्न उसके विश्वास के रूप में ढलकर अभिव्यक्त होता है। इस स्थिति में स्वप्न से विश्वास तक का यह प्रत्यावर्तन अनुभूति का प्रमुख दिशा-निर्देशक बन जाता है। अनुभूति के सन्दर्भ में वस्तुतगत उद्दीपनों का उल्लेख करनेवाले लोग प्रायः यह भूल जाते हैं कि रचनाकार यथासमय उनका उपयोग करता है, पर इनके अन्तराल में प्रवेश करके उस महान सत्य तक पहुँचने का प्रयत्न भी करता है जो उसके बाह्य आकार मे प्रच्छन्न रूप से छिपे रहते हैं। इसे केवल विषयगत या विषयीगत से जोड़ना उसकी इयत्ता निर्धारित करना है। हमें यह भी विदित है कि अनुभूति रूपायित होने पर कला के रूप में परिणत होती है। पर अनुभूति से लेकर कला में उसके निरूपण तक का यह विकासक्रम अनुपम आन्तरिक संश्लेषण और अभिव्यक्ति कौशल का मुखापेक्षी होता है। कलाकार के द्वारा अनुभूत और आंशिक रूप मे परीक्षित अनुभव की अभिव्यक्तिपूर्ण परिव्याप्ति ही

कला को प्राणवान् बनाती है। यह आन्तरिक स्वरूप ही कलाकार की प्रमुख धरोहर होता है।

अनुभूति के सन्दर्भ में प्रायः उसकी अखण्डता का प्रश्न उठाया जाता है। इस पर मतभेद हो सकता है। लेकिन सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि अखण्ड को समझने का माध्यम सदैव खण्ड होता है। डी० जी० मूर ने यह ठीक ही कहा है कि खण्ड के अन्दर अखण्ड की विशेषतायें विद्यमान रहती हैं। अखण्ड कलानुभूति त्रिकोणात्मक होती है। इसके एक शीर्ष पर सुन्दरता का उपादान रहता है, दूसरे पर सौन्दर्य-चेतना का और तीसरे पर इसके उपयुक्त कलात्मक मनोभाव पाया जाता है। डॉ० जो० स्टर्जमूर ने इस विवेचन क्रम को विकसित करते हुए लिखा है, 'सुन्दरता उतनी ही वस्तुगत है जितना प्रकाश। इसकी कलात्मक अनुभूति अभीप्सित उपादान की सुखापेक्षी होती है। इसी उपादान की उपस्थिति में कलाकार अपनी विषयीगत अनुभूतियों को प्रस्तुत करता है।[४१] यह विवेचन अनुभूति के विषयगत स्वरूप पर प्रकाश डालता है। अनुभूति के लिए वस्तुगत जगत के साथ ही मनोमय जगत की उपस्थिति भी अपेक्षित है, इसका संकेत किया जा चुका है। लेकिन कलाकार इन्ही दोनों तक सीमित नही रहता। वर्गसा ने इसी का संकेत करते हुए लिखा भी है, 'जिस अनुपात में हम वाह्य आवरण का परित्याग करके मानस की गहराई में उतरते जाते है और यथार्थबोध प्राप्त करते जाते हैं उसी अनुपात में चेतना के स्वरूप आपस में मिलते दृष्टिगोचर होने लगते हैं। इस सम्मिलन में सभी घटको को विशेषतायें विद्यमान रहती हैं।[४२] वस्तुतः ऐसी कलात्मक अनुभूति अन्तःज्ञान और निर्णय प्रधान होने के कारण स्वयमेव व्यापक परिप्रेक्ष्य ग्रहण करती रहती है। इसका प्रमुख कारण यह है कि अनुभूति की स्थिति मे कलाकार का दीप्तिमय चिन्तन (Luminous apprehension) और दीप्तिमय परमानंद (Leminous silent stasis) उसे अखन्ड चेतना की ओर उन्मुख करते रहते हैं। यह तथ्य विशेष रूप से ध्यातव्य है कि अनुभूति को अवस्था में समन्वय और सामंजस्य की क्रिया विविध स्तरों के बीच होकर गुजरती है। प्रथम स्तर पर आन्तरिक उपलब्धि और परिवेशीय परिस्थितियो में सामजस्य स्थापित होता है, तथा द्वितीय स्तर पर 'स्व' की सीमाओं का निरसन और अतिक्रमण होता है और रचनाकार आनंद की ओर उन्मुख होता है। यह आनंद सामंजस्य की आवश्यक शर्त और स्थायी मूल्य का जनक होता है। तृतीय स्तर पर कलाकार की आनंदावस्था और सिसृक्षा के स्पन्दन के बीच सामंजस्य स्थापित किया जाता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि अनुभूति के धरातल पर कलाकार सतत-प्रयोग रत होता है। जिस समय उसका युगबोध जीवन-सत्य को रूपायित करने के लिए मचल उठता है, उसी समय यथार्थ कला की अवतारणा संभव होती है। अनुभूति की अखण्डता यथार्थाश्रित होने के कारण मूल्य की जनक होती है। कलाकार अपनी तकनीक से उसी मूल्य का बोध कराने के लिए प्रयत्नशील रहता है। अनुभूति कलाकार को सत्य से

पलायन नही अपितु बोध और साक्षात्कार की ओर प्रेरित करती है। अनुभूति की क्रिया सत्य के अन्वेषण की क्रिया होती है। इसीलिए कला-प्रसूत-मूल्य विशेष व्यंजक बन जाते हैं। कला की सम्पूर्ण संघटना अनुभूति की आश्रित होती है। यहाँ तक कि बिम्बानयन और सृजन भी केन्द्रीय बोध के साथ ही कुछ अन्य स्वरूपो से संलग्न होते हैं। इनसे अनुभूति अनुशासित और नियंत्रित होती है। 'कला कलाकार की वैयक्तिकता और मानवता की रूपक होती हैं। ये अनुभूति के इन्हीं दोनों श्रोतों की आश्रित हैं, अतएव निरन्तर उन्हीं से संवर्द्धित और परिवर्द्धित होती रहती हैं। यह संगत ऐन्द्रिय उपमानों के माध्यम से आत्मगवेषणा की ओर उन्मुख रहती है। यह यथार्थ में अनात्म तत्वों द्वारा अव्यक्त आत्म स्वरूप के गहनतम स्तरों के निरूपण का प्रतिफलन होती है। कला के इस बिम्ब मे आत्म और अनात्म सहअस्तित्व की स्थिति में रहते हैं। आत्म जगत में लीन हो जाता है पुनः जगत उसी के माध्यम से मुखर ही नही अपितु व्यक्त भी होता है। यह क्रिया कला की रूपकमय संघटना में संपादित होती है। इसमें द्रष्टा और दृश्य एक आदर्शरूपान्तरण के द्वारा अभेद स्थिति को पहुँच जाते हैं। यह अनुरणन और प्रतिध्वनन के साथ ही सीमित आकार में असीम के निहित कर लेने का कारण भी है। जीवन और सहज ज्ञान, प्रक्रिया और कल्पना, ऐतिहासिक सामान्य और विशेष अपनी इयत्ता को कला में समाप्त कर देते है। इसी क्रिया से अनुभूति विचार के रूप में प्रेषित की जाती है।[४३]

अनुभूति के विवेचन मे कई शब्दों का प्रयोग किया जाता है, इनमे कलात्मक (artistic) और लालित्यबोधीय (esthetic) प्रमुख है। इनको लेकर विवाद भी हुआ है। जहाँ तक अनुभूति का प्रश्न है, हम निर्विवाद रूप से कह सकते हैं कि यह परिस्थिति और मानसिक रुझान के अनुसार सभी व्यक्तियों को होती है। लेकिन हर अनुभूति न तो कलात्मक होती है और न उसे इस संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है। कलात्मक अनुभूति सप्राण और दुर्बोध होती है। इसके मूल में कलाकार की संवेदनशीलता का प्रमुख हाथ होता है। कलाकर अपनी अनुभूति को कुछ समय तक बनाए भी रहता है। इसी स्थिति में अनुभूति मे गुणात्मक या परिमाणात्मक परिवर्तन होता रहता है और वह पूर्ण अखण्ड और अन्वित बन जाती है। जान डेवी ने कलात्मक को निर्माण और ललित को बोध और आनन्दोपलब्धि का द्योतक माना है। उन्होंने इन दोनों शब्दों के सम्मिलित प्रभाव को द्योतित करने वाले किसी एक शब्द के अभाव को दुर्भाग्यपूर्ण कहा है। उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि कलात्मक और लालित्यबोधीय अनुभुति के भेद को बहुत दूर तक नहीं घसीटा जा सकता है। वस्तु सत्य यह है कि 'कला' शब्द का प्रयोग इधर अर्थविस्तार का परिचायक बना है। यह निर्माण और सृजन दोनों क्षेत्रों में प्रचलित हुआ है। 'लालित्यबोधीय' का प्रयोग केवल कला के सृजन और आस्वादन के सन्दर्भ में किया गया है। कला-दर्शन मे इसे विशेष मान्यता मिली है, लेकिन

व्यावहारिक आलोचना मे दोनों का प्रयोग समानार्थी रूप में किया गया है। इस तथ्य को स्पष्टतापूर्वक निरूपित करने के लिए हम लालित्यबोधीय अनुभूति के कुछ समीक्षकों का मत उत्धृत करते है। मौनरो सी० बीअर्ड्स्ले ने लालित्यबोधीय अनुभूति की विशेषताओं को विश्लेषित करते हुए लिखा है—[४४]

१—यह तनावों को शमित करके विध्वंसक वृत्तियों को शान्त करती है।
२—यह आत्मा के सामान्य संघर्ष को समाप्त करके समन्वय उत्पन्न करती है।
३—यह बोध और विवेक को परिष्कृत करती है।
४—यह कल्पना को विकसित करती है।
५—यह मानसिक स्वास्थ्य के लिए उपयोगी होती है।
६—इससे पारस्परिक सहानुभूति और समझ की वृद्धि होती है।
७—यह मानव-जीवन के समक्ष एक आदर्श प्रस्तुत करती है।

पेपिटा हेफ्त्राही ने अधोलिखित विशेषताओं को उल्लेखनीय माना है—

(१) संघटन की सहज ज्ञेयता और दीप्तिमयता के कारण लालित्यबोधीय उपादान द्रष्टा में प्रकृति और संसृति के स्वरूपों के अभिज्ञान का भाव उत्पन्न करता है। यह उपादान अंशतः विभ्रमपूर्ण होता है क्योंकि कलाकार केवल उपादान सम्बन्धी बोध को अधिगत करता है। कुछ साहित्यिक-सिद्धान्त कला को प्रकृति का सन्नियमित समायोजन कहते हैं, किन्तु यह दृष्टिकोण त्रुटिपूर्ण है। कलाबोध इससे उत्पन्न अन्य अनुषंगों को ही संश्लेषित करता है।

(२) लालित्यबोधीय अनुभूति की स्थिति मे मानस की क्रिया-प्रतिक्रिया की अन्तःसंघटना के कारण सामंजस्य, पूर्णता और आत्मतोष के भाव का उदय होता है। कुछ साहित्य-सिद्धान्त इस क्रिया में निहित आनंदप्रद स्वरूप को ही कला का उद्देश्य मान लेते है। यह तथ्य अंशतः सत्य है, पर जब कलाकार उपलब्ध सामग्री और नवीन उपलब्ध ज्ञान के सामंजस्य पर बल देने लगता है तो इसमे सामान्य परिवर्तन दृष्टिगोचर होने लगता है। इस स्थल पर दो संभावनाओं का आविर्भाव होता है, या तो कलाकार इस क्रिया से आनंद प्राप्त करके यथार्थ से संघर्ष करने की शक्ति अर्जित करता है या वह अपने को पूर्णतया अपनी लालित्यबोधीय अनुभूति के दिशा-निर्देशक तत्वों के आश्रित छोड़ देता है और इसी अनुभूति में निहित तत्व उसे वह सामंजस्य प्रदान करते है, जिसका जीवन में अभाव होता है।

(३) लालित्यबोधीय अनुभूति मे चिन्तन परक प्रवृत्ति की उपस्थिति के कारण द्रष्टा मुक्ति का अनुभव करता है। वह मुक्ति भी विशिष्ट भोग की जनक बनती है। इसका प्रमुख कारण यह है कि यथार्थ संसृति की अनुभूतियाँ कलात्मक अनुभूतियों में इस प्रकार परिणत कर दी जाती है कि इनकी छाया तो उसमें विद्यमान रहती है पर यथार्थस्वरूप अंशतः विलुप्त हो जाता है। इस परिवर्तन के मूल

में लालित्यबोधीय अनुभूति की नमनीयता विशेष सहयोग प्रदान करती है। जीवन की ही अनुभूति कला की जनक बनती है, पर विधायक कल्पना के द्वारा रूपान्तरित होकर। इस क्रिया में मानस निरन्तर मौलिक अनुभूति से कलात्मक अनुभूति और कलात्मक अनुभूति से मौलिक अनुभूति की ओर प्रत्यावर्तित होता रहता है। इसी के निश्चित बिन्दु पर कलाकार कला से सबंधित नैतिक, व्यावहारिक और बौद्धिक समस्याओं का चयन करता हुआ उन्हें कलात्मक स्वरूप प्रदान करता है।

(४) द्रष्टा और दृश्य के क्षेत्र आरंभ में भिन्न होते हैं। इसीलिए दृश्य तक पहुँचने और उसे अधिगत करने के लिए द्रष्टा अपनी भावनाओं को दृश्य तक पहुँचाता है। यह प्रयत्न सायास होता है, क्योंकि, इसमें यह अभिज्ञान निहित रहता है कि अगर वह दृश्य को हृदयंगम कर लेगा तो उसे आनंद और संतोष की उपलब्धि होगी।

इसमें शक नही कि लालित्यबोधीय अनुभूति की कुछ आवश्यक शर्तें हैं जिन्हें हम अधोलिखित रूप मे प्रस्तुत करते हैं—(१) सुनियोजित, सुसंबद्ध और समन्वित ऐन्द्रिय बोध ही लालित्यबोध का जनक होता है। (२) सम्पर्क की स्थिति में उपादानो से ऐन्द्रिय प्रभावों का प्रवाह सतत् गतिशील रूप में प्रवाहित होता है और हमारे सम्पूर्ण जीवन पर छा जाता है। यह स्थिति कुछ अस्पष्ट, भाव-संकुल और उलझी हुई होती है। इसका प्रमुख कारण यह है कि यह क्रिया मानस में क्रियाशील होती है, अतएव उसमे शारीरिक संवेदन भी क्रियाशील रहते हैं। (३) इस आन्तरिक क्रिया का संयोजन आवश्यक होता। इसी संयोजन से अमूर्त संवेदन मूर्त रूप मे प्रकट हो सकते है। (४)ऐन्द्रिय अनुभूति मे कला की दृष्टि से अनावश्यक अनुभूतियाँ भी निहित रहती है। लालित्यबोधीय अनुभूति को इनसे मुक्त करना आवश्यक है। (५) अस्पष्ट ऐन्द्रिय अनुभूति लालित्यबोधीय अनुभूति की जनक तभी बन सकती है जब हम उन्हे अभिव्यक्ति के धरातल पर पूर्णतया स्पष्ट कर सकें। (६) सृजन मे लालित्यबोधीय अनुभूति को ढालते समय ऐसी भी स्थिति आती है जब कलाकार बाह्य जगत के अन्त: सम्बन्धो के प्रति अन्यमनस्क होकर अपने आन्तरिक जगत के अन्त. सम्बन्धो का ऋणी बन जाता है। इस क्रिया से लालित्यबोधीय अनुभूति सशक्त, सप्राण एवं दीप्तिमय हो जाती है। (७) कलाकार के उपादान को देखने और उससे प्रभाव ग्रहण करने की क्रिया और सामान्य व्यक्ति की उसी क्रिया मे भेद होता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि कलाकार की दृष्टि उपयोगिता और स्वार्थ से ही मुक्त नही होती अपितु चिन्तन एवं चर्वणा प्रधान होती है। (८) इस दृष्टि से लालित्यबोधीय अनुभूति चिन्तन प्रधान होती है। उपर्युक्त विवेचन पर संक्षेप मे विचार करते हुए हम यह कह सकते है कि कलात्मक अनुभूति और लालित्यबोधीय अनुभूति के साम्य-वैषम्य को लेकर बाल की खाल उधेड़ने की आवश्य-

कता नहीं। कुछ अपवादों के साथ कलात्मक अनुभूति को लालित्यबोधीय अनुभूति का पर्याय मानना ही उचित है।

हमने अनुभूति के मनोमय स्वरूप का उल्लेख करते हुए आरम्भ में उसकी कुछ अन्य विशेषताओं का उल्लेख किया था। 'तुलसीदास' और 'राम की शक्ति पूजा' में कवि की अनुभूति के कुछ अन्य सोपानो का विकास भी हुआ था। अतएव उनको समझने की दृष्टि से यह उपर्युक्त विवेचन आवश्यक ही नही अपेक्षित भी था। जार्ज हवैले ने ठीक कहा है, 'आर्टिस्ट्स रियलिटी इज़ यूनिवर्स आव फीलिंग'।[४६] तात्पर्य यह कि कलाकार का यथार्थ उसकी अनुभूति का जगत है। इसे वह प्रेम और सहानुभूति से प्राप्त करता है, उस प्रेम से जो विश्व के अणु-अणु को स्पन्दित कर रहा है। लेकिन हमारी आँख पर भौतिकता का ऐसा मोटा परदा पड़ा हुआ है कि हम उस तक पहुँच नहीं पाते। रचनाकार उस तक पहुँचता है, उसका साक्षात्कार करता है, उसके सहज स्वाभाविक स्वरूप से प्रभावित होता है। इस प्रभाव से उसमें ध्यानपूर्ण चिन्तन की विशिष्ट स्थितियाँ उत्पन्न हो जाती है। इसी के प्रकाश में वह अपनी अनुभूति को संश्लेषित करता है। ये अनुभूतियाँ अपने यथार्थ स्वरूप में सत्य के वृहत्तर स्वरूप की परिचायक बन जाती हैं। 'तुलसीदास' और 'राम की शक्ति पूजा' ऐसी ही रचनायें है। डब्लू० बी० यीट्स के शब्दों में कवि अपने को पुनर्रचित करता है।[४७] इन कविताओं मे कवि ने अपने को पुनर्रचित किया है। ये उसके पैराडीग्मेटिक एक्सपीरिएंस[४८] (Paradelgmatic experience) की प्रति फलन हैं। यह अनुभूति, विविध बोध, सघन अनुभूति और मूल्य चेतना की विशिष्टताओं से अलंकृत ज्ञान के स्वरूप की पर्याय होती है। इस ज्ञान का प्रमुख उद्देश्य भौतिक शक्ति को अर्जित करना नही, अपितु, उस आध्यात्मिक बोध को प्राप्त करना है, जिससे सृष्टि के समक्ष उसकी मुक्ति का मार्ग प्रस्तुत हो सके और जड़-चेतन एक आकर्षण से बँधकर उस मुक्ति के साधन बन सकें। निराला ने इसका अनेक बार उल्लेख किया है।

बन्दी गृह वरण किया, जनता के हृदय जिया।
बहिर्जगत के निर्मम हरने के लिए नियम
साधन कितना उत्तम किया, जला दिया।
उसका निर्मल प्रकाश करता है तिमिर नाश,
नारीनर ने सहास ज्योतिर्मय अमृत पिया।
गीत से ध्वनित अन्तर, फैला फेनिल कल स्वर,
सत्य का तरंग मुखर रहा सुघर वही जिया।
प्राणों मे परम स्पन्द, भाषा मे सुषम छन्द,
भरा चरण गमन मन्द जीवन विष विषम पिया[४९]।

अथवा

बाहर मैं कर दिया गया हूँ। भीतर, पर भर दिया गया हूँ।

....

भीतर, बाहर, बाहर भीतर; देखा जब से हुआ अनश्वर
माया का साधन यह सस्वर; ऐसे ही घर दिया गया हूँ [४०]।

निराला ने 'जनता के हृदय' जीने के लिए कम त्याग नहीं किया है। अपने सारे जीवन को बन्दी गृह बना रखा है। बहिर्जगत के निर्मम नियमों को समाप्त करने के लिए उन्होंने तप किया है, उससे ज्ञान का दिया जला है। चारों ओर ज्ञान का प्रकाश फैल रहा है। निराला को भी जीवन में ज्ञान मिला है। अन्य लोग भी उससे लाभान्वित हुए हैं। उससे प्राण पुलकित हो उठे हैं, भाषा में भी विचित्र रचना कौशल आ गया है। वे जीवन में जितना अधिक तिरस्कृत हुए है, उनका अन्तःकरण भावों से उतना ही अधिक भर उठा है। उनके लिए बाह्य और आभ्यन्तर का भेद मिट गया है। वे एक अद्भुत स्थिति में पहुँच गए हैं। चिन्तन के अनुभूतिमय आवर्त में घूमते-घूमते उनके भाव अब निश्चित संघटना स्वीकार कर चुके है। इसी संघटना को 'पैराडाइम' कहा गया है। 'तुलसीदास' मे आरम्भ में ही भारत के नभ को प्रकाश पूर्ण शीतल छाया प्रदान करने वाली संस्कृति का सूर्य अस्ताचलगामी हो चुका है और सारे वातावरण मे अन्धकार व्याप्त हो गया है[४१]। वैसे ही जैसे निराला के जीवन मे आशारूपी सूर्य को डूबने से अन्धकार छा गया है। निराला के राम और तुलसी भी इस अन्धकार से मुक्त नही हैं। निराला ने तुलसीदास में उसकी विभीषिका का अनेक बार दर्शन किया है।

उस मानस उर्ध्वदेश मे भी
ज्यों राहुग्रस्त आभा रवि की
देखी कवि ने छवि-छाया सी, भरत-सी–
भारत का सम्यक् देशकाल
खिचता, 'जैसे तम शेष जाल,
खींचती वृहत से अन्तराल करती सी।

× × × ×

'राम की शक्ति पूजा' में भी अन्धकार है
'है अमानिशा' उगलता गगन घन अंधकार [४२]।

यहाँ अन्धकार अपने चरम विकास स्थिति मे है। उससे दिशाहीनता उत्पन्न हो गई है। वेगवान् पवन भी रुक गया है। यही अन्धकार निराला के लिए कारावास है। इससे मुक्त होना है। पर मुक्ति का साधन तो साधना में निहित है, काव्य-साधना में और जीवन साधना में। 'राम की शक्ति पूजा' की तरह तुलसीदास मे भी 'स्मृति

की पृथ्वी दलित चरण' हो रही है। मुक्ति तो शक्ति को मौलिक कल्पना से ही संभव हो सकती है। उद्देश्य स्पष्ट है :—

'करना होगा यह तिमिर पार—
देखना सत्य का मिहिर द्वार—
बहना जीवन के प्रखर धार के दुस्तर—
लड़ना विरोध से द्वन्द्व समर
रह सत्यमार्ग पर स्थिर निर्भर—
जाना-भिन्न भी देह, निज घर निःसंशय।[५२]

मुक्ति का मतलब अन्धकार से मुक्ति है, अज्ञान से मुक्ति है, संस्कृति के उस हिमबिन्दु से मुक्ति है जिसने अपनी पत्थर सी कारा में गंगा को यशस्विनी, लोक-मंगल कारिणी जल धारा को अवरुद्ध कर रखा है। सत्य का द्वार ज्ञान का द्वार है, प्रकाश का द्वार है, संस्कृति की लोकोन्मुख चेतना का द्वार है। निराला के शब्दों में वह 'प्राची दिगन्त-उर में पुष्कल रवि रेखा' का परिचायक है। इसे तो सत्य के मार्ग का अवलंबन करते हुए द्वन्द्व पूर्ण समर से ही प्राप्त किया जा सकता है। 'ज्ञानोद्धत प्रहार' के द्वारा ही उस 'ब्रज द्वार' को तोड़ा जा सकता है। उसी के टूटने पर भारत का अपार भ्रम समाप्त हो सकता है। मैं कह चुका हूँ निराला चिन्तन के ही कवि नहीं है, अनुभूति को आँख मिचौनी से संतुष्ट रह कर 'फान्तसी' में लिप्त रहने वाले कवि नहीं है, ओज और पौरुष के कवि हैं, उद्बोधन और कर्म के कवि है। अन्याय के साथ शक्ति को देखकर हाथ पर हाथ रखकर चुप रहने वाले कवि नहीं हैं। नवीन शक्ति की कल्पना करने वाले और अपने साधन से उसे चरितार्थ करने वाले कवि हैं। उनका सारा जीवन उसी एकोन्मुख उद्देश्य के प्रति समर्पित है। वे तो एक बार लोगों को जगा भर देना चाहते है। पर सोए हुए लोग तो जग जाते हैं, जानबूझ कर तन्द्रा में पड़े हुए लोगों को जगाना कठिन होता है। निराला उससे भी हार मानने वाले नहीं हैं— वे बराबर यही कहते हैं—

'लो चढ़ा तार-लो चढ़ा तार,
पाषाण खण्ड ये करो हार,
दे स्पर्श अहल्योद्धार-सार उस जग का;[५३]

'तोड़ती पत्थर' की ही ध्वनि यहाँ अधिक मुखर और उदात्त बन गई है। वहाँ हाथ में वजनी हथौड़ा है, वह बार-बार प्रहार करती है। उसके सामने ही वृक्ष है, बड़े-बड़े भवन है, रंगमहल हैं।[५४] उस गरीब को हथौड़े की चोट कहाँ हो रही है आप स्वयं समझ सकते हैं। पत्थर तोड़ने वाली के नेत्र झुके हैं। वह अपने प्रिय कर्म में रत है। लेकिन वहाँ भी निराला का 'पाषाण खण्ड ये करो हार' की प्रतिध्वनि सुनाई देती है—

सजा सहज सितार,
सुनी मैंने वह नहीं जो थी सुनी झंकार।
एक क्षण के बाद वह काँपी सुघर,
ढुलक माथे से गिरे सीकर,
लीन होते कर्म में फिर ज्यों कहा मैं तोड़ती पत्थर।'[५५]

'वह तोड़ती' पत्थर और 'मै तोडती पत्थर' के द्वारा निराला ने अन्यपुरुष एक वचन की अनुभूति को एक झटके मे उत्तम पुरुष एक वचन की अनुभूति में बदल दिया है। सारी कविता पत्थर तोडने वालो की अभिषप्त वेदना से आलोकित हो उठी है। मैं इसका संकेत कर चुका हूँ कि कारावास मे होने और जड़ता के साथ संघर्ष करने की चेतना को निराला ने अनेक बार मुखर किया है। यह सभी महान् कवियों की नियति रही है। रचना के धरातल पर तो यह क्रिया आत्मसंघर्ष की परिचायक है, पर जीवन के धरातल पर जड़ता से संघर्ष की परिचायक। 'मैं तोड़ती पत्थर' से झलकती विवशता को तुलसीदास मे एक गन्तव्य प्राप्त हुआ है। ज्ञान का स्पर्श पाकर जड़ भी चेतन बन जाता है। ज्ञान के ही स्पर्श से अहल्या की अभिशाप-जनित-जड़ता समाप्त हुयी है। उसी ज्ञान से अन्धकार का नाश भी हो सकता है। लेकिन वह ज्ञान तो तब मिलेगा जब हम राम बने और शक्ति संयुक्त होकर जड़ता से संघर्ष करने के लिए बद्ध परिकर हो। इस संघर्ष के लिए कवि अपनी अनुभूति की रचनाशील विशेषताओ पर निर्भर रहता है। रचनाकार के राम बनने का यही रहस्य है। निराला मे वे विशेषताये हैं उनका सम्पूर्ण व्यक्तित्व एक अंगारे पर रखे बरफ के पिण्ड की तरह पिघलता जाता है, अनुभूति स्वयमेव प्रवाहित होती रहती है—कविता उसी प्रवाह के साथ निर्मित हो जाती है। राम के बनने की प्रक्रिया भी कुछ इसी तरह की है। जब व्यक्तित्व के कल्मष धुल जाते है तो हम राम बन जाते है। निराला ने अपनी रचनाशीलता मे अनुभूति के इस कल्मष को धोया है और निष्कलुष मन से इस तथ्य को हृदयंगम किया है—

'इस अनिल वाह के पार प्रखर
किरणों का वह ज्योतिर्मय घर
रविकुल-जीवन-गुंजनकर मानस-धन जो'।[५६]

जो सत्य है वह इस दृश्य-जगत की अन्याय की सीमा के परे है। उसे प्राप्त करने के लिए इसका भेदन अपेक्षित है। कवि ज्यों उसके लिए तत्पर होता है, कुछ समय के लिए अपनी अन्तः सत्ता के सम्पर्क मे चला जाता है;

जिस कलिका मे कवि रहा बन्द
वह आज उसी मे खुली मन्द
भारती रूप मे गुम्फित छन्द निष्प्रश्रय'।[५७]

यह संप्रज्ञात समाधि की अद्भुत स्थिति का वर्णन है। निराला के चर्म-चक्षु बन्द हैं, लेकिन उनके ज्ञान के नेत्र खुल गए हैं। कवि अपने में वैसे ही आत्मस्थलीन है जैसे कली में सौरभ लीन होता है। बहिर्मुखी होने पर वे ससीम थे। पर आज उनके प्राण अपनी अनन्त सत्ता में अपने को खोकर उसकी असीमता से परिचित हो चुके हैं। आज हृदय की कली खिल गई है। कवि की बृहत्तर चेतना उससे मुक्त होकर इस भूमिका में आ चुकी है जिससे सरस्वती मुक्त रूप में उसमें अपनी शक्ति प्रदर्शित कर सकती हैं। देहात्मबोध होने पर भी वह शक्ति अप्रतिहत गति से क्रियाशील हो उठती है। जिस तरह गन्ध की धार अविकसित पुष्प की पंखुड़ियों को खोलकर स्वयं मुक्त होकर प्रवाहित हो उठती है उसी तरह कवि की अनुभूतिमय-प्रज्ञा-प्रधान-चेतना निर्बन्ध-भाव से प्रवाहित हो उठी है। फिर तो दृश्य ही बदल जाता है;

'बाजी बहती लहरें कल-कल
जागे भावाकुल शब्दोच्छल,
गूँजा जग का कानन मण्डल पर्वत तल।
सूना उर ऋषियों का ऊना
सुनता स्वर हो हर्षित दूना,
आसुर भावों से जो भूना था निश्चल।[५८]

कवि की रचनाशीलता यहाँ उन्मुक्त हो उठती है। 'भावकुल शब्दोच्छल' जग जाते है और उनसे प्रकृति अनुरणित हो उठती है। अन्धकार समाप्त हो जाता है। ज्ञान का प्रकाश फैलने लगता है। चतुर्दिक ज्योतिर्मय प्रपात झर रहा हैं। कवि नव-चेतना से समृद्ध है। भारती भी उसका साथ दे रही है। अतएव अब यह निश्चित है कि कवि का जड़ जगत से जो संघर्ष होगा, वह निर्णायक होगा। कवि अपनी शक्ति से नवजीवन संचार करने मे सफल होगा। उसकी कला जीवन को जोड़ने में समर्थ होगी। देशकाल की विषमता से पीड़ित होने के पश्चात इस नवीन बोध के पैदा होने पर कवि 'अशेष छविधर' के रूप में पूर्ण जाग्रत हो चुका है। इसी के स्वर को अपने में भर कर भारती मुखर होगी। छल-छद्म और विद्वेष का वातावरण मिट जायगा। संसार की वीणा पर नए ज्ञान के प्रकाश की धार पड़ रही है। उससे नया स्वर निकल रहा है। उस स्वर को अपने में भरकर कवि नए विश्वव्यापी राग को छेड़ेगा। वह अपने प्राणों की साधना में लीन है। उसे उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं दिखाई दे रहा है। उसे जो भी प्राप्त हुआ है उसी में तन्मय होकर वह जीवन भर बहने का व्रत लेता है। कवि की प्रियतमा की मूर्ति विश्वविधायक सरस्वती के बाद लक्ष्मी के रूप में बदल जाती है और उसका प्रकाश सूर्य की तरह प्राची से फूट पड़ता है। इसके परिणाम स्वरूप अन्धकार का नाश हो जाता है। कवि अब तिमिर को पार कर जाता है।

आरम्भ के एकादश पद तक निराला ने सांस्कृतिक परामव की बात की है, पर उसके बाद उन्होंने तुलसीदास के माध्यम से अपनी बात को आगे बढ़ाने का प्रयत्न किया है। पर कविता के तुलसीदास निराला स्वयं हैं। अगर इस अभेद स्थिति को स्वीकार किया जाय तो हम स्पष्ट रूप से यह प्रतिपादित कर सकते हैं कि 'तुलसीदास' में कवि ने अनुभूति के आध्यात्मिक अभियान का समाकलन प्रस्तुत किया है। पूरी कविता में भाव-धरातल के तीन स्तर हैं जो मनुष्य के गुणों के तीन स्वरूपों के परिचायक हैं। आरंभिक स्थिति व्यक्ति नही राष्ट्र की तमोगुणी स्थिति की परिचायक है। तुलसीदास और उनकी प्रेयसी का प्रसंग रजोगुणी स्थिति का द्योतक है पर 'जागा-जागा संस्कार प्रबल, रे गया काम वह तत्क्षण जल' से सतोगुणी स्वरूप का अभिनिवेश आरम्भ हो जाता है जो अन्त तक चलता है। द्वितीय स्थिति ही मनोमय जीवन की क्रियाशीलता की परिचायक है और उसमे जीवनानुभूति के कई आरोह-अवरोह भी आए हैं। 'रत्नावली प्रसंग' से कवि तुलसी के जीवन की महत्वपूर्ण कथा का संकेत करता है। कवि ने तुलसी की मनः स्थिति के साथ ही प्रकारान्तर से अपनी मनः स्थिति का बड़ा स्पष्ट संकेत किया है;

बंध क बिना कहाँ प्रगति ?
गतिहीन जीव को कहाँ सुरति ?
रति रहित कहाँ सुख केवल क्षति—केवल क्षति।[५८]

'सरोजस्मृति' मे केवल निराला बोलते है। 'राम की शक्ति पूजा' में निराला और राम दोनो बोलते है, पर तुलसीदास मे कवि तुलसीदास के माध्यम से निराला स्वतः मुखर हैं। तुलसीदास तो पत्नी से त्यक्त होकर उदात्त चेतना के स्तर पर पहुँचते हैं, पर निराला पत्नी से शाश्वत वियोग के कारण उसी चेतना को हृदयंगम करते है। प्रथम में पत्नी ज्ञान के नेत्र खोलने का कार्य करती है, दूसरे मे अव्यक्त शृंगार के रूप में वही कवि पर हावी हो जाती है, उसकी व्यथा, करुणा और मांसल विवृति कवि मे बार-बार होती रहती है। सरोजस्मृति मे कवि ने इसका संकेत किया है—

'शृंगार रहा जो निराकार,
रस कविता में उच्छ्वसित धार
गाया स्वर्गीया-प्रिया-संग
भरता प्राणों मे राग रंग
रति रूप प्राप्त कर रहा वही
आकाश बदल कर बना रही।[५९]

'प्रिया से' कविता मे भी यही भाव व्यक्त हुआ है। कवि ने वहाँ अपनी प्रियतमा को ही कविता कहा है और उसे प्रेरणा के रूप में ग्रहण किया है। कविता के अन्त में उसने स्पष्ट रूप से इसका संकेत किया है—

'मेरे कवि ने देखे तेरे स्वप्न सदा अविकार
नहीं जानती क्यों तू इतना करती मुझको प्यार
तेरे सहज रूप से रंग कर
झरे गान के मेरे निर्झर
भरे अखिल सर
स्वर से मेरे सिक्त हुआ संसार'।[६१अ]

इस शृंगार के 'प्राणों में राग-रंग भरने का' उसके सहज रूप से रंग कर गान झरने का, बड़ा उज्ज्वल, मादक, मनोहारी और दिव्य पक्ष 'तुलसीदास' में उपस्थित है। कवि ने मुगल संस्कृति से व्याप्त भौतिकता के चित्रण के संदर्भ में जो कुछ कहा है, वह कहीं न कहीं उसकी अव्यक्त शृंगार-प्रियता का ही परिचायक है। वह जब उसके प्रबल वेग को नही झेल पाता है तो उसके रोम-रोम से फूट-फूट कर वही भावना बह चलती है,

'अब स्मर के शर-केशर से झर
रंगती रज पृथ्वी अम्बर,
छाया उससे प्रतिमानस-शर शोभाकर;
छिप रहे उसी से वे प्रियतम
छवि के निश्छल देवता परम
जागरणोपम यह सुप्ति-विरम भ्रम-भ्रम भर।[६१ब]

कवि ने इसी छन्द के बाद मन की उर्ध्वगति का बड़ा सटीक और मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है। कवि उर्ध्वगमन की क्रिया के मध्य होकर गुजरता है। उसके संस्कार एक-एक करके उभड़ते जाते हैं वैसे ही जैसे मनोमय कोष के साधक के समक्ष चित्र की लड़ी के रूप मे संस्कार उभड़ते, उपस्थित होते और पुनः उदात्त और परिष्कृत होते रहते हैं। कवि ने बड़े ही तन्मयपूर्ण ढंग से इसका चित्रण किया है।

'वह उस शाखा का बन बिहंग
उड़ गया मुक्त नभ निस्तरंग
छोड़ता रंग पर रंग-रंग पर जीवन'।[६२]

साधक भी संस्कारों के केचुल को छोडकर विज्ञानमय स्थिति को पहुँचता है, निराला भी संस्कारों के रंग को छोड़कर उदात्त जीवन के निकट पहुँचना चाहते हैं। इस क्रिया में उनका मन नभ की सीमा को पार कर जाता है। लेकिन अभी तक मनोमय जीवन के संजोए सपनों का अन्त नही हो पाया है अतएव उन्हें 'सजता सुवेश, फिर-फिर सुवेश जीवन पर' की अनुभूति होती है। मन सजधज और संवर कर अपने नूतन परिवेश में कवि के समक्ष उपस्थित होता है। उसकी लहरें मानस पर छा जाती हैं, संध्या की ज्योति की तरह वे मानस के कोने-कोने को अपनी

गामा से प्रदीप्त बना देती हैं। यह यात्रा कवि के हृदयाकाश की यात्रा की परिचायक बन जाती है यहाँ कवि की रचना 'अपराजिता' की पंक्तियाँ स्वयं हृदय में कौंधने लगती हैं—

'हारी नहीं देख आँखें—
परी नागरी की :
नभ कर गई पार पाखें
परी नागरी की।'[६३]

यह कवि के आन्तरिक अभियान का परिचायक है। इस अभियान में जो चित्र स्वत: उसके समक्ष प्रस्तुत होते हैं, उसका अवचेतन वलयित होकर जिस रूप में उसके समक्ष उपस्थित होता है, उसकी दीप्ति से पूरी कविता रंग उठी है। भारत की दुर्दशा का चित्र, शोषण और वर्ण-व्यवस्था के विघटन का चित्र अपने रंगों से भर कर कवि के समक्ष उपस्थित होता है और वह उनको सहज ढंग से प्रस्तुत कर देता है। कवि बद्ध परिकर होकर उससे संघर्षरत होने के लिए तैयार होता है। लेकिन उसी समय वामा की मूर्ति उसके समक्ष उपस्थित होकर उसे अपने स्वरूप के आकर्षक पाश से आबद्ध कर लेती है। वह उसी मे रम जाता है। इससे दुहरे संकेत मिलते है। कवि का उर्ध्व अभियान ही अवरुद्ध नही हो जाता अपितु उसकी रचनात्मक अनुभूति भी चक्रिल हो उठती है। पूरी प्रकृति प्रिया के रंग मे रंग उठी हैं। प्रिया ही सृष्टि का रहस्य बनकर कवि के समक्ष उपस्थित हुई है, उसकी चेतना इससे मुक्ति के लिए छटपटा उठती है। वे रत्नावली का पीछा करते हुए उसके नैहर तक पहुँच जाते हैं। रत्नावली ही कवि की गुरु बन जाती है। वह उसे रचना के सर्वोच्च धरातल पर प्रतिष्ठित करने का कार्य संपादित करती है। 'जागा जागा संस्कार प्रबल' के द्वारा इसी का संकेत किया गया है। इस तरह हम देखते हैं अन्धकार, अर्थात् सांस्कृतिक अध:पतन से जो कविता शुरू होती है, वह देश और कवि-जीवन की अनेक भाव-भूमियों का स्पर्श करती हुई कवि की ही उक्ति को चरितार्थ करने का साधन बन जाती है। उक्ति है, 'और भी फलित होगी वह छवि, जागे जीवन-जीवन का कवि।'[६४] इस कविता में कवि के रचनात्मक संघर्ष का स्वरूप भी मुखरित है। कवि की अन्त:दीप्ति के स्थल अनेक बार आए है। रचना के उर्ध्व अभियान का चित्र भी उपस्थित है। उसके व्यवधानो का संकेत किया गया है। इस तरह यह कवि की अनुभूति की रचना-प्रक्रिया की परिचायक है। इन्हें कविता के उदाहरणों द्वारा स्पष्टता से समझा जा सकता है। अन्त:दीप्ति के अनेक स्तरो को 'देखा शारदा नीलवसना' के बाद के पदो मे प्रस्तुत किया गया है। भाव-संदर्भित क्षेत्र आपस मे मिलते जाते हैं, छन कर प्रौढ़ विचार कवि के मानस में तिरने लगते हैं। वह एक के बाद एक उन्हें अमूल्य निधि के रूप मे कविता मे संजोता जाता है।

रचना की मानसिकता और भावभूमि का स्पष्ट करने के लिए कवि ने तुलसीदास का स्वरूप आरम्भ में ही निरूपित कर दिया है—

युवको में प्रमुख रत्न चेतन
समधीत-शास्त्र-काव्यालोचन
जो तुलसीदास वही ब्राह्मण कुल दीपक,
आयत-दृग पुष्ट-देह गत-भय
अपने प्रकाश में निःसंशय
प्रतिभा का मन्दस्मित परिचय, संस्मारक।[६५]

विशेषणों का प्रयोग सार्थक है। 'रत्नचेतन', 'समधीत-शास्त्र-काव्यालोचन', 'ब्राह्मण-कुल-दीपक', 'गत-भय', 'अपने प्रकाश में निःसंशय', 'प्रतिभा का मन्दस्मित परिचय', 'संस्मारक' आदि के द्वारा रचना प्रक्रिया में प्रयुक्त मेधा, भाव और रचना शक्ति का उल्लेख किया गया है। इनके द्वारा कवि के अन्तर्निहित औदात्य और क्षमता पर प्रकाश डाला गया है। कवि को अन्धकार से संघर्ष करना है, अतएव उसे 'अपने प्रकाश में निःसंशय' कहा गया है। प्रतिभा का विकास स्तरों में होना है अतएव उसे 'मन्द-स्मित-परिचय' के द्वारा द्योतित किया गया है। सारांश यह कि यह पद बीज रूप मे उन सारी विशेषताओं को अधीत किए हुए हैं जिनका विकास 'तुलसीदास' में हुआ है। यह पद स्वयं मे कवि की रचनात्मक अन्तर्दृष्टि का पुंजीभूत रूप है। कुछ पदों में निराला ने अनुभूति के रहस्यमय स्वरूप और भाव के मनोमोहक पर अस्पष्ट स्वरूप का उल्लेख किया है।

वह भाषा-छिपती छवि सुन्दर
कुछ खुलती आभा मे रंगकर
वह भाव कुतल-कुहरे-सा भर कर भाया।[६६]

कवि ने भाव के विस्तार की उस क्रिया पर भी प्रकाश डाला है जिसके साथ कवि के मानस का स्वतः विस्तार होता जाता है और चेतना के अनेक स्तर स्वयमेव खुलते चले जाते हैं—

'ये जिस कर के रे झंकृत स्वर
गूँजते हुए इतने सुखकर
खुलते खोलते प्राण के स्वर भर जाते।
व्याकुल आलिंगन को दुस्तर,
रागिनी की लहर गिरि-बन-सर
तरती, ज्यो ध्वनित, भाव सुन्दर कहलाते।[६७]

इस विवेचन क्रम का चरम विकास 'जागा अशेष छविधर' में आकर अपनी पूर्णता को प्राप्त होता है। वहाँ कवि की अनुभूति विश्वजनीन बन गई है। उसके पूर्व सरस्वती ने कवि को 'भाव और पुराने नए रसस्राव' को प्रदान किया था। पर अब

कवि इतना व्यापक और पूर्ण बन गया है कि उसी के स्वर को अपने में भरकर 'भारती मुखर होवेगी' की स्थिति आ गई है। रचना की स्थिति में 'स्व' की सीमाओं के क्रमशः विघटन के द्वारा परात्पर सत्य के साक्षात्कार का यह अद्भुत उदाहरण है जो निराला के पूर्व के किसी कवि में इतनी विराट परिणति के साथ नहीं दृष्टिगोचर होता। क्या यहाँ कवि 'परिभू' और 'स्वयंभू' नहीं है? क्या वह अपने काव्य का प्रजापति नहीं बन गया है? पाठक स्वतः इसपर विचार करें। यहाँ स्पष्ट है कि कवि उस मानसिक भूमिका में उतर आया है जहाँ वह कविता की रचना नहीं कर रहा है, अपितु कविता ही कवि को रच रही है। यहाँ तो निराला के ही शब्दों मे 'टूटें सकल बंध कलिके दिशा ज्ञान गत हो बहे गन्ध' की स्थिति है। यही आकर उनके काव्य के लिए यह पंक्ति चरितार्थ होती है, 'तुम्हीं गाती हो अपना गान, व्यर्थ में पाता हूँ सम्मान।' 'कामायनी' के चिन्तासर्ग में प्रसाद ने उसके स्वरूप को निरूपित किया है। उनकी मनोवैज्ञानिक दृष्टि काव्यात्मक तो अवश्य बनी है लेकिन वह अपने उत्कर्ष तक पहुँचते-पहुँचते अधिक वायवी और निराकार बन गई है। निराला उस त्रुटि से सर्वथा मुक्त है।

अनुभूति का प्रवाह सर्वत्र समान नहीं है, चित्रकूट के वर्णन में दर्शनीय स्थानों का वर्णन और पत्नी को मायके जाने के दो तीन छन्द शिथिल हैं। वे न भी होते तो काव्य का कोई अहित न होता। उर्ध्वगमन की प्रक्रिया कई बार सामने आती है। कम-से-कम तीन बार तो अवश्य। इससे रचना की अनुभूति के अवरुद्ध हो जाने का संकेत मिलता है। लेकिन अन्त तक कवि अपने उद्देश्य में सफल हो जाता है।

लम्बी कविताओं मे 'राम की शक्ति पूजा' का स्थान विशेष महत्वपूर्ण है। इसमे अनुभूति के कई रंगो की छटा स्वयमेव विद्यमान है। चेतना के धरातल पर 'सरोज स्मृति' 'तुलसीदास' और 'राम की शक्ति पूजा' में साम्य है। संघर्ष सर्वत्र विद्यमान है। 'सरोज स्मृति' का संघर्ष वैयक्तिक होते हुए भी, कवि के पराजय-बोध का परिचायक होते हुए भी, वैयक्तिकता को यथास्थान अतिक्रमित करता दृष्टि-गोचर होता है। 'तुलसीदास' मे वही संघर्ष, जड़-चेतन का संघर्ष या यों कहें कि अज्ञान तथा ज्ञान, अथवा प्रकाश और अन्धकार का संघर्ष बन जाता है। 'राम की शक्ति पूजा' में संघर्ष है। डॉ० रामविलास शर्मा के शब्दों में, 'राम की शक्ति पूजा' में निराला ने उस दूसरे मन को पहचाना है····निराला अब उस मनःस्थिति में हैं, जहाँ तीव्र आवेग-उत्तेजक पदार्थों, आवेग उत्पन्न करने वाली परिस्थितियो से अलग होकर—नए बिम्बो मे परिवर्तित हो जाते हैं। जैसे सविकल्प समाधि में योगी को तरह-तरह के मधुर स्वर सुनाई देते हैं, तरह-तरह के फूलों की खुशबू उसके मन पर छा जाती है, वैसे ही निराला का मन वेदना के तीव्र आघात सहता हुआ तरह-तरह

के स्वर सुनता है, तरह-तरह के दृश्य देखता है।[६८] शर्मा जी को निराला के मन को विभाजित करने की आवश्यकता पड़ी है। वस्तुतः मन की बात न करके चेतनामय अनुभूति के धरातल की बात की गई होती, 'पैराडीग्मेटिक एक्सपीरिएन्स' की बात अगर की गई होती तो शायद परेशानी न उत्पन्न होती। सविकल्प समाधि और सृजन के सम्बन्ध पर हमने पूर्व पृष्ठों में प्रकाश डाला है। 'तुलसीदास' के विवेचन के अंतिम अंश मे इसका उल्लेख किया गया है। दीपिमय अनुभूति के कुछ स्वरूपों को 'सरोजस्मृति' में देखा गया है। उनकी छोटी कवितायें भी इस विशेषता से मंडित हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि निराला के समूचे व्यक्तित्व मे कोई न कोई ऐसी विशेषता विद्यमान है जिससे वे एक झटके मे लोक से लोकोत्तर के अभियान मे सफल हो जाते है, बूंद से ही समुद्र का संकेत कर देते है, अथवा ससीम मे ही असीम अनुभूति के सारतत्व को संजो देते है। प्रश्न उठता है कि वह क्या ? इसे हम उनकी अन्तर्निहित ऊर्जा, ओज या औदात्य की संज्ञा दे सकते है। प्रथम चरण की रचनाओ मे यह विशेषता अपने सहज-प्रांजल स्वरूप में उपस्थित है, द्वितीय और तृतीय चरण मे यही रूपान्तरित होकर अन्य स्वरूपो मे हमारे समक्ष प्रस्तुत होती है। औदात्य, उसके रूपान्तरण और रचना के उससे सम्बन्ध पर बहुत कम प्रकाश डाला गया है। डॉ० शर्मा ने लिखा है, 'जो उदात्त है, ओजपूर्ण और अलंकृत है वह प्रथम चरण की रचना है।'[६९] मेरिने मूर ने लिखा है, रचना केवल कला नहीं है, बल्कि व्यवसाय भी है जिसमें अनुभूति द्वारा प्रमाणित सिद्धान्त निहित होते हैं। हमे यह नही भूलना है कि यह रचनाकार को समझने का प्रमुख माध्यम होती है।[७०] रचनाकार की रचना-प्रक्रिया को ध्यान मे रखकर उन्होने इस तथ्य को उद्घृत किया है, 'कवि या रचनाकार अपने आत्मस्वरूप को उस समय न तो पूर्णता से अधिगत कर सकता है और न समझ सकता है, जब वह उसके लिए चेतन है।'[७१] जान क्रो रैन्समर ने भी लिखा है, 'अधिकांश काव्य-रचना ऐसी होती है जो कवि के मानस मे किसी मान्यता के बीज रूप मे उपस्थिति और उसके विकास को लेकर सामने आती है, पर देखने मे आता है कि उसमें चरित्र और परिस्थिति मान्यता विशेष से अधिक तीव्र गति के साथ स्वयमेव विकसित होते दिखाई देते हैं। या तो कविता मे मान्यता अदृश्य हो जाती है या सम्पूर्ण रचना के कुछ स्थलो पर केवल उसकी छाया उपस्थित रहती है।[७२] ऊपर कुछ उद्धरण प्रस्तुत किए गए है। पहली बात तो यह है कि निराला के जीवन मे प्रथम काल की रचनाओं मे औदात्य है। दूसरी बात यह कि इस औदात्य का अनुभूति से अविच्छेद्य सम्बन्ध है। तीसरी बात यह कि रचनाकार को उसे प्राप्त करते समय चेतन कार्य व्यापार को निलंबित रखना पड़ता है। अन्तिम बात यह है कि रचना के आरम्भ मे मान्यता-विशेष प्रेरणा के रूप मे उपस्थित हो सकती है, पर उसके विकास के साथ मान्यता गौण हो जाती है और सृजन का स्वत.स्फूर्त स्वरूप

प्रमुख। 'राम की शक्ति पूजा'* को समझने की दृष्टि से ये उपर्युक्त विचार महत्व-पूर्ण हैं। इसमे कोई शक नहीं कि रचना के पूर्व कवि के मानस में मान्यता और विचार स्फुरित होते है लेकिन रचना के दौरान वे सभी परिवर्तित हो जाते है। सम्पूर्ण 'राम की शक्ति पूजा' अनुभूति के अजस्र स्रोत के कई दीप्तिमय स्वरूपों की सहज अभिव्यक्ति है। इस प्रकार के काव्य के सहजवेग मे पूर्वनिर्मित संवित् ही रचनाकाल में निर्मित अनुभूति-संघटना मे तिरकर अभिनव रूप में मानस में अव-तरित हुए हैं और कवि ने उन्हें समाकलित कर दिया है। इसकी अन्विति का प्रमुख कारण कवि के मानस की अन्तर्निहित ऊर्जा, उसका दुर्निवार वेग, आत्मोन्नयन की क्षमता, असाधारण भाव और कल्पना प्रवणता, अनन्तविस्तार, अलौकिक ऐश्वर्य, अनन्त प्रभावोत्पादकता तथा विस्मय-विमुग्ध करके अभिभूत कर लेने की क्षमता होती है। ये उपर्युक्त विशेषतायें औदात्य की जनक ही नही उसकी उपस्कारक भी होती हैं। उदात्त मे मूल सचेतना के प्रति एक विस्मय और उल्लास का भाव पाया जाता है, वही विस्मय और उल्लास जो अनन्तता की प्रमुख विशेषता होता है। हमने द्वितीय अध्याय में अवसीमा मानस की प्रमुख विशेषताओ का उल्लेख किया है। औदात्य अपने वेग और ऊर्जा को विकसित और प्रवाहित करके अनायास वहाँ क्रियाशील पाया जाता है। अभिव्यक्ति के संवित् बने बनाये रूप मे कवि का उपलब्ध होने जाते हैं और वे स्वयमेव शब्द और अर्थ मे ढलते हुए कविता का रूप ले लेते है। यह स्थिति स्वयं चालित लेखन की प्रमुख विशेषताओ से मंडित होती है। इसकी अभिव्यक्ति मे यथा स्थान अधिमानस, उच्चविचार, दीप्त मानस और स्वयं प्रकाश का सहयोग होता है। निराला की 'राम की शक्ति पूजा', 'सरोजस्मृति' और 'तुलसीदास' मे प्रायः सभी स्थलों पर उच्च विचार की छटा देखने को मिलती है; कविता की रवानी, अन्तर्निहित व्यंजना और दिव्य ओज से यह छटा छलकती रहती है। लेकिन इससे भी महत्वपूर्ण स्वरूप है उनके दीप्त मानस की क्रियाशीलता और उससे उद्भूत काव्य का अप्रतिम वेग, उसके उतार-चढाव पर झलकते शब्दो की व्यंजना, बिम्बो का जमघट और उनको अन्तर्ग्रथित करने वाली अन्त.-भाव-सत्ता का स्वरूप। पूर्व पृष्ठो में इसके कई स्वरूपो का उल्लेख किया गया है, 'राम की शक्ति पूजा' में, आरम्भ की कुछ पंक्तियों मे इसकी छटा देखते ही बनती है। यहाँ निराला न तो भवभूति है, और न कालिदास, वे तो बाल्मीकि से प्रतिद्वन्द्विता के लिए तत्पर हैं। दीप्ति में उनका ओज निखरता जाता है, स्वयमेव वह मानस के रचना क्षेत्र को प्राप्त होता रहता है और निराला उसे अकिंचन को अचानक मिले खजाने की तरह संजोते जाते हैं। यहाँ

---

* अनुभूति की जिन विशेषताओ का पहले उल्लेख किया गया है, वे इस कविता मे भी हैं। उनकी पुनरावृत्ति अपेक्षित नही थी। अतएव उसके नए आयामो को ही विशेष रूप से उद्घाटित किया गया है।

अन्तर्निहित ऊर्जा और औदात्य की अभिव्यक्ति के निर्देशक तत्व हैं, उनके दुर्निवार वेग में विचार सन्दर्भों के स्वयमेव खिचकर अनायास आने और रचनात्मक ऊर्जा से उनके निर्मित होने का क्रम प्रयत्न निरपेक्ष अतएव स्वतः स्फूर्त है। ऐसी कविता 'पैराडाइम के सहज संश्लेषण का परिणाम होती है, प्रयत्न पूर्वक शब्दों को जडने की नही। कविता के आरम्भ में अनुभूति की सघनता, आवर्त, ओज रचनागत औदात्य अपने चरम उत्कर्ष पर है, पर कविता को विकसित होने के साथ उसका वेग भी क्रमशः स्थिर और स्थायी होने लगता है और एक निश्चित कार्य-कारण शृंखला से बँधकर संश्लेषित होकर, उद्देश्य की एक व्यंजना छोड़कर चुक जाता है, समाप्त हो जाता है। निराला ने 'तुलसीदास' में कविता के तीसरे चरण में अपनी मुखरता प्रदर्शित की है। वहाँ अन्तःप्रज्ञा की दीप्ति अनायास कविता में ढलती गई है। बीच-बीच में ऐसे स्थल आए हैं, पर सर्वत्र एक सी रुझान का दर्शन नहीं होता है। 'सरोज-स्मृति' मे भी यथास्थान 'नम कर गई पार आँखें की बात' विशेष रूप से चरितार्थ हुई है। पर 'राम की शक्ति पूजा' में आरम्भ मे ही उदात्त अनुभूति और उसके सहज उद्दाम वेग का मणिकाचन योग घटित हुआ है। 'वर्णचमत्कार' नामक कविता मे निराला ने लिखा है—

'वर्ण-चमत्कार।
एक-एक शब्द बँधा ध्वनिमय साकार
पद-पद वह चली भाव-धारा
निर्मल कल-कल मे बँध गया विश्व सारा,
खुली मुक्ति बन्धन से बँधी फिर अपार,
वर्ण चमत्कार।
शत-शत रंग खिला मिला प्राण,
गूँजे गगनाँगन मे ये अगण्य गान
दिखी रूप की छवि, झंकृत-कर-स्वरतार
वर्ण-चमत्कार।[७१]

इस कविता मे शब्द और अर्थ के माध्यम से दीप्तिमय अनुभूति के रूपायित होने के स्वरूपों पर विचार किया गया है। वर्णचमत्कार में शब्द ध्वनिमय साकार होकर एक दूसरे से बँधे हुए हैं। उससे जिस पद की रचना हुई है उसमें अनन्त भावधारा प्रवाहित हो उठी हैं। उस भावधारा की कल-कल ध्वनि में सारे विश्व का कार्य-व्यापार तत्व-रूप में आबद्ध हो उठा है। रचना की स्थिति में अनुभूति बन्धन से मुक्त हो करके रचना में ढली है, लेकिन रचित हो जाने के बाद उसने पुनः रूप को स्वीकार कर लिया है, अतएव स्वरूप के कारण बन्धन मय बन गई है। अनुभूतियों से खिलकर वे भाव प्राणो का सम्मोहन से भर देते हैं। उल्लसित होकर रचना के

अन्तर्निहित ऊर्जा और औदात्य की अभिव्यक्ति के निर्देशक तत्व हैं, उनके दुर्निवार वेग में विचार सन्दर्भों के स्वयमेव खिचकर अनायास आने और रचनात्मक ऊर्जा से उनके निर्मित होने का क्रम प्रयत्न निरपेक्ष अतएव स्वतः स्फूर्त है। ऐसी कविता 'पैराडाइम के सहज संश्लेषण का परिणाम होती है, प्रयत्न पूर्वक शब्दों को जडने की नही। कविता के आरम्भ में अनुभूति की सघनता, आवर्त, ओज रचनागत औदात्य अपने चरम उत्कर्ष पर है, पर कविता को विकसित होने के साथ उसका वेग भी क्रमशः स्थिर और स्थायी होने लगता है और एक निश्चित कार्य-कारण शृंखला से बँधकर संश्लेषित होकर, उद्देश्य की एक व्यंजना छोड़कर चुक जाता है, समाप्त हो जाता है। निराला ने 'तुलसीदास' में कविता के तीसरे चरण में अपनी मुखरता प्रदर्शित की है। वहाँ अन्तःप्रज्ञा की दीप्ति अनायास कविता में ढलती गई है। बीच-बीच में ऐसे स्थल आए हैं, पर सर्वत्र एक सी रुझान का दर्शन नही होता है। 'सरोज-स्मृति' मे भी यथास्थान 'नम कर गई पार आँखें की बात' विशेष रूप से चरितार्थ हुई है। पर 'राम की शक्ति पूजा' में आरम्भ मे ही उदात्त अनुभूति और उसके सहज उद्दाम वेग का मणिकाचन योग घटित हुआ है। 'वर्णचमत्कार' नामक कविता मे निराला ने लिखा है--

'वर्ण-चमत्कार।
एक-एक शब्द बँधा ध्वनिमय साकार
पद-पद वह चली भाव-धारा
निर्मल कल-कल मे बँध गया विश्व सारा,
खुली मुक्ति बन्धन से बँधी फिर अपार,
वर्ण चमत्कार।
शत-शत रंग खिला मिला प्राण,
गूँजे गगनांगन मे ये अगण्य गान
दिखी रूप की छवि, झंकृत-कर-स्वरतार
वर्ण-चमत्कार।[७१]

इस कविता में शब्द और अर्थ के माध्यम से दीप्तिमय अनुभूति के रूपायित होने के स्वरूपों पर विचार किया गया है। वर्णचमत्कार में शब्द ध्वनिमय साकार होकर एक दूसरे से बँधे हुए हैं। उससे जिस पद की रचना हुई है उसमें अनन्त भावधारा प्रवाहित हो उठी हैं। उस भावधारा की कल-कल ध्वनि में सारे विश्व का कार्य-व्यापार तत्व-रूप में आबद्ध हो उठा है। रचना की स्थिति में अनुभूति बन्धन से मुक्त हो करके रचना में ढली है, लेकिन रचित हो जाने के बाद उसने पुनः रूप को स्वीकार कर लिया है, अतएव स्वरूप के कारण बन्धन मय बन गई है। अनुभूतियों से खिलकर वे भाव प्राणो का सम्मोहन से भर देते हैं। उल्लसित होकर रचना के

लिए तत्पर चेतना से हृदयाकाश मे अनेक ध्वनियाँ गूँज उठती हैं। इससे रचनाकार की चेतना के तार-तार झंकृत हो उठे हैं और वह रूप की अतल स्पर्शिनी-छवि को हृदयंगम कर सकने मे समर्थ हो उठा है। अनुभूति के हो स्वरूप पर विचार करते हुए उन्होने लिखा है—

'छन्द की बाढ, वृष्टि अनुराग
भर गए रे भावो के झाग,
....
रच गया नव किरणों का रास
खेलते फूल ज्योति का फाग।[७४]

अथवा

बहे रस-स्रोत खर
बेध तनु विविध शर,
पार कर गए रे
जग का अपर पार।[७५]

भावों की धारा उसमे उमडती है, छन्दो की बाढ आ जाती है, पर इनका कारण अनुराग की वृष्टि है। कवि अनुराग की उन किरणो को समेट लेता है। रचना बन जाती है, या उसको परवश बनाकर अनन्त भावधारा अनायास क्रियाशील हो उठती है-कवि को लगता है उसके शरीर को बेध कर वह धारा अनायास बह रही है। लेकिन जब वह अनुभूति रचना मे ढल जाती है तो कवि स्वयं उसपर विस्मित हो उठता है। 'कविता' मे कवि ने इसे और स्पष्टतापूर्वक व्यक्त किया है। वहाँ कविता का हृदय प्यार से भरा हुआ है। वह निश्छल और अविकार है। उसके अंग-अंग से तरंग उठकर कवि के पास पहुँच रही है; उसमे कह रही है कि तुम चलो, तुम्हे कविता ने उस पार बुलाया है।[७६] कविता का नायिका के रूप मे चित्रण है। भाव-राशियाँ (केश) इधर-उधर उडकर उसके कपोलो का स्पर्श कर रही हैं, और इसके उरोजों से लिपट जा रही है। गगन के आंगन से गिरकर शिशिर बिन्दु रस का समुद्र बहा रहा है। कविता ने शृंगार के साज सजा रखा है। उस पर वीणा के तार नही बज रहे हैं, वह तो कवि को हार थी जो प्रतिध्वनित हो रही है।[७७] उपर्युक्त पंक्तियों मे कवि की अन्त दीप्ति के स्वयमेव प्रतिध्वनित होकर कविता मे बदल जाने के अनेक उदाहरण हैं। लेकिन सबसे महत्वपूर्ण तथ्य अन्तिम पंक्तियो मे व्यञ्जित हो रहा है। यहाँ वीणा के तार नही बज रहे हैं, कवि की हार प्रतिध्वनित हो रही है। 'राम की शक्ति पूजा' की आरभिक पक्तियों मे कवि के राम की हार की अन्त:दीप्ति और उसका सहज उच्छलन विशेष रूप से द्रष्टव्य है। अतएव आरम्भ मे लेकर 'असमर्थ मानता मन उद्यत हो हार-हार' तक

सम्पूर्ण कविता में अन्तःदीप्ति की ही छटा देखी जा सकती है। लेकिन बाद में यही अन्तःदीप्ति, दीप्तमानस-स्वयंप्रकाशपूर्ण अनुभूति के रूप में ढल गयी है। इसी के परिणाम स्वरूप राम के पराजय बोध की भीषण-विभीषिका मे उनके हृदय में 'पृथ्वी-तनया कुमारिका-छवि' का अवतरण हुआ है। निराला ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा भी है कि उनकी छबि की स्मृति घोर अन्धकार में बिजली के कौध से सदृश थी। यह कौध स्मृति प्रधान है, इससे राम का ध्यान एक केन्द्र पर टिक जाता है। अतएव यहाँ पर दीप्तमानस के एक निश्चित उदात्त और व्यापक चित्रफलक को प्रकाशित करके प्रवाहित करने के स्थान पर कवि निश्चित बिन्दु की गहनता को उद्घाटित करने में संलग्न है। दीप्तमानस की रचना* 'पैराडाइम्स के गुणों से मंडित होती है। उसमे रचनात्मक ऊर्जा का वेग विशिष्ट बिम्ब छवियों के आरोह-अवरोह से व्यक्त होता है। उसमे पौरुषता, कठोरता, कोमलता और ओज का प्राधान्य होता है, पर स्वयं-प्रकाश की कविता उनसे मुक्त होती है। इसमे व्यापकता के स्थान पर सघनता, दृष्टिकोण वैविध्य के स्थान पर एक भाव के आलबाल को प्रसाद गुण सम्पन्न शैली में अभिव्यक्ति प्रदान करने की क्षमता और कोमलता होती है। इनके माध्यम से कवि अनायास ही सामान्य भावभूमि से ऊपर उठकर कविता को एक नये आलोक और नई व्यंजना से मंडित कर देता है। यहाँ स्मृति कल्पना की उपस्कारक होती है अतएव उसमे कौधने वाले भाव अभिव्यक्ति-सक्षम बनते जाते है। सीता की स्मृति शृंगार का मूर्तिमान स्वरूप है। 'परागसमुदय झर रहे है', 'खग नव जीवन परिचय' गा रहे हैं। ज्योति का प्रपात झर रहा है। जानकी की स्मृति मे राम विह्वल होकर कुछ समय के लिए अपने पराजयबोध से ऊपर उठ जाते हैं। उन्हे धनुर्भंग के लिए उठे हाथ की स्मृति हो आती है। उनके मन मे इससे विश्व विजय की भावना का प्रादुर्भाव होता है। उन्हे दिखाई देता है कि राक्षस उनके प्रताप की वह्नि मे जल रहे हैं। लेकिन यह दृश्य पुनः बदल जाता है। उनके समक्ष उस 'भीमा मूर्ति' का अवतरण होता है जिसके समक्ष उनके शर हतलक्ष्य हो चुके हैं। शेषशयन राम पुनः शंकाकुल हो उठते है। उनकी आँखो मे 'सीता के राममय नयन' उमड आते है। फिर उन्हे सुनाई देता है, 'हँस रहा अट्टहास रावण खल-खल'। इससे उनके नेत्र अश्रुपूरित हो उठते है। इस स्थल की सभी स्मृति-छवियो के केन्द्र में 'सीता के राम मय नयन'; को कवि ने विशेष रूप से उद्भासित किया है और उस क्रम मे रावण के अट्टहास करने और 'खल-खल हँसने' की ध्वनि से उनके विवशता-बोध को विशेष रूप से चमत्कृत कर दिया गया है। इससे स्वयंप्रकाश पूर्ण अनुभूति अपने कई आवर्तों को पार कर के पुनः गन्तव्य पर

---

* परिस्थिति के अनुसार, उसमे कोमलता भी पाई जा सकती है। भाषा की गति प्रवाहमय होती है। अनुभूति निश्चित अनुभूति के आयाम से जुड़ी पाई जाती है। उसकी संघटना उसी की अभिव्यक्ति का प्रमुख साधन होती है।

पहुँच गई है। इस स्थल पर कवि की अनुभूति में नाटकीयता का समावेश है। एक के बाद दूसरा दृश्य कवि के समक्ष तीव्रगति से उपस्थित होता है और वह उसे अभी पूरी तरह देख भी नहीं पाता कि तीसरा दृश्य सामने आ जाता है। यहाँ भी कविता में वेग है, रवानी है, पर उससे भिन्न जो इसी कविता के प्रथम चरण में है। इसी के बाद कविता का सबसे महत्वपूर्ण अंश आता है-वह है पवन-तनय का उद्वेलित होकर आकाश में उठना। यहाँ पर कवि अनुभूति के पूर्ववर्ती स्वरूपों से एक भिन्न स्वरूप में अपने को प्रतिष्ठित पाता है। इसे हम संप्रज्ञात समाधिजनित-बोध, अधिमानस-अनुभूति या कवि मानस के योगिप्रत्यक्ष की संज्ञा दे सकते हैं। हनुमान ही नहीं उठते, तुलसी का मन भी उर्ध्वगमन करता है और उसमें विशेष दृश्यों का दर्शन करता है। हनुमान को ही आकाश में अंजना रूप महामाया का दर्शन नहीं होता है, निराला के तुलसीदास को भी 'देखा शारदा नील वसना' की अनुभूति होती है। ओज प्रधान कवि की चेतना जब स्पन्दित होकर क्रियाशील होती है तो उसका ओज-अन्तर्निहित औदात्य-सीमा में नहीं बंध पाता है, वह कवि को रचनागत केन्द्राभिमुखता से विकीर्ण होकर अपनी ही अन्तःसत्ता से उर्ध्वमुखी बन जाता है। लेकिन तुलसी दास के उर्ध्वगमन और हनुमान के उर्ध्वगमन में गुणात्मक ही नही परिमाणात्मक भेद है। हनुमान न तो सांस्कृतिक अन्तर्द्वन्द्व के द्रष्टा बनना चाहते हैं और न उच्च धरातल से मानस के कार्य-व्यापार पर दृष्टिपात करना चाहते हैं। वे तो उस समूची सृष्टि को निगल जाना चाहते हैं जो राम के अवसाद का प्रमुख कारण है। डॉ० शर्मा ने लिखा है, "निराला ने 'रामचरित मानस' को जिस ढंग से पढ़ा समझा और आत्मसात् किया था, उस बोध के प्रतीक हैं महावीर। यह बोध 'तुलसीदास' कविता में भी प्रकट हुआ था। 'तुलसीदास' भक्त है और ज्ञानी भी। उनके संस्कार जब जागते हैं तो उनमें अपार शक्ति आ जाती है। वे पुरानी संस्कृति पर 'ज्ञानोद्धत प्रहार' करते हैं, उसके 'विषम वज्र द्वार' तोड़ने को उद्यत हो जाते हैं।* महाकाश मे शिव को त्रस्त कर देने वाले महावीर यही कार्य करना चाहते है। तुलसीदास ने लिखा है- मोरे मन अस दृढ विश्वासा, राम ते अधिक राम कर दासा'। निराला ने इसी सूत्र के सहारे लिखा- 'अर्चना राम की मूर्तिमान अक्षय शरीर।' एक बार राम भले विचलित हो जाँय, किन्तु वह जिसे न सीता चाहिए और न अयोध्या, राम की अर्चना का वह जीवन्त स्वरूप विचलित नही हो सकता। ..... निराला साधक है पूजक नही"[७८]। डॉ० शर्मा का यह कथन कि तुलसी के मानस का बोध हनुमान के रूप में मूर्तिमान हुआ, अक्षरशः सत्य है। निराला ने देवताओ मे दो को ही महत्व दिया है। हनुमान और देवी की स्तुतियों की संख्या निश्चित रूप से अधिक है लेकिन हनुमान के जिस स्वरूप का उन्होंने उल्लेख

---

* महाकाश का संकेतार्थ, है, ब्रह्माण्डी शरीर मे स्थित सहस्रार से ब्रह्मारन्ध्र तक का क्षेत्र।

किया है वह अप्रतिम है। यहाँ कवि ने हनुमान और देवी को आमने सामने ला दिया है। शिव मध्यस्थ हैं; वे सृष्टि को बचाना चाहते हैं, पर हनुमान से युद्ध भी नहीं कराना चाहते। निराला के ही शब्दों मे प्रसंग द्रष्टव्य है—

'संवरो देवि, निज तेज, नहीं बानर
यह,-नहीं हुआ शृंगार-युग्म-गत, महावीर
अर्चना राम की मूर्तिमान अक्षय शरीर,
चिर ब्रह्मचर्य रत ये एकादश रुद्रधन्य,
मर्यादा पुरुषोत्तम के सर्वोत्तम, अनन्य,
लीला सहचर, दिव्यभावधर, इन पर प्रहार,
करने पर होगी देवि तुम्हारी विषम हार,
विद्या का ले आश्रय इन मन को दो प्रबोध।
झुक जाएगा कपि, निश्चय होगा दूर रोध।'[७९]

इस पद मे 'निराला' तुलसी के अधिक निकट है। तुलसी के हनुमान ज्ञानियों मे अग्रगण्य है। मर्यादा पुरुषोत्तम राम के अनन्य सहचर हैं। निराला में भी उसी का संकेत मिलता है। 'केवल हनुमान प्रबोध' से उनके चरित्र की उदात्तता की ओर प्रथम संकेत किया गया है। इस रहस्य का उद्‌घाटन 'अर्चना राम की मूर्तिमान अक्षय शरीर, चिर ब्रह्मचर्य रत ये एकादश रुद्र धन्य' से होता है। निराला बार-बार शक्ति की आराधना के समक्ष झुके है, निराला के हनुमान भी अंजना रूप धारी शक्ति के समक्ष झुकते है। वे पुन प्रकृतिस्थ बन जाते हैं। लेकिन बाद में राम के इस पराजय बोध से विभीषण विकल होते है। वे राम को उद्‌बोधित करने का प्रयत्न करते है। लेकिन वहाँ तो राम के पास गहन भाव को ग्रहण करने की शक्ति नही रह गई है। फिर भी वे कहते है,

'मित्रवर, विजय होगी न समर।
यह नहीं रहा नर-बानर का राक्षस से रण,
उतरी पा महाशक्ति रावण से आमंत्रण,
अन्याय जिधर है, उधर शक्ति।'[८०]

अंतिम पंक्ति विशेष महत्वपूर्ण ढंग से विविध भाव-कोणो को व्यंजित करती। रावण अन्यायी है, उसके साथ शक्ति है, अंग्रेज अन्यायी है, उसके साथ शक्ति है, निराला पर अनायास प्रहार करने वाले साहित्यिक अन्यायी है, पर उनके साथ भी शक्ति है। निराला विचित्र स्थिति मे सोचने के लिए परवश है कि क्या शक्ति उसी के साथ रहती है जो अन्यायी है, 'लम्पट, खल, कल्मष-गताचार है? 'अगर यह सत्य है तो फिर इस नियति से कौन संघर्ष कर सकता है? राम ने संघर्ष किया भी है, पर शक्ति के अभाव मे उसमे सफलता कहाँ मिली, देश के लोगों ने

संघर्ष किया लेकिन उसमे वे भी असफल हुए, 'राम की शक्तिपूजा' में कवि ने भी संघर्ष किया लेकिन कुछ हाथ न लगा। सबकी नियति समान थी—

'विचलित लख कपि दल, क्रुद्ध युद्ध को मैं ज्यों ज्यों,
झक-झक झलकती वह्नि वामा के दृग त्यों-त्यों,
पश्चात् देखने लगी मुझे बंध गए हस्त,
फिर खिंचा न धनु मुक्त ज्यों बँधा मैं हुआ त्रस्त।[८१]

कारण स्पष्ट था, जहाँ अन्याय था वहीं शक्ति थी। फिर राम क्या करें? इसका संकेत जामवन्त करते हैं—

'हे पुरुष सिंह तुम भी यह शक्ति करो धारण,
आराधन का दृढ़ आराधन से दो उत्तर,
तुम वरो विजय संयत प्राणों से प्राणों पर,
रावण अशुद्ध होकर भी यदि कर सका त्रस्त
तो निश्चय तुम हो सिद्ध करोगे उसे ध्वस्त,
शक्ति की करो मौलिक कल्पना,* करो पूजन,
छोड़ दो समर जब तक न सिद्धि हो रघुनन्दन।[८२]

हनुमान के उर्ध्वगमन के पश्चात् 'राम की शक्ति पूजा' में पुनः उसी तरह का प्रसंग आता है जिसमे शक्ति के मौलिक स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। राम स्वतः कहते हैं—'मै सिंह इसी भाव से करूँगा अभिनन्दित'। वे माता को दश-भुजा और विश्वज्योति की संज्ञा देते है, अपने को पूरी तरह शक्ति को समर्पित कर देते है और उसी प्रपत्ति के भाव मे स्थित होकर कहते है—

'देखो बन्धुवर सामने स्थित जो यह भूधर
शोभित शत-हरित-गुल्म तृण से श्यामल सुन्दर
पार्वती कल्पना है इसकी, मकरन्द बिन्दु
गरजता चरण प्रान्त पर सिंह वह, नहीं सिन्धु
दशदिक समस्त है हस्त, और देखो ऊपर
अंबर मे हुए दिगंबर अर्चित शशि-शेखर,
लख महाभाव-मंगल पद तल धंस रहा गर्व
मानव के मन का असुर मन्द हो रहा खर्व।[८३]

---

*मौलिक कल्पना के कई अर्थ हैं, (१) यौगिक साधना, उससे उपलब्ध कुण्डलिनी रूपी आद्या शक्ति का उत्थान (२) महाकाल पर आरूढ़ शक्ति और शिव की उपासना, जिससे मृत्यु पर विजय मिल सके और रावण-वध किया जा सके।

निराला की 'राम की शक्ति पूजा' के अधिमानस अनुभूति से उत्पन्न इन दो स्थलों-हनुमान के उर्ध्वगमन और महामाया के इस विश्व स्वरूप के बोध की ओर प्रायः लोगों की दृष्टि नहीं गई है। द्वितीय अध्याय में हमने इस तथ्य का संकेत किया है कि संप्रज्ञात समाधि में अधिगत योगिप्रत्यक्ष चिन्तन विपुलता का सहज अभिव्यक्तीकरण होता है। इसमें तपःपूत आत्मा के विचार, स्वप्न-संवेग और उदात्त जीवन-बोध का सहज अभिव्यक्तीकरण होता है। इससे मंडित होने के कारण इस कोटि का काव्य तपःपूत वैभव का परिचायक हो जाता है। हनुमान का उर्ध्वगमन भी आत्म-अभियान के उस स्तर तक पहुँचे हुए योगी की अनुभूति का परिचायक है जिसने शिव और शक्ति के पीठ सहस्रार तक ही नहीं बल्कि उसके ऊपर शून्य और महाशून्य तक के स्वरूप को अधिगत कर लिया है। उसमें विश्व को मिटा देने की क्षमता होती है। अंजना रूप का उदय भी उसी धरातल पर होता है। वहाँ मातृ-निर्देश से कवि की आत्मा स्वतः धीरे-धीरे उतरकर प्रभु पद को गहकर दीन होती है। राम के; विश्वरूप महामाया के दर्शन में भी रहस्य का संकेत है। निराला ने 'राम की शक्तिपूजा' में योग की पारिभाषिक शब्दावली का ही प्रयोग नहीं किया है, अपितु उसके उपयुक्त अनुभूति के सहज उच्छलन से भी हमें परिचित कराया है। 'गीता' में भगवान कृष्ण ने अर्जुन को विराट रूप का दर्शन कराया है। तुलसीदास ने भी रामचरितमानस में 'विश्वरूप रघुवंशमणि' का अनेक रूपों में निर्वचन किया है। इस स्थल पर उसकी अमिट छाप है। 'मातः दशभुजा विश्व ज्योति.' कहकर निराला उसके तेजोद्दीप्त विश्वरूप का ज्ञान कराते हैं। उपर्युक्त पद में इसी भावना का विस्तार किया गया है। 'मकरन्द बिन्दु' 'दश-दिक समस्त हैं हस्त', 'दिगंबर अर्चित शशिशेखर' महाभाव, महाकाश आदि शब्द साधना की अनुभूति के निश्चित स्वरूप पर प्रकाश डालते हैं।[८४] (विशेष व्याख्या के लिए टिप्पणी देखी जा सकती है) इन दो स्थलों में कवि सामान्य अनुभूति से उच्च धरातल पर प्रतिष्ठित है। उपर्युक्त अंशों के आधार पर कहा जा सकता है कि निराला की राम की शक्तिपूजा का यह अनुभूतिविधान—दीप्तिमय अनुभूति, स्वयं-प्रकाश, और योगिप्रत्यक्ष या अधिमानस बोध—पूरी कविता में उदात्त की ही अवतारणा में नहीं सक्षम है, अपितु उसे एक लोकोत्तर स्वरूप भी प्रदान करता है। कवि की दृष्टि आत्मा की ओर लगी है, इसलिए वह उसे आत्मिक अभियान का परिचायक बनाकर अग्रसर होता है। कविता के अन्तिम अंश में कुण्डलिनी-योग के चक्र-वेधन-स्वरूप-का उल्लेख किया गया है। वे यौगिक विधि से पुरश्चरण कर रहे हैं। ज्ञान का प्रकाश फूटेगा, रावण उससे भस्म हो जायगा। निराला को जैसे भी हो साधना के रहस्य का ज्ञान है। कुण्डलिनी योग के महाकर्षण का उन्होंने संकेत किया है। त्रिकुटी के ऊपर की साधना को उन्होंने 'कर गया अतिक्रम ब्रह्मा, हरिशंकर का स्तर' कहकर द्योतित किया है। उनकी दृष्टि स्पष्ट रूप से ब्राह्मी, वैष्णवी और रौद्री

ग्रन्थियों की ओर है। त्रिकुटी में रौद्री ग्रन्थि हृदय में वैष्णवी ग्रन्थि और नाभि प्रदेश में ब्राह्मी ग्रन्थि का स्थान माना गया है। जबतक साधक इन तीनों को भेद कर उनमें साम्य नहीं स्थापित करता है, तबतक वह त्रिकुटी के ऊपर नहीं जा सकता है। इसीलिए त्रिकुटी को मुक्त त्रिवेणी भी कहा जाता है। निराला ने सहस्रार की साधना और उसके स्वरूप का बड़ा ही संक्षिप्त पर महत्वपूर्ण वर्णन किया है—

'संचित त्रिकुटी पर ध्यान द्विदल देवी पद पर,
जप के स्वर लगा काँपने थर-थर अंबर,
दो दिन निष्पन्द एक आसन पर रहे राम।
अर्पित करते इन्दीवर जपते हुए नाम।
आठवाँ दिवस मन ध्यान युक्त चढता ऊपर
कर गया अतिक्रम ब्रह्मा हरिशंकर का स्तर,
होगया विजित ब्रह्माण्ड पूर्ण देवता स्तब्ध,
हो गए दग्ध जीवन के तप के समारब्ध;
रह गया एक इन्दीवर, मन देखता-पार
प्रायः करने को हुआ दुर्ग जो सहस्रार।'[८५]

स्पष्ट है कि कविता मे त्रिकुटी से सहस्रार के बीच के ही कई चक्रों का संकेत नही है अपितु सहस्रार के पार जाने का भी संकेत है—ब्रह्मरन्ध्र तक। लेकिन वहीं व्यवधान होता है। दुर्गा कमल को चुरा ले जाती है। पुनः स्वयं प्रकाश ज्ञान राम का सहायक सिद्ध होता है—

'वह एक और मन रहा राम का जो न थका
जो नही जानता दैन्य नही जानता विनय
कर गया भेद वह मायावरण प्राप्त कर जय,
बुद्धि के दुर्ग पहुँचा विद्युत् गति हत चेतन
राम मे जगी स्मृति, हुए सजग पा भाव-प्रमन।
यह है उपाय कह उठे राम ज्यो मन्द्रित घन-
'कहती थी माता मुझे सदा राजीव नयन।
दो नील कमल है शेष अभी, यह पुरश्चरण
पूरा करता हूँ देकर मात. एक नयन।'[८६]

त्याग की इस पराकाष्ठा से देवी प्रसन्न हो जाती हैं। राम अपनी परीक्षा में खरे उतरते हैं, देवी का उदय होता है। वे 'साधु-साधु साधक-धीर, धर्म-धन धन्य राम' कहकर उनका हाथ पकड़ लेती है। राम देखते है कि दुर्गा प्रत्यक्ष उनके समक्ष खडी हैं, उनका बायाँ पैर 'असुरस्कंधपर' और दक्षिण पद 'हरिपर' है। उनका रूप देदीप्यमान है, दसो हाथों में शस्त्र हैं, वे मन्द-मन्द मुस्करा रही हैं। उनकी शोभा के समक्ष

विश्व की शोभा लज्जित है। उनके दक्षिण मे लक्ष्मी और गणेश और बाये सरस्वती और कार्तिकेय हैं। मस्तक पर शंकर विराजमान है। राम दुर्गा के इस स्वरूप के समक्ष प्रणत हैं। वे उन्हे आशीर्वाद देती हैं कि हे रघुनन्दव नवीन तुम्हारी जय होगी।* वरदान देने के बाद वे श्रीराम के बदन में लीन हो जाती है। साधना के पूर्व और पर के राम में भेद है। इसी को चित्रित करते हुये उन्हे पुरुषोत्तम नवीन कहा गया है।

'राम की शक्ति पूजा' मे अनुभूति का चित्रफलक और अन्तर्निहित कार्य-व्यापार निराला की किसी अन्य कविता से अधिक ओजस्वी है। 'राम रावण का अपराजेय समर' ज्योति के पत्र पर कम पर निराला के हृदय पर अधिक गहनता से चित्रित है। इसलिये कवि उसे मुखर भी कर सका है। आरंभिक पंक्तियों मे निराला का स्रष्टा पहले द्रष्टा बनता है, फिर उसके बाद जैसे आँख देखी घटना को यथातथ्य रूप मे वर्णित कर देता है। युद्ध का कम से कम एक दर्जन पंक्तियो मे इतना विविध, सजीव और आकर्षक वर्णन अन्यत्र दुर्लभ है। कवि निराला को अपनी पूरी कविता में भाव के अनुकूल वातावरण के चित्रण में अप्रतिम सफलता मिली है, युद्ध के बाद शाम को लौटते समय राम और रावण का दृश्य देखिए–

'लौटे युगदल, राक्षस पदतल, पृथ्वी टलमल
बिंध महोल्लास से बार-बार आकाश विकल।[८७]
रघुनायक आगे अवनी पर नवनीत चरण
श्लथ धनु गुण है, कटिबध स्रस्त-तूरीर धरण,
दृढ जटा मुकुट हो विपर्यस्त प्रतिपल से खुल
फैला पृष्ठ पर बाहुओ पर वक्ष पर विपुल
उतरा ज्यो दुर्गम पर्वत पर नैशान्धकार
चमकती दूर ताराएँ ज्यो हो कही पार।[८८]

इससे अनुभूति की सटीकता का ज्ञान होता है। इस सटीकता का रहस्य है। 'राम की शक्ति पूजा' की अनुभूति के सन्दर्भ मे हमने 'पैराडाइम्स' का उल्लेख किया है। वस्तुत. इसे अनुभूति संवित् या अनुभूति-संघटना कहा जा सकता है। इसके स्पष्टीकरण की अपेक्षा है। जार्ज ह्वैले ने स्पष्ट रूप से सकेत किया है कि कविता का उद्भव 'पैराडीग्मेटिक ईवेन्ट' से होता है। इसकी व्यंजना यह ह कि कविता यथार्थ घटना के सुलझाव से उत्पन्न होती है। यह घटना विद्युत् के अन्तर्निहित चक्र की तरह स्वत: पूर्ण होती है। कभी-कभी यह अपनी भावशबलता के कारण अविश्वसनीय भी ज्ञात हो सकती है लेकिन उससे उत्पन्न अनुभूति मे अनन्त आस्था और विश्वास का स्वरूप निहित होता है। यह आस्था केवल लालित्यबोधीय अनुभूति नही अपितु उससे उच्च

---

* महाकाल पर आसीन देवी का स्वरूप है।

बोधि की जनक होती है। यथार्थ घटना के प्रकाश मे हमे विश्व का स्वरूप अधिक टटका और आश्चर्य-चकित कर देने वाला दिखाई देता है। जो कुछ भी हमारे समक्ष उपस्थित होता है, वह विचार और वस्तु का अन्तः सम्बन्ध नहीं होता, अपितु एक पूर्ण घटना होती है। इस ज्ञान की अभिव्यक्ति उपमेयों के समुदाय की जनक नहीं अपितु स्वीकृति की परिचायक होती है। अचानक, अविश्लेष्य ढंग से सब कुछ एक साथ अनुरणित हो उठता है, उसकी प्रतिध्वनि गूँजने लगती है और वह स्वयं स्पष्ट बनता जाता है।.....अनुभूति की उदात्तावस्था में मानस मे असामंजस्य पाया जाता है। कलाकार ज्यों-ज्यो अपने सशक्त बोध को व्यक्त करता जाता है त्यों-त्यों मानस व्यवस्थित बनता जाता है। 'पैराडोग्मेटिक एक्स्पीरिएन्स' जटिल उदात्त अनुभूति के रूप मे अवतरित होता है। इसमे यथार्थ बोध और मूल्य के भाव निहित होते हैं, अतएव इसकी अभिव्यक्ति उसी को अभिव्यक्त करने वाली संघटना से अनुशासित होती है। कविता की रूपरेखा भले ही रचना के पूर्व कवि के मानस में प्रस्तुत हो, पर उसका रहस्य तो रचना की स्थिति मे कवि को ज्ञात होता है।[८८] जिस तरह किसी भींगे कपड़े या स्पंज को दबाने मे जल निकलता है, उसी तरह कवि के मानस पर किसी तरह का रचनात्मक दबाव पड़ने से कविता का अवतरण होता है। यह यह अवतरण निश्चित संघटन से बंधा होता है। इस तरह की अनुभूति, बोध की घटना की परिचायक है। इस बोध की विशेषताओं का निर्माण विविध भाववेगों, सघन अनुभतियो और मूल्य की निश्चित अवधारणाओं से होता है। 'राम की शक्ति पूजा' मे ये विशेषतायें विशेष रूप से विद्यमान हैं। इसमे घटना-क्रम स्पष्ट है। इस पर कवि ने अपने जीवन में गंभीरता से विचार किया है। 'पंचवटी प्रसंग' और 'तुलसी दास' को देखने से यह भली-भाँति ज्ञात हो जाता है कि 'निराला' के मन में राम सम्बन्धी आख्यान अनेक वर्षों से चक्कर काटता रहा है। 'तुलसीदास' की अवधारणा तो 'तुलसीदास' में व्यक्त हो चुकी है, पर राम संबंधी अवधारणा को व्यक्त करने का उन्हे अवसर नहीं मिला है। जीवन-संघर्षों को निरन्तर झेलने से जन-जीवन मे व्याप्त रावण का उन्हें अच्छा परिचय मिला है। निराला के राम तो केवल एक बार रावण के अट्टहास को सुने हैं, पर निराला ने उसे शताधिक बार सुना है। यह यह ऐसा भावचक्र है जो पर्याप्त समय से उनके मानस मे बनता-बिगड़ता रहा है। रचना के समय तक उसकी अनुभूति प्रौढ़ होकर कवि के समक्ष उपस्थित हुई है, इसीलिए यह कवि की आस्था और विश्वास के साथ हो, उसके स्वीकृति की परिचायक बन गई है। अनुभूति निश्चित संघटना मे ढली हुई है, अतएव उसकी अभिव्यक्ति भी उन्ही विशेषताओं से मंडित हो उठी है।

कवि के सौन्दर्यबोध और अवसाद के विषय मे प्रेरणा के संदर्भ में पर्याप्त कहा जा चुका है, पर 'कुकुरमुत्ता' जैसा कविताये अभी तक अछूती हैं। निराला सही माने

में जीवन के कलाकार थे। इसी से उन्हें संवेदना के अनेक स्तरों पर जीने की शिक्षा मिली थी। आरम्भ से ही उनके व्यक्तित्व के दो छोर हमें दिखाई देते हैं। इन्हीं के बीच निराला का सारा रचना-संसार क्रियाशील है। निराला परम उदात्त चेतना के कवि है। 'बादल राग' 'तुलसीदास' और 'राम की शक्ति पूजा' की रचना इसी शैली मे हुई है। पर उनमें एक सामान्य मानववादी चेतना का स्तर भी है जो स्वच्छन्दतावादी मनोवृत्ति से रंगा होने के बावजूद अपनी व्यंजना और अभिव्यक्ति से हमे चमत्कृत करता रहता है। इस दूसरे कोटि की कवितायें उनके सभी संग्रहों में उपस्थित हैं। 'तोड़ती पत्थर' का उल्लेख पूर्ववर्ती पृष्ठों मे किया गया है। कवि के 'परिमल' संग्रह में 'विधवा' 'भिक्षुक' और 'दीन' कविताये इसी मानववादी स्वर से अलंकृत हैं। निराला की 'विधवा' 'व्यथा की भूली हुई कथा है' उसके जीवन में करुणा की धारा बह रही है, उसके रसावेश से निकलता गुंजार हाहाकार का परिचायक है। वह रोने के लिए भी स्वतंत्र नही है,

रोता है अस्फुट स्वर मे
दुख सुनता है आकाशधीर
निश्चल समीर।[६०]

स्पष्ट है कि विधवा की पीड़ा ने कवि के हृदय को आन्दोलित किया है। यह कविता उसी की परिणति है। 'भिक्षुक' को देखकर भी उनके हृदय की पीड़ा का सहज-ज्ञान होता है। इसकी भाषिक संरचना छायावादी शब्द-गुंफ से सर्वथा मुक्त है। कवि ने उसका यथार्थ चित्रण किया है। उसके चलने, माँगने, और बच्चो के हाथ फैलाने और पेट मलने के द्वारा निराला ने उसकी नियति को मूर्तिमान कर दिया है। कलेजे को दो टूक करके पछताने और क्षुधा से पेट-पीठ दोनो के एक होने के उल्लेख द्वारा कवि अनुभूति को एकतान बनाकर उस बिन्दु पर पहुँचा देता है जहाँ जीवन की परवशता का बोध एक चुनौती बनकर पाठक के सामने उपस्थित हो जाता है। कविता की अन्तिम पंक्तियों मे यह बोध और तीव्र बन जाता है। भिक्षुक भी कहलाने के लिए दो हाथ पैर का मनुष्य है, लेकिन सामाजिक दुर्व्यवस्था से वह सडक पर पत्तल चाटने और कुत्तों की कोटि मे खड़े होने के लिए अभिशप्त है। मनुष्य तो उस पर दया नही करता लेकिन कुत्ते भी उसके हाथ से पत्तल झपटने के लिए तत्पर रहते है। यही उसकी नियति है। यही स्वर 'दीन' कविता मे विशेष रूप से मुखर है—

कह जाते हो—
'यहाँ कभी मत आना,

उत्पीड़न का राज्य दुःख ही दुःख
यहाँ है सदा उठाना,
क्रूर यहाँ पर कहलाता है शूर,
और हृदय का शूर सदा हा दुर्बल क्रूर;
स्वार्थ सदा रहता परार्थ से दूर,
यहाँ परार्थ वही, जो रहे
स्वार्थ से ही भरपूर.....
सदा अशान्ति ।'[८१]

इन कविताओं में आरम्भ मे ही भाव सहज और भाषा जीवन के अधिक निकट है। ये कवितायें कवि की छायावादी रुझान से अंशतः मुक्त है। इनमे एक त्रासद अवसाद और अव्यक्त व्यंग्य का गहरा पुट है। कवि ऊँचाई से उतर कर अपने को उनके साथ खड़ा करता है, उनकी मानसिकता तक पहुँचने का प्रयत्न है, इसीलिए वह जो कुछ भी कहता है, वह जनता का होता हे, उन लोगों का होता है जो तिरस्कृत, बहिष्कृत और शोषित है, जीवन का अधिकार जिन्हे नही मिल पाया है। छायावादी उत्तमपुरुष एकवचन का काव्य था। निराला ने लिखा भी है—

'मैंने मैं शैली अपनाई
देखा दुखी एक निज भाई
दुख की छाया पड़ी हृदय मे मेरे
झट उमड़ वेदना आई ।'[८२]

यहाँ निराला छायावादी शोक-श्लोक का उल्लेख कर रहे हैं, पर बाद में यही दुख की छाया छायावादी संस्पर्शों से मुक्त भी हुई है। निराला ने उसका समाजीकरण किया है, साधारणीकरण किया है और वह 'मैं शैली' 'तुम शैली' मे बदल गई है। ओज के सहज उच्छलन का काव्य वे रच चुके हैं, उससे उन्हे संतोष भी है। अब वे ओज का साधारणीकरण करके रचना देने को उद्यत हैं। ओज मे जब करुणा का प्राधान्य हो जाता है, लोक जीवन के दु.ख-सुख का प्राधान्य हो जाता है तो वह जन-जीवन से जुड़ जाता है। निराला का ओज और शृंगार यहाँ छायावादी संस्पर्शों से मुक्त है। यहाँ अवसाद के स्थान पर करुणा की प्रधानता है और शृंगार के स्थान पर मानव-प्रेम का। उनकी पहले की प्रवृत्तियाँ ही बदल कर अधिक सुघर रूप मे इन कविताओ मे उपस्थित हैं। पहले की प्रवृत्तियाँ—व्यक्तिवाद, प्रेम-सौन्दर्य, ओज—यहाँ मानववाद, मानव-प्रेम और करुणा के रूप मे प्रस्तुत हैं। अनुभूति मे तीव्रता और

बोध में खरापन है। निराला अपने जीवन की ज्वालाओं से दग्ध होने, जीवन में तिरस्कृत महसूस करने, लगातार मुँह की खाने और जीवन-संग्राम में क्षिप्त होने के बाद हँसते अधिक हैं। कभी अपने पर हँसते हैं तो कभी उस सामाजिक व्यवस्था पर हँसते हैं जिसके कारण उन्हें नरक-यातना भोगनी पड़ी है। सारी विषमताओं में उन्होंने यही तो चाहा था—

'सुनो अहा फूल
जबकि यहाँ दम है,
फिर, क्या रंजोगम है
पड़ेगी न धूल,
मैं हिला-डुला झाड़-पोंछ दूँगा
बदले में ज्यादा कभी न लूँगा।
बस मेरा हक मुझे दे देना
अपना जो हो, अपना ले लेना।'[६१]

निराला अपना ही हक चाहते थे, पर वह भी उन्हें क्या मिलता है? एक तरफ तो उन्हें आत्म-गौरव का बोध था, पर दूसरी तरफ उन्हें आत्म-तिरस्कार से भी जूझना पड़ा था। एक समय आया जब उनका सारा द्वन्द्व-जनित-आक्रोश व्यंग्यपूर्ण अट्टहास में बदल गया। यहाँ न तो राम है न रावण, न तुलसीदास हैं न रत्नावली और न सरोज। यहाँ तो बस निराला है और अपनी मोहभंग की स्थिति में गंभीरता-पूर्वक यह अनुभव कर रहे हैं, 'जग-धोका तो रो क्या?' अब 'उछाह से उनकी अनबन' हो चुकी है। अत. वे कहीं न कहीं परवश हैं,

आँख है लगी हुई,
जान है, जीवट भी है भगी हुई
दोनों आँखों वाला है, काना है
चूंकि कि यहाँ-दाना है।'

इस परवशता की अनुभूति 'गर्म पकौड़ी मे और तीखी हो गई हैं। निराला उनकी नियति के निर्माताओं मे कहीं भेद है। अब वे 'सरोजस्मृति' की रचना नहीं कर रहे हैं जिसमें वे कहते है—'मैं कवि हूँ पाया है प्रकाश।' प्रकाश उनके किसी काम न आ सका था और अगर आ भी सका था तो उसको उन्होंने यथासमय विस्मृत कर दिया था। अब वे छायावादी काव्य-चेतना—बम्हन की पकाई घी की कचौड़ी—को छोड़कर लोकवादी चेतना—तेल की गर्म पकौड़ी—के अधिक निकट आ

चुके थे। छायावादी नायिका को छोड़कर 'कोयल सी काली, चाल नही मतवाली' या 'रानी और कानी' पर आहे भरते थे। इसी परिवर्तन की मानसिकता से, मोहभंग के यथार्थबोध से 'कुकुरमुत्ता' का सम्बन्ध भी है। इसमें लोकवादी चेतना पर्याप्त मुखर है। इसकी संरचना में समाज की दो शक्तियों, लोकवादी-कुकुरमुत्ता, गोली, बांदी, गोली की माँ–और लोकशोषक-गुलाब, नवाब, बहार–को आमने-सामने रखा गया है। पूरी कविता में व्यंग्य मुखर है। इन व्यंग्यों के कई स्तर है। इनके बीच से उनकी नियति झाँकती दिखाई देती है, वैसे ही जैसे किसी झरोखे से सुन्दर पर परवश नायिका का मुख—

सच समझ जैसे रकीब
लेखको मे लण्ठ जैसे खुशनसीब।

तात्पर्य यह कि निराला की अनुभूति का निर्माण मनोमय जीवन के साथ ही इससे उच्च जीवन-बोध से हुआ था। प्रथम कोटि के अन्तर्गत लौकिक प्रेम, सौन्दर्य, आशा, निराशा, अवसाद, मानव प्रेम आदि का स्थान था, पर दूसरी कोटि के अनुभूति के अन्तर्गत प्रदीप्त, स्वयंप्रकाश और अधिमानस अनुभूति को मान्यता मिली थी। प्रथम कोटि का सम्बन्ध जीवन से था और द्वितीय कोटि का सम्बन्ध उनके आन्तरिक अभियान और आत्मसाक्षात्कार से। छोटी और बड़ी दोनों कविताओ मे प्रदीप्त मानस का उपयोग करने मे वे विशेष पटु है। इसका प्रमुख कारण उनका अन्तर्निहित ओज है। प्रौढरचनाओ मे अनुभूति गतिशील, प्रवाहशील और विकासशाल है। उसमे निर्णय, बोध, मूल्य और संवेदन को उचित स्थान मिला है। प्रमथ स्तर की कविताओं में इसका प्रवाह तीव्र है पर दूसर स्तर की कविताओ मे यह संयत, यथार्थवादी और व्यंग्यपूर्ण बन गया है। कवि के अन्तर्गत मोह भंग की स्थिति पैदा हुई है, उसकी कल्पना-प्रवणता कम हुई है और क्रमशः घनीभूत अवसाद और मृत्युबोध से वह प्रपत्ति को ओर उन्मुख हुआ है। अंततोगत्वा उसके जीवन मे ऐसी भी स्थिति उत्पन्न हुई है जब विसंगति बोध से गुजरते हुए, विक्षिप्तता के थपेड़ो और लम्बी बीमारी को झेलते उसकी आस्था पूरी तरह डिग गई है और वे अनुभव करने लगे है व्यर्थ प्रार्थना जैसे अब है, पंजर-पिजर कर से।' निराला ने जीवन की सारी स्थितियाँ झेली है। इसीलिए उन्हे अन्ततोगत्वा मोहभंग, मृत्युबोध, संत्रास, असंगति-बोध और परवशता के रहस्यमय भाव-कोणो का साक्षात्कार हुआ है। उनका काव्य यथासमय उनकी भाव-प्रधान, भाव-चिन्तन-प्रधान, बौद्धिक, प्रपत्तिमूलक और व्यंग्य-प्रधान मानसिकता का पर्याय है। छोटी कविताओं मे तो मिश्रित अनुभूति मिलती है, बड़ी कविताओं की तो जैसे यह प्रमुख विशेषता है। अनुभूति के तनाव और सुलझाव मे वे विशेष पटु है। अनुभूति की गहनता की स्थिति मे उनके काव्य मे उसके अनेक आवर्त उठते हैं, आपस में टकराते हैं, पुनः अपनी आन्तरिक ऊर्जा से स्वयं

सुलझ कर आगे बढ़ जाते हैं। निराला ने अनुभूति के रचनात्मक स्वरूप पर भी प्रकाश डाला है। उनकी सबसे बड़ी विशेषता है रचनाकार की अन्तर्दृष्टि से जीवन की अतल गहराइयों में प्रवेश करना, उसके विविध स्तरों का बोध प्राप्त करना और कलात्मक ढंग से संजोकर निश्छल रूप में हमारे सामने रख देना। उनकी मानसिक रुझान के कारण उनकी अनुभूति ललित, मूल्यबोधपरक, अखण्ड और खरी बन गई है। कुछ समय पश्चात् यह संघटना प्रधान रूप में स्वयमेव सामने आने लगी है। प्रौढ़ रचनाओं में यह विशेषता विशेष रूप से विद्यमान है।

पंचम अध्याय

अनुभूति संबंधी काव्य—सिद्धांत और कुछ अन्यान्य स्वरूप

चतुर्थ अध्याय मे अनुभूति पर विचार किया गया है। वहाँ हमारा प्रमुख उद्देश्य अनुभूति के स्वरूप और उसके कलात्मक निरूपण तक सीमित रहा है। हमने उन काव्य-सिद्धान्तो का उल्लेख नही किया है जो अनुभूति को समझने और समझाने के प्रमुख साधन माने गए है। हमे यह नही भूलना चाहिए कि रचना से सिद्धान्त का अवतरण होता है, सिद्धान्त मे रचना का अवतरण नही। फिर भी रचना में एक व्यवस्थित या अव्यवस्थित सिद्धान्त स्वत: क्रियाशील होता है अतएव उसकी गवेषणा प्रकारान्तर मे रचना की ही गवेषणा होती है। निराला ने स्वयं लिखा है, 'साहित्य मे अनेक दृष्टियो का एक साथ रहना आवश्यक है, नही तो दिग्भ्रम होने का डर है। इसीलिए मैने तमाम भावों की एक साथ पूजा की है[1]। 'उन्ही के शब्दों मे, 'सीमा के अन्दर घिर कर बन्द रहना जिस तरह मनुष्य की प्रकृति है, उसी तरह सीमा के संकीर्ण बन्धनो को पार कर जाना भी मनुष्यो की ही प्रकृति है, पहली एक देशिक है और दूसरी व्यापक।'[2] निराला ने साहित्य की उस व्यापक भूमि का संकेत करते हुए कहा भी है, 'इसलिए हम समाज तथा साहित्य मे अपनी बहुत दिनों की भूली हुई उस शक्ति को आमंत्रित करना चाहते हैं, जो अव्यक्त रूप से सबमें व्यक्त अपनी ही आँखो से विश्व को देखती हुई, अपने ही भीतर उसे डाले हुए, पानी की तरह सहस्र धाराओं मे बहती हुई स्वतंत्र, किरणो की तरह सब पर पड़ती हुई मधुर, उज्जवल अम्लान, मृत्यु की तरह नवीन जन्मदात्री, सर्वशाखाओ की तरह अगणित प्रसार से फैली हुई, प्रत्यक मूर्ति में चिरकमनीय।[3] 'निराला ने ऊपर जिन तथ्यों का संकेत किया है, वे उनकी रचनाओ मे उपस्थित है। निराला के साहित्य मे चिन्तन और अनुभूति के अनेक स्तर है। वे रचना की व्यापक प्रकृति को महत्व देते है और उनकी चेतना 'अगणित प्रसार मे फैली हुई चिरकमनीय' है। ऐसी मानसिकता के अध्यन के लिए किसी एक सिद्धान्त का अपर्याप्त होना स्वत: सिद्ध है। इसीलिए अनुभूति को समझाने के जितने सिद्धान्त प्रचलित है उन सभा का उल्लेख अपेक्षित है। उन्हे हम अधोलिखित रूप मे प्रस्तुत कर सकते है—

१—अवबोध
२—समानुभूति या तादात्म्य
३—कल्पनावाद
४—मानसिक दूरी
५—कला और अमानवीकरण
६—सामंजस्य
७—भ्रमवाद

८—कला का शब्दार्थ सम्बन्धी सिद्धान्त | इन दोनों को षष्ठ अध्याय मे निरूपित किया गया है ।

९—सत्य और कला

१०—आनंदवाद

११—भावसंवेग

मनोविज्ञान के क्षेत्र में संवेदन (Sensation), बोध (Perception) अनुभूति, संवेदना (Feeling) और अनुभव (Experience) का प्रयोग मिलता है । संवेदन का अनुभूति से सम्बन्ध होता है, इसे हम पूर्ववर्ती अध्याय मे चित्रित कर चुके हैं । साहित्य-सिद्धान्त-समीक्षकों ने अनुभूति और अवबोध का घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किया है । इस तरह की अनुभूति का सम्बन्ध घटना या उपादान से होता है जो सदैव प्रस्तुत होती है । इस तरह इसके दो रूप हमारे समक्ष आते है, (१) द्रष्टा (subject) और (२) दृश्य (object) । संवेदनशील रचनाकार द्रष्टा और संवेद्य उपादान दृश्य होता है । द्रष्टा और दृश्य के माध्यम से पूर्णबोध की प्राप्ति की क्रिया कई स्तरों मे घटित होती है । प्रथम स्थिति मे न तो द्रष्टा परिवेशीय विशेषता से मुक्त होता है और न दृश्य, अतएव बोध की क्रिया विषम होती है । इसके पश्चात् मानस संवरणशील बनता है । इसमे उपादान और रुझान दोनो का सहयोग होता है । उपादान को आकर्षित करने की क्षमता और द्रष्टा की रुझान के कारण आकर्षित होने की क्रिया से जो तात्कालिक बोध पैदा होता है उसमें विवेकपूर्ण-विभेदीकरण विद्यमान रहता है । दृश्य के आकर्षण से उसकी विशेषताओ को अधिगत किया जाता है और द्रष्टा की रुझान के कारण स्मृति और अचेतन मानस की उपलब्धि के आधार पर उसे व्यापक स्वरूप प्रदान किया जाता है । इस तरह बोध संबर्द्धित और परिवर्द्धित होता रहता है । दृश्य स्वरूप इन्द्रियों के कारण मानस मे संवेदन उत्पन्न करता है जिससे स्नायु-संस्थानीय क्रिया प्रभावित होती रहती है । संवेदन ही मानसिक क्रिया के माध्यम से संवेदना का रूप ग्रहण करते है । इसमे बोध, निर्णय और मूल्य का सहयोग होता है । इस पूरी क्रिया पर विचार करते हुए मनोवैज्ञानिकों ने लिखा है, 'इसके पूर्व कि हम जीवन और उसकी समस्याओं पर गम्भीरता से विचार कर सकें, हम ऐसे उद्देश्यो से प्रेरित रहते हैं जो किसी एक अवबोध के चक्र मे नही समाविष्ट हो सकते । ये निर्देश विवेक से नहीं संवेदनशीलता से प्राप्त होते है । किसी दृश्य घटना के विचार की स्थिति में हमारी मनोवृत्ति महत्वपूर्ण ही नही होती अपितु अपनी विविधता मे घटना से कम यथार्थ भी नही मानी जा सकती । मनोवृत्तिपरक प्रतिचेष्टा से सम्बद्ध संवेदनशीलता लालित्यबोधीय होती है । यही संवेदना हमारे जीवन-स्पन्दन का निर्णय करती है और हममें शक्ति और व्यवस्था उत्पन्न करके उसे सही मार्ग पर चलने की प्रेरणा देती है ।[४]

मनोवैज्ञानिकों के अलावा अन्य निकाय के विचारकों ने भी अवबोध पर विचार किया है। इनमे अनुभववादी और बुद्धिवादी विचारक प्रमुख है। अनुभववादियो ने प्रभाव के महत्व पर प्रकाश डाला था और बुद्धिवादियों ने अवधान पर। उन्होंने बोध के लिए आत्म नियन्त्रण और अवधान पर विशेष बल दिया था और तीव्र भावावेग से मुक्त होना आवश्यक माना था। सिद्धान्त में यह बात जितनी सरल है, रचना की दृष्टि से उतनी ही कठिन। अवधान का केन्द्रीकरण उसके लिए आवश्यक होता है, उससे आत्म-नियन्त्रण मे सहायता मिलती है। पर भावावेश से पूर्ण मुक्त होना बहुत सधे कलाकार का कार्य होता है। पहले के अध्यायो मे रचना को स्तरों मे विभक्त किया गया है। तत्परता को स्थिति मे व्यक्ति कुछ रचने का प्रयत्न करता है। लेकिन रचना प्रयास से मुक्त होती है। जब उसके अन्तस्थ विचार किसी प्रेरणा से उद्‌बुद्ध होकर सामने आते हैं तो वह उन्हे रचना मे ढालने का प्रयत्न करता है। केवल बोध रचना मे सहायक नही होता है। उसके लिए तो उपयुक्त रचनाशील सवेदना की अपेक्षा होती है। तृतीय स्तर पर रचना के विचार जब मानस मे पुनः कौंधन लगते है, विचार-सन्दर्भित-क्षेत्र जब मिलकर नए रूप मे अवसीमा मे खिचकर आते है तो रचना का सूत्रपात होता है। विचार या बोध तो रचना की सामग्री होते है। उनका उपयोग निश्चित रचनात्मक मानसिकता द्वारा किया जाता है। प्रत्यक्ष ज्ञान-प्रधान मनोवैज्ञानिको ने भी सचेतन व्यक्ति और वस्तुजगत के घात-प्रतिघात का उल्लेख किया है। व्यक्ति और उपादान अनुभूति के लिए महत्वपूर्ण है। लेकिन अनुभूति के बाद रचना जिस अनुभूति-संघटना मे ढल कर हमारे समक्ष उपस्थित होती है, वह पूर्वानुभूति से भिन्न होती है। अवबोध के विचारको ने मानस मे अनुभूति-संग्रह की क्रिया पर तो विचार किया है, पर रचना के समय उन सग्रहात अनुभूतियो मे कोई परिवर्तन भी होता है, इसपर विचार नहीं किया है। संवेदन और संवेदना कलात्मक अनुभूति मे किस रूप मे बदलकर हमारे समक्ष उपस्थित होते है, बोध जब कलात्मक अनुभूति मे ढलता है तो उसमे क्या परिमाणात्मक और गुणात्मक भेद हो जाता है, इस पर उन्होने विचार नही किया है। उनकी दृष्टि अनुभूति और कलात्मक अनुभूति की विभेदकता की ओर नहीं गई है। हमें विशेष रूप से यह हृदयंगम करने की आवश्यकता है कि अनुभूति-सृजन का उपजीव्य है, पर कला मे ढलते समय यह न तो केवल संवेदन रह जाती है, न संवेदना और न बोध, अपितु संश्लेषण द्वारा एक अभिनव रूप में सामने आती है। हर अनुभूति में कलात्मक उनुभूात की विशेषतायें होती है, पर इसके अतिरिक्त और कुछ भी रहता है। कला मे ढलते समय यह रचना की अभिरुचि की छलनी से छन उठती है। अनावश्यक तत्व अलग हो जाते हैं और आवश्यक तत्व संश्लेषित होकर हमारे समक्ष उपस्थित हो जाते है।

अनुभूति और तादात्म्य को लेकर बड़ा विवाद हुआ है। इसके पक्ष और

विषय में कई मत आए हैं। इस शब्द का प्रयोग सबसे पहले मनोविज्ञान के क्षेत्र में किया गया था।[५] 'एम्पेथी' का शाब्दिक अर्थ होता है, 'टुफील इन्टू वन'। ऐसा माना जाता है कि संस्कृति के सामान्य उपादान हमारी कल्पना के लिए उस समय विशेष महत्वपूर्ण बन जाते हैं जब हम अपनी संवेदनपूर्ण क्रियाओं को उन तक प्रक्षेपित करके उनके साथ तादात्म्य स्थापित करते हैं। कला का लालित्यबोधीय रूप वस्तुगत नही होता। यह कल्पना का स्वतंत्र सृजन और दृश्य-जगत का विषय होता है। इसके नैसर्गिक तत्व मन से निर्मित होते है और अभिव्यक्ति से इसका निकट का सम्बन्ध होता है।[६] 'वर्नन ली' ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि कला-सृजन मे, कई उद्देश्य क्रियाशील होते हैं, फिर भी उनमें एक निर्देशक तत्व प्रच्छन्न रूप से क्रियाशील पाया जाता है। इसे हम सौन्दर्योपलब्धि का सिद्धान्त मान सकते है। हर सुन्दर उपादान का रूप होता है। ये रूप हमारे लिए तब विशेष आकर्षक बन जाते है जब हम अपनी संवेदना को उनमें प्रक्षेपित करते हैं और इस क्रिया से हमारी इन्द्रियाँ सन्तुष्ट होकर हमें आनन्द प्रदान करती है। जब हम किसी वस्तु को देखते है तो हम वस्तु पर अपने मानस में संग्रहीत विचारों को आरोपित करते है। इस स्थिति में हमारे विचार और उपादान में एक अन्तःसम्बन्ध स्थापित हो जाता है। पर रचना के लिए यही पर्याप्त नहीं है। द्रष्टा और दृश्य का यह अन्तःसम्बन्ध विधायक कल्पना के सहयोग से रूपायित होता है। 'थियोडोरलिप' ने उपादान के स्थान पर लालित्यबोधीय उपादान का प्रश्न उठाया है। उनकी दृष्टि में उसमें ऐन्द्रिय-बोध की अद्भुत क्षमता होती है। लेकिन यही बोध सब कुछ नही होता। यह तो मात्र उपादान है जिसे आधार की अपेक्षा है। आधार इन्द्रिय-बोध से उत्पन्न विविध संवेननाओं का पुंज होता है। इस तरह हमारे ससक्ष दो स्वरूप उपस्थित होते हैं। एक आत्मतत्व है जो हमारी संवेदनाओं का पुंज है और दूसरा लालित्यबोधीय उपादान है। तादात्म्य की स्थिति में उपादान और आधार की विशेषतायें, अदृश्य होकर एक नए अनुभव के रूप में हमारे समक्ष उपस्थित होती हैं। हरबर्ट लैंगफील्ड ने बोध और प्रेरक चित्तवृत्ति के सामंजस्य को तादात्म्य का विषय कहा है। प्रो० ग्रूज ने तादात्म्य की तीन स्थितियों को उल्लेख्य माना है। पहली स्थिति में संवेदन उपादान से मिलकर एकमेक हो गए रहते हैं। दूसरी स्थिति में संवेदन पूर्णतः अशक्त हैं, फिर भी उपादान से ध्यान विकेन्द्रित नहीं होता है। इस स्थिति में द्रष्टा अपने को दृश्य में प्रक्षेपित करता है। तीसरी स्थिति वह है जब संवेदन पूर्णतः सशक्त होते हैं और इस स्थिति में उपादान का ज्ञान स्वतः हो जाता है।

विल्हेम बोरिंगर ने एम्पेथी और ऐब्स्ट्रेक्शन' नामक लेख में अमूर्तन और तादात्मय की भेदक रेखा का उल्लेख किया है। उनकी दृष्टि में तादात्म्य के द्रष्टा को अपने को दृश्य में प्रक्षेपित करना पड़ता हैं, पर 'एब्स्ट्रेक्शन' की स्थिति में वह

दृश्य को स्वतंत्र अस्तित्व प्रदान करता है और अपनी भावगत सत्ता को उससे अलग रखने के लिए प्रयत्नशील पाया जाता है। इसीलिए दूसरी स्थिति में कलाकार रूप की कल्पना कर सकता है। यह सत्य है कि कलाकार को ऐन्द्रिय आनन्द से अधिक महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करना पडता है। वह भूमिकापर्याप्त, उदात्त, ओजपूर्ण और प्रशस्त होती है। तादात्म्य स्वतः मे इस उद्देश्य को प्राप्त करने मे असमर्थ होता है। 'ऐब्स्ट्रेक्शन' ऐसे कलात्मक उद्देश्य को महत्व प्रदान करता है जो भौतिकता विरोधी होता है। इसी लिए वह उसे निभा पाता है। कलात्मक उद्देश्य कलाकार को रचना प्रक्रिया और उपादान की स्थूल सत्ता से मुक्त करके ऐसी आन्तरिक आवश्यकता का साक्षात्कार कराता है जो अपने स्वरूप मे निर्माणोन्मुख होती है। बोरिंगर के शब्दो मे कलात्मक उद्देश्य मे निहित आवश्यकता का इतिहास समष्टि संवेदन का इतिहास होता है। कलाकार इसी के माध्यम से व्यष्टि और समष्टि के क्रमबद्ध स्वरूप का साक्षात्कार करता है। यह आवश्यकता शैली के माध्यम से अभिव्यक्त होती है। इसीलिए शैली को इसका प्रमुख निर्माणक तत्व घोषित किया गया है। इस धारा के विचारको का दृष्टिकोण भौतिकता-विरोधी है। उनकी दृष्टि में भौतिकता के अन्तराल मे प्रच्छन्न रूप से क्रियाशील सृजनशील-रचनात्मक-जीवन-स्पन्दन अधिक महत्वपूर्ण होते हैं। इनके साक्षात्कार के लिए सृजन को बाह्य निराशाप्रद स्वरूपों से मुक्त होना आवश्यक है। इस मुक्ति के द्वारा वह जो कुछ भी प्राप्त करता है वह स्थायी शान्ति, आनन्द और सृजनशीलता का पर्याय बन जाता है। कलाकार इसी लिए नश्वर को अनश्वर, क्षणभंगुर को शाश्वत और सामान्य को असामान्य रूप प्रदान करने मे सफल होता है।

मानसिक दूरी (Paychical distance) का सिद्धान्त भी मनोवैज्ञानिक संस्पर्शो से मंडित है। साहित्य के क्षेत्र मे वस्तुगत-आत्मगत का विवाद सदैव किसी न किसी रूप मे क्रिया शील रहा है। पर इस सिद्धान्त के प्रतिपादन के पूर्व वह अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच गया था। यह सिद्धान्त भी प्रकारान्तर से उसी विवाद के एक पक्ष के उद्घाटन का प्रयास है। एडवर्ड बुलो ने कई तरह की दूरियों का संकेत किया है। उदाहरण के लिए दर्शक और कला के बीच की दूरी, कलाकृति मे निरूपित दूरी और कालगत दूरी को लिया जा सकता है। बुलो ने भी इन दूरियों का संकेत किया है, पर उस अर्थ मे नही जिस अर्थ मे इनका पहले प्रयोग किया गया था। उनके विवेचन का प्रमुख आधार मानसिक दूरी का सिद्धान्त था। किसी भी दृश्य अथवा घटना से व्यक्तियो मे दो तरह की प्रतिक्रियाये होती हैं, (१) अनुकूल (२) प्रतिकूल। इसका प्रमुख कारण मानसिक दूरी है। यह दूरी हमारी आत्मा और हमारे भाव संवेगों के बीच पाई जाती है। इसे हम आत्मा और भावसंवेगों के माध्यम उपादान के बीच की दूरी भी कह सकते है। दूसरे शब्दों में यह व्यक्ति की सचेतन-सत्ता और भाव उत्पन्न करने वाले मूल स्त्रोत के बीच की दूरी भी मानी जा सकती है। बुलो की दृष्टि

मे मानसिक दूरी की क्रियाशीलता जटिल होती है। इसका एक पक्ष निषेधात्मक या नकारात्मक होता है। इसमे उपादान सम्बन्धी व्यावहारिक ज्ञान और मनोवृत्ति से हम मुक्त रहते है। पर इसका दूसरा पक्ष प्रतिषेधात्मक या सकारात्मक भी होता है, जिसमे दूरी के कार्य-व्यापार द्वारा उत्पन्न निषेधात्मक कार्य-व्यापार को संवर्द्धित और परिवर्द्धित किया जाता है।[७] प्रायः इस दूसरे पक्ष को प्रधानता देखने मे आती है। जो वस्तु हमे प्रभावित नही कर सकती, अथवा जो अपने अभिनव संश्लेषण द्वारा अव्यक्त सत्य की वाहक नही बन पाती वह कलात्मक अनुभूति की जनक नही हो सकती। मानसिक दूरी के सन्दर्भ मे वस्तुगत और आत्मगत शब्दों का प्रयोग इन शब्दो को उनकी संकीर्ण घेरे बन्दी से मुक्त करके एक व्यापक पृष्ठभूमि पर प्रतिष्ठित करता है। न तो कला विज्ञान जैसे वस्तुगत हो सकती है और न किसी इच्छा या विश्वास के अभिव्यक्तीकरण की तरह आत्मगत। यह तो यथार्थ मे इनका संश्लेषण होती है। इस सिद्धान्त के अनुसार सौन्दर्य केवल अनुकूल अथवा ग्राह्य नही अपितु उससे कुछ विशेष होता है। यह सिद्धान्त कलात्मक रुझान और सौन्दर्य बोधीय चेतना की प्रमुख विशेषता का उद्घाटन करता है। यथार्थ मे मानसिक दूरी उपलब्धि का प्रमुख साधन उपादान और उससे उत्पन्न प्रभाव को अपने से अलग करना अथवा उपादान से सम्बद्ध विचारो और अनुभूतियो को व्यावहारिक उद्देश्य से मुक्त करना है। इसी स्थिति मे उपादान का चिन्तन संभव हो पाता है। लेकिन इसका यह अर्थ नही होता कि इस स्थिति मे द्रष्टा और दृश्य का सम्बन्ध विघटित होकर निर्वैयक्तिक बन जाय। कहा जा चुका है कि कला विज्ञान की तरह निर्वैयक्तिक नही होती। तो फिर यह सोचने की बात है कि मानसिक दूरी और वस्तुगत दृष्टिकोण के अन्तः सम्बन्ध को कैसे निरूपित किया जाय? बुलो ने इसका समाधान प्रस्तुत किया है। उनका कहना है, मानसिक दूरी केवल निर्वैयक्तिक या विशुद्ध बौद्धिक रुचि से मुक्त होती है। इसमे वैयक्तिक सम्बन्धो का विवरण होता है। प्रायः ये सम्बन्ध भावात्मक रंगो से रंगे भी होते है, पर सब कुछ के बावजूद इनकी एक विचित्र विशेषता होती है। इनकी यह विशेषता वैयक्तिक सम्बन्धो के छन जाने से उत्पन्न होती है। हम यह भी कह सकते कि कला मे 'पर्सनल बट डिस्टेन्स्ड'[८] का निरूपण होता है। उच्च कलाकृति इसी दूरी के कलात्मक निरूपण का प्रतिमान होती है। यह दूरी परिवर्तनशील होती है। इस परिवर्तन के मूल मे दृश्य द्वारा प्रस्तुत परिस्थितियो और शर्तो तथा द्रष्टा द्वारा उनके परिग्रहण का विशेष सहयोग होता है। यह दूरी व्यक्ति की क्षमता और उपादान की विशेषता की ऋणी होती है। हम कला-सृजन और कला के आस्वादन मे एक दूरी की निश्चित सीमा का दर्शन करते है। इस सीमा के बढ़ जाने या घट जाने से दोनो स्थितियाँ प्रभावित होती है। हमे कला मे दूरी की कमी के दो कारणो का दर्शन होता है, (१) दूरी की अपर्याप्तता और (२) दूरी की अधिकता। पहली स्थिति में नग्न यथार्थवादी कला का

प्रादुर्भाव होता है। और दूसरी में कृत्रिम और असंबद्ध जीवन-प्रदान करने वाली कला का। कला की रचना और आस्वादन मे एक न्यूनतम सीमा (minimum limit) का दर्शन होता है। इसी सीमा पर कलाकार को लालित्यबोधीय गुणों को बनाए रखना और उसे उचित ढंग से परख पाना संभव होता है। लेकिन व्यक्ति-विभेद के कारण इसकी किसी निश्चित स्थिति का निर्धारण संभव नही है।

कला के अमानवीकरण के सिद्धान्त द्वारा स्पेन के दार्शनिक जो० सी० आर्टेगा-वाइ गैसट ने बुलो से भिन्न रूप मे तटस्थता के सिद्धान्त का निरूपण किया है। उनका निबन्ध कई भागों मे विभक्त है। पहले भाग मे उन्होने 'आर्टिस्टिक आर्ट' पर विचार किया है। इस सन्दर्भ मे उनका कहना है कि प्रायः लोग कला मे अपने को पाने का प्रयास करते हैं, अपने सुख-दुख, हर्ष-शोक, आशा-निराशा को पाना चाहते है। इससे यह सिद्ध होता है कि अधिकांश लोगों के लिए लालित्यबोधीय आनन्द मूलत जीवन के प्रति उनके दृष्टिकोण से भिन्न नही बन पाता। लेकिन सत्य यह है कि कलाकृति द्वारा निरूपति मानव नियति मे उल्लसित और अवसादग्रस्त होने और यथार्थ कलात्मक आनंद को प्राप्त करने मे भेद होता है। अधिकाश व्यक्ति कलाकृति की पारदर्शकता को दृष्टि से ओझल करके उस नग्न-मानव-यथार्थ मे लोट-पाट कर अपने को संतुष्ट कर लेते है, जिसका कला संकेत करती है।[१०] इससे कला के तत्व की ओर ध्यान नही जाता और मानव-नियति प्रमुख हो उठती है। यथार्थवादी या अतियथार्थवादी कला मे यह प्रवृत्ति बहुत बढ गई है। उनसे हमे उस मानव नियति का ज्ञान होता है जिसे समझने के लिए मानवीय सवेदनशीलता अपेक्षित होती है, पर रचना और मूल्यांकन दोनो धरातलो पर लालित्यबोधीय संवेदनशीलता तिरस्कृत हो जाती है। उनके आस्वादन से हम उस विशेषता को उपलब्ध नही कर पाते हैं जो लालित्यबोधीय संवेदनशीलता की आवश्यक शर्त होती है। यह निर्विवाद रूप से स्वीकार किया जा सकता है कि विशुद्ध कला संभव नही है, पर कला का शुद्धीकरण हो सकता है। लेकिन इस शुद्धीकरण के लिए हमे उस मानवीय तत्व को क्रमश. कम करना पडेगा जो स्वच्छन्दतावादी और प्रकृतवादी कला का मेरुदण्ड रहा है। इस क्रिया मे एक ऐसा बिन्दु भी आ सकता है जब मानवीय तत्व इतने विरल हो जाँय कि वे हमे दिखाई न पडें। ऐसी स्थिति मे हमे वह उपादान मिल सकता है जो केवल उसी व्यक्ति द्वारा देखा जा सकता है जिसमे अद्भुत कलात्मक संवेदनशीलता होती है। वह कलाकार की कला होगी, जनता की कला नही।.....नई कला कलात्मक कला है।[११]

निबन्ध के दूसरे शीर्षक, प्रत्यक्ष ज्ञान की नोक-झोक (some scraps of phenomenology), में लेखक ने एक मरणासन्न व्यक्ति के निकट उपस्थित, पत्नी चिकित्सक, चित्रकार और संवाददाता की मन स्थितियों की भिन्नता के द्वारा मानसिक दूरी के सिद्धान्त का स्पष्टीकरण किया है। उपस्थित व्यक्ति एक ही जीवन-

सत्य के दर्शक है, पर वह उनमें एक ही घटना से संबंधित भिन्न-भिन्न मनः स्थितियों का जनक बना है। उनके द्वारा गृहीत ये जीवन-अनुभव इतने भिन्न ज्ञात होते हैं कि उनमे किसी एक उभयनिष्ठ केन्द्र को खोज पाना कठिन है। फिर इस प्रश्न का उठाना स्वाभाविक है कि यथार्थ के जो भिन्न-भिन्न स्वरूप उनके मानस में अवतरित हो रहे है, उनमे से किस को अधिक महत्वपूर्ण माना जाय। पत्नी का पति के साथ सम्बन्ध रहा है। मरणासन्न व्यक्ति उसका जीवन है, इसलिए वह उसकी पीड़ा से इतनी कातर हो जा रही है कि पति की पीड़ा उसकी पीड़ा बन जाती है। वह उस पर विचार नही करती अपितु उसे भोगती है। डाक्टर अपने पेशे से रोगी से जुड़ा हुआ है। यह पत्नी जैसी निकटता का अनुभव नही करता, फिर भी वह घटना का सहयोगी है। वह रुग्ण व्यक्ति को बचाने के प्रयत्न में लगा है। वह अपने व्यवसाय के प्रति निष्ठावान होने के कारण उसके लिए उत्तरदायी है। संवाददाता पत्नी और चिकित्सक दोनों की तुलना मे अधिक तटस्थ है। उसमे कष्ट के प्रति सहज सहानुभूति का अवतरण नही होता है। वह घटना पर विचार करता है, उसको उस रूप मे सँजोता है कि उसे पत्र में प्रकाशित कर सके और अपने विवरण से लोगों को प्रभावित कर सके। चित्रकार घटना के प्रति अन्य लोगों से अधिक अन्यमनस्क और तटस्थ है। इससे यथार्थ और व्यक्ति के बीच की दूरी पर प्रकाश पड़ता है। रुग्ण व्यक्ति के साथ शारीरिक और मानसिक रूप से सम्बद्ध व्यक्ति में दूरी का सर्वथा अभाव है। वे दो शरीर और एक प्राण है। इसलिए वे उसे स्वयं भोगते है। कहने की आवश्यकता नही कि कला का प्राण यही भोगा हुआ जीवन-सत्य है। इसी से उसमे विश्वसनीयता उत्पन्न होती है, वह सप्राण बनती है। इस बात से यह सिद्ध होता है कि भोगा हुआ जीवन-सत्य अथवा यथार्थ मानव सत्य ही कला का आधार होता है। पत्रकार और चित्रकार उससे दूर है, अतएव उनका दृष्टिकोण अमानवीय है। आज के साहित्य मे वर्गगत चरित्रांकन मे यह प्रवृत्ति विशेष रूप से दृष्टिगोचर होती है। यह सत्य है कि भोगे हुए जीवन-सत्य मे एक तीखापन, खरापन और अन्तर्दृष्टि होती है। उसे यथार्थ रूप मे ग्रहण करना कलाकार का प्रमुख धर्म है। आधुनिक कलाकार कला के उत्कृष्ट मार्ग (**Royal road to art**) को अपनाना चाहता है। इससे उसकी शैली विशिष्ट बन जाती है और उसमे तटस्थता आवश्यकता से अधिक बढ़ जाती है। इससे भी कला 'डीह्यूमेनाइज्ड' हुई है।

'गैसैट' के विचार को पूर्ण समर्थन नही मिल पाया है। केनेथ क्लार्क ने अपने निबन्ध 'नेकेड और न्यूड' द्वारा उनकी मान्यताओ से असहमति प्रकट की है। उन्होंने स्पष्ट रूप मे स्वीकर किया है कि अमानवीय तत्व कला का उपजीव्य नही हो सकता। कलाकार केवल अनुकरण नही करता, वह इसके द्वारा कला को पूर्ण बनाता है। इस क्रिया मे आन्तरिक और बाह्य के सामंजास्य से कला अभिनव स्वरूप प्राप्त कर लेती है।

ह्यूगो मुंस्टरबर्ग ने अपने 'आइसोलेशन' (Isolation) के सिद्धान्त के द्वारा उसे नया रूप दिया है। उन्होंने लालित्यबोधीय चित्तवृत्ति को व्यावहारिक चित्तवृत्ति से मुक्त माना है। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि उन्होंने लालित्यबोधीय विभावन और वैज्ञानिक ज्ञान के भेद से हमे परिचित कराया है। उन्ही के शब्दो में कहा जा सकता है, 'हमें ज्ञान की उपलब्धि तब होती है जब हम उपादान को बदलकर इस रूप में प्रस्तुत करते है कि वह अन्य उपादानो से सम्बद्ध हो सके, पर हमें सौन्दर्य की उपलब्धि तब होती है जब हम उपादान-विशेष को इस रूप मे प्रस्तुत करें कि वह अकेला दिखाई दे।'[१२] कलाकार वैज्ञानिक से भिन्न रूप मे तात्कालिक बोध के उपादान को सप्राण और मूल्यवान बनाता है। ऐसा करते समय वह अनुभूति के तत्वो को उन सन्दर्भो से अलग रखता है जो अनावश्यक हैं।

सामंजस्य का सिद्धान्त पहले से ही किसी न किसी रूप मे प्रचलित रहा है, पर आधुनिक युग मे सी० के० आग्डेन, आइ० ए० रिचर्ड्स और जेम्सवुड ने इसे मनोवैज्ञानिक ढंग से विवेचित करके उचित काव्यशास्त्रीय स्वरूप प्रदान किया है। 'सिनएस्थेसिस' नामक लेख के शीर्ष पर इन लोगो ने 'युंगचुंग' से एक उद्धरण प्रस्तुत किया है। यह उद्धरण कई दृष्टियो से महत्वपूर्ण है। इसे हम 'सिनेस्थेसिस' की पूर्वपीठिका मान सकते है। लेखको ने सबसे पहले 'युंग' और 'चुंग' की व्याख्या की है। किसी परिवर्तन की अपेक्षा न रखना 'चुंग' और संभूति के क्रिया-कलाप को नियंत्रित करना 'युंग' कहलाता है। 'चुंग' सन्तुलन का प्रतीक है। इस स्थिति मे हर वस्तु का निश्चित स्वरूप होता है जो निरन्तर विकसित होता रहता है। इन लेखको ने मनोविज्ञान का सहारा लिया है। उसी के आधार पर ये निःसंशय भाव से यह कह सकते है कि सौन्दर्यानुभूति मे मानव अनुभूतियो मे अद्भुत सामंजस्य उत्पन्न होता है। यह सामंजस्य प्रवृत्तियो के दमन से नही अपितु उनकी सक्रियता से रूप ग्रहण करता है। सौन्दर्यानुभूति की दृष्टि से यह आवश्यक है। सामंजस्य की स्थिति मे मानस में आत्म-नियन्त्रण, स्वतन्त्रता और प्राजलता पाई जाती है। सामंजस्य से अद्भुत विश्रान्ति का आविर्भाव होता है।

कला और भ्रम के अन्त सम्बन्ध का विवेचन और विश्लेषण साहित्य का प्रमुख उपजीव्य है। इस पर सौन्दर्यशास्त्र और आलोचना मे गंभीरता से विचार किया गया है। प्लेटो ने बहुत पहले कला को सत्य से दुहरी दूर मानकर इसका बहिष्कार किया था। प्रमुख विचारक गोम्ब्रिच का दृष्टिकोण प्लेटो से भिन्न था। इन्होंने रचना-प्रक्रिया को कलात्मक और वैज्ञानिक ढंग से समझने का प्रयत्न किया था। इन्ही दोनो के समन्वय के आधार पर उन्होने उस सूक्ष्म प्रत्यक्ष-ज्ञान के मर्म को भी समझा था जिसे उनके पूर्ववर्ती विचारक नही समझ पाए थे। प्रायः अन्य लोगो की तरह उनके समक्ष भी यही प्रश्न उपस्थित था कि मस्तिष्क किस तरह अनिश्चित तत्वों को निश्चित स्वरूप प्रदान करता है? इसका उन्होंने निर्माण और

सादृश्य के आधार पर गम्भीर विवेचन किया था। उनके अनुसार 'निर्माण की स्थिति मे मस्तिष्क 'स्कीमेटा' का प्रयोग करता है। इसमे अनुभूति को व्यवस्थित रचनात्मक स्वरूप प्राप्त होता है। इससे प्राप्त निर्मिति मस्तिष्क की सहज निर्मिति से निकृष्ट होती है। अतएव इसे तथ्यान्वेषण की संज्ञा दी जा सकती है। तथ्यान्वेषण के पश्चात् मस्तिष्क की सादृश्य-विधायक-क्रिया आरम्भ होती है। इसी क्रिया से कलात्मक सृजन सम्भव होता है। कलाकार उपलब्ध सामग्री को प्रतिभा द्वारा इस रूप में बदल देता है कि वह नए रूप में हमारे समक्ष उपस्थित हो सके।[११]

गोम्ब्रिच ने इसी संदर्भ मे भ्रमवाद पर विचार किया है। उनकी दृष्टि में रचना-प्रक्रिया स्वयं मे प्रवंचक होती है। इस क्रिया मे यथार्थ अनुकरण संभव नहीं होता है। सांस्कृतिक और मानसिक स्वरूप भी छद्मवेश मे अपना कार्य करते है। इससे कला मे यथार्थ से भिन्न चित्रो का आनयन स्वयमेव संभव हो जाता है। इसी क्रिया के कारण भ्रम को प्रश्रय मिलता है। लेखक ने इस भ्रम को पूर्ण स्पष्टता के साथ निरूपित नहीं किया है। वे तो केवल इतना ही मानते हैं कि एक अर्थ मे हर कला में भ्रम को महत्वपूर्ण स्थान मिलता है, क्योकि (रचना की स्थिति मे) कलाकार के समक्ष ऐसा कोई आदर्श नही होता जिसका वह अनुकरण करे। दूसरे अर्थ में निश्चित आदर्श का अनुकरण कला मे यथार्थ और वस्तुगत प्रतिमानों का परिचायक नहीं हो सकता। कला मे ऐसी स्थितियो का दर्शन भी होता है जहाँ हमें यथार्थ के अनुकरण के भ्रमपूर्ण छलांग का अभाव नही मिलता। ऐसी कला में भ्रमोत्पादक क्षमता नही होती। सत्य यह है कि अनुभूति जब रचना मे ढलती है तो उसका क्षेत्र ही सीमित नही हो जाता अपितु वह रचनात्मक आवश्यकता और उद्देश्य के अनुरूप परिवर्तित होकर हमारे समक्ष उपस्थित होती है। इस परिवर्तन से उसपर अपर रूप का आरोप हो जाता है। वह लैंजर के शब्दों मे 'अदरनेस फ्रॉम रियलिटी' की परिचायक बन जाती हैं। इसी से भ्रम उत्पन्न होता है।

मॉर्गन ने नाट्य भ्रान्ति के सन्दर्भ मे 'फॉर्म इन सस्पेन्स' का उल्लेख किया है। नाटक का विषयविन्यास स्वतः मे महत्वपूर्ण नही होता। वह तो तब महत्वपूर्ण बनता है जब दर्शक की कुतूहल भावना उसपर आरोपित होती है और वह उसी के प्रभाव में साँस रोककर उसे देखता जाता है। मॉर्गन ने 'फॉर्म इन सस्पेन्स' को घटना से सम्बन्धित कुतूहल से भिन्न माना है। पहला नाटक का आवश्यक विषय होता है और दूसरा उसकी रचना से सम्बन्धित घटना के प्रति जिज्ञासा। पहला आदि से लेकर अन्त तक चलता रहता है और दूसरा घटना के साथ ही समाप्त हो जाता है। लेकिन क्या कलात्मक भ्रम का उद्देश्य केवल विश्वास पैदा करना या घटना को विश्वसनीय बनाना है? लैंजर ने इस पर विचार किया हैं। उनका कहना है कि मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक यही मानते हैं कि कलात्मक भ्रम का उद्देश्य 'मेक बिलीव्ह' है। पर उनकी धारणा त्रुटिपूर्ण है। यह तो यथार्थ में किसी बद्धमूल विश्वास

से मुक्त करके सामान्य अर्थों से मुक्त इन्द्रिय विशेषताओं के चिन्तन की ओर प्रेरित करने का प्रमुख साधन है। कला भौतिक वस्तु नही होती, वह उसके अनुरूप या सदृश होती है। इसी सादृश्य से भ्रम पैदा होता है। इस दृष्टि से भ्रम अर्द्धकला और अर्द्धसत्य होता है।[१५]

इधर साहित्य के क्षेत्र मे शब्दार्थ सम्बन्धी (Semantic) भाषा शास्त्रीय (Philological) और पदरचना सम्बन्धी (Morphological) आलोचना का प्रचलन हो गया है। इससे आलोचना के क्षेत्र मे नई मान्यताओं का अवतरण हुआ है। शब्दार्थ सम्बन्धी सिद्धान्त के अनुसार कला प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है। इसके द्वारा संप्रेषण का कार्य सुगम बन जाता है। इस सिद्धान्त का समुचित स्वरूप प्रतीकवादी आन्दोलन के साथ विकसित होकर हमारे समक्ष उपस्थित हुआ है। लेकिन उसके पूर्व ही इसके सूत्र किसी न किसी रूप में हमारे समक्ष आ चुके थे। जर्मनी के विचारक 'विको' ने बहुत पहले कहा था कि भाषा का सूत्रपात आंगिक चेष्टा के (Gesture) साथ हुआ है। पुनः यह मिथ के स्तरों से होती हुई आलंकारिक भाषा के रूप में हमारे समक्ष उपस्थित हुई है। आज के युग में अर्न्स्ट कैसिरर ने सर्वप्रथम इसे निश्चित स्वरूप प्रदान करने का प्रयत्न किया। इनके पूर्व काण्ट और हर्डर ने इस विषय पर विचार किया था। कैसिरर के विवेचन पर काण्ट का प्रभाव भी था। उसने स्वीकार किया था कि मानस निष्क्रिय दर्पण नही है जो वस्तुओ को यथातथ्य रूप में प्रतिच्छायित करे। वह तो यथार्थ में सक्रिय शक्ति है जो दृश्य और अनुभूत तथ्यों के स्वरूप को प्रभावित करता है। हर्डर ने काण्ट के पहले स्वीकार किया था कि भाषा का आविर्भाव मिथ से होता है। कैसिरर ने हर्डर की मान्यता का विरोध किया। उसने भाषा और मिथ को एक ही पिता के दो पुत्रों के सदृश माना और इनके उद्भव के मूल मे प्रतीकात्मक सूत्रीकरण की प्रवृत्ति को मान्यता प्रदान की।[१६] कैसिरर ने इस प्रवृत्ति को सामान्य ऐन्द्रिय अनुभूति के केन्द्रीकरण और उदात्तीकरण के प्रवृत्ति की संज्ञा दी।[१७] उन्होंने आदिम भाषा को भाव-संवेग प्रधान भाषा माना। उनके अनुसार तर्क और विवरणपूर्ण विचार के विकास के साथ भाषा की यह शक्ति क्षीण होती जाती है और वह विज्ञान की भाषा के निकट पहुँच जाती है। साहित्य और कला के क्षेत्र मे उसकी मौलिक रचनात्मक क्षमता सुरक्षित ही नहीं रहती है उसका पुनर्नवीकरण भी होता रहता है। कैसिरर ने अपने विवेचन मे एक महत्वपूर्ण तथ्य का संकेत किया है। जिस अनुभूति को कलाकार व्यक्त करता है वह केवल उसका वैयक्तिक भाव-संवेग नही होता है। यह अनुभूति वस्तुगत भी होती है। इसका कारण यह है कि हम अनुभूति को केवल प्रतीक रूपों द्वारा जान सकते हैं। ये प्रतीक व्यक्ति की आवश्यकता और उद्देश्य द्वारा निर्मित होते है, अतएव वे यथार्थ होते हैं। व्यक्ति अनन्त सम्भावनाओं का पुंज होता है। प्रतीक इन्ही की अभिव्यक्ति के प्रयास के प्रतिफलन हैं। अतएव उनमें हमारे मानसिक जीवन-बिम्बों और छवियों

का यथार्थ स्वरूप देखने को मिलता है। कैसिरर इस तथ्य से पूर्ण परिचित हैं कि मानस और व्यक्तित्व के कुछ क्षेत्र सर्वथा अज्ञात है। इन तक पहुँचने में भाषा सहायक नही होती है। इसका कारण यह है कि वह अनिश्चित और अनन्त के बीच के क्षेत्र मे क्रियाशील पाई जाती है। इसका तात्पर्य यह होता है कि वह क्षेत्र निश्चित और शान्त है। चूँकि इस यथार्थ की अभिव्यक्ति का माध्यम प्रतीक है, अतएव उसकी सीमा के परे किसी अन्य यथार्थ की कल्पना अनुचित है।

कैसिरर की मान्यता के आधार पर अर्वन ने भाषा और प्रतीक की व्याख्या की है। पुनः लैंजर ने इसे गम्भीर रूप से विवेचित किया है।* यहाँ प्रमुख रूप से इस तथ्य पर दृष्टिपात करना है कि क्या साहित्य भाषा पर निर्भर होता है। भाषा वाक्यो से बनती है और वाक्य शब्दों से। भाषा श्रोता को प्रभावित करती है। कविता या संगीत की पंक्ति सुनते ही हमारे मानस मे निश्चित प्रभाव उत्पन्न होता है। इसे हम भाषा का प्रभाव (Import) कहते है। प्रभाव के अतिरिक्त इसकी अभिव्यक्ति से जब किसी तरह का विश्वास उद्‌बुद्ध होकर हमारे समक्ष उपस्थित होता है तो उसे अभिप्राय (Purport) की संज्ञा दी जाती है। इन्हे अधोलिखित रूप म प्रस्तुत किया जा सकता है।[१८]

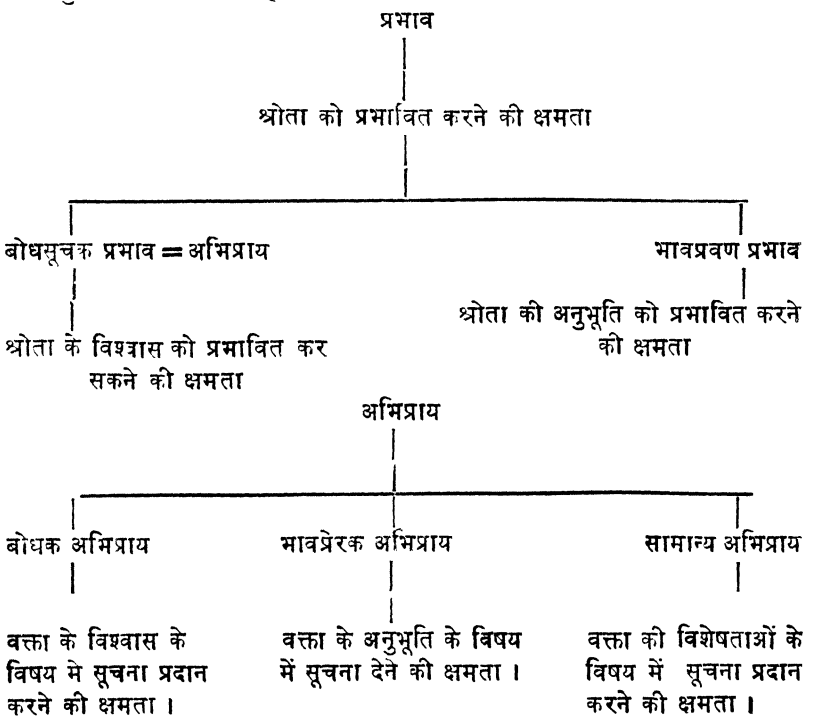

* इनका विशद विवेचन प्रतीको के सन्दर्भ में किया जायगा।

भाषा-वैज्ञानिक अभिव्यक्ति का प्रमुख अर्थ होता है। वह निश्चित विश्वास को सूत्रबद्ध करने और उसका प्रमाण प्रस्तुत करने का कार्य करती है।[१९] साहित्य को समझने का प्रमुख साधन भाषा है। भाषिक संरचना, पदविन्यास और शैली के आधार पर ही उसकी व्याख्या संभव हो सकती है। पर भाषा को माध्यम बनाकर चलने से भी उसके दो स्वरूप हमारे समक्ष आते है, (१) भाषा का भावात्मक स्वरूप और (२) उसके अर्थ का स्वरूप। पहली कोटि के लोग यह मानते है कि कविता भाव-प्रधान भाषा है।[२०] इन्होने 'इमोटिव लैग्वेज' की व्याख्या की है। उनकी धारणा है कि इस तरह की भाषा में स्वतंत्र भाव-संवेग प्रधान अर्थ होता है। भाव-संवेग की स्वतंत्रता का निर्वचन करने वाले विचारकों का कहना है कि इस कोटि की भाषा बोधसूचक अभिप्राय और प्रभाव से सर्वथा मुक्त होती है। पर यह तथ्य ग्राह्य नही है। अतः पुनः यह महत्वपूर्ण प्रश्न हमारे समक्ष आता है कि क्या अर्थ की विशेषताओं को ध्यान मे रखकर भाषा पर विचार किया जा सकता है? उत्तर स्पष्ट है। विचार तो किया जा सकता है लेकिन सोचने के दृष्टि-बिन्दु को थोड़ा बदलना आवश्यक है। भाषा का एक रूप वह होता है जो किसी वक्तव्य के द्वारा विश्वास को सूचित करता है। उदाहरण के लिए हम एक वाक्य को लेते हैं, 'तुलसीदास रामभक्त कवि थे।' इस वाक्य से तुलसी के विश्वास के विषय में स्पष्ट सूचना मिलती है। लेकिन कुछ ऐसे वाक्य भी होते है जो इन निर्देशों से सर्वथा मुक्त होते है। इन वाक्यो से किसी विश्वास की अभिव्यक्ति नही अपितु उसकी व्यंजना होती है।[२१] उदाहरण के लिए यह वाक्य लिया जाय, 'वे न आते तो अच्छा होता।' यहाँ पर यह वाक्य व्यंजित अधिक करता है और अभिव्यक्त कम। पहले तरह के वाक्य को अभिधेयार्थ प्रधान अर्थ (**Primary meaning sentence**) और दूसरे तरह के वाक्य को व्यंग्यार्थ प्रधान अर्थ (**Secondary meaning sentence**) माना जा सकता है। पहले मे अर्थ स्पष्ट है दूसरे मे व्यंजित। इसी को कुछ लोगों ने 'सरफेस मीनिंग' और 'डेप्थमीनिंग' की संज्ञा भी दी है। कविता मे इस दूसरे अर्थ को व्यंजित करने के लिए कई तकनीकी युक्तियों का सहारा लिया जाता है। रवानी, शब्दों की व्यवस्था और अन्य तकनीकी कौशल प्रमुख है। वाक्य शब्दो से बना होता है। हर शब्द का अपना अर्थ होता है जो वाक्य के साथ मिलकर नई व्यंजना का वाहक बन जाता है। उदाहरण के लिए निराला की एक पंक्ति को लिया जाय 'है अमाँ निशा, उगलता गगन घन अन्धकार।' अमाँ निशा यहाँ अमावस्या की रात की प्रतीक है, गगन घने अन्धकार को प्रसरित कर रहा है। 'गगन' और 'निशा' परिचित सन्दर्भों मे ही प्रयुक्त है। पर कविता के सन्दर्भ मे ये निश्चित प्रभाव और अभिप्राय की व्यंजना के वाहक बन गए हैं। ये वातावरण के पराजय-बोध-जनित-विभीषिका की व्यंजना करते हैं। अंधेरी रात का वह दृश्य राम के अन्धकारपूर्ण भविष्य का दृश्य बन जाता है। इस तरह स्पष्ट

होता है कि शब्दो के धरातल पर ही नहीं पूरी व्यंजना के धरातल पर कविता की भाषा दो स्तरो पर क्रियाशील होती है। एक व्यक्त और दूसरा उससे व्यापक अव्यक्त। इस दूसरे धरातल की व्यंजना, शब्द के सामान्य अर्थ से भिन्न रूप में व्यंजित अर्थ के परिग्रहण से ही संभव होती है। यह समूची भाषिक संरचना मे उमड़ती है। शब्द स्वतः में अर्थ का वाहक होता है। 'गगन' और 'निशा' अर्थ के वाहक है, पर निश्चित सन्दर्भों मे ये अपने सामान्य अर्थ को अतिक्रमित करके व्यापक अर्थ-सन्दर्भ के परिचायक भी बनते हैं। यही उनकी सन्दर्भमूलक व्यंजना का रहस्य है। एक सन्दर्भ मे शब्द एक अर्थ का परिचायक है और दूसरे सन्दर्भ में दूसरे अर्थ का। इससे स्पष्टता से कहा जा सकता है कि प्रमुख और गौण अर्थ-सन्दर्भों के अनुसार अर्थ विविध रूप मे हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं। कभी-कभी एक ही सन्दर्भ मे वे कई अर्थों के द्योतक बन जाते है। इसी को 'एम्बिगुइटी' कहा जाता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि काव्यार्थ का प्रमुख अंश व्यंजना का ऋणी होता है। प्रश्न है कि शब्दार्थ सम्बन्धी अवधारणा क्या इस अर्थ तक हमें पहुँचा सकती है? 'कैनेथ बर्क' ने इसका उत्तर दिया है। उन्होंने शब्दार्थ सम्बन्धी आदर्श को स्पष्ट करते हुए एक लिफाफे के अंकित पते का उदाहरण प्रस्तुत किया है। लिफाफे का रूप अधोलिखित है—

नाम—
सडक का नाम और संख्या—
शहर या कस्बा—
राज्य—
राष्ट्र—

अगर इनको उचित रूप मे भर करके पत्र को प्रेषित करते हैं तो वह उस व्यक्ति को अवश्य मिल जाता है जिसके यहाँ इसे भेजा गया है। इससे पत्र को वितरित करनेवालों को भी सहायता मिलती है। पत्र पर अंकित पता ही पत्र के जाने और वितरित होने की क्रिया का निर्देश करता है। शब्दार्थ सम्बन्धी अर्थ को उन्होंने इसी के सदृश माना है। यहाँ जो कुछ भी लिखा गया है, अगर वह असत्य है तो पत्र नही पहुँच सकता। शब्दार्थ सम्बन्धी सिद्धान्त शब्दार्थ के आदर्श पर निर्भर रहता है—उस आदर्श पर जो विश्व की हर घटना को नाम और पता प्रदान करना चाहता है।[२२] कविता घटना प्रधान होती है। हर घटना के साथ अर्थ-सन्दर्भ जुड़ा भी रहता है। पर काव्यार्थ के विश्लेषण का यह स्वरूप प्रत्यक्षवादी अवधारणाओं से आवश्यकता से अधिक प्रभावित है। घटना का क्रियात्मक पक्ष होता है। क्या केवल उसे नाम और रूप देकर कविता को समझा जा सकता है? घटना यथार्थ, अयथार्थ अथवा सच्ची-झूठी हो सकती है? क्या इसी मानदण्ड से कविता को भी मूल्यांकित

किया जा सकता है ? कविता में शब्दों का अर्थ होता है और उसमे वाक्य का अर्थ बनता है। ये अर्थ आपस मे मिले होते है, उसी तरह जैसे एक बिन्दु को केन्द्र मानकर खीचे गए छोटे-बडे वृत्त आपस मे मिले रहते है। अर्थ-सन्दर्भों के आपस में घुलने-मिलने से कविता का क्षेत्र व्यापक बनता जाता है। व्यापक अर्थ के क्षेत्र, संक्षिप्त अर्थ के क्षेत्रो को निष्कासित नही करते, अपितु अपने मे मिलाते जाते हैं। इससे एक विकासोन्मुख परिसीमन (Progressive Encompassment) की स्थिति पैदा होती है। अतएव यह कहा जा सकता है कि 'सेमाटिक आइडियल' चित्तवृत्तियों के परिसीमन और त्याग द्वारा अपने उद्देश्य को प्राप्त करता है, जबकि काव्यादर्श उस पूर्ण कार्य को चित्तवृत्तियो के संघर्षमय स्वरूप और परिदृश्य के पूर्ण चित्रण द्वारा प्राप्त करना चाहता है।[२३] शब्दार्थ सम्बन्धी सिद्धान्त ऐसे शब्द-संग्रह को चुनता है जो नाटकीयता से मुक्त होता है और काव्यादर्श उससे भिन्न रूप मे ऐसे सिद्धान्त का आश्रय लेता है जो नाटकीय होता है।[२४] इस तरह यह सिद्धान्त स्वतः मे अपूर्ण है।

'फिलोलाजिकल क्रिटिसिज्म' को भी महत्व देने का प्रयत्न हुआ है। इस विचारधारा के लोगों ने समाजशास्त्रीय, मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक मान्यताओं को काव्य-समीक्षा के लिए अनुपयुक्त घोषित किया है। उनकी धारणा है कि काव्य-समीक्षा के लिए इन साहित्येतर मानदण्डो के स्थान पर हमे 'तकनीकी' दृष्टिकोण को अपनाना आवश्यक है। इससे साहित्य को साहित्येतर स्वरूपो से बचाया जा सकता है। इस तरह के विचारकों मे ब्लैकमर विशेष महत्वपूर्ण है। उन्होंने 'फिलॉलॉजिकल' और तकनीकी शब्द के द्वारा अभिव्यक्ति की पद्धति की स्थिति मे रचनाकार की कृति में निहित अभिप्राय, अर्थ और चेतना को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है।

रूपवैज्ञानिक काव्यशास्त्र (Morphological criticims) भी भाषा-वैज्ञानिक-संस्पर्शो से संयुक्त है। काव्य-सृजन किसी पृथक प्रतिमान के अनुगमन का परिणाम नही अपितु जीवन्त आन्तरिक नियम की उपलब्धि का सूचक है।[२५] इस दृष्टि से रूपवैज्ञानिक आलोचना की दो आवश्यक और उपयुक्त शर्तें है—(१) कविता भाषा वैज्ञानिक ढंग से प्रेषित यथार्थ है और (२) इसको उत्पन्न करनेवाली शक्ति, सहज और प्राकृतिक है।[२६] 'साहित्य भाषिक-संरचना और उससे द्योतित होनेवाली अर्थ-संरचना (Language structure and resultant meaning structure) का विषय होता है।[२७] इस सन्दर्भ मे दो बातें विशेष महत्वपूर्ण है। भाषा केवल अपार्थिव और अभौतिक अर्थ ही नही प्रदान करती, वह विभिन्न ऐन्द्रिय शक्तियो से संयुक्त स्वर विषयक रूप भी प्रदान करती है। इस स्वर विषयक रूप का निर्माण आरोह-अवरोह-पूर्ण ध्वनियों से होता है। ये ध्वनियाँ ही लयात्मकता उत्पन्न करती है। अर्थ इस स्वर विषयक रूप के समानान्तर लयात्मक ढंग से गतिशील ही नही रहता अपितु उससे निर्मित भी होता है। अर्थ लयात्मक अंशो को एक विशिष्ट गेयता प्रदान करता है और उसके बदले मे भाषिक लयात्मकता और स्वर से निश्चित पुट प्राप्त करता रहता है।

यह एक शब्द के लिए जितना सत्य है उतना ही वाक्य के लिए भी सत्य है। वाक्य में इसके स्वर और लय यथार्थ मे विकसित होते है। कविता मे इस स्वर विषयक स्वरूप का प्रमुख योगदान होता है।[२८] इसलिए इसमे इन्द्रियों को प्रभावित करने की क्षमता और सशक्त बिम्ब का स्वरूप काव्येतर साहित्यिक रूपो की तुलना मे अधिक होता है। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि साहित्य मे कुछ ऐसा भी होता है जिसके कारण अनुभूति प्रभावी ढंग से उसमे ढलती जाती है। यह वाक्य-शृंखला और अर्थ-संरचना के कारण संभव होता है। वाक्यो का आपसी सम्बन्ध 'लॉजिकल' और 'नॉन लॉजिकल' दोनो तरह का होता है। एक आयाम मे क्रियाशील वाक्य-शृंखला समानान्तर अर्थों को नही उत्पन्न करती, अपितु विविध आयामीय संरचना को प्रस्तुत करती रहती है जो वाक्यों की गति के ऊपर वैसे ही छाई रहती है जैसे पृथ्वी पर आकाश।[२९] काव्यार्थ की संरचना मे वाक्य-शृंखला और अर्थ के विविध समृद्ध स्वरूप, गतिशील चित्र या बिम्ब को सशक्त बनाते है और उसे हमारे मानस के समक्ष मूर्त रूप मे प्रस्तुत करते है।[३०] काव्येतर भाषा स्पष्ट रूप से घटना या उपादान को सूचित करती है, पर काव्य-भाषा स्वत: अपने अर्थ मे पूर्ण होती है। वह कालातीतता की परिचायक मानी जा सकती है। कविता मे, स्वीकृत मान्यता, शुद्धता, उपयुक्तता और महत्व के लिए स्थान नही होता। इसमे तो इनके माध्यम से, चित्रोपमता और बिम्बात्मकता के माध्यम से रचनाकार हमे अपने रचना जगत से परिचित कराता है। इस जगत के निर्माण मे अनेक देशातीत और कालातीत अर्थ-सन्दर्भो के संयोग का सहयोग होता है। कविता की भाषिक-संरचना इस तथ्य की परिचायक होती है कि शब्द को उसके स्वरूप से नही अपितु उसके सन्दर्भ से समझा जा सकता है। कविता प्रत्ययी वक्तव्यो को मानस के समक्ष प्रस्तुत करने के स्थान पर भाषा-रचित-बिम्बों को हमारे चिन्तन के लिए प्रस्तुत करती है। इस माध्यम से वह अकथ्य को अभिव्यंग्य मे बदल देती है। हर कविता की अपनी 'यूनिटी' होती है, उसका वृत्त होता है. जिसका केन्द्र उसके रूप में निहित होता है।[३१] इस वृत्त मे अर्थ-सामंजस्य, 'यूनिटी' का जनक बनता है। इस दृष्टि से कविता शैली वैज्ञानिक अभिव्यक्ति मे निहित अर्थ की परस्पर क्रिया द्वारा निर्मित और सृजित रूप का यथार्थ बोध होती है।[३२]

इस तरह की कविता रूपविक्रिया या रूपान्तरण (metamorphosis) के द्वारा सम्भव होती है। रूपान्तरण का सम्बन्ध भाषा की प्रतिभा तथा शब्द और वाक्य शृखला से होता है। शब्दो के द्वारा शब्द और वाक्यो के अन्त:सम्बन्ध से कविता की रचना होती है। कविता मे शब्दों और पदो, तथा पदो और पदो के बीच का अन्त:सम्बन्ध विशिष्ट प्रकार का होता है। इससे विकसित होने वाली अर्थ की रूपबोधक संरचना पूर्ण विकसित रूप मे हमारे समक्ष प्रस्तुत होती है। यह क्रिया विकासोन्मुख रूप की परिचायक मानी जाती है।[३३] भाषा के प्रवाह द्वारा कविता के

अंश और शक्ति की अन्त: सक्रियता से रूपान्तरण की वह स्थिति पैदा होती है जिससे अन्ततोगत्वा उसका रूप निर्मित होकर सामने आता है। रूपान्तरण के इन स्वरूपों—ध्वनि के ताल, प्रत्यय, विचार, बिम्ब और घटनाओं—के धरातल पर क्रियाशील पाया जा सकता है।[१४]

शैली विज्ञान (Stylistics) आलोचना की अधुनातन प्रवृत्ति है। रचना-धर्मी कवि रचनात्मक भाषा के प्रयोग मे पटु होता है। रचनाशील कवि की रचना एक वस्तु के रूप मे हमारे समक्ष उपस्थित होती है। इसका प्रमुख कारण यह है कि शब्दो के वाक्यो मे परिणत होने और वाक्यों के सतत प्रवाहशील होने से कविता मूर्त रूप मे हमारे समक्ष उपस्थित होती है। इस तरह कवि की रचना की स्वतंत्र सत्ता होती है। काव्य-भाषा का आधार वस्तुगत के कार्य-व्यापार के आधार पर निर्मित होता है, अतएव उसे उसी आधार पर समझा जा सकता है। पूर्ववर्ती आलोचना में रचना के स्थान पर रचनाकार के विश्लेषण की प्रमुखता थी। अब रचना को ही विशेष महत्व प्राप्त हुआ है। ब्लैकमर ने साहित्येतर सिद्धान्तो के प्रयोग के बदले रचना के विश्लेषण के द्वारा कवि के उद्देश्य, चेतना और अर्थ को समझने का परामर्श दिया था। नई आलोचना मे इसी भाषिक-संरचना और भाषा विधान की बात विशेष रूप से ग्राह्य हुई है। अर्थविज्ञान, भाषा-विज्ञान और रूप-विज्ञान की सीमायें है। काव्य-भाषा, रचना के स्वरूप से गुजरने के कारण सामान्य भाषा से भिन्न हो जाती है, जिसका भाषा विज्ञान अध्ययन करता है। केवल शब्द विशेष की वंश-परम्परा का ज्ञान काव्य के मर्म को समझने मे सहायक नही हो सकता है। इसका कारण स्पष्ट है। कविता की भाषा न तो बोलचाल की भाषा होती है और न परिनिष्ठित भाषा। यह तो कलाकार की अनुभूति के बाँकपन की भाषा होती है, जिसे वह अभिव्यक्ति के धरातल पर ग्रहण करना चाहता है। 'शैली-विज्ञान' इसी के अध्ययन का मार्ग प्रशस्त करता है। कविता की भाषा रचनाकार को सर्जनात्मक उपलब्धि होती है। केवल व्याकरण के नियम, पदविन्यास या विशेषणो की गणना के आधार पर उसे नही समझा जा सकता है। उसे समझने के लिए तो रचना-प्रक्रिया के उन स्वरूपों को समझना आवश्यक है जिनके कारण भाषिक-संरचना का वह स्वरूप मूर्त रूप म हमारे समक्ष प्रस्तुत हुआ है। रचना के आयाम मे अनेक दीप्तिमय प्रकोष्ठ स्वयं निहित रहते है। जब हम गहराई मे प्रवेश करके उनका साक्षात्कार करने का प्रयत्न करते है तो रचना के अनेकानेक भाव-कोण स्वयमेव मूर्तिमान हो उठते हैं। रचना का संसार हमारी आँखो के समक्ष कौधने लगता है, परिणाम यह होता है कि रचना की राह चलकर हम उसका साक्षात्कार करते है। इसे समझने के लिए न तो भाषा विज्ञान पर्याप्त है और न केवल साहित्य सिद्धान्त। इसकी परख के लिए तो सर्जनात्मक साहित्य और उसकी सृजन-प्रक्रिया के मर्म को समझना अपेक्षित

है। शैली विज्ञान को इस अपेक्षा की पूर्ति करनी है। इसकी व्यापक व्याख्या अभिव्यक्ति के अध्याय मे की जायगी।

साहित्य और सत्य के विवाद पर हर अध्याय मे कुछ न कुछ कहा गया है। हम उसी विवेचन क्रम को आगे बढाते हुए कह सकते है साहित्य का सत्य अपनी अभिव्यंजना मे जीवन-सत्य होता है। यह अभिव्यंजना साहित्य के सहभाव और सहसम्बन्ध से व्यक्त होती है। वैज्ञानिक सत्य विज्ञान की प्रयोगशाला से प्राप्त प्रयोग—सिद्ध सत्य होता है, पर साहित्य का सत्य हृदय और मस्तिष्क की क्रियाशीलता से प्राप्त अनुभूत सत्य होता है। यह भाव-प्रवण अभिव्यक्ति मे आन्दोलित मानस की क्रियाशीलता का रचनात्मक निरूपण और भाषा के शब्दार्थमय कलेवर से व्यंजित जीवन-स्पन्दन है। भाषा मे अभिधेयार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ को व्यंजित करने की क्षमता मिलती है। अभिधेयार्थ मे निश्चित अर्थ का बोध अवश्य होता है, पर साहित्य मूलतः व्यंग्यार्थ का ऋणी होता है। उदाहरण के लिए 'राम की शक्ति पूजा' शीर्षक को लिया जा सकता है। इसमे स्पष्ट रूप से एक प्रमेय निहित है। सामान्य व्यक्ति की दृष्टि वाक्य तक ही सीमित रह जाती है, पर पूरा वाक्य गंभीर व्यक्ति के लिए प्रमेय की अभिव्यक्ति का साधन है। व्यंजना के धरातल पर हम इसी प्रमेय को ग्रहण करते हैं। साहित्य का व्यंग्यार्थ (Depth meaning) स्वतः मे महत्वपूर्ण सत्य ही नही अपितु क्रिया का परिचायक है। इसी के माध्यम से संप्रेषण संभव होता है। साहित्य मे सत्य को नही संभावित सत्य को मुखर किया जाता है। यह सत्य न्याय्य, तर्क संगत और विश्वसनीय होता है। संस्कृत काव्य शास्त्र मे इसका बडे कलात्मक ढंग से संकेत किया गया है। वहाँ लोकधर्मी को नाट्यधर्मी रूप मे रचना मे ढालने की बात सामने आई है। वस्तुतः कला का सत्य विशिष्ट सत्य होता है जो व्यक्ति के साथ ही समाज की गतिविधि को उद्घाटित करता है। कलाकृति के रूप मे कला तभी उत्कृष्ट बन सकती है जब वह किसी महान सत्य की अभिव्यक्ति का प्रमुख साधन हो।

आनंदवाद का सिद्धान्त भी अब पुराना पड गया है। जीवन की जटिलता के साथ उसका तालमेल नही बैठ पाता है। यह कहना सत्य है कि कला सुन्दर की अभिव्यक्ति होने के कारण आनन्द की जनक बनती है। आनन्द को ऐसी विशेषता माना गया है जो अधिकतम व्यक्तियो को अधिकतम सुख प्रदान कर सकता है। इसमे सौन्दर्य-निर्माणक-क्षमता होने के कारण यह हमारी इच्छा और अभिलाषा को पूरा कर सकता है। लोगो का ध्यान उसके विरोधोन्मुख स्वरूप की ओर भी गया है। इसकी वस्तुगत और आत्मगत व्याख्याये भी हुई है। मार्सल ने लालित्यबोधीय प्रभाव क्षेत्र (The field of aesthetic impression) तथा लालित्यबोधीय निर्णय क्षेत्र (The field of aesthetic judgement) की भिन्नता का संकेत किया है। उनकी दृष्टि मे आनन्द का सम्बन्ध पहले क्षेत्र से होता है। उनका यह

कहना भी ठीक है कि आनन्द के लिए वैयक्तिक लालित्यबोधीय निर्णय क्षेत्र की अपेक्षा होती है। यह निर्णय प्रकारान्तर से अभिरुचि का मुखापेक्षी होता है। अभिरुचि संपन्न सुसंस्कृत व्यक्ति आनन्द प्राप्त करने मे विशेष कुशल होता है। मार्शल ने कला मे प्रस्तुत आदर्श लालित्यबोधीय क्षेत्र का भी उल्लेख किया है। सान्तायन ने सौन्दर्य-प्राण-कलात्मक-आनन्द की क्षमता की ओर भी संकेत किया है। लेकिन आज केवल आनन्द को कला का उपजोव्य मानना सर्वथा कठिन है। कला जीवन-बोध को प्रस्तुत करती है। बोध-सुखद और दुखद दोनो होता है। उभके संप्रेषण से उसी प्रकार की स्थितियाँ मानस मे उभड़ती है। अतएव केवल आनन्द को कलात्मक अनुभूति का उपजीव्य नही माना जा सकता है।

भाव-संवेग के सिद्धान्तो से भी अनुभूति पर प्रकाश पडता है। रससिद्धान्त में इस पर गम्भीरता से प्रकाश डाला गया है। वस्तुत: भाव-संवेग 'प्रभावोत्पादक घटना के गुण का सार' होता है। संवेग और घटना की प्रकृति मे स्पष्ट सम्बन्ध पाया जाता है। घटना भावोद्दीपन मे जितनी सक्षम होती है, संवेगों का उद्‌बोधन उतनी ही तीव्रता के साथ संभव होता है। घटना और उसके प्रभाव के बीच कई स्थितियाँ देखने को मिलती है। अगर घटना व्यवधान मुक्त भाव से भोक्ता के बोध का विषय बन जाती है तो भाव संवेगा के तीव्रता के साथ उभडने की संभावना कम होती है। व्यवधान से भोक्ता के चरित्र के अनेक भावकोण सक्रिय हो उठते है। संवेग मे उद्‌देश्य की ओर प्रेरित होने की क्षमता होती है। घटना से रचनाकार प्रभावित होता है, उसमे ये प्रभाव चित्तवृत्तियो की लहरो को पैदा करते है, जो अन्तस्थ विशेषता के कारण स्वयमेव संश्लेषित हो उठती है। इसी का संश्लिष्ट स्वरूप-निरूपण संप्रेषण का कारण सिद्ध होता है।

पूर्ववर्ती पृष्ठो मे हमने अवबोध, तादात्म्य, मानसिक दूरी, अमानवीकरण, उपादान के विशिष्टीकरण, सामंजस्य और कला और भ्रम, तथा भाव-संवेग सम्बन्धी कुछ सिद्धान्तो को प्रस्तुत किया है। वस्तुत: ये सभी सिद्धान्त अनुभूति के पक्ष विशेष का उद्‌घाटन तो करते हैं, पर समूची अनुभूति की रचना-प्रक्रिया और उसके अभिव्यक्तीकरण के विश्लेषण में अकेले विशेष सहायक नही सिद्ध हो पाते। महत्वपूर्ण बात यह है कि न तो बोध होते ही कविता शुरू हो जाती है और न तादात्म्य की स्थिति पैदा होते ही उसके भाव-प्रत्यय अभिव्यंजना योग्य बन पाते है। रचना से कवि का जीवन-बोध अवश्य व्यक्त होता है। देखकर या सामने रखकर अनुभव करने के बाद किसी वस्तु का यथातथ्य वर्णन किया जा सकता है, पर किसी अनुभूति को कलात्मक ढंग से रचा नही जा सकता। रचना तो प्रेरणा की स्थिति मे मानस में उद्‌भूत अनुभूति-बिम्बों के पुनर्ग्रहण के आवश्यक निर्देश का प्रतिफलन होती है। सशक्त भावसंवेगों में कवि को पूर्णतया अभिभूत करने की क्षमता होती है। इन भाव-संवेगो की अपनी निश्चित अन्तर्निहित संघटना भी होती है। रचनाकारों को उसकी

खोज करनी पड़ती है। भावसंवेगों में अन्तर्निहित इसी निर्देश को ग्रहण करने वाला व्यक्ति स्थायी मूल्य की रचना दे सकता है। अगर हम सृजन के सन्दर्भ में तादात्म्य की बात उठाते भी हैं तो भी हमें कम से कम दो धरातलों का उल्लेख करना आवश्यक हो जाता है। (१) संवेदना के परिग्रहण का धरातल और (२) उसके पुनर्ग्रहण और अभिव्यक्ति का धरातल। इन दोनों स्थितियों में कवि को अपनी अन्तः-सत्ता के मूल्यबोध के धरातल से गुजरना पड़ता है। निराला की कविताओं पर यथास्थान साहित्यिक मानदण्डों को थोपा जा सकता है, पर वे अन्ततोगत्वा अपर्याप्त सिद्ध होते हैं। उनकी रचनाधर्मी दृष्टि लोकधर्मी दृष्टि से निर्मित हुई थी, पर वह उनके मानसिक वैशिष्ट्य के कारण लोकधर्मिता को अतिक्रमित करने की भी सामर्थ्य प्राप्त कर सकी थी। उन्होंने जीवन-बोध प्राप्त किया था, और उसकी मुखर अभिव्यक्ति उनके साहित्य मे हुई थी। पर उनकी सभी रचनाओं मे उनके विषय सम्बन्धी बोध के रचनात्मक संश्लेषण का स्वरूप विशेष रूप से व्यक्त होता है। उनकी अनुभूति में संवेदन और संवेदना के स्तर एकमेक हो गए हैं। उनका संश्लिष्ट रूप हमारे समक्ष प्रस्तुत हुआ है। हम यह भी कह सकते हैं कि बोध-प्राण-संवेदना ही अपनी जटिल विषमता से मुक्त होकर अभिव्यक्ति सक्षम संवितों में परिणत होने की सामर्थ्य से मंडित होने के कारण कलात्मक अनुभूति के रूप में हमारे समक्ष उपस्थित हुई है। उदाहरण के लिए 'जूही की कली' की अधोलिखित पंक्तियों को लिया जा सकता है—

'विजन-वन-वल्लरी पर
सोती थी सुहाग भरी-स्नेह स्वप्न मग्न—
अमल-कोमल-तनु तरुणी-जूही की कली।'[१५]

स्पष्ट है कि विजन-वन की वल्लरी पर सुहाग से भरी हुई, स्नेह से मग्न, निर्मल कोमल देह वाली जूही की कली सो रही थी। इस स्थिति में पत्रांक ही उसका पलंग था। कवि ने जूही की कली को भी निकट से देखा है और उसकी अमल-धवलिमा और अस्फुट कोमल सौन्दर्य से वह प्रभावित हुआ है। लेकिन उसमे उस अनुभूति को पुनर्रचित करने की क्षमता है। अगर यह क्षमता न होती तो वह उसका वर्णन कर सकता था, 'जूही की कली' नहीं लिख सकता था। भाव के पुनर्ग्रहण की स्थिति में उसकी कल्पना मे तिरने वाला भाव अन्य सन्दर्भों से जुड़कर प्रौढ़ और अभिव्यक्ति सक्षम होकर हमारे समक्ष प्रस्तुत हुआ है। कविता की भाषिक-संरचना से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कली के प्रस्फुटित न होने और अमल-कोमल-तनु-तरुणी के स्वप्नावस्था में होने में एक अव्यक्त व्यंजना निहित है। कली-प्रस्फुटित होगी और तरुणी के सपने भी किसी दिन साकार होकर खिल उठेंगे। जब-तक सपने साकार नहीं होते तब तक उनकी स्थिति अविकसित कली जैसी है। सपनों

की साकारता यहाँ विकास की द्योतक है, ठीक कली के खिलने के विकास की द्योतक। कली अन्त में हँसी खिली की स्थिति में आ जाती है। कारण स्पष्ट है। तरुणी के सपने भी तो 'खेल रंग प्यारे संग' के रूप मे चरितार्थ हो उठते है। आरम्भ की अव्यक्त व्यंजना अन्त में पूर्ण व्यक्त हो उठती है। निराला ने कविता मे शब्दो का प्रयोग नही किया है, भाव की स्थितियों के द्योतक शब्द अनायास ही उनकी पकड़ में आते गए है और कविता के रूप में ढलते गए है। पूरी कविता से एक जीवन-सत्य व्यंजित होता है। कविता के शब्द और पंक्ति के धरातल पर संवेदना के अनेक स्तर सर्प-शिशुवत आपस में सम्बद्ध होकर रूपायित और तिरोहित होते रहते है, पर अन्त तक जाकर वे पूर्ण-संश्लिष्ट जीवन बिम्ब को प्रस्तुत करके व्यंजना को और मुखर बना देते है। कविता का अव्यक्त बीज—जिसका संकेत आरम्भ मे किया गया है—जीवन की व्यक्त कलात्मक अनुभूति के रूप मे हमारे सामने प्रस्तुत हो जाता है। यही उसका विकास है। कौन कह सकता है कि कवि ने पत्रों के बीच पडी हुई जूही की कली को नही देखा है। लेकिन उसकी संवेदना केवल जूही कली तक सीमित नही रह गई है, वह जीवन के अन्य सन्दर्भो के साथ जुड़ी है और इस क्रिया से एक विशिष्ट तरह के अनुभूति संवित् का आविर्भाव हुआ है—उस अनुभूति संवित् का जो काव्यानुभूति की प्रमुख विशेषता है। कविता मे प्रयुक्त विशेषण कवि की मूलभूत चेतना को उनकी सन्दर्भगत विशेषता मे अभिव्यक्त करने मे पूर्ण सक्षम है। निराला की दूसरी कविता लीजिए—

'स्पर्श से लाज लगी,
अलक-पलक मे छिपा छलक
उर से नव राग जगी।
चुम्बन-चकित चतुर्दिक चंचल
हेर, फेर मुखकर बहु सुखछल,
कभी हास फिर त्रास साँस बल
उर सरिता उमगी।
प्रेम चयन मे उठा नयन नव
विधु चितवन मन मे मधु कलरव,
मौन दान करती अधरासव
कण्ठ लगी उरगी।
मधुर स्नेह के मेह प्रखरतर
बरस गए रस निर्झर झरझर
उगा अमर अंकुर उर भीतर
संसृति भीति भगी।

'जूही की कली' के अनुभूति के उपादान स्पष्ट थे। उसमे भावो के आरोप और भाव-विचार-सन्दर्भित केन्द्रो के श्लेषण मे अभिनव अनुभूति संवित् की उत्पत्ति का आंशिक संकेत था। इनके अतिरिक्त भाव-सम्वर्द्धन, परिवर्द्धन और परिष्कार की रेखायें स्पष्ट, उभड़ी हुई और मूर्त थी। उनके आधार पर रचनाकार के भाव-प्रवण स्वरूप और प्रभाव सक्षम स्वरूप को समझा जा सकता था। लेकिन इस दूसरे पद मे अनुभूति के उपादान और बोध के स्पष्ट स्वरूप को पा सकना कठिन है। भाव-आरोपण की स्थिति मे कलाकार उपादान विशेष पर अपने भावों की चादर को ऊपर से डाल देता है, लेकिन जिसपर वह भावो को आरोपित करता है, उसकी सत्ता भी रहकर झलकती रहती है। 'जूही की कली' अपर अर्थ की व्यंजना करने के बावजूद अपने उपादानगत बोध मे संलग्न है। अनुभूति का सम्बन्ध क्रिया मे होता है जो उपादान से जुडी होती है। बोध तादात्म्य का परिचायक नही होता। तादात्म्य मे अद्वैत की स्थिति होती है, भावारोप की स्थिति नही। इसमे द्रष्टा और दृश्य तथा भोक्ता और भोग मे अभेद स्थापित हो जाता है। यहाँ कवि उनसे एकमेक हो उठता है। वस्तु या क्रिया से तादात्म्य स्थापित करने के पूर्व रचनाकर मे भावो की अन्तस्थ सत्ता होती है। तादात्म्य मे यह महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। इसमे सहानुभूति और समानुभूति पाई जाती है। इसीलिए उपादान-जनित बाह्य-संवेदना हमारी अन्तस्थ भाव-राशि के साथ मिलकर एकमेक हो उठती है। अत यह हमारे अन्तर्निहित मूल्य का सद्यः बोध होने के कारण आत्मानंद की परिचायक बन जाती है। स्पर्श से 'लाज लगी' मे कवि ने अन्तस्थ अमूर्त संवेदना को अभिव्यक्ति सक्षम बनने पर उसके साथ पुनः समरस संबंध स्थापित किया है। पुन. शब्द महत्वपूर्ण है: यह प्रेरणा की स्थिति मे मानस मे अभिव्यक्ति के लिए प्रस्तुत प्रौढ़ विचार को द्योतित करता है। इस कविता मे भाव संवेगो और उनके अनुभूतिमय अभिज्ञान के साथ कवि ने तल्लीनता का अनुभव किया है। वह अनुभूति की संघटना को अन्तर्दृष्टिपूर्ण ढंग से ग्रहण कर सकने मे सक्षम है। इसीलिए वह उस अमूर्त भाव-राशि के स्वरूप को सफलतापूर्वक मूर्त रूप प्रदान कर सका है। लज्जा रमणी का प्रमुख गुण है। उसके आविर्भाव से सौन्दर्य चमत्कृत हो उठता है और समूचा व्यक्तित्व एक विशेष आकर्षण से भर उठता है। इसमे मुखरता के स्थान पर अव्यक्त आह्लान पाया जाता है। इसकी भाषा शब्दमय होते हुए भी रमणी के रोम-रोम से फूटती और प्रतिध्वनित होती रहती है। इसी को कवि ने 'अलक-पलक मे छिपी छलक' के उर में नवराग के रूप मे जगने के द्वारा संकेतित किया है। उसमे नव-राग का जगना छिपा नही रहता, वह छिपाए छिप भी नही सकता। उसके स्पन्दन मे कस्तूरी मृग जैसे अपने और दूसरे को मोह-अन्ध और उन्मत्त बना देने की क्षमता होती है। यहाँ यह उन्मत्तता प्रस्तुत है। नायक नायिका को इसी स्थिति मे अपने बाहुपाश से कसकर चुम्बन-चकित बना देता है। यह क्रिया अन्तस्थ भावराशि को—मिलनोत्कण्ठा

को—और उद्दीप्त कर देती है। नायिका की आतुरता बढ जाती है। दोनों का समूचा अस्तित्व द्रवित होकर एक दूसरे मे मिल जाने के लिए उमड पडता है। निराला का कवि उससे अलग नही है। उसका हृदय भी द्रवित होकर उसी क्रिया के मानसिक भोग मे तल्लीन हो जाता है। परिणाम यह होता है कि उसके एक-एक शब्द उस तन्मयता के परिचायक बन जाते है जिसे उपनिषदो मे ब्रह्मानन्द सहोदर कहा गया है। असीम व्याकुलता और आत्मविस्मरण की स्थिति मे स्वयमेव घटित होने वाली आंगिक चेष्टाओं का चित्रण कम मोहक नहीं है। उदाहरण के लिए,हेर, फेर मुख, हास, त्रास, सांस-बल को लिया जा सकता है। हर शब्द स्वत: मे रति की क्रिया-विशेष के एक पक्ष का पूर्ण बिम्ब है। ऊपर 'नव राग जगी' द्वारा कवि ने अभिलाषा उत्पन्न होने का संकेत किया है, पर 'उर सरिता उमगी' के द्वारा उसे पूर्ण वेग के साथ प्रवाहित होते भी चित्रित किया है। हर बडी सरिता समुद्र से मिलती है, हर मिलन एक महामिलन की स्मृति छोड जाया करता है। नीचे की पंक्तियाँ उसी स्थिति की परिचायक है, जहाँ रति ब्रह्मानंद सहोदर बन जाती है। नाटक के चरमोत्कर्ष की तरह कविता भी अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँचती है। भावारोहण की दशा को चित्रित किया गया है, उसे पूर्ण उत्कर्ष तक पहुँचाया गया है, पर यहाँ अवरोहण की स्थिति मे भी उत्कर्ष को चित्रित करने मे कम पटुता नही दिखाई गई है। बादल पानी बरसाता है पर स्नेह के बादल से रस की बरसात होती है। बादल से पृथ्वी शस्य-श्यामला बनती है पर स्नेह के बादल से हृदय मे अमर अंकुर उगता है। इससे संसार की क्षणभंगुरता कुछ समय के लिए प्रभावहीन बन जाती है। स्पष्ट है इस रचना मे कवि को तादात्म्य की चरम स्थिति का निरूपण है। यहाँ कवि को इधर-उधर देखने या विचार करने का अवकाश नहीं मिलता। कवि की अनुभूति के सशक्त उद्दीपन और उसमे अन्तर्निहित निर्देश उसे स्वयमेव रूप और गति प्रदान करते जाते है। कवि उन्हे स्वीकार करके अग्रसर होता है। रचना बन-ठन कर सामने आ जाती है। इन दोनो कविताओ मे विधायक कल्पना के साथ ही ललित कल्पना का योग भी है, दोनो म अभिव्यक्ति के धरातल पर पूर्ण-बिम्ब सामने आया है, दोनो के अन्त तक अनुभूति की अखण्डता मूर्तिमान हो उठती है, दोनो मे तन्मयता है, पर दूसरी मे पहली की तुलना मे ये विशेषताये अधिक मुखर हैं। पहली मे ऐन्द्रियबोध की तन्मय मनःस्थिति से क्रियाओ का अवतरण हुआ है, पर दूसरी मे अनुभूति की एकतानता मानस पर सघन रूप मे छा गई है, कवि की उससे अलग कोई सत्ता नही है। 'जूही की कली' मे मनोविज्ञान-जनित-उद्वेगो का प्रबल वेग है तो 'स्पर्श से लाज लगी' मे संवेदना जनित प्रभावों की सहज परिणति। दोनो ही रचनाओ मे कवि अनुभूति का निर्देश स्वीकार करता है, उससे उमड़ते रूप को महत्व देता है, इसीलिए वह-'स्व' के संकीर्ण दायरे से मुक्त होकर रचनात्मक उद्देश्य ही नही अपितु आवश्यकता

से प्रेरित होकर-जीवन के कार्य-व्यापार मे निहित उस अन्त: स्पन्दन को संरचित कर पाता है जो काव्य की प्रमुख विशेषता है। ये कवितायें कवि की मुक्ति की पर्याय बन जाती है। वह एक ओर अनुभूति के रचनात्मक आग्रह से मुक्त होता है तो दूसरी ओर जीवन के क्षणभंगुर और नश्वर स्वरूप से। 'संसृति भीति भगी' 'उर सरिता उमगी', 'मन मे मधु कलरव' आदि वाक्याशो द्वारा कवि इसी उपर्युक्त तथ्य को व्यंजित कर सकने मे पूर्ण समर्थ है। रचना मे प्रौढ़-भाव-प्रधान-विचारो के मानस में तिरने की स्थिति में कवि अनुभूति के अभिनव और विशिष्ट रूप मे प्रस्तुत होने के स्वरूप स परिचित रहता है। उसके अनुभव वैयक्तिकता के संस्पर्श से मुक्त होकर इसी धरातल पर सार्वजनीन बनते है। अतएव वे 'पर्सनल' होते हुए भी 'डिस्टेन्स्ड' होते है। इन कविताओ मे कवि की रचनाशीलता, रचनात्मक उद्देश्य और आवश्यकता से प्रेरित होकर स्वयमेव एक ऐसी न्यूनतम सीमा को स्वीकार कर लेती है, जिससे अभिव्यक्ति मे काव्य-गुणो का समावेश संभव हो पाता है। निराला के लिए यह सीमा अनुभूति के गुण-धर्म के अनुसार बदलती रही है। इस तरह की रचनाओ मे कवि ने अपने को पुनर्रचित किया है, लेकिन उसको वह अपने वैयक्तिक संस्पर्शो से मुक्त होने के कारण, वैयक्तिक संवेदनशालता का परिचायक मानता है। यहाँ कवि की तथ्यान्वेषण की प्रवृत्ति सादृश्य-विधायक क्रिया के माध्यम से व्यक्त हुई है। 'जूही की कली' मे जूही के माध्यम से यह कार्य संपादित हुआ है, पर 'स्पर्श से लाज लगी' मे मेघ के माध्यम से। जूही की कली का रचना-विधान आरम्भ से अन्त तक सादृश्य-विधायक-क्रियाओं द्वारा व्यंजित होता है, पर 'स्पर्श से लाज लगी' का रचना-विधान केवल अन्त मे उसे अपनाता है। दोनो कविताओं मे अनुभूति का प्रभा-मण्डल तज्जनित क्रियाओ से विशेष रूप म आलोकित है। इसी कोटि की रचनाओ को देखने से निराला की अधोलिखित उक्ति की सार्थकता स्पष्ट होती है।

'पहुँच कर प्रणय छाए
अमर विराम के
सप्तम सोपान पर।'[३७]

निराला ने लिखा है, 'हमारे साहित्य मे जो रचनाये प्राय: देखने को मिलती है, उनमे बच्चो के हृदय का उच्छ्वास अथवा वृद्धो का मस्तिष्क-विकार ही अधिकाश मे प्राप्त होता है। किसी 'स्थिति प्रज्ञ' की रचना मुश्किल स कही देखने को मिलती है। इसी अध्याय के आरम्भ मे निराला के दो और उद्धरण प्रस्तुत किए गए है। पहले मे उन्होने कवि की मुक्ति के सन्दर्भ मे व्यापकता का उल्लेख किया है और दूसरे मे उन्होंने उस व्यापकता की विशेषताओं का उल्लेख किया है। निराला की दृष्टि मे व्यापकता वह हैं 'जो अव्यक्त रूप में सबमें व्यक्त, अपनी ही आँखों से विश्व को देखती

हुई, अपने ही भीतर उसे डाले हुए, पानी की तरह सहस्र धाराओ मे बहती हुई, स्वतन्त्र किरणों की तरह सब पर पड़ती हुई मधुर, उज्ज्वल, अम्लान, मृत्यु की तरह जीवन-दात्री, सर्वशाखाओ की तरह अगणित प्रसार से फैली हुई, प्रत्येक मूर्ति मे चिर कमनीय ह।' यह कब प्राप्त होती है? उसी समय न जब हम बच्चो के हृदय के उच्छ्वास और वृद्धो के मानसिक विकार से मुक्त होते है। इस मुक्ति की आवश्यक शर्त है, स्थित प्रज्ञता। योगी के लिए स्थित प्रज्ञता की बात समझ मे आती है, पर रचनाकार के लिए उसका क्या अर्थ हो सकता है? इसका उत्तर पूर्ववर्ती पृष्ठो मे दिया जा चुका है। रचना की निश्चित मानसिकता होती है, मनोभूमि होती है। उसकी आवश्यक शर्त होती है। मनोवैज्ञानिक तो अब यह भी स्वीकार करने लगे है कि हमारे सारे अनुभव निश्चित रूप में मस्तिष्क के कोषाणुओ मे केन्द्रित रहते है। जिस मनोदशा मे वे वहाँ तक पहुँचाये गये है, उसी मनोदशा की पुनरावृत्ति के समय वे कोषाणु पुनः विस्फोट कर उठते है और उनसे चित्तवृत्तियों की लहर फैलने लगती है। इन्ही के पुनर्ग्रहण से रचना होती है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि निराला जब रचनाकार के स्थितप्रज्ञ होने की बात करते है तो उनका संकेत उसी अवधान के केन्द्रीकरण की ओर होता है, अन्तर्मुखो आत्मसाक्षात्कार की ओर होता है, जिसकी रचना के लिए महती अपेक्षा है। भारतीय विचारको ने एक समय शिथिल समाधि को रचना के लिए अनुपयुक्त सिद्ध किया था। उनका संकेत स्वतः मे महत्वपूर्ण था, पर क्रमशः उसे समझने की क्षमता समाप्त हो गई। परिणाम यह हुआ कि हम रचना की दृष्टि से एक महत्वपूर्ण सत्य को विस्मृत कर बैठे। हमने चतुर्थ अध्याय मे अनुभूति के 'पैराडाम्स' और रचना के सम्बन्ध पर प्रकाश डाला है। लेकिन कविता की दृष्टि मे इन उपर्युक्त तथ्यो के अतिरिक्त कवि के द्वारा रचित काव्य-जगत का भी महत्व होता है। इसे रचनाशील मनोभूमि में उपलब्ध किया जाता है और निश्चित तकनीक के द्वारा अभिव्यक्त करके हमारे समक्ष प्रस्तुत कर दिया जाता है। यह मनोभूमि प्रयत्न निरपेक्ष होती है। फिर भी इसके उपस्थित होते ही प्रौढ विचार मानस मे कौधने लगते है। कवि इनके निर्देश को ग्रहण करता और रचना करता है। निराला काव्य मे, गेय गीतो और लम्बी कविताओ मे अनुभूति के निश्चित विस्तार (Range) को ग्रहण करने की प्रवृत्ति का दर्शन होता है। सभी कवितायें अनुभूति के निश्चित विस्तार से हमें परिचित कराती हैं। उस विस्तार मे भी आरोह-अवरोह की स्थितियाँ उसे विशेष कलात्मक बना देती है। अनुभूति की तरह ही शब्द और वाक्य, जो उसकी अभिव्यक्ति के माध्यम है, भी अर्थो के निश्चित दायरो से सम्बद्ध होते है। शब्द के दायरे वाक्य मे और वाक्य के दायरे पूरी कविता मे घुल-मिलकर एक वृहत्तर अनुभूति-क्षेत्र का निर्माण करते हैं। 'स्पर्श से लाज लगी' मे यह प्रवृत्ति विशेष रूप से देखी जा सकती है। सारी कविता व्यंजना के धरातल पर अनुभूति-प्रत्यक्ष की क्रिया में सफल होती है। कही-कही तो अनुभूति की सघनता शब्दो मे अँट नहीं

पाई है। परिणाम यह हुआ है कि वह उनसे अनायास छलकती रहती है। कुछ लोग काव्यानुभूति को केवल भाषा के माध्यम से समझने का प्रयत्न करते है। यह अंशत: ठीक भी है। क्योंकि रचनाकार की भाषा उसके अनुभूति के रंग से रँगी होती है। लेकिन भाषा स्वत: में महत्वपूर्ण नही होती। महत्वपूर्ण होता है उसका सन्दर्भ जिसमे उसका प्रयोग किया गया है। 'आसव' प्रचलित शब्द है, लेकिन अधरासव प्रचलित होते हुए भी अपनी व्यंजना में वृहत्तर अर्थ सन्दर्भों को समेटे हुए परात्पर तथ्य का वाहक बन जाता है। 'कलरव' का अर्थ हम सभी जानते है, लेकिन 'विधु चितवन' के सन्दर्भ मे 'मन मे मधु कलरव' का अर्थ जीवन की निश्चित तन्मयता और समर्पण का परिचायक बन गया है। इसी तरह 'हेर-फेर मुखकर बहु सुखछल' को लिया जा सकता है। हेर-फेर, सुख, छल सभी परिचित शब्द है। लेकिन ये निश्चित तरल अनुभूति की व्यंजना के वाहक होने के कारण उस सन्दर्भ मे उन क्रियाओ और भाव-भंगिमायों के सूचक बन जाते है और उनकी गति, लय, समय और ताल से कवि की अभीप्सित अनुभूति अपनी भाव-भंगिमा मे पूरी तरह व्यंजित हो उठती है। पूर्ववर्ती पृष्ठों मे हमने 'ऐब्स्ट्रेक्शन' और 'आइसोलेशन' पर विचार किया है और इस तथ्य पर प्रकाश डाला है कि पहली स्थिति अर्थात् अमूर्तन में रचनाकार भावगत सत्ता के सहज अस्तित्व को मान्यता प्रदान करता है और 'आइसोलेशन' की स्थिति में वह अनुभूति को इस तरह प्रस्तुत करना चाहता है कि वह विशिष्ट रूप में सामने आ सके। निराला रचनाशील मानस में बौधने और अभिव्यक्ति के लिए मचलने वाले भाव की सत्ता से परिचित है और वे उसे विशिष्ट रूप में व्यक्त भी कर देने की सामर्थ्य रखते है। उनकी कविता से यथास्थान जो उन्मुक्त भाव-चित्र संरचित होकर हमारे समक्ष उपस्थित होते है उससे उनके मानस की उन्मुक्तता का सहज ज्ञान हो जाता है। वे किसी निश्चित साँचे में अनुभूति को ढालकर उसे निश्चित रूप में व्यक्त करने के पक्षपाती नही है। वे तो, जैसा कहा जा चुका है, अनुभूति के अन्तर्निहित स्वरूप-पैराडाइम्स—से ही उसके अभिव्यक्ति का निर्देश प्राप्त करते है, इसीलिए वे अर्थ को महत्व न देकर उस भाव-संघटन को महत्व देते दृष्टिगोचर होते है जिसके आधार पर अनुभूति संवित् अभिव्यक्त हो नहीं किए गए हैं अपितु उनके माध्यम से निश्चित अर्थ-की व्यंजना भी हुई है। निराला के 'विधु चितवन मन मे मधु कलरव' अथवा 'अलक-पलक में छिपी-छलक' जैसे प्रयोग इसी सन्दर्भ में अपनी पूर्ण कलात्मक सार्थकता सिद्ध कर पाते है। यहाँ शब्द संघटन के स्थान पर अगर हम भाव-संघटन की बात को स्वीकार करते हैं तो समस्या का समाधान सरलता से हो जाता है। इसपर विचार करने का एक दूसरा पक्ष भी है। अगर हम निराला-काव्य मे केवल अर्थ की बात न करके अभिव्यक्ति के धरातल पर भाव संघटन से व्यंजित अर्थ-संरचना (Pattern of meaning) की बात को स्वीकार कर ले तो भी उनके समूचे काव्य को समझने में विशेष सहायता मिल सकती है।

निराला की जितनी भी महत्वपूर्ण कविताये है, उनमे भाव-संघटन से छनकर स्वयं निखरता अर्थ-संघटन विशेष महत्वपूर्ण है। उनके शब्द अनुभूति की भट्ठी में गलकर उनकी ओजस्विता से रंग कर एक विशिष्ट अर्थ-संरचना मे ढलकर हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं। अतएव वे सामान्य भाषा के शब्दो से भिन्न हो जाते है। निराला ने अनुभूति को परम्परामुक्त सहज, अविकृत और भावानुरूप कलेवर प्रदान किया है। यह उनकी सबसे बड़ी विशेषता है। अगर हम काव्यशास्त्रीय शब्दावली का प्रयोग करें तो हम यह भी कह सकते है 'राम की शक्ति पूजा' और 'तुलसीदास' के साथ ही कुछ अन्य कविताओ मे निराला काव्य चित्रकाव्य की विशेषताओ से पूर्ण मण्डित है। निराला की अनुभूति की तन्मयता सर्वत्र समान नही है। एक ही रचना मे उसमें उतार-चढ़ाव आए है। रचना के चरम बिन्दु की समाप्ति के बाद प्राय इन अनुभूतियों को चुकने या क्षीण होने का अभिज्ञान भी होने लगता है। इसके जो भी कारण है उनका पूर्व अध्यायो मे उल्लेख किया जा चुका है।

आज कविता के प्रतिमान पहले से बहुत अधिक परिवर्तित हो चुके है। तरह-तरह के विचार सामने आए है। इनमे शुद्ध और अशुद्ध काव्य (Pure poetry & impure poetry) का प्रश्न विशेष विचारणीय है। रोबर्ट पेन वारेन ने विशुद्ध काव्य का उल्लेख करते हुए लिखा है कि इस तरह की कविता अपनी शुद्धता बनाए रखने के लिए काव्य के क्षेत्र मे ऐसे तत्वों को दृढता के साथ निरसित करने के लिए तत्पर रहती है जो इसकी मौलिक प्रवृत्ति को प्रशमित करते है या उसके विरुद्ध क्रिया-शील रहते है।[३९] हर काल मे इसको लेकर विवाद हुआ है और शुद्धता का मान-दण्ड निश्चित रूप से स्थापित नही हो सका है। हम उस विवाद मे बचते हुए मैक्स ईस्टमैन के शब्दों मे कह सकते है कि विशुद्ध काव्य वह विशुद्ध प्रयास है जो चेतना को उच्चतम स्थिति तक पहुँचाता है।[४०] 'पो' की तरह ईस्टमैन ने भी विचार को कविता से निष्कासित किया था। उसने इसी सन्दर्भ मे शुद्ध काव्य के पदविन्यास की बात की थी। उसने इसी के माध्यम से सुन्दर और ग्राह्य उपादानों को उच्चतम स्थिति तक पहुँचाने का परामर्श दिया था। जान क्रो रैन्सम ने शुद्ध काव्य को भौतिक काव्य कहा था और उसके केन्द्र मे बिम्ब को महत्व दिया था।[४१] उनकी दृष्टि मे बिम्ब सहज और अनियंत्रित मनःस्थिति का प्रतिफलन होता है, अतएव हमें इसे वही खोजने और पाने की आवश्यकता है। यह अपने नियम से अनुशासित होता है।[४२] कुछ लोग इसके विरुद्ध है। उनकी धारणा है कि कोई भी बोध प्रत्यय विहीन नही हो सकता है। लेकिन वे यह भूल जाते है कि हमारे स्वप्न और स्मृतियाँ ही हमे काव्य की ओर प्रेरित करती है और उसे सहज लालित्यबोधीय आनन्द प्राप्त करने के योग्य बनाती है। हमे नही भूलना चाहिए कि कला मौलिक अनुभूतियों से जनमती है और उसका प्रादुर्भाव निष्कलुषता के प्रथम चरण पर होता है। कविता दूसरे (द्वितीय) प्रेम को ऋणी होती है। इसमें हम उसी की ओर पुनरा-

वर्तन करते हैं जिसे हमने एक बार त्याग दिया था।[४३] विशुद्ध काव्य वस्तुप्राण होता है। इसमें मानवीय तत्वों का गहन निरूपण होता है। तकनीकी दृष्टि से यह अपनी इस विशेषता मे तब विशेष प्रभावशाली सिद्ध होता है जब यह अपनी वस्तु को इस रूप में निरूपित करे कि पाठक के समक्ष विचार के स्थान पर निश्चित बिम्ब या बिम्ब-शृंखला प्रस्तुत हो सके। बिम्बवादी काव्य और विशुद्ध काव्य में भेद भी है। शुद्ध काव्य उतना शुद्ध नही हो पाता जितना कि बिम्बवादी काव्य होता है। बिम्बवाद किसी भी सामान्य विषय को बिम्ब के उपजीव्य के रूप मे स्वीकार कर सकता है, पर विशुद्ध कविता नही। हर महत्वपूर्ण काव्य भौतिक होता है, उसमें मानववादी संस्पर्श पाया जाता है। बिम्बवाद ने मुक्त छन्द को प्रश्रय दिया था, पर विशुद्ध काव्य ने 'मीटर' और निश्चित तकनीक को। तकनीक ही 'मीटर' और वस्तु को व्यवस्थित करती है। 'मीटर' से मानव नियन्त्रण की भावना का ज्ञान होता है। 'मीटर' से कविता एक ओर विज्ञान के निकट पहुँच जाती है तो व्यवस्था से उसमे वस्तुओ के कार्य-कारण-सम्बन्ध के भाव का अभ्युदय होता है। व्यवस्था के लिए कवि नाटकीय स्वरूप को अपनाता है।[४४]

जान क्रो रैन्सम ने 'पोएट्री, ए नोट इन ऑण्टालॉजी' नामक निबन्ध में शुद्ध काव्य के विवेचन के बाद 'प्लेटोनिक पोएट्री' का उल्लेख किया है। उन्होंने विचार-प्रधान काव्य को इस संज्ञा से विभूषित किया है। ऐसे वक्तव्य को जिसमे अपूर्व विचार तो निहित है पर बिम्ब नही पाया जाता है, वैज्ञनिक वक्तव्य कहा जाता है, कविता नही। 'प्लेटोनिक पोएट्री' भौतिक काव्य का गंभीरता से अवगाहन करती है। भौतिक काव्य मे विचार प्रच्छन्न रूप से निहित रहते है। वह उन्हे अपनाती नही दिखाई देती, फिर भी उसके स्पन्दन उसमे निहित होते हैं। 'प्लेटोनिक पोएट्री' विचार रूपी औषधि को वस्तुगतता के चीनी मिली गोलियो के रूप मे प्रस्तुत करती है।[४५] ऐलेन टेट की दृष्टि मे प्लेटोनिक काव्य अध्यवसित रूपक होता है। उसे वस्तुओ के माध्यम से संभाषण की संज्ञा दी जा सकती है। ये वस्तुये हर बिन्दु पर विचार में अनूदित की जा सकती है। विचार भी मूल रूप म देशभक्ति, धर्म, नैतिकता और सामाजिकता से जुड़े होते है। इस तरह के काव्य मे विचारो का विस्तार पाया जाता है। लेकिन यह अपने विकास के साथ अलंकरण के लिए भौतिक कविता की शैली में भौतिक विशेषताओ को ग्रहण करती रहती है। जब कवि विचारो की सामर्थ्य में विश्वास करता है तो उसका सकारात्मक पक्ष हमारे समक्ष उपस्थित होता है, लेकिन जब वह उसमें अविश्वास करता है तो नकारात्मक पक्ष का परिचय मिलता है।[४६]

'प्लेटोनिक पाएट्री' को समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम 'प्लेटोनिज्म' को समझ ले। मेरी दृष्टि मे प्लेटीवाद उस चित्तवृत्ति का नाम है जो हमारे लिए सहज, प्रायः घटित होने वाली और हसारे मानस पर पूर्ण अधिकार करने वाली है। प्लेटो मे दो प्रमुख शक्तियों का दर्शन होता है, (१) सत्यनिष्ठा और (२) मानव

विकास में आस्था। आज के व्यक्ति में भी ये दोनों प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं। वह प्रकृति पर बुद्धिवादी ढंग से अधिकार कर लेना चाहता है। पर यह विडंबना है। काव्य मे विचार को बिम्ब के सन्दर्भ में ही प्रस्तुत किया जाता है। बिम्ब या भाव चित्र ही विचार की निष्पति का प्रमुख साधन होता है। केवल विचार उस उपादान को चित्रित भी नही कर सकता है जिस पर उसे आरोपित किया जाता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि विचार मे 'एकटेन्सन' पाया जाता है, जबकि उपादान में 'इनटेन्सन'। पहला विरल होता है जबकि दूसरा सघन। देखने मे आता है कि कवि के मानस मे रचना के पूर्व कोई वैचारिक मान्यता होती है जिसे वह विकसित करना चाहता है, लेकिन रचना की स्थिति में चरित्र और परिस्थितियाँ अधिक तेजी के साथ विकसित होती है। विचार प्राय: गौण हो जाता हैं। अत: विचार के लिए बिम्ब का तिरस्कार अनुचित है।

'क्रो' ने इसी के बाद 'मेटाफिजिकल पोएट्री' का उल्लेख किया है। इसी सन्दर्भ मे उन्होंने एक सूत्र प्रदान किया है, 'विज्ञान हेतुवादी और व्यावहारिक चित्तवृत्ति को सन्तुष्ट करता है। वह बोध की न्यूनतम स्थितियो को द्योतित करता है। कला प्रातिबोधिक प्रवृत्ति को सन्तुष्ट करती है और उसमे बुद्धि के लिए कम स्थान होता है। रेन्सम से भिन्न रूप मे योवर विन्टर्स ने स्पष्ट रूप से निरूपित किया है कि कविता तर्क और अलंकारशास्त्र के अधिक निकट है। उन्होंने स्पष्ट रूप से इस तथ्य को स्वीकार किया है कि भाषा दुहरी प्रकृति की होती है। हर शब्द प्रत्ययी और भाव-प्रधान होता है। अनुभूति और भाव सभी अपने अस्तित्व के के लिए प्रत्यय पर निर्भर रहते हैं।

वस्तुत: साहित्य के क्षेत्र मे शुद्ध-अशुद्ध काव्य के विवेचन की इसके पूर्व भी लम्बी परम्परा रही है। इसका सम्बन्ध कला कला के लिए और कला जीवन के लिए से रहा है। सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि साहित्य न तो केवल कला है और न केवल जीवन, वह यथार्थ मे जीवनानुभूति का कलात्मक निरूपण है। हमने चतुर्थ अध्याय में इस तथ्य पर प्रकाश डाला है कि अनुभूति प्रत्ययपूर्ण, निर्णय पूर्ण और मूल्यविधायक होती है। उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उसके निरूपण मे वैचारिक और भावप्रधान (दोनों) प्रत्ययों का योगदान अवश्य होता है। कहने के लिए छायावादी काव्य मे, जो अपनी प्रकृति मे मूलत: स्वच्छन्दतावादी काव्य ही है, भाव का वेग प्रबल है। शैली मे एकवचन, प्रथम पुरुष, मै का प्रयोग किया गया है। रचनात्मक रुझान, सहज स्फूर्त बिम्बों के माध्यम से इस तरह व्यक्त हुई है जैसे कल-कल ध्वनि युक्त जलस्रोत पृथ्वी के वक्षस्थल से व्यक्त होता है, पर रचनाकार केवल 'मैं' तक ही सीमित नहीं हैं, उसे 'तू' की भी चिन्ता है जो उसका साहित्यिक उद्देश्य है। निराला का काव्य उद्देश्य-निरपेक्ष काव्य नहीं है, उसकी अनुभूति संघटना में प्रत्यय, बोध, और भाव

का मणिकांचन योग है। अतएव शुद्ध काव्य की कुछ विशेषताओ के प्रस्तुत होने पर भी इसे केवल शुद्ध काव्य नही कहा जा सकता है।

हमे इस तथ्य पर विचार करना आवश्यक है कि काव्य किस तरह हमारे लिए अपनी सार्थकता सिद्ध कर सकता है? कविता इसलिए नहीं महत्वपूर्ण होती कि उसके काले और छपे पृष्ठ हमें प्रभावित करते है। वह इसलिए भी महत्वपूर्ण नही होती कि उसकी ध्वनि के आरोह-अवरोह से हम पाठक प्रभावित होते हैं। कविता केवल रचनाकार की अनुभूति की परिचायक होकर भी अपनी महत्ता सिद्ध नही कर सकती। उसके महत्वपूर्ण होने का प्रमुख कारण यह है कि 'वह अनुभूति का सशक्त कारण है'।[४८] हमें कविता के द्वारा निश्चित मानों और प्रतिमानों का अभिज्ञान होता है। मानों का स्वरूप उसकी ध्वनि-संरचना, उसकी अन्तर्निहित ध्वनि इकाइयो और अर्थ-संघटन द्वारा निरूप्य उपादानो से निर्मित होता है। कविता को पढने वाले सभी पाठकों की अनुभूति समान नही होती, फिर भी उनके लिए मानो की मूलभूत संरचना का स्वरूप अपरिवर्तित होता है। इससे दो बाते स्पष्ट होती है, (१) कविता अनुभूति का माध्यम है (२) कविता पढ़ने वाले सभी पाठकों की अनुभूति समान नहीं होती, केवल मानों की मूलभूत संरचना का स्वरूप समान होता है। इस दृष्टिकोण को भी सर्वथा त्रुटि रहित नही माना जा सकता है। कविता अनुभूति की वाहक होती है। 'सरोज-स्मृति', 'राम की शक्ति पूजा', 'तुलसीदास' तथा निराला की अन्य कविताएँ अनुभूति की वाहक हैं। सभी पाठक अनुभूति के अन्तर्निहित स्वरूप से समान रूप म प्रभावित भी नही होते है। यही कारण है कि उनपर भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणो से विचार किया गया है। व्यक्ति की रुचि के अनुसार मानो की संरचना के मूलभूत स्वरूप भी भिन्न अर्थों के वाहक बन गए है। इस तरह रेनेवेलेक को यह उपर्युक्त मान्यता बहुत महत्वपूर्ण नही सिद्ध हो पाई है।

रॉबर्ट फ्रॉस्ट ने कविता द्वारा प्रस्तुत रूप (**Figure a poem makes**) द्वारा महत्वपूर्ण तथ्य पर प्रकाश डाला है। उनकी दृष्टि मे सृजन की क्रिया स्वत: मे संरचना और अर्थ के विकासोन्मुख उद्घाटन का साधन है। उन्होंने स्पष्ट रूप से इस तथ्य का उल्लेख किया है कि यह उद्घाटन शब्दों की सीमा के परे नही होता। कविता की आरम्भिक उत्तेजना अप्रत्यक्ष विधान के साथ आरम्भ होती है और पुन: अपनी इच्छानुसार एक संरचना को स्वीकार करती जाती है और अन्ततोगत्वा जीवन के किसी स्वरूप के स्पष्टीकरण के साथ समाप्त हो जाती है। इससे उसका रूप सामने आता है। फ्रॉस्ट के अनुसार 'कविता के रूप का निरूपण आनंद से शुरू होता है और बोध के साथ समाप्त हो जाता हैं। आनन्द की स्थिति मे रचनाकार चित्तवृत्ति की रुझान मे पहली पंक्ति रचता है, पुन: उसमें चित्रों और घटनाओं का समावेश करता है, पुन: वह अपने विकासोन्मुख स्वरूप द्वारा जीवन के कलात्मक स्पष्टीकरण के साथ समाप्त हो जाती है। इसकी चरम परिणति से प्राप्त निष्पत्ति का आरम्भ

मे ज्ञान नही होता, लेकिन वह पूर्व निश्चित रूप में उसके रचना की आदि चित्तवृत्ति में निहित होती है। यही विकसित होकर हमारे समक्ष उपस्थित होती है।'[४६] कविता के द्वारा कुछ ऐसी बाते हमारे समक्ष उपस्थित की जाती है जिनका हमें ज्ञान होता है, पर पढने के पूर्व हम अज्ञानी बने रहते है। निराला ने इसी को अनन्त काल के भूले-बिसरे चित्रो को कविता मे रचित होने के स्वरूप द्वारा दिग्दर्शित किया है। कविता विभिन्न व्यंजनाओ के द्वारा विकासोन्मुख होती है। वे व्यंजना-चित्र हमे आन्दोलित करते रहते है। रचना मे देशकाल के सम्बन्ध स्थगित हो जाते हैं। कवि रचना की सामग्री को स्वतंत्रतापूर्वक टालता जाता है, उससे कविता का रूप निरन्तर निखरता रहता है और हम निरूपित वस्तुओं और व्यंजनाओं के सन्दर्भ में उन्ही का आस्वादन करते हुए निरन्तर मंत्र मुग्ध होते रहते हैं। रचनाकार जीवन की अनुभूति को कला मे रचना है। यह अनुभूति उसे प्रयत्न निरपेक्ष ढंग से प्राप्त होती है। सेमिल० डे० लेविस ने इसी को और स्पष्टता-पूर्वक निरूपित करते हुए लिखा है, "वैज्ञानिक या इतिहासकार से भिन्न रूप मे कलाकार एक तरह से अंधेरे में टटोलने—स्मृतियो, बिम्बो, मुहावरो को कलात्मक ढंग से संश्लेषित करने-मे संलग्न रहता है। उन्हे कविता मे रूपायित होने के पश्चात वह उनमे निहित व्याख्याओं और तथ्यो की खोज करता है।"[५०] वस्तुतः फ्रॉस्ट और लेविस ने रचना के महत्वपूर्ण पक्ष का उद्घाटन किया है। हमने इस तथ्य का संकेत किया है कि विचार-सन्दर्भित क्षेत्रो के आपस मे मिलकर प्रौढ रूप मे अवसीमा मानस मे कौधने से कविता का सूत्रपात हो जाता है। कवि रचना के लिए उद्यत होता है। संलग्न प्रकोष्ठों से रचना की सामग्री स्वयमेव खिच कर आने लगती है और रचना के समाप्त होते ही वह क्रिया बन्द हो जाती है। 'वेरिफिकेशन' या स्पष्टीकरण का स्तर रचना के बाद मे आता है। पाठक के समक्ष रचनाकार के रचित भाव-चित्र होते हैं। वह पठन की स्थिति मे उन्ही के माध्यम से उसकी अनुभूति तक पहुँचने का प्रयत्न करता है। इसीलिए इधर अनुभूति को समझने के लिए कविता के पाठ-विधि की ओर दृष्टि गई है। निराला ने भी इस पाठ-विधि को महत्व दिया है। वस्तुतः कविता की पाठ-विधि के सन्दर्भ मे पहले तो पाठक की क्षमता और मानसिक रुझान का प्रश्न आता है। अगर पाठक मे कम से कम एक 'कामन रीडर' की विशेषतायें हैं तब तो वह कविता को समझ सकेगा अन्यथा नही। काव्य पठन की क्रिया भी दुहरी क्रिया है। दुहरा शब्द निश्चित अर्थ का द्योतक है। पाठक की दृष्टि रचना पर होती है, पर वह रचना के वर्तमान और भविष्य दोनों से संलग्न पाया जाता है। कविता पढ़ते समय वह आगे बढता है, पीछे छूटे शब्दों और पदों को भी स्मृति मे रखता जाता है। इससे उसके बोध का विस्तार होता है। रचना के अर्थ के दायरे उसमें उमड़ते और उसे नए अर्थ-सन्दर्भों से परिचित कराते हैं। पठन-क्रिया में अर्थ के अनेक स्तर घुलमिल कर नए अर्थ-आयाम का निर्माण करते जाते हैं। यह

क्रिया विश्लेषण की क्रिया होती है। अतएव मन, शब्द और अर्थ के आवर्तमय स्वरूपों को सुलझाने का प्रयत्न करते हुए अग्रसर होता है। अचानक उसके मानस में एक निश्चित बोध उभड़ता है। उसे कविता को समझने का सूत्र प्राप्त हो जाता है। अनावश्यक प्रसंग छँट जाते है और आवश्यक विकसित होकर सामने आने लगते हैं। अन्त मे रचना का स्वरूप स्पष्ट होकर अपनी पूर्ण व्याप्ति मे हमारे समक्ष प्रस्तुत हो जाता है। पठन-क्रिया स्तरो मे संपादित होती है, और हर स्तर का बोध केन्द्रीय बोध के साथ घुल-मिल कर एक नई-बोध क्षितिज का निर्माण करता है। निराला की अधोलिखित कविता से इसे स्पष्ट किया जा सकता है,

भर देते हो
बार बार, प्रिय करुणा की किरणो से
क्षुब्ध हृदय को पुलकित कर देते हो।
मेरे अन्तर में आते हो देव, निरन्तर
कर जाते हो व्यथा भार लघु
बार-बार कर कंज बढा कर,
अन्धकार में मेरा रोदन
सिक्त धरा के अंचल को
करता है क्षण-क्षण
कुसम-कपोलो पर वे लोल शिशिरकण;
तुम किरणो से अश्रु पोछ लेते हो
नव प्रभात जीवन मे भर देते हो।

कविता को हम पढते है, सबसे पहले 'भर देते हो बार-बार' की ओर हमारा ध्यान जाता है, पुनः 'प्रिय करुणा की किरणो से' पर। दोनों पंक्तियों के मिलने से अर्थ-बोध का एक स्वरूप सामने आता है। निराला का प्रिय अपनी करुणा की किरणों से उन्हे बार-बार भर दे रहा है। तीसरी पंक्ति को पढते ही उस भरने का प्रभाव जो कवि पर पड़ा है, स्पष्ट हो जाता है। प्रभाव है कवि के क्षुब्ध हृदय का पुलकित हो जाना। उस प्रभाव से पाठक की अनुभूति का प्रभामण्डल विस्तृत होता है। पुनः एक ही पंक्ति के तीन अंश पाठक के सामने आते है, 'मेरे अन्तर मे आते हो', 'देव', 'निरन्तर'। इससे कविता का नाटकीय प्रभाव और घना होता है। देव के निरन्तर आने का परिणाम बाद की पंक्तियो मे चित्रित है, पंक्तियाँ है, 'कर जाते हो व्यथाभार लघु' और 'बार-बार कर-कंज बढाकर'। निराला का प्रिय अपने कमलवत हाथों को उनकी ओर बढाकर उनको व्यथा के भार से मुक्त कर दे रहा है। इसके बाद की पंक्तियों मे कवि ने अपने व्यथित स्वरूप का आंशिक उल्लेख किया है। तीन पंक्तियाँ चार भागो में विभक्त होकर सामने आती है, 'अन्धकार म मेरा रोदन', 'सिक्त धरा के अंचल को', 'करता है', 'क्षण-क्षण'। इन पंक्तियों की संरचना से कवि की मान-

सिकता पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जाती है। अन्धकार निराशा का प्रतीक है, रोदन असहनीय व्यथा का। उससे पिघलने वाला और कोई नही है। केवल पृथ्वी—अनन्त सहिष्णुता की प्रतीक पृथ्वी—उन आँसुओ को ग्रहण कर रही है। उसके अंचल उससे भीग रहे है—यह क्रिया क्षण-क्षण चल रही है। लेकिन निराला का भी प्रियतम अद्भुत है। कवि की वेदना के जो आँसू पृथ्वी पर गिरकर ओस की बूंदों जैसे चारों ओर फैल गए है, वह उन्हे अपने प्रातःकाल की किरणों से पोंछ ले रहा है। अन्तिम पंक्ति से उनके जीवन मे नव प्रभात भरने का संकेत मिलता है। पढने के बीच ध्वनि के आरोह-अवराह, शब्दों के अर्थस्तर और सन्दर्भ, अन्तर्निहित व्यंजना, रवानी सब कुछ पाठक पर अपना प्रभाव डाल रहे है और उसके अन्तर्मानस मे एक निश्चित भाव-क्षेत्र का निर्माण कर रहे है। 'भर देते हो' से नाटकीय ढंग से अनुभूति का जो स्वरूप बीज रूप मे सामने आया था, कविता की नाटकीय संरचना के बीच वह अनेक स्थितियो मे विकसित होकर अपने निश्चित प्रभामण्डल के साथ कविता के अन्त मे हमारे समक्ष उपस्थित हो जाता है। कविता में 'पाज़' की स्थिति भी है। करता है क्षण-क्षण के बाद यह चिह्न (–) उसी का परिचायक है। इस तरह स्पष्ट हो जाता है कि पठन-क्रिया मे कविता के स्थापत्य के स्वरूप एक दूसरे से मिलकर, घुल-मिलकर अपने प्रभा-मण्डल का निर्माण करते है, इसी को हम कविता की संघटना का तथ्यात्मक स्तर कह सकते है जो आरम्भ से ही बीज रूप मे शुरू होकर अन्त में अपने विकसित रूप मे हमारे सामने उपस्थित होते हैं। यही रचनात्मक अनुभूति की प्रामाणिकता का प्रमाण है। एक ओर वह कवि की रचना की ओर प्रेरित करती है। कवि उसे सच्चाई के साथ झेलकर रचना मे ढालता है। पर पाठक इससे मुक्त नही होता है। उसे संरचना मे निहित अनुभूति की उसी प्रामाणिकता को स्तरों में झेलकर अर्थ-सन्दर्भो से होते हुए उसके व्यापक प्रभामण्डल का साक्षात्कार करना पड़ता है। इस दृष्टि से यह कविता करने के घनीभूत क्षणो का संप्रेषण कम पर उसमे अनेक स्तरो पर घटित होने वाले जीवन मूल्यों का संप्रेषण अधिक सिद्ध होती है। व्यंजना के धरातल पर पाठक को उन सम्बन्धों के अन्तःस्वरूप का ज्ञान भी होता चलता है जिनसे रचनाकार ने अपनी अनुभूति के आल-बाल का निर्माण किया है। समूचो रचना अनुभूति की संवेदनशील अर्थगर्भी स्थितियो के ताने-बाने से निर्मित हुई है, अतएव पाठक उनके अन्तःसाक्षात्कार द्वारा उन्हे हृदयंगम कर सकता है। पर इस क्रिया को संपादित करने के लिए उसे 'रचना की राह' चलना आवश्यक है। आरम्भ में कलाकार ही अंधेरे मे नही टटोलता, पाठक को भी अंधेरे में टटोलना पड़ता है। पर जैसे-जैसे कविता के अभिज्ञान का प्रभामण्डल बढता जाता है, वैसे ही वैसे उसकी अनिश्चितता भी समाप्त होती जाती है और वह अन्ततोगत्वा निश्चित अनुभूति का साक्षात्कार कर लेता है। इसी को ध्यान मे रखकर कुछ लोगों ने कहा है कि पाठक अपने पढ़ने की क्रिया से रचना को पुनर्रचित करता है। जीवन में हर

व्यक्ति को अनुभूति होती है। पर उसे रचनाकार की अनुभूति नही कहा जा सकता। रचनाकार अपनी अनुभूति से अभिनव यथार्थ को सृजित करता है। वह रचनात्मक उपकरणों के प्रयोग द्वारा निश्चित उद्देश्य की व्यंजना करता है। पाठक को उस व्यंजना को समझने के लिए अपनी अनुभूति का सहारा लेना पडता है। रचना, रचनाकार की अनुभूति के उद्बोधन, परिग्रहण और निरूपण का प्रतिमान होती है। पढ़ने की स्थिति में आरम्भ मे पाठक 'स्व' की स्थिति में होता है, पर धीरे-धीरे उसमें रचना के प्रमामण्डल का प्रसार होने लगता है और अन्त तक वह रचनामय हो उठता है। यही रचनात्मक अनुभूति के प्रत्यक्ष होने का रहस्य है।

सैमुएल अलेक्जेण्डर जैसे कुछ लोगो ने रचनात्मक अनुभूति को विषय और रचनाकार से जोड़ कर देखना चाहा है। इसे उन्होने विषयानुभूति और आकार की अनुभूति कहा है। उनकी धारणा है कि काव्य-प्रेरणा को उसके शाब्दिक निरूपण की क्रिया से भिन्न माना जाना चाहिए। इस सन्दर्भ मे उन्होने 'लेस्ली एबरक्रॉम्बी' का यह मत उद्धृत किया है, 'कवि की काल्पनिक अनुभूति का क्षण जो हमारे मानस पर कविता के आरम्भ होते ही अधिकार कर लेता है, कवि के मानस पर कविता का अंत होने पर अधिकार कर लेता है। उसके मानस मे विविध रंगों वाली अनुभूति ज्यों ही अपने जटिल भावावेग के साथ कौंध कर अपने अस्तित्व का अभिज्ञान कराती है, कविता प्रेरणा के रूप मे कल्पित हो जाती है·····हमारे लिए यह संभव है कि हम कविता के प्रेरणा के रूप मे कल्पित स्वरूप और उसके यथार्थ शाब्दिक अभिव्यक्तीकरण मे विभेद कर सके।[५१] अलेक्जेण्डर ने क्रोचे का उल्लेख भी अपने पक्ष मे किया है। क्रोचे ने स्पष्ट रूप से कहा था कि कलात्मक अनुभूति व्यंजना का पर्याय होने के बावजूद मानसिक है। उसका यथार्थ भौतिक निरूपण तकनीक का विषय है और संप्रेषण के उद्देश्य को सिद्ध करता है।[५२] इसका विवेचन षष्ठ अध्याय में किया जायगा। यहाँ केवल इतना कहना पर्याप्त है कि अनुभूति के जिन प्रत्ययो का कवि अन्तःसाक्षात्कार करता है, वे स्वत मे उसकी अनेक मानसिक क्रियाओ के घात-प्रतिघात के परिणाम स्वरूप कौधकर परिपक्व रूप मे उसके मानस मे कौधते हैं। रचना की स्थिति मे अवसीमा मानस मे कौधने वाले इन भाव विचार-प्रधान प्रत्ययो मे अभिव्यक्ति और रूप के निर्देश निहित होते है। कवि अगर उन निर्देशों को ग्रहण कर लेता है तो अभिव्यक्ति की समस्या भी सुलझ जाती है। अभिव्यक्ति की स्थिति मे कवि को स्वकीय अनुभूति की स्थितियो मे कुछ विचलन (Deviation) का सामना अवश्य करना पड़ता है। इस विचलन की स्थिति का रचनाकारो ने बार-बार उल्लेख किया है। महादेवी ने स्वीकार किया है, 'मैं अपने सूनेपन में लिखती हूँ कुछ, कुछ लिख जाती।' निराला को भी इसका अनुभव हुआ है। उन्होने 'कविता' में लिखा है, 'चित्रित करने के उपाय तो किए। व्यर्थ हो गए किन्तु उपचार।'[५३] फिर प्रश्न है कि कवि ने उसे अभिव्यक्त कैसे किया? इसका संकेत स्वतः संलग्न

पंक्तियो मे निहित है। उस कविता का, अन्तर में उठे भाव का, हृदय प्यार से भरा हुआ था। उसके अंग-अंग से तरंग (अनुभूति मे निहित व्यंजना और निर्देश) उठ रही थी। वह कवि के पास पहुँचकर उसे अभिव्यक्ति का सूत्र प्रदान कर रही थी। वह सूत्र था, 'तुम चलो, बुलाया है उसने जल्दी तुमको उस पार।' उस पार का क्या मतलब है ?[५४] निराला ने इसी का संकेत 'भाव रस-स्राव पुराने नए। संसृति की सीमा के अपर पार जो गए'[५५] द्वारा किया है। 'मुक्ति' नामक कविता मे यह संकेत और मुखर हो गया है।

'गृह-गृह की पार्वती,।
पुनः सत्य-सुन्दर-शिव को सँवारती
उर-उर की बनी आरती।
भ्रान्तों की निश्चल ध्रुवतारा।'[५६]

कवि की अनुभूति मे जो 'निश्छल और निर्विकार' है उसी को 'गृह-गृह की पार्वती' की संज्ञा दी सकती है। जब कवि मे उसका उदय होता है तो वह लोक को लोकोत्तर भावो से रंजित कर देता है। उसे मूक आह्वान का अनुभव होता है। उसके वशीभूत होकर वह उस पार पहुँच जाता है, जहाँ दिग्भ्रमित लोगो का ध्रुवतारा अपनी दीप्ति से उसे दिशा-संकेत करता रहता है। कवि उस पार जाकर भी दिशाहीन नही बनता है। उसके हृदय का सत्य, ऊर्जा, शक्ति पच्छन्न रूप मे स्वयमेव क्रियाशील होकर उसकी भाव-राशि को रूप दे जाया करती है। इस पार का कवि 'स्व' के दुराग्रहो से ग्रस्त होने के कारण उस अन्तर्निहित निर्देश को नही समझ पाता है। पर उस पार का कवि—कविता की संरचनात्मक और निर्देशात्मक व्यंजना को मुक्त भाव से ग्रहण करने वाला कवि—उसे समझ लेता है। वह उन्ही से अपनी कविता के रूप का निर्माण करता है, उसके तन को गढता है और उसे जीवन्त बनाता है। निराला की कविता न केवल शरीर है और न केवल आत्मा। वह तो एक विधाता रूप कवि द्वारा गढ़े सुन्दर शरीर मे निवास करने वाली भाव-रूपी शाश्वत आत्मा है। शरीर को भौतिक कहा जा सकता है, आत्मा अभौतिक है। भौतिक सन्दर्भों मे अभौतिक के कलात्मक परिग्रहण के लिए कवि को भौतिक का अतिक्रमण करना आवश्यक हो जाता है। भौतिक उससे दबता नही अपितु और चमत्कृत और उद्दीप्त होकर अपने असली रूप मे हमारे समक्ष उपस्थित हो जाता है। यही स्वकाय स्थितियो मे विचलन का रचनात्मक रहस्य है।

अनुभूति और अभिरुचि (Experience and taste) का मणिकांचन संयोग कविता की रचना का प्राण होता है। अभिरुचि स्थायी नही होती, वह निरन्तर बदलती रहती है। एक काल की अभिरुचि और दूसरे काल की अभिरुचि मे सामान्य गुणात्मक और परिमाणात्मक भेद देखने को मिलता है। इसी भिन्नता के कारण रचना और मूल्यांकन के मानदण्ड स्थिर नही रह पाते है।

निराला मूलत: अपनी रचना के प्रथम काल में ओज, प्रेम, सौन्दर्य और अडिग आस्था के कवि रहे है। बीच-बीच में जीवन-संघर्षों से मृत्युबोध, पराजय-बोध, शोषण और अन्याय की स्थितियाँ भी उभड़ी हैं। इससे उनकी अनुभूति मे यथास्थान इनका मिश्रण अभिनव कलात्मक संस्पर्शों को उत्पन्न करने मे सक्षम हुआ है। परवर्तीकाल मे ओज, प्रेम और सौन्दर्य कम हुए है, और यथार्थ मानववाद पराजय-बोध, मृत्युबोध और प्रपत्ति के भाव बढ़े है। इसका अर्थ है कि पहले काल की रचनात्मक रुचि परिवर्तित होकर अन्य रचनात्मक भाव-भूमियों से विकसित, व्यंजित और प्रतिफलित हुई है।

अभिरुचि के लिए स्पेन की भाषा में **Gusto**, फ्रांसीसी भाषा में **Gout**, जर्मन भाषा में Geshmack आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है। अंग्रेजी मे इसे **Taste** और संस्कृत में रुचि शब्द के द्वारा अभिहित किया गया है। 'टेस्ट' शब्द 'तेंजीरे' (Tangere) से निष्पन्न हुआ है जिसका अर्थ होता है स्पर्श करना। यह स्पर्श शब्द भावात्मक रुझान का पर्याय है। रचनाकार अपनी मानसिक रुझान के अनुरूप ही क्रियाशील होता है, इसलिए अभिरुचि 'कलाकार की क्रियाशीलता' की परिचायक मानी गई है। इसमे सहज ज्ञान, निर्णय और मूल्यबोध का सक्रिय सहयोग पाया जाता है। इसीलिए इसके हेतुवादी और अहेतुवादी दोनों स्वरूप हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं। निराला की रुचि मे उनकी आशा, आकांक्षा, अभिलाषा, प्रेम, घृणा का स्वरूप विभिन्न रूपों मे तिरता दृष्टिगोचर होता है। उनकी रुचि मे एक केन्द्रीय भाव होता है जो अनुभूतियों को अनुषंगों द्वारा प्रच्छन्न रूप से अपने अनुरूप ढालता जाता है। इसी विशेषता के कारण रुचि को छलनी की संज्ञा दी गई है जो अनावश्यक और अकलात्मक तत्वों को छानने का काम करती रहती है। निराला की अनुभूति इस छनाव के साथ ही संश्लेषण के कार्य में विशेष पटु है। निराला में ऐन्द्रिय बोध अपने चरम उत्कर्ष पर दिखाई देता है। उनकी रूप, रस, स्पर्श और गन्ध की भावना पर्याप्त सशक्त है, पर उनमे निर्णय और मूल्यबोध की क्षमता भी कम प्रखर नही है। उनकी कविताओं में ऐन्द्रिय बोध का प्रज्ञात्मक निरूपण मिलता है। इन दोनों के संयोग से जो अनुभूति हमारे सामने उपस्थित होती है, उसे न केवल बौद्धिक धरातल पर ग्रहण किया जा सकता है और न केवल काल्पनिक धरातल पर। उसे ग्रहण करने के लिए तो 'रचना की राह' चलना आवश्यक हो जाता है। रचना की राह चलने का मतलब है, क्रमश: कवि की रचनात्मक मानसिकता से तादात्म्य स्थापित करना और अन्ततोगत्वा उसके साथ एकमेक हो जाना। तादात्म्य की क्रिया में ग्रहीता को मानसिक दूरी, अमूर्तीकरण, बोध कलात्मक भ्रम आदि की स्थितियों से गुजरना पड़ता है। इसका कारण स्पष्ट है। निराला की अभिरुचि लालित्यबोधीय भाव-प्रवणता को व्यक्त करने के लिए उसके उपयुक्त वस्तु-व्यापार को चुनती है। उपयुक्त वस्तु-व्यापार उसकी विशेषता को अक्षुण्ण बनाए रखने में

समर्थ है। हमे अभिव्यक्त वस्तु-व्यापार के आधार पर अनुभूति को ग्रहण करना है। उन्होंने अपने आनंद या अवसादपूर्ण विभावन द्वारा गृहीत अनुभूति को जिन माध्यमो के द्वारा व्यक्त किया है, उन्ही माध्यमो से उसके मूलस्रोत तक पहुँचना है। उनके द्वारा प्रस्तुत अनुभूति भी प्रक्षालित, संवर्द्धित होकर हमारे समक्ष प्रस्तुत हुई है। वह कार्य-कारण के स्पष्ट स्वरूपो से युक्त है। उनकी हुई ऐन्द्रिय अनुभूति रचना में आंशिक या पूर्ण सुलझे हुए प्रत्ययो द्वारा ढाली गई है, वह मानसिक रुझान और अभिरुचि की भठ्ठी मे गलकर प्रामाणिक संवेदनशीलता का अंग बनकर उपस्थित हुई है। तात्पर्य यह कि वह सामान्य नही विशिष्ट है। उसमे कवि के सौन्दर्य, आह्लाद और अन्तर्मथन के अनेक भावकोण व्यंजित हुए है। हमे कवि की इस अभिरुचि सम्पन्न सुसंस्कृत अनुभूति को समझना है। हम उसे कैसे समझ सकते है? जीवन की तरह आज साहित्य मे प्रचलित फैशनो की कमी नही है। जिस तरह आज फुलपैण्ट' के आकार देखते-देखते न मालूम कितने 'कट' ग्रहण कर चुके है, उसी तरह कला भी अनेक 'फैशनेबुल' वादो के पचड़े मे उलझ गई है। इन फैशनो की गति तीव्र है, नए पन के आग्रह मे हम उनकी ओर आकर्षित भी हो रहे है। क्या इनके द्वारा कला का मूल्याकन संभव हो पाएगा? इसपर गम्भीर विचार अपेक्षित है। इस विषयान्तर से बचकर हम यही कहना चाहते है कि यथार्थ मे अभिरुचि के तत्व अधिक स्थायी होते है। अतएव इनके मानदण्डों का स्थायी मूल्य और इनका निर्णय की प्रवृत्ति से सम्बंध होता है। निराला की अनुभूति की रुझान दो रूपो मे व्यक्त हुई हे, एक सामान्य रूप मे और दूसरी विशिष्ट रूप मे सामान्य रूप पर भी कलात्मकता का ऐसा आवरण है कि उसे समझने का उपक्रम कर पाना सरल नही है। उदाहरण के लिए उनकी मानव-वादी रुझान की कविता 'तोड़ती पत्थर' को लिया जा सकता है। उसमे अर्थ के कम से कम तीन स्तर तो स्पष्ट है। हथौडे की चोट पत्थर पर होती है, अट्टालिका पर होती है, और पुनः हृदय पर होती है। यही स्थिति व्यंग्य कविताओ की भी है। दूसरी स्थिति मे निराला विशिष्ट रुचि के कवि के रूप मे हमारे समक्ष आते है। 'राम की शक्ति पूजा' 'तुलसादास', 'सरोजस्मृति', 'प्रेयसी' 'रेखा,' 'बादलराग' और अनेक भाव-प्रधान गीतो मे यह विशेष रूप से प्रस्तुत हुई है। इस स्थिति का चित्रण करते हुए कवि ने स्वतः लिखा है—

'कहाँ परित्राण ?
बुला रहे, बंधु, तुम्हे प्राण।
बीते अविरत शत-शत
अब्द, शब्द अप्रतिहत
उठता—ये जो पद नत,
नहीं इन्हें स्थान ?

शक्तिवाह उच्छृंखल
भूयोयः मंगल
उद्धत पदतल दल मल
बना विमल ज्ञान ।[५७]

यहाँ कवि को बच निकलने का मार्ग नही है । उसके प्राण उसे अनवरत रूप से पुकार रहे हैं । वह उनके आह्वान को सुन रहा है । कवि उनकी प्रेरणा से रचना करने को उद्यत होता है । वह स्वयं अनुभव भी करता है—

'सहस्रो के सुख, दुख अनुराग
पिराये हुए एक ही ताग
कौन वह मधुर मौन मरुव, भाग
खुला जो, रहा एक जीवन ?
उमी से रे सज गया सुभार
स्नेह का उर-उर के सुरतार
खुले जिसके कर कनक प्रसार
स्वरो के द्वार विश्व पावन ।[५८]

कवि की मानसिक रुझान का स्वरूप स्पष्ट है । सहस्रो के सुख-दुख-अनुराग उसकी कविता के एक ताग मे पिरो दिए गए है । उमी से उसके स्वरो के विश्व-पावन द्वार खुल गए है । यहाँ भौतिक रुचि और कलात्मक रुचि का स्वरूप स्वतः स्पष्ट है । भौतिक रुचि आनंद या घृणा मे लिप्त रहती है, पर निराला की कलात्मक रुचि 'स्व' की सीमा से मुक्त होकर उनके व्यापक परिदृश्य का उद्‌घाटन करती है ।

कलाकारो और कवियों मे अतिरंजना के प्रति रुझान पाई जाती है । आदि-कालीन और मध्यकालीन कवियो के बाद छायावादी कवियो मे यह रुझान अनेक रूपो मे व्यक्त हुई है । 'राम की शक्ति पूजा' इसका ज्वलन्त प्रमाण है । लेकिन उस पर विचार करने के पूर्व कलात्मक अभिव्यजना और कोरी अतिशयोक्तिपूर्ण अभिव्यंजना के भेद को समझ लेना आवश्यक है । कलात्मक अभिव्यंजना भाव-प्रवणता, मिथकीय परिकल्पना और प्रभावोत्पादकता की भावना से उत्पन्न होती है, पर अतिशयोक्तिपूर्ण अभिव्यंजना किसी बात को बढा-चढा कर प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति से । विज्ञान के विकास से व्यक्ति सत्य के प्रति आग्रही बना है । इससे यह भावना प्रभावित हुई है । लेकिन कला और संस्कृति के धर्म-प्राण-स्वरूप इससे मुक्त नही हो पाए है । निराला ने जहाँ भी अतिशयोक्ति का प्रयोग किया है वह अनुभूति संबलित और विश्वसनीय है । 'राक्षस पदतल, पृथ्वी टलमल' जैसे अनेक उदाहरण इसके परिचायक है । जब कार्य की उदात्तावस्था को चित्रित करने अथवा उसके प्रभाव को निरूपित करने के लिए इसका प्रयोग किया जाता है तब यह उस

प्रभाव का अंग होने के कारण अपनी सीमा से मुक्त हो जाती है। इसके अतिरिक्त कवियों मे बाह्याडम्बर, विचक्षणता, अन्यापदेशिक, विद्रूप-चित्रण आदि के प्रति भी आग्रह पाया जाता है। यथास्थान इनपर विचार किया जायगा। निराला के जीवन के अन्तिम स्वरूप मे, विक्षिप्त-चित्रणो के कुछ स्वरूपों का दर्शन हुआ था, पर वे नगण्य थे। निराला काव्य मे हास्य और व्यंग्य को भी स्थान मिला हे। इनका निरूपण प्रेरणा और कलानुभूति के अध्याय में विशदता से किया गया है।

निराला में प्रेम, शृंगार, मानववाद, उत्साह, प्रपत्ति और अवसाद की अनेक स्थितियाँ पाई जाती है। उनके समूचे सृजन-केन्द्र मे अनुभूति विद्यमान हैं। अनुभूति की अपनी संघटना होती है, निर्णय और मूल्य होता है, पर उसकी अभिव्यक्ति के लिए अनुकूल मानसिकता अत्यन्त आवश्यक है। कुछ भाव-संवेग प्रकृत्या बडे कोमल होते हैं। साधारण-सी प्रतिकूल मानसिकता में वे शीघ्र ही मुरझा जाते है। अनुकूल अभिरूचि सम्पन्न मानसिकता ही उन्हे सहला दुलार कर व्यक्त कर सकती है। इस स्थिति में मन का संकल्प-विकल्पहीन होना, अथवा शान्त होना आवश्यक है। इस शान्त मन में ही विचारो की स्मृति-पूर्ण-छटाये उभडती है और अपेक्षित उपादान के प्रति भाव उमडते है। भाव और रूप का सम्बन्ध भी कम जटिल नही है। इसे समझने, परखने और पकडने के लिए सावधानी की अपेक्षा है। साहित्य में सुन्दर और असुन्दर का उल्लेख भी कम नही किया गया है, पर भाव के बिना उपादान अथवा भाव-प्ररोचक उपादान के बिना भाव की क्या स्थिति होती है? इससे हम सभी परिचित है। रचना मे भावानुभूति और भाव-व्यंजना के इन अनेक धरातलों पर अभिरुचि प्रच्छन्न रूप से क्रियाशील पाई जाती है। इस तरह इसका अपना निजी महत्व होता हैं।

कहने के लिए स्वच्छन्द मनोवृत्ति के कवि अधिक है, पर उसका अभिज्ञान कम लोगो को रहा है। निराला को उसका ज्ञान था। वे उसकी उपयोगिता, रचनात्मक मार्दव और संरचना से परिचित थे। इसीलिए उन्होने स्पष्ट लिखा था, 'साहित्य की मुक्ति उसके काव्य मे देख पडती है। इस तरह जाति के मुक्ति-प्रयास का पता चलता है। धीरे-धीरे चित्र-प्रियता छूटने लगती है। मन एक खुली हुई प्रशस्त भूमि मे विहार करना चाहता है। चित्रो की सृष्टि तो होती है, पर वहाँ उन तमाम चित्रों को अनादि और अनन्त सौन्दर्य मे मिलाने की चेष्टा रहती है। बर्फ मे जैसे तमाम वर्णों की छटा, सौन्दर्य आदि दिखलाकर उसे फिर किसी ने वाष्प मे विलीन कर दिया हो, या असीम सागर से मिला दिया हो। साहित्य मे इस समय यही प्रयत्न जोर पकडता जा रहा है, और यही मुक्ति-प्रयास के चिह्न भी है। अब लीलाम्बरी ज्योतिर्मूर्ति की सृष्टि कर चतुर साहित्यिक फिर उसे अनन्त नील-मण्डल मे लीन कर देते है। पल्लवो के हिलने मे किसी अज्ञात चिरन्तन, अनादि सर्वज्ञ को हाथ के इशारे अपने पास बुलाने का इंगित प्रत्यक्ष करते है। इस तरह चित्रो की सृष्टि असीम-सौन्दर्य मे पर्यवसित की जाती है, और यही जाति के मस्तिष्क मे विराट दृश्यो के

समावेश के साथ ही साथ स्वतन्त्रता की प्यास को भी प्रखरतर करते जा रहे हैं।" अन्य तथ्यो के साथ ही निराला ने यहाँ विराट दृश्यो के साथ ही स्वतंत्रता की प्यास को भी प्रखरतर करने का उल्लेख किया है। पर इसके साथ ही उन्होंने रचनात्मक उद्देश्य की सार्थकता को भी स्पष्ट किया है। रहस्य की भावना निराला मे है, पर अन्य छायावादियो की तुलना मे वह नगण्य है छायावादी काल के कवि निराला में प्रकृति रहस्य और और जीवन-रहस्य के अनेक चित्र है, पर वह उनकी प्रमुख विशेषता नही है। उनकी प्रमुख विशेषता तो यथार्थ मे प्रेम-सौन्दर्य के चित्रण के साथ ही जीवन के विराट चित्रो को प्रस्तुत करने मे निहित है। बाद मे यही प्रवृत्ति प्रवृत्ति मे बदल गई है।

छायावादी कवियो की अनुभूति के सरचनात्मक उद्देश्य के सन्दर्भ मे निराला ने स्वयं लिखा है;

'सबके प्राणों का मोल
देती है प्रकृति जब खोल संसार में,
फैलती है वर्णो मे स्वर्णच्छटा
हृदय की तृष, प्यास
दोनो एक साथ ही
उडती बातास मे–४८

वर्णो मे छटा क्यो फैलती है? इसका रहस्य कवि को ज्ञात है। प्रकृति जब अपने पट को खोलकर सब के द्वारा अभीप्सित वस्तु प्रदान करती है तो उससे हृदय की प्यास बुझती है, उसकी सौन्दर्य चेतना तृप्त होती है और वर्णो पर स्वर्ण की आभा छा जाती है। इतना ही नही अपितु उससे सौन्दर्य का प्रभा-मंडल चतुर्दिक फैल जाता है। ऐसे भी लोग है जो सब कुछ को अपन भोग का विषय बनाना चाहते है। वे अपने स्वार्थ की ही वस्तु प्रकृति मे भी ढूँढते है। वे अपने को जीवित रखने के लिए दूसरो का प्राण ले लिया करते है। प्रकृति-सौन्दर्य भी उनको लालसा-तृप्ति का विषय है। उनका दृष्टिकोण अमानवीय है। अतएव वे प्रकृति के निकट नही पहुंच पाते है। कवि—सृजनशील कवि—की मानसिकता इनसे भिन्न होती है। वह निर्भय संसार के सहस्रों आघातो को झेलता है। वह सुख से विमुख होकर निरन्तर संघर्षरत रहने पर जो कुछ भी प्राप्त करता है वह दूसरों को वितरित करता रहता है। अपने लिए कुछ भी बचाकर नही रखता है। वह लोगो को जोड़कर, उनके विद्वेष को समाप्त करके उन्हे जीवन-स्पन्दन से भर दिया करता है। जब सम्पूर्ण मानवता तरह-तरह के प्रतारणों से पीड़ित हो उठती है, सदाशयता का लोप हो जाता है, स्वार्थ के समर में लिप्त होकर व्यक्ति समूची सांस्कृतिक चेतना को निगलने के लिए तत्पर होता है, प्राण भयभीत होकर काँपने

लगते है तो उस स्थिति में भी कवि की महान आत्मा उस कष्ट से मुक्ति का मार्ग खोजने मे तल्लीन पाई जाती है। जीवन की ज्वालाओ से दग्ध मानव-मानव के जीवन और प्राणो मे जब निराशा का संचार हो जाता है, उसे आशा की कोई किरण नही मिलती है तो कवि ही अपने हार्दिक आह्वान द्वारा उस शोकातुर जीवन से मुक्ति का विधान करता है। कवि इन दुखी लोगों के जीवन मे नव-आशा का संचार करता है, उनकी सौन्दर्य-पिपासा को जगा देता है। ऐसा करते समय उसे स्वयं इन्ही स्थितियो से गुजरना पडता है। वह दोनो की झोली को प्रकृति के दान से भर देता है। वह दूसरो को सम्पन्न बनाकर अपने स्वयं विपन्न बना रहता हे। उसका जीवन सुखद पतझड़ का परिचायक होता है। उसकी कुछ विशेषताये है। वसन्त पुष्पों की विविधता के लिए ख्याति प्राप्त है। लेकिन कवि की कल्पना की डाली पर खिलने वाले पुष्पो की तुलना मे बसन्त के वे पुष्प श्री हीन ज्ञात होते है। कवि अखिल-लोक-रंजक होता है। जैसे समीर निर्बन्ध भाव से नर्तन करता रहता है वैसे ही कवि भी अपने भावो मे नर्तन करता है। वह ताण्डव नही लास्य होता है, विध्वंसक और परुष नही निर्माणक और कोमल होता है। इसीलिए कवि का उल्लास निरन्तर बना रहता है। कवि प्रेमी जीव होता है। कोमल अंगनाओ को प्यार करता है, मधुर भावो का चितेरा बना रहता है, पर उसके परिणामस्वरूप उसे विरह की वेदना भी झेलनी पडती है। उसकी स्थिति एक ही वृन्त पर खिले दो पुष्पो के सदृश होती है जो प्रिया और प्रियतम की तरह झूम कर एक दूसरों को भेंटना और अंक मे समेटना चाहते है, हवा द्वारा हिलकर एक दूसरे के स्पर्श से पुलकित होते रहते है, अपनी डाल पर निरन्तर प्रेम की क्रीडा मे रत पाए जाते है, लेकिन एक दिन अचानक झडकर धूल मे मिल जाते है, लेकिन उनका यह जीवन चिन्त्य नही होता है। इसका कारण यह है कि कवि की स्थिति जगत के एक पथिक जैसी है जिसे श्रम-श्लथ होने के कारण मार्ग मे नीद आ गई है। पावस ऋतु आती है। बादल आसमान मे छा जाते है। बूदों की लड़ियाँ झडने लगती है, फिर भी जैसे वृष्टि के कारण नवयौवन-दुकूल-धारिणी-प्रकृति झुकी रहती है। वैसे ही कवि भी भावों की अजस्र वर्षों के बावजूद प्रियतम मे लीन कामिनी की तरह मौनमुखी झुकाव मे लीन रहता है। जिस तरह वर्षा से प्रकृति हरी भरी हो उठती है, प्रियतम के संसर्ग मे नायिका प्रफुल्लित दिखाई देती है, वैसे ही कवि भी अपनी कविता के सहवास मे सुख भोगने मे तल्लीन रहता है। कवि के प्राणो मे शरद, हेमन्त, शिशिर और पिक-प्रिय-बसन्त की सुहागराशि' अनायास भरती जाती है, उसकी मिलनातुर कल्पनायें उभड़ जाती है, उसका मन उस आह्लाद से भर उठता है। इससे वाणी मुखर हो उठती है। कवि को अनुभव होता है—

'नश्वर को करते अविनश्वर तत्काल
तुम अपने ही अमृत के
पावन कर सिचन से ।'[६०]

कवि की अनुभूति-प्राण-अभिरुचि का इससे अधिक सजीव चित्र संभवत: अन्यत्र दुर्लभ है । निराला ने आरम्भ मे ही कवि की उस मानसिकता का उल्लेख किया है जो 'स्व' की सीमाओ से मुक्त होकर 'पर' के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर करने के लिए तत्पर रहती है । इसका उसे महँगा मूल्य चुकाना पड़ता है । उसे शिव बनना पड़ता है जो गरल का पान करके कंचन और कामिनी को दूसरो को समर्पित कर देता है । कवि समाज का विधायक होता है । वह उसे अवनति के गर्त से निकालता है और उसकी रीती झोली को अपनी रचनाओं से भर कर उसे जागरूक और सचेतन बनाना चाहता है । कवि दूसरे के जीवन मे बसन्त लाता है, पर उसका जीवन पतझड़ बना रह जाता है । प्यार से भी उसे वियोग ही प्राप्त होता है । लेकिन इससे कवि मे अद्‌भुत क्षमता का प्रादुर्भाव होता है । वह 'अमृत पावन कर-सिचन' से नश्वर को तत्काल अनश्वर बना देता है । यही उसकी उपलब्धि है । निराला का साहित्य इस प्रकार की अनेक स्वीकारोक्तियों से भरा पड़ा है । इससे उनकी अभिरुचि के साथ ही उनकी संकल्पशक्ति का ज्ञान होता है ।

मन.सृष्टि (vision) और अनुभूति का सम्बन्ध भी कम विचारणीय नही है । स्वच्छन्दधारा की अनुभूति मन. सृष्टि या स्वप्न प्रधान होती है । इसके दो स्वरूप होते हैं, (१) कलात्मक और (२) मन कल्पित । कलात्मक स्वरूपो मे जीवन की अनुभूतियो का ताना-बाना दृष्टिगोचर होता है, पर मन: कल्पित स्वरूप जीवनानुभूति से रिक्त होती है । निराला मे मन. सृष्टि का प्रथम स्वरूप ही विशेष रूप से क्रियाशील पाया जाता है । उनकी छोटी-बड़ी कविताओं की अनुभूति उनके स्वप्नों को मुखर करने का प्रमुख माध्यम है । हर कवि का अपना स्वप्न होता है जिसे वह अपनी कविता मे चरितार्थ होते देखना चाहता है । निराला इसमे विशेष पटु है । जिस व्यंजना, सुघराई और कलात्मकता के साथ उनके स्वप्न कविता मे ढले है, वह कम महत्वपूर्ण नही हैं । आज के वस्तु-वादी चिन्तक वस्तु को ही महत्व प्रदान करने मे अनुभूति के रहस्य तक नही पहुँच पाए है । वे कविता को विज्ञान के निकट ले आना चाहते है । अच्छा है वे प्रयत्न करके उसके फल-कुफल से स्वयं परिचित हो लें । निराला का वस्तुबोध प्रखर है । वे रूप, रस, और गन्ध के कवि है । इसका उल्लेख हम आगे के अध्याय मे करेंगे । हम तो यहाँ इतना ही कहना उचित समझते है निराला का यह बोध उनके संवेदनो से पूर्णत: रंजित है । इसीलिए वस्तु जड़ नही अपितु चेतन बन गई है । 'जूही की कली' मानवीकरण का उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत कर सकती है । उन्होंने वस्तुओ के भौतिक सम्बन्ध को तिरस्कृत नही किया है, फिर भी उनके प्रातिबोधक अन्त: सम्बन्ध को रचना की दृष्टि से महत्व दिया है । उनकी

धारणा है कि वस्तु के इस अन्तः सम्बन्ध को बोध के द्वारा हो जाना जा सकता है मनोविज्ञान भी इस तथ्य को उद्घाटित करने मे सलग्न है कि बोध की स्थिति मे घटित होने वाली घटना क्या और कैसी होती है ? अभी तक जो निष्कर्ष सामने आए है, उनके आधार पर यही कहा जा सकता है कि इसके साथ घटित होने वाली समकालिक घटना, भौतिक-रासायनिक प्रकृति की होती है। वह अपनी इसी विशेषता के साथ प्रमस्तिष्क बल्कुट मे स्थान भी ग्रहण करती है। इसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि इन्द्रिय-प्रदत्त सामग्री को समझने की प्रमुख शर्त बाह्य घटना नही अपितु उसका प्रमस्तिष्क बल्कुट पर पडने वाला प्रभाव है। इस तरह स्नायु संस्थानीय परिवर्तन के आधार पर ही बोध, अनुभूति और उसके अन्यान्य स्वरूपो को समझा जा सकता है। भ्रम और विभ्रम का आधार भी यही क्रिया होती है। इन स्थितियो मे मानस पर कल्पना का प्रभाव अधिक और उपादान का प्रभाव कम होता है। उसमे यथार्थ उपादानो पर एक परदा पड जाता है और यथार्थ पर परदा पड जाने के कारण ये रचनाये मन.सृष्टि प्रधान हो जाती है।

फ्रायड ने स्वप्न और कला के अन्त सम्बन्ध पर विचार किया है। उनकी दृष्टि मे स्वप्न कला का माध्यम रहित स्वरूप और कला स्वप्न का माध्यम सहित रूप होती है। माध्यम कलाकार मे चेतना पैदा करता है। इसी माध्यम से वह स्वप्न और मन सृष्टि को कलात्मक स्वरूप प्रदान करता है। इस दृष्टि से स्वप्न को अनुद्घाटित इच्छा का सूचक और कला को उद्घाटित इच्छा का माध्यम विशेष द्वारा निरूपण कहा जा सकता है।[६२] कॉडवेल ने दृष्टि को मन.सृष्टि सहजवृत्ति और द्वन्द्व के द्वारा उत्पन्न तनाव का परिणाम होती है।[६३] गाल्टन ने मानस-प्रकोष्ठो की कल्पना की थी।[६४] इसके चेतन-अचेतन मानस मे चेतना उर्ध्वमुखी और अधोमुखी प्रवाह मे ढलती है। उर्ध्वगमन और अधोगमन की तरह ही चेतना के इन स्वरूपो मे परस्पर सम्बन्ध की स्थिति रहती है। चेतना के अधोमुखी प्रवाह मे कवि अनुभूतियो को संग्रहीत करता है। जब वे स्वयं प्रौढ और स्वय संघटित होकर मानस मे तिरने लगती है तो वही से उर्ध्वमुखी प्रवाह शुरू होता है। रचनाकार उन्हे स्वयं-चालित मानसिक क्षेत्र—अवसीमा मानस या अवसीमोत्तर मानस—को सौप देता है। अब यह चेतन प्रवाह अचेतन प्रवाह मे बदल जाता है। सृजन आरम्भ हो जाता है। वह आरम्भ मे गतिशील और चंचल होता है और मानस की शक्तिशीलता को पोषित भी करता है। इस प्रवाह की कुछ विशेषतायें होती है। जिस प्रकार प्रकाश घटाटोप अन्धकार को अपने अनुरूप ढाल लेता है, उसी प्रकार सर्जनात्मक ऊर्जा अचेतन प्रवाह के आवश्यक स्फुरण को स्वयं चालित रूप मे कलात्मक रूप प्रदान करती रहती है। इसी का संकेत चतुर्थ अध्याय मे किया गया है।

आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी ने लिखा है, 'कविता उसकी आँखों को खोलने का प्रयास करती है। इसका अर्थ नही कि काव्य हमें केवल अनुभूतिशील और भावना-

शील बनाता है। यह तो उसकी प्राथमिक प्रक्रिया है। उसका उच्च लक्ष्य तो सचेतन जीवन परमाणुओं को संघटित करना और उन्हे दृढ़ बनाना है।[६५] यही निराला की सबसे बड़ी उपलब्धि है। 'जागो फिर एक बार', 'प्रेयसी', 'रेखा', 'पंचवटी प्रसंग' और गेय गीतो में यह कल्पना अनेक बार चरितार्थ हुई है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

(१) 'आँखे अलियो सी
किस मधु की गलियों मे फँसी
बन्द कर पाखे पी रही मधुमौन
या सोई कमल कोरको मे
बन्द हो रहा गुंजार—
जागो फिर एक बार।
अस्ताचल ढले रवि
शशि-छवि-विभावरी मे
चित्रित हुई है देख
यामिनी गंधा जगी,
एक टक चकोर-कार दर्शन प्रिय
आशाओ भरी मौन भाषा बहुभावमयी
घेर रहा चन्द्र को चाव से,
शिशिर भार व्याकुल-कुल
खुले फूल झुके हुए,
आया कलियो मे मधुर
मद उर यौवन उभार—
जागो फिर एक बार।[६६]

(२) सहृदय समीर जैसे
पोंछो प्रिय नयन नीर
शयन शिथिल बाहे
भर स्वप्निल आवेश मे
आतुर उर वसन मुक्त कर दो
सब सुप्ति सुखोन्माद हो
छूट-छूट अलस फैल जाने दो पीठ पर
कल्पना से कोमल
ऋजु कुटिल प्रसार गामी गुच्छ।
तन मन थक जायँ
मृदु सुरभि सी समीर मे
बुद्धि बुद्धि मे हो लीन

मन में मन, जी जी में,
एक अनुभव बहता रहे
उभय आत्माओं में
कब से मैं रही पुकार
जागो फिर एक बार।[६७]

ऐसी ही अनेक मनःसृष्टियों का उदाहरण दिया जा सकता है जो कलात्मक ढंग से अनुभूति को आन्दोलित करके रचना का विषय बनती हैं।

निराला की व्यंग्यानुभूति पर चतुर्थ अध्याय में कुछ लिखा गया है पर यथार्थानुभूति पर अभी तक कुछ नही कहा जा सका है। वस्तुतः यह उनके साहित्य का प्रमुख अंग है। छायावादी निराला की अनुभूति, भाषिक-संरचना और अभिव्यक्ति का धरातल एक वेगवान नदी की गति की स्मृति दिलाता है। उसमे सब कुछ उफनता, चक्कर काटता और पुनः अपने से ही टकराकर निश्चित वेग ग्रहण करता है। पर बाद में उनका यह भावात्मक ज्वार विचारात्मक भाटे में बदल गया है। अब वे सोचते अधिक है। चिन्तन मे इतनी गहराई आ गई है कि वह स्वतः अनुभव-संवितो का रूप लेता जाता हैं। उसमे इतना तीखापन, कचोट और आग्रह है कि कवि उन्हें अभिव्यक्त किए बिना चुप नही बैठ सकता है। 'अनामिका' और 'परिमल' मे 'तोड़तीपत्थर' और 'भिक्षुक' के रूप में उनकी इस प्रवृत्ति का संकेत मिला था। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

(१) 'साथ न होना। गाँठ खुलेगी, छूटेगा उर का सोना
आँख पर चढे कि लड़े फिर लड़े
जीवन के हुए और कोस कड़े।'[६८]

(२) 'हँसी के तार के होते हैं ये बहार के दिन
हृदय के हार होते हैं ये बहार के दिन।'[६९]

(३) 'अपने को दूसरा न कह
दूसरे को अपना न कह
सपने को कल्पना न मान
कल्पना को सपना न कह।'[७०]

(४) कहाँ की मित्रता वे हँस के बोले
न कोई जब कि दिल की गाँठ खोले।'[७१]

(५) 'किस की तलाश में हो इतने उतावले से
दुनियाँ ने मुँह चुराया, सायास बावले से।'[७२]

ये सभी पद्यांश सहज अभिव्यक्ति के ज्वलन्त उदाहरण हैं। यहाँ सब कुछ सहज है। यथास्थान अभिव्यक्ति का बाँकपन अवश्य उपस्थित है, पर वह तो कला की आवश्यक शर्त है। सन् उन्तालीस के निराला 'दलित जन पर करो करुणा। दीनता पर उतर आए।'[७३] की ही बात नहीं करते थे, वे तो अब दूसरी दिशा में सोचने लगे थे। अब उनमें यह अभिज्ञान भी अपनी तीव्रता के साथ उमड़ने लगा था—

'भूख अगर रोटी की ही मिटी
भूख की जमीन न चौरस पिटी
और चाहता है कौर उठाना कोई
देखो उसमें उसकी इच्छा कैसे रोई।'[७४]

इसी क्रम मे निराला को यह भी सूझा होगा—

'जल्द-जल्द पैर बढ़ाओं, आओ, आओ,।
आज अमीरों की हवेली
किसानों की होगी पाठशाला,
धोबी, पासी, चमार, तेली
खोलेंगे अंधेरे का ताला
एक पाठ पढ़ेंगे, टाट बिछाओ

× × ×

सारी सम्पत्ति देश की हो
सारी आपत्ति देश की बने
जनता जातीय वेश की हो
वाद से विवाद यह ठने
काँटा काँटे से कढ़ाओ।'[७५]

ऊपर निराला 'भूख अगर रोटी की ही मिटी। भूख की जमीन न चौरस पिटी' की बात करते हैं पर यहाँ वह मानववादी स्वर आह्वान के धरातल पर उतर आया है। यह आह्वान काव्य देवी सरस्वती अथवा 'शिवाजी का पत्र' के आह्वान से भिन्न है। यहाँ उनकी दृष्टि निखरी है। जीवन-संघर्षों से उनके लिए गरीबी-अमीरी के शब्द रेस्त्रां की बहस के शब्द नही रह गये हैं। निराला ने उसकी विभीषिका का स्वयं अनुभव किया है। उन्हें ज्ञात है कि संपत्ति का वैयक्तिक अधिकार शोषण का कारण बनता है। उसके राष्ट्रीयकरण से वह समस्या मिट जाती है। जनता भी जातीय वेश की बन सकती है। 'नये पत्ते' की रचनाओं में यह प्रवृत्ति और सशक्त बन जाती है। 'रानी और कानी' की रानी सयानी हो चुकी है, 'वह बोनती' कोंड़ती, कूटती और पीसती है।' उदरपूर्ति के लिए उसे यह सबतो करना ही है। लेकिन मूल

समस्या यह नहीं है। वह तो है कि 'थोड़े के पेट में बहुतों को आना पड़ा'। निराला ने इसके परिणाम को भी चित्रित किया है। उनका कहना है—

(१) 'जान खीची खानों से
कल और कारखानों से
रामराज के पहले दिन आए
बानिज के राज ने लछमी को हर लिया[७७]।'

(२) 'जोत मे जल छिपा
धोखा छिपा छल छिपा
बदले दिमाग बढे
गोल बाँधे घेरे डाले,
अपना मतलब गाठा
फिर आँखें फेर ली।
जाल भी ऐसा चला
कि थोडो के पेटे मे बहुतों को आना पड़ा[७८]।

(३) 'दिन मे वेश्यायें जैसे रात में।
दगा की इस सभ्यता ने दगा की [७९]।

'बानिज के राज ने लछमी को हर लिया', 'राम राज के पहले दिन आए', 'जाल भी ऐसा चला कि थोडों के पेटे में बहुतों को आना पड़ा', 'दगा की इस सभ्यता ने दगा की' जैसे स्थल निराला की चेतना के स्वरूपों से हमें परिचित कराते है। कुछ स्थलों पर अन्याय के प्रति आक्रोश, दिखाई देता है तो कुछ पर उसके हथकण्डे के उद्घाटन की प्रवृत्ति का दर्शन होता है। कुछ अन्य स्थलों पर उनका व्यंग्य गहरी चोट करने मे समर्थ है। उनकी मानववादी चेतना की हो परिचायक 'चर्खा चला' कविता है। इसमें वाल्मीकि को याद किया गया है जिन्होंने मंत्रकाव्य के स्थान पर छन्दो मे कविता की रचना की। देवता के स्थान पर मानव को प्रतिष्ठित किया गया है और 'धरती की प्यारी लड़की सीता का गाना गाया'[८०] गया है। कृष्ण की स्मृति मँजोई गई है जिन्होने इन्द्र के स्थान पर गोवर्धन को पुजाया और मानवो को, गायो और बैलो को मान दिया[८१] गया है। बलदेव ने हल को कन्धे पर धारण कर उसे अस्त्र के रूप मे ग्रहण किया। इससे 'खेती हरी भरी हुई[८२]। लेकिन निराला को खेद है, इस बात का खेद कि 'यहाँ तक पहुँचने में अभी दुनियाँ को देर है[८३]।' क्यो? इसीलिए न कि, जनता के लिए, "हाथ मुहर हैं मगर छदाम आया[८४]" की बात चरितार्थ हो रही है। वह 'बालों के नीचे पड़ी बलतोड़[८५]' की स्थिति को पहुँच रही है। निराला इस स्थिति पर व्यंग्य करते हुए कहते हैं—

'भूत हों जितने जहाँ जमदूत हों
अब हमारा घर मरे वे खारुओ ।'

निराला इसीलिए अपने 'गर्म पकौडी' पर गुजर करना चाहते है, पर दूसरे लोगों के लिए, बुर्जुआ लोगों के लिऐ 'बम्हन की पकाई घो की कचौडी' छोड देते हैं। 'स्फटिक शिला' कविता मे उसी चित्रकूट का वर्णन है जिसका उल्लेख उन्होंने 'तुलसी' मे किया था, लेकिन अब वह उनके मन में वैसी प्रेरणा नही जगाता है। इस कविता की बनावट-बुनावट सहज और सरल है, पर व्यंजना गहन। अन्तिम पंक्तियों से उनकी बदली हुई मन स्थिति का सकेत मिलता है—

'आँख पडी युवती पर
आई थी जो नहाकर
गीली धोती सटी हुई देह में, सुघर
उठे पुष्ट स्तन, दुष्ट मन को मरोड कर
आयत दृगो का मुख खुला हुआ छोडकर ।
बदन कही मे नही काँपता ।
कुछ भी संकोच नही ढाँपता ।
वर्तुल उठे उरोजो पर अडी थी निगाह
चोच जैसे जयन्त की, नही जैसे कोई चाह
देखने की मुझे और,
कैसे मरे दिव्यस्तन, है ये कितने कठोर ।
मेरा मन काँप उठा, याद आई जानकी
कहा, तुम राम को
कैसे दिए है दर्शन ।,

स्त्री का यह स्वरूप अब न 'प्रेयसी' की अनुभूति जगाता है और न 'रेखा', 'पंचवटी प्रसंग' की। शूर्पणखा की अनुभूति तो बिलकुल ही नही। उन्हे जानकी की याद आती है जिन्होंने राम को दर्शन दिया था। 'कुत्ता भौकने लगा' कविता में गहरा व्यंग्य है। पाला पडा है। फसल नष्ट हो चुकी है। लोग विपन्न स्थिति में हैं। कुहरे ने विपत्ति की तरह लोगो को चारों ओर से घेर लिया है। लोग मन मारे कौडा ताप रहे है। इसी बीच जमीदार का सिपाही आता है जो थानेदार के लिए चन्दे की बात करता है। लोग जमीदार से दबे हैं, पर कुत्ता मुक्त है। इसीलिए वह जमीदार की अमानवीय प्रवृत्ति के पोषक सिपाही पर मुक्त होकर भौकता है। पूरी कविता से एक भाव उभड़ता है कि पशु कही इन्सान से अधिक स्वतंत्र है। यही बात 'छलाग मारता चला गया' मे भी दृष्टिगोचर होती है। 'डिप्टी साहब आए' मे बदलू, गोड़इत को घूंसा मार कर जमीन पर

गिरा देता है। यहाँ बदलू के तरफदार मन्नी कँहार, कुल्ली तेली, लुकुआ चमार, लच्छू नाई, बली कहार सब शोषित है। वे सभी बदलू का पक्ष लेते है। परिणाम यह होता है कि बदलू शोषण से मुक्त हो जाता है। इसमे निराला ने मुक्ति के लिए संगठन का संकेत किया है।

साराश यह कि निराला की काव्यानुभूति के कई स्तर है। उन्हे अर्जित और रचित करने के लिए वे यथास्थान अनेक रूपो मे प्रयत्नशील भी दिखाई देते है। उनकी अनुभूति अभिरुचि मे भी निर्देशित हुई है। यथास्थान मन सृष्टियों की छटा भी देखने को मिलती है। लेकिन उनकी काव्यानुभूति का महत्वपूर्ण अंग उनकी मानवीय अनुभूति है। इसका सूत्रपात छायावादी युग की रचनाओ मे ही हो चुका था। लेकिन इसका पूर्ण-विकास छायावादोत्तर काल मे हुआ। निराला सक्रिय राजनीति से दूर थे। उन्होने किसी दल की न तो सदस्यता स्वीकार की और न अपने मित्र छायावादी कवि की तरह अपने दृष्टिकोण मे ही परिवर्तन किया। उन्हे जो कुछ मिला वह उनकी सहज आस्था और विश्वास के साथ ही उनके वैयक्तिक जीवन-बोध और अंतर्दृष्टि का परिणाम था। अनुभूति के अन्य स्तरो के साथ ही जिस तरह सहज-संयत ढंग से उन्होंने अपनी मानववादी दृष्टि को मुखर किया है वह उनकी महनीयता की परिचायक है।

●

षष्ठ अध्याय

अभिव्यक्ति

इसी शोध-प्रबन्ध के चतुर्थ और पंचम अध्याय मे अनुभूति पर विचार किया गया है। कलात्मक अनुभूति की सार्थकता कलात्मक अभिव्यक्ति मे निहित होती है। व्यक्ति अपने मानस मे निरन्तर कुछ न कुछ अनुभव करता रहता है। इस संसार की विभीषिका से निरन्तर जूझने के बाद वह इसके अतिरिक्त और क्या पा सकता है? उसकी संचित भावराशि से उसे जीवन मे अन्तर्दृष्टि प्राप्त होती है। पर उसके इस अनुभव को कलात्मक नही माना जा सकता है। उसमे उसके बीज रहते है, पर निर्देश ग्रहण करके उसे कलात्मक रूप मे ढालना सबके लिये सभव नही होता। सामान्य व्यक्ति भाषा के उपयोग के द्वारा अपनी बात स्पष्ट करना चाहता है। आवश्यकता पडने पर वह अपनी माँग को दूसरे के सामने रखता है, अपनी पीडा को दूसरो तक पहुँचाता है और सुखी होने पर अपने सुख से दूसरो को अवगत कराना चाहता है। वह अपनी नैतिक-दार्शनिक-अवधारण से दूसरो को विश्वस्त करना चाहता है। तात्पर्य यह कि जीवन मे हर कार्य-व्यापार को सुचारु रूप से संपादित करने के लिए वह अपने उद्देश्य से दूसरो को अवगत कराता है। इस स्थिति मे कभी वह अपने को अभिव्यक्ति करता है, तो कभी अपनी चित्तवृत्ति और भाव-संवेग को, निश्चित परिस्थिति मे कभी अपनी मानसिक दशा का उल्लेख करता है तो कभी अपने विचार का। यह क्रिया निरन्तर चलती रहती है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि अभिव्यक्ति विविधार्थी शब्द है। इसीलिए एक भाषा मे उसको एकाधिक शब्दो से व्यंजित किया जाता है। अंग्रेजी मे वेरोन ने इसे 'मैनिफेस्टेशन' (प्रकटीकरण, आगिक चेष्टा, उद्गार), स्पॉर्शाट ने 'आर्टिकुलेशन' (मूर्तीकरण) और लेविस ने 'कांक्रीटनेस' (सम्मूर्तन) के द्वारा अभिहित किया है। हिन्दी मे इसके लिए अभिव्यक्ति, अभिव्यंजना, व्यंजना, प्रकटीकरण, निरूपण, मूर्तीकरण, रूपायन आदि शब्द प्रचलित है। हर शब्द अभिव्यक्ति की निश्चित विशेषता को व्यंजित करता है, पर इसके माध्यम से अभिव्यक्ति की क्रिया का कोई ज्ञान नही होता है। उद्देश्य की दृष्टि मे भी अभिव्यक्ति कई तरह की होती है। कोई कहता है कि हाइड्रोजन और आक्सीजन को निश्चित अनुपात मे मिला देने से पानी बन जाता है, दूसरा लिखता है 'पानी केरा बुलबुला ज्यो मानुष की जाति', तीसरा कहता है, 'वह पानी-पानी हो गया।' तीनो उक्तियो से अभिव्यक्ति के तीन स्वरूप उद्घाटित होते हैं। पहली अभिव्यक्ति को हम वैज्ञानिक अभिव्यक्ति कहेंगे, दूसरी को नैतिक-दार्शनिक और तीसरी को कलात्मक अभिव्यक्ति। कला का सम्बन्ध जीवन से होता है और विज्ञान, नीति और दर्शन सभी किसी न किसी रूप मे जीवन के ही स्वरूप को उद्घाटित, प्रकाशित, संवर्द्धित, परिवर्द्धित और परिष्कृत बनाते हैं, अतएव कलाकार को भी यथास्थान उन्हे अप-

नाना पड़ता है। पर उसकी पद्धति दार्शनिक और वैज्ञानिक पद्धति से भिन्न होती है। हम अभिव्यक्ति का विवेचन इसी तीसरे अर्थ मे करना उचित समझते हैं। अगर प्रथम दो स्वरूपो का भी उसमे कलात्मक समीकरण स्वयं प्रस्तुत हो जाता है तो कला के संदर्भ मे ही उनपर विचार करना अभीप्सित ही नही उचित भी होगा।

अभिव्यक्ति के विवेचन के सन्दर्भ मे पहला महत्वपूर्ण प्रश्न जिसका हमें सामना करना पड़ता है, वह यह है कि कलाकार क्या अभिव्यक्त करता है? इस प्रश्न पर कई तरह से विचार किया गया है। मनोवैज्ञानिक विचारकों के अनुसार वह अपने को अभिव्यक्ति करता है और उसकी यह अभिव्यक्ति उसकी इच्छापूर्ति का प्रमुख साधन होती है। संवेगवादी विचारको की दृष्टि मे कला, कलाकार के भाव-संवेग को अभिव्यक्ति करती है। सामाजिक चिन्तकों के मत से कला समाज का दर्पण है, अतएव वह मूलतः कलाकार की सामाजिक चेतना की अभिव्यक्ति का साधन होती है। कुछ लोग कला मे जीवन-बोध को पाना चाहते है तो कुछ अन्य जीवन-दर्शन को। इस तरह कलाकार की अभिव्यक्ति से हमे तरह-तरह की अपेक्षाये होती है। कलेतर दृष्टिकोणों से बचकर हम यह कह सकते है कि कला, कलाकार की भावानुभूति की अभिव्यक्ति का प्रमुख साधन होती है। कलाकार मूलतः संवेदनशील और विचार-प्रधान व्यक्ति होता है। वह जीवन को देखता और उससे प्रभाव ग्रहण करता है। ये प्रभाव उसके प्रमस्तिष्क के कोषाणुओ मे संग्रहीत होते है। कलाकार रचना के पूर्व उनसे पूर्ण परिचित नही होता है। जब सृजनशील-प्रेरणा द्वारा उसके संग्रहीत विचारो अथवा भावों मे से कुछ परिपक्व होकर अवसीमा मानस मे तिरने लगते है तो वह उनकी उपस्थिति और उनकी रचनात्मक आग्रहशीलता से परिचित होता है। मानस मे इन विचारों के प्रस्तुत होते ही एक विचार-भाव-प्रधान-प्रभामण्डल का निर्माण हो जाता है। इसमे विशिष्ट प्रकार की चुंबकीय शक्ति होती है। इस शक्ति के कारण संलग्न प्रकोष्ठों से विचार और भाव स्वयं खिच कर आते जाते है। मानस मे जिस क्षेत्र मे इन विचारो का अवतरण होता है वह स्वयंचालित क्रिया की विशेषताओं से मण्डित पाया जाता है। रचना शुरू हो जाती है। इसके पूर्व रचनाकार की अभिव्यक्ति के लिए केवल एक कार्य संपादित करना पड़ता है। उसे अनुभूति-संवितों मे निहित अभिव्यक्ति के निर्देशो को ग्रहण करके भाषा को उनके अनुरूप ढालना पड़ता है। इससे एक बात स्वतः सिद्ध हो जाती है कि अभिव्यक्ति का सम्बन्ध भी अनुभूति के संवितो के स्वरूप, उनकी अन्तर्निहित विशेषता, प्रेरणा, अभिरुचि और रचनात्मक मानसिकता से होता है।

भाषा और संवेदना के अन्तःसम्बन्ध को लेकर कई तरह के विचार सामने रखे गए हैं। लारेंस डरेल ने लिखा है 'लैंग्वेज ! ह्वाट इज़ द राइटर्स स्ट्रगल एक्सेप्ट

अ स्ट्रगल टु यूज़ अ मीडियम एज़ प्रोसाइज्ली ऐज़ पासिबल, बट नोइंग फुल्ली इट्स बेसिक इम्प्रीसिज़न[1]।' इससे दो बातें स्पष्ट है, पहली तो यह कि भाषा—कविता का माध्यम भाषा—संभवतः उपयुक्त रूप मे रचनाकार द्वारा प्रयुक्त माध्यम को प्राप्त करने के संघर्ष की सूचक है। दूसरी बात यह है कि इस संघर्ष से भाषा का माध्यम प्राप्त कर लेने पर भी रचनाकार को यह अभिज्ञान बना रहता है कि वह माध्यम पूर्णतया संतोषप्रद नही है। यह अभिज्ञान प्रायः सभी महान् रचनाकारों को हुआ है। निराला ने भी इसे तोडो-तोड़ो कारा द्वारा व्यक्त किया है। इसके पूर्व के अध्यायों मे रचनाकारो के जेल मे बन्द होने और निकलने का मार्ग न मिलने की विवशता से भी यही सत्य द्योतित होता है। अज्ञेय ने तो केवल यह अनुभव किया है, 'शब्द अधूरे है क्योंकि उच्चारण माँगते है[2]।' पर डरेल और रेवेज़ (Ravez) को तो इसका भी अनुभव हुआ कि शब्द विचार और भावानुभूति को अभिव्यक्त करने के अपूर्ण माध्यम है[3]। भाषा रचनाकार की अभिव्यक्ति का माध्यम है, फिर भी रचनाकार उससे पूर्णतः संतुष्ट नही होता है। इसके कारणो पर विचार करने के पूर्व इस तथ्य का निराकरण कर लेना आवश्यक है कि भाषा और अनुभूति के अन्तः सम्बन्ध का स्वरूप क्या होता है? इस सन्दर्भ मे तीन तरह के विचार हमारे समक्ष आते है, (१) भाषा और अनुभूति समान है और बिना किसी तरह की विचार-प्रधान-अनुभूति के भाषा अस्तित्व मे नहीं आती। (२) दोनो सर्वथा स्वतंत्र है। अनुभूति और चिन्तन को भाषा का कोई विशिष्ट योगदान नही होता। शब्द चिन्तन के लिए बाधक है। (३) दोनो मे अनुपूरक सम्बन्ध होता है[4]। बहुत समय से साहित्य मे इस सिद्धान्त का प्रचलन था कि भाषा भावानुगामिनी होती है। आज इसके स्थान पर दूसरी बात भी कही जाने लगी है कि भाव भाषानुगामी होता है। स्थिति चाहे जो हो, इन मान्यताओं से दोनो के अन्योन्याश्रित सम्बन्ध को प्रमुखता मिलती है। दूसरा दृष्टिकोण है कि भाव और भाषा सर्वथा स्वतंत्र है। इसका तात्पर्य यह है कि भाव को भाषा मे व्यक्त करने के लिए दो स्वतंत्र स्वरूपो मे अन्तः सम्बन्ध की खोज करनी पडती है। मैंने पूर्ववर्ती पृष्ठो मे संकेत किया है कि रूप और अभिव्यक्ति के निर्देश रचनाकार की अनुभूति मे ही निहित होते है, उसे केवल ईमानदारी के साथ उसे पकड़ना पडता है। मेरी दृष्टि मे जिस रचनात्मक संघर्ष का उल्लेख करते आलोचक नही अघाते उसका स्वरूप ही नही उसकी सार्थकता भी उसी निर्देश को ग्रहण करने मे निहित है। अन्तःसम्बन्ध के खोज की बात को अगर हम स्वीकार न करे तो ये दोनो सर्वथा स्वतंत्र घटक बन जाते हैं। सत्य यह है कि भाषा और भाव के बीच पाई जाने वाली संगति से इनकी सर्वथा स्वतंत्र स्थिति का प्रमाण नही मिलता। संगति को समझना आवश्यक है। कभी परिस्थिति विशेष में हम अनावश्यक भावावेगो से ग्रस्त हो जाते हैं। हमारे मन पर क्रोध का

एकाधिकार हो जाता है। उस स्थिति मे विचारों में ही हलचल नही मच जाती, भाषा भी अव्यवस्थित बन जाती है। क्रोध में ही नही भय, करुणा उत्साह, शृंगार आदि अनेक भावो की चरम स्थिति मे इसे स्पष्टता से देखा जा सकता है। इससे यह सिद्ध होता है कि भाषा और भाव एक दूसरे से असंबद्ध नही हो सकते। अब रही इनकी अनुपूरकता की बात। यह प्राय: देखने मे आता है कि सचेतन विचार के हर विकास के साथ भाषा और भाषा के हर विकास के साथ सचेतन विचार का अनुपूरक योगदान होता है। जिस बिन्दु पर यह आदान-प्रदान अवरुद्ध हो जाता है वही भाषा और भाव दोनो का विकास रुक जाता है। वस्तु सत्य यह है कि रचना प्रक्रिया को बिना समझे भाषा और भाव के इस अन्त: सम्बन्ध के स्वरूप को समझ पाना कठिन है। हर रचना मे तत्परता, पुनर्पोषण, अन्त दीप्ति और रचना के संवर्द्धन-परिवर्द्धन के स्तर अवश्य होते है। बडी रचनाओ, महाकाव्य, उपन्यास, नाटक, मे इन्हे स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है, पर छोटी रचनाओं–प्रगीत–मे इन्हे बहुत वर्गीकृत रूप मे नही पाया जा सकता। प्राय: देखने मे आता है कि भाव और विचार के पुनर्पोषण और उनके प्रेरित होकर परिपक्व रूप मे मानस मे अवतरित होने की स्थिति तक रचनाकार को भाषा के माध्यम की कोई अपेक्षा नहीं होती। इसका हम आपने अपने जीवन मे अनुभव किया है। लेकिन उसे सही रूप मे समझ नही पाए है। ऐसा बहुत कम समय जीवन में आया है जब अनुभव का एक प्रच्छन्न स्वरूप अदृश्य रूप मे हमारे मानस मे क्रियाशील न बना रहा हो। हम उससे पूर्ण परिचित नही रहते है। अतएव उस धरातल पर भाषा के प्रयोग की बात उठाना ही अवैज्ञानिक है। कार्य-कारण सम्बन्धो से खिचकर, प्रेरणा और अनुभूति के आकर्षण से आकर्षित होकर, जो प्रौढ अनुभव अवसीमा मानस मे तिरने लगते है, रचनापूर्व स्थिति मे मानस मे उपस्थित हो जाते है, उन्ही के सन्दर्भ मे अभिव्यक्ति का प्रश्न उठता है और उन्ही के लिए हमे भाषा के माध्यम की अपेक्षा पड़ती है। सचेतन विचारों को भाषा की अपेक्षा होती है, पर प्रच्छन्न रूप से प्रमस्तिक मे संग्रहीत अनुभवो की कोई भाषा नही होती। वे सर्वथा अनाम और अरूप होते है। रचना के पूर्व किस रूप में संश्लेषित होकर वे हमारे समक्ष उपस्थित हो जायंगे, हमे इसका ज्ञान भी नही रहता है। पंचम अध्याय मे इसी को हमने अंधेरे में टटोलने की स्थिति का पर्याय कहा है। दूसरी बात यह है कि रचना की भाषा के साथ ही उसके भाव के सन्दर्भ मे तीनो स्थितियाँ यथासमय क्रियाशील पाई जाती है। प्रगीत की सरचनात्मक अभिव्यक्ति भाषा और भाव के अन्योन्याश्रित स्वरूप की स्थिति होती है। वहाँ भाषा भाव का अनुगमन करती है और भाव भाषा का। उस स्थिति में किसी तरह के सभेद निरूपण की गुंजाइश नही रहती, पर नाट्य-कल्पना-प्रधान रचनाओं में प्रगीत की स्थिति के साथ ही भाषा और भाव के अनुपूरकता की स्थिति

और कुछ स्थलों पर भाषा और भाव के स्वतन्त्र होने की स्थिति का दर्शन होता है। इसका प्रमुख कारण प्रेरणा की प्रकृति, भाव के पुनर्पोषण की स्थिति और रचनाकार के कल्पना के स्वरूप पर निर्भर करता है। निराला ने एक स्थल पर मन के सप्तम सोपान पर जाने का उल्लेख किया है। उन्होने साहित्य के अन्दर बच्चो की अभिलाषा और वृद्धों के रुग्ण मानस के स्थान पर 'स्थितप्रज्ञ' की अनुभूति के निरूपण को कला के लिए अधिक उपयुक्त माना है। पूर्व अध्यायों मे इसका संकेत कर दिया गया है। यहा केवल इतना ही कहना पर्याप्त है कि उस स्थिति अथवा मानसिकता के अवतरण के समय रचनाकार का मानस अनुभूति के अभिव्यंजना-संवितो के पारदर्शी स्वरूप से भर उठता है। अनुभूति भी वही उपस्थित होती है जो स्वयंचालित ढंग से अभिव्यक्ति मे स्वयमेव ढलती जाती है। ऐसी स्थिति मे रचनाकार केवल एक माध्यम सिद्ध होता है—ऐसा माध्यम—जो उन सवितों को पूर्णता मे ग्रहण करके उन्हे अभिव्यक्त कर दे। यहाँ इस धरातल पर अनुभूति की विशेषताओं के अनुरूप तिरने वाली अभिव्यक्ति मे निहित भाषा का स्वरूप उसकी अर्जित भाषा-शक्ति से स्वतः निर्मित होता चलता है। उसे किसी तरह का प्रयास नही करना पड़ता है। 'राम की शक्ति पूजा' 'तुलसीदास' 'सरोज-स्मृति' के साथ ही मुक्त छन्दों और प्रेम और प्रपत्ति प्रधान गीतो मे इसका स्पष्ट उच्छलन देखा जा सकता है। लेकिन इस प्रकार के अनुभूति की अपनी सीमा होती है। इसी को तुलना 'शेली' ने दहकते अगारे के क्रमशः बुझने और उसकी दीप्ति के घटने से की है। समूची रचना मे इस एकतानता को बनाए रखने की सामर्थ्य सभी लोगो मे समान रूप से नही होती। इसका कारण स्पष्ट है। उसके लिए एकाग्रता की अपेक्षा होती है। इसे एक उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है। स्वच्छ जल के प्रपात मे कोइ भी छाया पड़ती है और वह स्पष्ट दिखाई देती है, पर जल के अचानक हिल जाने से उसमें लहरें उठने लगती हैं। छाया तो पड़ती है पर विकृत हो जाती है। चित्त मे उठने वाली चित्तवृत्ति को देखा जा सकता है, उसका अनुभव किया जा सकता है, पर विकेन्द्रित अवधान की स्थिति मे उस चित्तवृत्ति को पूर्णता से न तो देखा जा सकता है और न परखा जा सकता है। अन्त.दीप्ति की स्थिति में परिगृहीत अनुभूति के संवित स्वयंचालित रूप में अभिव्यक्त होते हैं। उनकी अभिव्यक्ति से कवि के पूर्वानुमान की पूर्ति होती चलती है। इस तरह कवि की रचनात्मक ऊर्जा, मानसिक रुझान, अवधान के केन्द्रीकरण, अवसीमा मानस मे तिरने वाले प्रौढ विचार, उसके अन्तर्निहित निर्देश आदि के अनुसार कलात्मक अभिव्यक्ति विविध रूपों मे निर्देशित और घटित होती है। अतएव उसकी प्रकृति के अनुसार ही उसके मानदण्ड को निर्धारित करना उचित होता है। निराला मे ही इसके कई स्वरूपों का दर्शन हुआ है।

इस सन्दर्भ मे कई बातों का उल्लेख किया गया है। भाषा और भाव के

अन्योन्याश्रित, स्वतंत्र और पूरक स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। उस स्वरूप का उल्लेख भी किया गया है, जिसमे निर्णाणोन्मुख-भाव की प्रक्रिया तो प्रच्छन्न रूप से पुनर्पोषण की स्थिति में क्रियाशील है, पर भाषा के साथ उसका कोई सम्बन्ध नही है। अन्तःदीप्ति पूर्ण मानसिकता का उल्लेख भी किया गया है जिसमे अनुभूति के प्रत्ययो मे ही अभिव्यक्ति के निर्देश निहित है और कलाकार को उन निर्देशो को ग्रहण करना आवश्यक है। अवधान की स्थिति मे स्थितप्रज्ञ मानस पर भी प्रकाश डाला गया है जिसमे अवसीमा मानस की अभिव्यक्ति स्वयंचालित-विशेषताओ से मंडित हो उठती है। इस तरह अभिव्यक्ति के कई स्वरूप हमारे समक्ष उपस्थित हुए है। इससे एक बात स्पष्ट हो जाती है कि सर्जनात्मक संवेदना मे भाषा का सम्बन्ध उस स्थिति मे उठता है जब विचार रचनाशील मानस मे प्रस्तुत हो जाते है। उसके पूर्व पुनर्पोषण की स्थिति मे भाव और भाषा मे कोई सम्बन्ध नही होता है। मनोविज्ञान मे इस तथ्य को सिद्ध करने के प्रभूत उदाहरण ढूँढे जा सकते है। आज यह सर्वथा सिद्ध हो चुका है कि समस्या-समाधानक परिस्थितियो (Problem solving situation) मे प्रज्ञा-प्रधान-अनुकूल-चेष्टायें बिना शब्दों या बिम्बो के प्रयोग के घटित हो सकती है।[५] निश्चित निर्णायक परि-स्थितियाँ क्रियाशील होकर बिना भाषा के प्रयोग के हमे सोद्देश्य और सप्रज्ञ रूप मे सोचने मे सहायक सिद्ध हो सकती है।[६] इससे यह होता है कि प्रज्ञा और अन्तर्दृष्टि के कुछ स्वरूप भाषा के प्रयोग के बिना भी संपादित होते रहते हैं। अनुभूति का इनसे सीधा सम्बन्ध होता है। पर जब हम अभिव्यक्ति को उनसे सीधे जोडकर देखना चाहते हैं तो निराशा ही हाथ लगती है।

भाषा अभिव्यक्ति का माध्यम है। अतएव हमें अनुभूति की अभिव्यक्ति के धरातल पर ही इन दोनों के अन्तःसम्बन्ध का प्रश्न उठाना उचित ज्ञात होता है। अभिव्यक्ति भी भाषा-चिह्न, ध्वनि या आंगिक चेष्टाओं की मुखापेक्षी होती है। कहीं-कही मूक रहने पर भी आंगिक चेष्टा या मुख पर प्रतिच्छायित होने वाले भाव से हमें मुखर भाषा से अधिक तीव्र-व्यंजना का ज्ञान होता है। शब्द चिह्न मात्र होते हैं। उन्हे सहज चिह्न और कृत्रिम चिह्न के दो भागो मे विभक्त[७] किया जा सकता है। बरसात मे काले बादल छाए हुए हैं, रह-रह कर विद्युत् कौध हो रही है, उससे हमे अनायास ही बादल के गरजने का संकेत मिल रहा है। इसे सहज चिह्न कहेंगे। हम अपनी मोटरसाइकिल या कार से जा रहे है, अचानक चौराहे पर लाल-बत्ती जलती दिखाई देती है। हम रुक जाते है। इसे हम परंपरित या कृत्रिम चिह्न कहेंगे।[८] बोले या लिखे गये शब्द भी चिह्न होते हैं। इन चिह्नों को हम प्रेरणा की सार्थक संरचना की संज्ञा दे सकते है।[९] यह हमारे ध्यान को अपने से भिन्न वस्तु या निर्देश की ओर प्रेरित करते हैं। इनमें किसी व्यक्ति, घटना या जटिल परिस्थिति का अभिज्ञान निहित होता है। इनके विविध रूपों का उल्लेख हम

प्रतीक के अध्याय में करेंगे। हमें यहाँ केवल यह देखना है कि यह प्रेरणापूर्ण संरचना भाषा मे चिह्न के रूप में कैसे क्रियाशील होती है।

मान लीजिए हम अपनी बच्ची से पूछते है, 'हमारे लिखने की कलम कहाँ है ?' इसे सुनते ही वह इसमे निहित निर्देश को समझ जाती है। वह कलम को खोजने मे लग जाती है। हमारे इस वाक्य मे निहित निर्देश के अनुकूल वह व्यवहार करती है। वह अपने व्यवहार को निर्देश के अनुकुल ढालती है। यह ऐसा उदाहरण है जिसमे निर्देश स्पष्ट है। लेकिन ऐसी भी स्थितियाँ आती है जिनमे वह स्पष्ट नहीं हो पाता है। हम कहते है 'अरे वो देना', 'उत्तर मिलता है, 'क्या दूँ'। फिर अचानक मैं कह पडता हूँ, 'अरे "वो.....।' मुझे स्वयं नही ज्ञात है कि मैं क्या माँग रहा हूँ। कभी-कभी माँगने के समय तो याद रहता है, पर माँग देने पर कुछ समय के लिए भूल जाता है। पुनः उसकी स्मृति होने पर हम कहते हैं, 'मेरी किताब देना' और वह मिल जाती है। एक वाक्य अपनी व्यंजना, निर्देश या स्वरूप द्वारा हमारे व्यवहार को नियंत्रित करके निश्चित दिशा मे प्रवाहित कर सकता है। ओ० एच० मावरर ने इसी को वाक्य को नियंत्रित करने की युक्ति (Conditioning device) कहा है।[१०] इस युक्ति के द्वारा वाक्य से व्यक्ति के व्यवहार का संघटन बदल जाता है।[११] उदाहरण के लिए एक वाक्य लिया जाय, 'श्याम चोर है।' जब हम इस वाक्य को सुनते हैं तो श्याम के प्रति हमारे व्यवहार का संघटन परिवर्तित हो जाता है। इससे अर्थ का स्थानान्तरण होता है। नियंत्रण की युक्ति से आरम्भ मे अर्थ का स्थानान्तरण एक चिह्न से दूसरे चिह्न की ओर होता है। पुनः दूसरे स्थानान्तरण से यह वस्तु, व्यक्ति या घटना से जुड जाता है। इसे सामान्यीकरण का स्तर कहा जाता है।[१२] इससे दो बातें स्पष्ट होती हैं। भाषा के विकास के साथ तकनीक का विकास होता है। तकनीक से चिन्तन को अभिव्यक्ति की नई दिशा मिलती है। भाषा का प्रयोग सावधानी और सतर्कतापूर्वक करने से विचार की अभिव्यक्ति मे सहायता मिलती है। लेकिन काव्येतर भाषा-प्रयोग और काव्य-भाषा प्रयोग में भेद होता है। काव्यभाषा प्रयोग वैज्ञानिक या तार्किक प्रयोग से भिन्न होता है। इसे कल्पना-प्रधान-क्रिया से सम्बद्ध किया जा सकता है। इस तरह सारे वैज्ञानिक विश्लेषण के बावजूद हम पुनः आइ० ए० रिचर्ड्स के भाषा के तथ्यात्मक प्रयोग और रागात्मक प्रयोग (referential use and emotive use) के निष्कर्ष की सार्थकता तक ही पहुँच पाते हैं। टॉमस पोलक रिचर्ड्स मे असहमत हैं। उनके अनुसार भाषा तथ्यात्मक-प्रबोधात्मक (evocative) होती है। दोनों मे विशेष भेद नही है। इस अभिव्यक्ति की सीमा को स्वीकार करने पर हम साहित्य को दो भागों मे विभक्त कर सकते हैं, (१) मौलिक साहित्य और (२) साहित्याभास। मौलिक साहित्य की अभिव्यक्ति भावानुभूति के संप्रेषण में

सक्षम होती है, पर साहित्याभास की अभिव्यक्ति (राजनीति, विज्ञापन) लेखक को निजी अनुभूति नही होती ।

अभिव्यक्ति के सन्दर्भ मे प्रकृति और कलात्मक अभिव्यक्ति का विवेचन विशेष रूप से किया गया है । प्रकृति भी अभिव्यक्ति का माध्यम होती है । हम उसके उपादानो को देखने और वे जो अभिव्यक्त करते हैं, उनसे प्रभावित होते रहते है । नदी, झरने, बादल, पर्वत, दिन रात, आकाश का अनन्त प्रसार, उसकी रहस्यमय नीलिमा, प्रकृति में लिखे राशि-राशि पुष्प, शस्य श्यामला वसुन्धरा के वक्षस्थल और उसके अनेक भावोद्दीपक स्वरूप अनन्तकाल से हमारी सचेनता और अनुभूति के विषय रहे है । प्रकृति मानव प्रकृति की परिचायक भी मानी गई है । इस दृष्टि से मनुष्य और उसके कार्य-व्यापार रचना के केन्द्र मे अनायास ही प्रतिष्ठित हो गए है । प्रकृति, मानव प्रकृति और रचनाकर मे अन्तःसम्बन्ध और आदान-प्रदान की स्थिति बनी रहती है । इसी से कवि का रचना संसार निर्मित होता है । प्रकृति की सावयवता जिस अदृश्य-अचेतन-सोद्देश्यता की परिचायक होती है, जिस सामंजस्य और समन्वय की व्यंजना करती है, उससे सचेतन कलाकार की कला पूर्णतया मंडित होकर अपनी सार्थकता सिद्ध कर पाती है ।

अभिव्यक्ति और प्रकटीकरण या कोरी अभिव्यंजना मे भी भेद करना आवश्यक है । कोरी अभिव्यंजना वस्तुओ को यथावत् रूप मे प्रस्तुत कर देती है । पर अभिव्यक्ति का संबंध सचेतन और प्रामाणिक अनुभूति से होता है । कोरी अभिव्यंजना प्रामाणिक अनुभूति से रिक्त होती है । हमने जो कुछ देखा, सुना है या हमें जो तथ्य उपलब्ध हुए हैं, उनका प्रकटीकरण उसका प्रमुख उद्देश्य होता है । पर अभिव्यक्ति प्रामाणिक अनुभूति पर आधारित होने के कारण, अथवा यों कहें कि प्रामाणिक अनुभूति का कल्पना प्रधान कलात्मक निरूपण होने के कारण कलाकार को एक ओर परिवेशीय अन्तर्दृष्टि से अलंकृत करती है तो दूसरी ओर उसे विवेकपूर्ण व्याख्या की सामर्थ्य प्रदान करती है । इससे कुछ हद तक कलाकार का अन्तःसम्बन्ध भी प्रकट होता है । अभिव्यक्ति-कलात्मक अभिव्यक्ति-की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह अनुभूति को संप्रेष्य बनाती है । इसी लिए कला के माध्यम से जो कुछ व्यक्त होकर हमारे समक्ष आता है वह हमारे लिए ग्राह्य बन जाता है । अनुभूति की स्थिति में मानस को तरलता का विशेष महत्व होता है । इसी विशेषता के कारण अनुभूति के परिग्रहण और उसे अभिव्यक्ति-सक्षम बनाने में सहायता मिलती है । पुनर्पोषण की स्थिति में अनुभूति के विविध प्रत्यय इसी तरलता से एक दूसरे से मिलकर प्रौढ़-अभिव्यक्ति-सक्षम-अनुभूति-संवितों का निर्माण करते हैं । पर अभिव्यक्ति की इस स्थिति में यह तरलता बाधक होती है । अनुभूति को रचित करने की स्थिति मे मानस मे एक तल्लीनता की स्थिति पाई जाती है । परिधिस्थ भाव सिमट कर केन्द्रीय भाव को सशक्त बनाते हैं । अभिव्यक्त होने वाला यह

केन्द्रीय भाव जितना सशक्त और आग्रहपूर्ण होता है, अभिव्यक्ति की क्रिया उतनी ही सरलता से संपादित होती है। अभिव्यक्ति की स्थिति में अवधान के विकेन्द्रीकरण से अनुभूति की तीव्रता ही नही प्रभावित होती, स्वयं अनुभूति का पारदर्शी स्वरूप मटमैला बन जाता है।

कलात्मक अभिव्यक्ति को विशेषीकरण (individualisation) की क्रिया माना गया है। रचना के आग्रहशील भावो के मानस मे तिरने की स्थिति में अभिव्यक्ति का संपादन कई रूपों मे होता है। एक स्थिति वह है जिसमे अन्तःदीप्त मानस स्वयं अभिव्यक्ति-सक्षम मानस बन जाता है। अभिव्यक्ति अनायास स्वयं चालित रूप मे क्रियाशील हो उठती है। दूसरी स्थिति वह है जहाँ रचनाशील मानस अनुभूति मे तिरने वाली संघटना से अभिव्यक्ति का निर्देश प्राप्त करता है। पर एक तीसरी स्थिति भी है, जिसमे कलाकार अनुभूति की विशेषता के अनुकूल उपादान को चुनता है और उसके माध्यम से अपने को अभिव्यक्त करता है। अभिव्यक्ति की भी दो स्थितियाँ होती है, एक परम्परित और दूसरी परम्परामुक्त। हर महान रचनाकार परंपरित पद्धति से हटकर रचना करना चाहता है। परंपरामुक्त शैली अगर अनुभूति को प्रामाणिक ढंग मे अभिव्यक्त कर पाती है तो उसमे अभिनव आकर्षण और व्यंजना पाई जाती है। अभिव्यक्ति की स्थिति मे कलाकार कभी-कभी मूल अनुभूति से विचलित होकर उसे नए रूप मे अभिव्यक्त कर जाया करता है।

अभिव्यक्ति और अभिव्यंग्य के अन्तःसम्बन्ध का भी अभिव्यक्ति की दृष्टि से विशेष महत्व है। इस पर अनेक विचारको ने अनेक तरह से विचार किया है। अतएव उनके दृष्टिकोण को संक्षेप मे विश्लेशित कर लेने के बाद ही कुछ कहना उचित है। जॉन हॉस्पर्स की दृष्टि मे अभिव्यक्ति कला-सृजन की स्थिति मे कलाकार की क्रिया की परिचायक है [१३]। पर कला के लालित्यबोधीय मूल्य के परीक्षण के समय हम अन्य बातो पर विचार करते है पर अभिव्यक्ति के कार्य पर विचार नही करते [१४]। हम कही अभिव्यक्ति को प्रकट करने (reveal) का पर्याय मान लेते हैं तो कही उद्‌बुद्ध करने (evoke) का। इससे अभिव्यक्ति का अर्थ स्पष्ट नही हो पाता है। किसी वस्तु को अभिव्यक्त करने या न करने से कलाकृति महान या तुच्छ नही होती। कलाकृति अपनी संप्रेषण क्षमता के अनुसार भी महत्वपूर्ण और अमहत्वपूर्ण नही होती है। संप्रेषण का संबन्ध ग्राहक, सहृदय, दर्शक या श्रोता से भी होता है। अतएव अभिव्यक्ति को ऐसी क्रिया माना जा सकता है जो संप्रेषण प्रधान होने के कारण एक ओर कलाकार से संबद्ध होती है तो दूसरी ओर सहृदय से। कला संप्रेषण-प्राण होती है। कलाकार के भाव अभिव्यक्ति द्वारा ग्रहीता तक प्रेषित होते है। इसकी प्रकृति पर मतभेद है। कुछ विचारक मानते है कि सहृदय संप्रेषित भावो को ग्रहण करता है और कलाकार की मानसिकता मे पहुँच जाता है, पर कुछ अन्य लोग इससे असहमत है। हॉस्पर्स

यथार्थ मे अभिव्यक्ति की उस विशेषता को महत्व देते है जिसके कारण कलाकृति महत्वपूर्ण सिद्ध होती है। जॉन डेवी ने अभिव्यक्ति को अपनी अनुभूति की मान्यता के सन्दर्भ मे विवेचित किया है। उनकी दृष्टि मे हर सामान्य-असामान्य अनुभूति में प्रोत्तेजना निहित रहती है। इस प्रोत्तेजना (Impulsion) की अपनी निजी विशेषता होना है। हर प्रोत्तेजना विशिष्ट होती है। यह वातावरण के साथ सामंजस्य की क्रिया मे निहित पाई जाती है। प्रोत्तेजना के साथ ही अवयव की बहिर्मुखी विकासोन्मुख गति संभव होती है[१५]। यही प्रोत्तेजना से प्राप्त बहिर्मुखी क्रिया अनुभूति की जन्मदात्री मानी जा सकती है। इसी प्रोत्तेजना से अनुभूति पूर्णता की ओर उन्मुख होती है। आवश्यकता मे निहित प्रोत्तेजना से अनुभूति आरम्भ होती है। आरम्भिक अवस्था मे यह अनिश्चित पाई जाती है। इसके मार्ग मे बाधाये भी होती है। इसकी गति अवरोधो से पीछे की ओर मुड़ती है। मौलिक अनुभूति मे निहित ऊर्जा से उसका स्वरूप सँवरता है और वह गति प्राप्त करती है। वर्तमान प्रोत्तेजना सदैव भूत मे संग्रहीत अनुभूति से विकासोन्मुख होकर रूप ग्रहण करती है। चतुर्थ अध्याय मे इसी को 'फीड बैक' कहा गया है। इस प्रकार अभिव्यक्ति मे परिणत होने के पूर्व अनुभूति को दुहरे परिवर्तन से गुजरना पड़ता है।[१६] भाव का 'डिस्चार्ज' करने की बात भी सामने आती है। उसमे क्रिया होती है पर अभिव्यक्ति नही। 'डिस्चार्ज' करने का तात्पर्य है मुक्त हो जाना। अभिव्यक्ति भिन्न अर्थ की द्योतक होती है। इसमे हम भाव के साथ रहते है, उसे विकसित करते है और कलात्मक पूर्णता तक पहुँचाते है। जहाँ वस्तुगत स्थितियों की व्यवस्था अथवा उत्तेजना को निहित करने की कलात्मक सामग्री का अभाव होता है, वहाँ अभिव्यक्ति नही होती है।[१७] डेवी ने प्रोत्तेजना-मूलक-अनुभूति को संघटन प्रधान माना है। माध्यम और अभिव्यक्ति का अन्तःसम्बन्ध भी महत्वपूर्ण होता है। अभिव्यक्ति की क्रिया मे प्राकृतिक उपादानो का उपयोग किया जाता है। शाब्दिक अर्थ को दृष्टि मे अभिव्यक्ति 'स्क्वीज़िंग आउट' और 'प्रेसिंग फोर्थ' की क्रिया की सूचक होती है।[१८] सैमुएल अलेक्जेण्डर ने कविता की रचना के विषय मे लिखा है, रचनाकार की कृति पूर्ण काल्पनिक अनुभूति के साथ नही विकसित होती है जिसकी वह सम्वादी होती है। वह तो विषय के प्रति भावप्रवण उत्तेजना से विकसित होती है। कवि की रचना उसको उत्तेजित करने वाले विषय के साथ प्ररोचित होती है।[१९] डेवी ने इस पर जो भाष्य किया है उससे अभिव्यक्ति पर उचित प्रकाश पड़ता है। भाष्य अधोलिखित है,[२०] (१) बिजातीय तथा परिवेशीय परिस्थितियों एवं शक्तियों की प्रतिक्रिया के आधार पर यथार्थ कलाकृति अविकल अनुभूति का सृजन करती है। (२) अभिव्यक्त वस्तु सृजक की स्वाभाविक मनोवृत्ति और प्रवृत्ति पर विषयगत प्रवृत्तियो के दबाव और प्रभाव से उद्भूत होती है। (३) कला-निर्माण-सक्षम अभिव्यक्ति निश्चित काल की सीमा मे निर्माण को परिचायक होती है, किसी तात्का-

लिक उत्सर्जन का परिणाम नही। इसका तात्पर्य यह है कि किसी माध्यम विशेष मे कला-निर्माणक-आत्माभिव्यक्ति विषयगत परिस्थितियो मे आत्म से ही उत्पन्न क्रियाओ का प्रतिफलन है। इसी क्रिया की स्थिति मे ये दोनो उस स्वरूप और नियम को उपलब्ध करते हैं जो इनम इसके पूर्व नही था। और (४) जब विषय से सम्बद्ध उत्तेजना घनीभूत होती है तो यह पूर्व अनुभूतियो से प्राप्त मनोवृत्ति एवं अर्थ का मनोरम स्रोत प्राप्त करती है। जब इसका क्रिया-विशेष मे तादात्म्य हो जाता है तो यह चेतन विचार एव सवेग अथवा मनावेग प्रधान बिम्ब का रूप ग्रहण कर लेती है। किसी भी विचार विशेष मे प्रहर्षित अथवा प्रोचित होना प्रेरणा है।

लैंजर के विचार भी वर्तमान सन्दर्भ मे विशेष उपयोगी है। उन्होने लिखा है, 'कलाकार अनुभूति को अभिव्यक्त करता है, पर उस रूप मे नहीं जिस रूप मे राजनीतिज्ञ अपने विचार को व्यक्त करता है या बालक हँसता और चिल्लाता है। वह यथार्थ के उस ग्राह्य स्वरूप को मूर्तबद्ध करता है जिसे नियम विहीन और अव्यवस्थित माना जाता है। तात्पर्य यह कि वह आत्मगत को वस्तुगत बनाता है। वह जो कुछ भी व्यक्त करता है, वह उसकी यथार्थ अनुभूति नही होती, अपितु मानव अनुभूति के विषय म उसके बोध का परिचायक होती है। एक बार समृद्ध प्रतीकीकरण पर अधिकार कर लेने के बाद उसका ज्ञान उसकी वैयक्तिक अनुभूति को अतिक्रमित करने मे समर्थ हो जाता है। कलाकृति जीवन के प्रत्ययपूर्ण बोध को व्यक्त करती है, भावसवेग और आन्तरिक यथार्थ को व्यक्त करती है। फिर भी यह न तो स्वीकारात्मक होती है और न आवेगपूर्ण। यह वस्तुत एक विकसित रूपक या अवर्णनात्मक प्रतीक होती है। इसी के माध्यम से कलाकार उसको व्यक्त कर पाता है, चेतना के उस तर्कमय स्वरूप को मूर्त बना पाता है, जिसका सम्मूर्तन सर्वथा कठिन है।'[२१] इस छोटे से उद्धरण से एक साथ ही लैंजर के अभिव्यक्ति संबंधी अनेक भावकोणों का उद्घाटन होता है। इससे हमे अनुभूति की अभिव्यक्ति की विशिष्ट पद्धति, अव्यवस्थित और नियम-विहीन को चित्रित करने की क्षमता, मानव के बोधपूर्ण प्रत्यय की अभिव्यक्ति के स्वरूप, प्रतीको के प्रयोग द्वारा वैयक्तिक को निर्वैयक्तिक संस्पर्शों से युक्त बनाने की दक्षता और अन्ततोगत्वा 'लॉजिक ऑव कॉंशसनेश' के व्यक्तीकरण का ज्ञान होता है। उन्होने अनुभूति की अभिव्यक्ति का उल्लेख किया है और अनुभूति को अनुभूति के बिम्ब के रूप मे ग्रहण किया है। इनकी दृष्टि मे अनुभूति-प्रवण-संवेदनशीलता संगीतात्मक संघटन की विशेषताओ से अलंकृत होती है। इसमे संगीत की तरह ही विकास, विकासावरोध, प्रवाह, स्थिरता, सघर्ष और सुलझाव, गति और गतिहीनता, भयंकर उत्तेजना, शान्ति, सूक्ष्म प्रेरणा और स्वप्निल अन्तराल पाया जाता है।[२२]

ऐन्द्रिय अवबोध और अभिव्यक्ति के अनुपग पर भी कम विचार नही किया गया है। इस धारा के लोग मानते है कि हम पहले इन्द्रिय-बोध की सामग्री को देखते

है और पुनः इसको भाव संवेग और विचार से सम्बद्ध करते है। इसी अनुषंग से अभिव्यक्ति संभव होती है, इन्द्रिय-प्रदत्त-सामग्री से पंच तन्मात्राओ का ज्ञान होता है। इस ज्ञान के विचार से समन्वित होते ही अभिव्यक्ति की क्रिया आरम्भ हो जाती है। रुडॉल्फ आर्नहीम ने इस विचार से असहमति प्रकट की है। उन्होने अभिव्यक्ति को दृश्य उपादान से संबद्ध किया है। सामंजस्य की इसी पृष्ठभूमि मे अभिव्यक्ति को प्रमुख रूप से सामाजिक परिवेश से प्राप्त होने वाले अपरिवर्तनशील और सान्द्र (stereotyped) स्वरूपों का आश्रित माना गया है।

संस्कृत काव्य शास्त्र मे क्रौच-बध से उत्पन्न वेदना के स्वतः प्रेरित स्वरूप पर विचार किया गया है। आनन्दवर्धन ने इस अनुभूति की अभिव्यक्ति के चार स्तरो का उल्लेख किया है। उन्होने सर्वप्रथम अवबोध को लिया है, और पुनः इसके विधायक कल्पना द्वारा रूपान्तरित होने का उल्लेख किया है। तृतीय स्तर का संबंध शोक के काव्यमय बनने का स्तर है और अन्तिम स्तर आनन्द की प्राप्ति का स्तर। इसका विवेचन दृश्यकाव्य के सन्दर्भ मे किया गया है।

इस उपर्युक्त विवेचन से अभिव्यक्ति और अभिव्यंग्य के अन्त संबंध पर प्रकाश पड़ता है। एक वर्ग ऐसा है जो संवेग की अभिव्यक्ति का प्रतिपादन करता है। इस निकाय का हम क्रोचे-कोलिंगवुड-निकाय मान सकते है। उन्होने इन दोनो के आनुषंगिक सम्बन्ध की कल्पना की है। हॉम्पर्स इसका विरोध करते है और वे अभिव्यक्ति की विशेषताओ को ही उल्लेखनीय मानते है। जान डेवी कला को अनुभूति की अभिव्यक्ति मानते है। पर वे प्रोत्तेजना और अनुभूति के सन्दर्भ मे ही परिवेश का उल्लेख भी करते है। वे अनुभूति की अभिव्यक्ति की क्रिया पर भी प्रकाश डाले हैं। लैंजर ने अनुभूति-बिम्बो के द्वारा वैयक्तिक अनुभूति के निर्वैयक्तिक रूप मे प्रकट होने का उल्लेख किया है। भारतीय विचारक भी अनुभूति के काव्य मे अभिव्यक्त होने को महत्व प्रदान करते है। इस प्रकार प्रकारान्तर से अनुभूति की ही अभिव्यक्ति का सिद्धान्त महत्वपूर्ण रूप मे सामने उपस्थित होता है।

अभिव्यक्ति अरूप भावो पर रूप के आरोप की क्रिया है। वह निराकार को साकार और अमूर्त को मूर्त रूप प्रदान करती है। अतएव इसकी विशेषताओ को गंभीरतापूर्वक समझ लेना आवश्यक है। सृजन की दृष्टि से रूप का उल्लेख हुआ, पर रूपायन की क्रिया पर कम से कम प्रकाश डाला गया है। मनुष्य मे रूप-निर्माण की अद्भुत क्षमता है। हमारे द्वारा कल्पित जीवन मे भी सदैव कोई न कोई निश्चित संघटन या रूप की सूक्ष्म कल्पना निहित होती है। प्रकृति भी रूप-निर्माणक क्रिया मे संलग्न पाई जाती है। यथास्थान इनके विकासक्रम मे हमे आत्मनिर्देशित क्रिया का संकेत मिलता है। यह क्रिया जीवन की स्पन्दनपूर्ण और जीवन्त क्रिया के विशिष्टीकरण से उत्पन्न होती है। प्रकृति मे हमे स्वयंचालित निर्माणक क्रिया

का दर्शन होता है। बीज पड़ते है, उचित परिस्थितियो और उर्वरा शक्ति के संयोग से वे स्वयं बढते जाते है। क्या इसका सम्बन्ध कला से भी होता है? उसके रूप निर्माण मे इस तरह स्वयं चालित क्रिया से हम परिचित नही होते है? कला में भी तो कल्पित या अनुभूत विचारो की रूपमय अभिव्यक्ति होती है। ये कल्पित या अनुभूत विचार भी हमे निश्चित क्रिया से प्राप्त होते है। प्रकृति मे उसकी निर्माणक क्रिया मे बढने वाले स्वरूप निश्चित विशेषताओ से अलंकृत होते है। कला भी इसका अपवाद नही होती है। कला मे न केवल अनुभूति का महत्व होता है और न केवल अभिव्यक्ति का। इसमे तो अनुभूति-प्राण-अभिव्यक्ति के कलात्मक-रूपायन का महत्व होता है। इसी क्रिया से उसका विशिष्ट रूप सामने आता है। इसी को भिन्न-भिन्न विशेषणो से अभिहित किया गया है।[२३] रूप-निर्माण की इस क्रिया मे सहजता, सक्षिप्तता, परिस्थिति के अनुकूल क्रिया-शीलता और समन्वय का विशेष योगदान होता है। मनुष्य के अन्दर सदैव एक लयात्मक-रूपनिर्माणक-क्रिया गतिशील रहती है। जड वस्तुओ मे रूप निर्माण की क्रिया आन्तरिक विद्युत-रासायनिक शक्ति की मुखापेक्षी होती है। जड वस्तुये अणुओ मे निर्मित होती हैं जो एक दूसरे को आकर्षित और विकर्षित करते रहते है। विद्युत-रासायनिक-क्रिया अबाध ऊष्मा की गति की परिचायक होती है। अणु आपस मे मिलते है और उनसे वस्तुओं का रूप निर्मित होता है। प्रकृति की निर्माणक क्रिया मे 'अट्रैक्शन-रिल्शन' की क्रिया काम करती है। इस क्रिया से सन्तुलन और असन्तुलन पैदा होता रहता है। कुछ अतिरिक्त तनाव बचा रहता है, उसमे असन्तुलन पैदा होता रहता है। इस असन्तुलन से गति पैदा होती है। इसी दूसरी क्रिया से नए परमाणु जुडते जाते है और प्रकृति का विकास होता रहता है। लयात्मकता अथवा रवानी मे संघटना निहित होती है।[२४] इसके माध्यम से नवीनता उत्पन्न होती है। रचना मे रूपायन की क्रिया को समझने की दृष्टि मे इसका महत्वपूर्ण उपयोग हो सकता है। सत्य यह है कि मनुष्य का पूरा जीवन जो विचारो, प्रेरणाओ, बौद्धिक सूक्ष्मताओ, कल्पनाओ, भाव-संवेगो से समृद्ध होता है व्यवस्थित जीव-वैज्ञानिक पद्धति से निर्देशित पाया जाता है। व्यक्ति पर वाह्यजगत के प्रभाव पड़ते है, इससे प्रतिक्रिया आरम्भ होती है। इन क्रियाओ-प्रतिक्रियाओ मे 'प्रोटोप्लाज्मिक मिस्टम' की निर्देशक क्रिया स्थान ग्रहण करती है। अपनी सामान्य अभिव्यक्ति म यह विकास और कार्य के नियंत्रण जैसी ज्ञात होती है। यह नियंत्रण प्रच्छन्न रूप मे सहज वृत्ति मे मिल जाता है। इसी सामान्य घटना म व्यक्ति मे जटिल मानसिक क्रिया का आविर्भाव होता है। यही बौद्धिक कल्पनाशील व्यक्ति के जीवन का आधार होती है।[२५]

उपर्युक्त अंश मे हमने जड जगत, प्रकृति और रचना मे रूप-निर्माण की क्रिया पर प्रकाश डाला है। कला के सन्दर्भ में रूप की व्याख्या कई रूपों में की गई है। इसे उपादान की अनुभूत विशेषता या अनुभूति के तत्वो या वस्तुओं को व्यव-

स्थित करने की संरचना और संघटना की संज्ञा दी गई है ।[२७] उसे यथार्थ मे वस्तु के व्यंजक-कलात्मक-व्यवस्थापन अथवा माध्यम के कलात्मक व्यवस्थापन की संज्ञा दी गई है ।[२८] अंग्रेजी का 'फॉर्म' शब्द लेटिन भाषा के 'फार्मा' से निष्पन्न हुआ है जिसका अर्थ भासित होना या प्रत्यक्ष दिखाई देना होता है । इसमे इन्द्रिय के द्वारा किसी वस्तु के देखे जाने की व्यंजना होती है । कला मे इसे श्रवणेन्द्रिय या चक्षुरेन्द्रिय द्वारा देखे या सुने गए स्वरूप का व्यजक माना जाता है । इसके अतिरिक्त 'फॉर्म' का लाक्षणिक अर्थ भी होता है । इस दृष्टि से यह किसी भी पूर्ण या वैचारिक प्रत्यय का परिचायक होता है, जो कल्पना को प्रभावित करता है । तात्पर्य यह कि इसके द्वारा मन की कल्पनाशील शक्ति स्पष्ट निरूपित स्वरूप मे हमारे समक्ष उपस्थित होती है जिसे हम देख सकते है ।[२९] इन उपर्युक्त उद्धरणो से कुछ महत्वपूर्ण निष्कर्ष हमे प्राप्त होते है । अनुभूति के संघटन, व्यवस्थापन अथवा निरूपण द्वारा जो कलात्मक पक्ष हमारे समक्ष उपस्थित होता है उसे रूप या विन्यास कहा जाता है । यह रूप अभिव्यंजना पूर्ण होने के कारण विशिष्ट होता है । इसी के माध्यम से हमे कलाकार की अनुभूति और तकनीक का ज्ञान प्राप्त होता है । तकनीक मे संरचना के उपकरणो का विशेष सहयोग होता है । कलाकृति मे संरचना के इन जटिल अवयवों का समन्वित रूप हमारे समक्ष प्रस्तुत होता है । इसी से वह व्यंजना प्रधान बनती है । कलात्मक संरचनात्मक अवयवों को दो भागो मे विभक्त किया जा सकता है, (१) विचार या अनुभूति जो कला मे अभिव्यक्त होती है । और (२) कलात्मक तत्व जिनके आधार पर विचार अभिव्यक्ति मे ढ़लते है । कला के तत्वो को कल्पना प्रधान और कल्पना विहिन दो भागो मे विभक्त किया जाता है । रचना का सम्बन्ध पहले तत्व से होता है ।

रूप के निर्माण मे उपादान का विशेष सहयोग होता है । इसका संकेत करते हुए प्रॉल ने लिखा है, 'प्रकृति मे जो कुछ भी घटित होता है, उसे कला की संज्ञा नही दी जा सकती । इसका प्रमुख कारण यह है कि कलाकार को ऐसे उपादानो का उपयोग करना पड़ता है जो आपस मे संबद्ध, गुणात्मक-विभेद-सक्षम, विभेद के पूर्व निश्चित नियमो पर आश्रित और संघटना के नियमो के प्रतिपादक होते है । हमे सौन्दर्य के अभिघटक स्वरूपो से हर प्रकार के ऐन्द्रिय तत्व को ग्रहण करने के लिए तत्पर रहना चाहिए, क्योकि इनमे ऐसी विशेषतायें विद्यमान रहती है जिन्हे लालित्य-बोधीय आनन्द का जनक माना जाता है । इस ग्राहकता के बावजूद हमे इन तत्वो के स्वरूप के विषय मे विशेष सतर्क होना आवश्यक है । इसका प्रमुख कारण यह है कि स्वाद और घ्राण से संबंधित कुछ ऐसे स्वरूप भी होते है जो जबतक प्रकृति की घटनाओं से सम्बद्ध नही हो जाते जो कला की दृष्टि मे उनका परिष्कार कर सके और उन्हें निश्चित रूप मे मूर्तिमान कर सकें, तबतक वे उपयुक्त नही सिद्ध होते ।[३०] 'लेकिन यहाँ एक तथ्य का संकेत विषय को और स्पष्ट रूप मे समझने मे सहायक

सिद्ध हो सकता है। कला में अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिए उपादान की अपेक्षा होती है। इसलिए प्रयुक्त होने वाले उपादान का निर्धारण कुछ अंशो मे अनुभूति से ही होता है। अनुभूति में अभिव्यक्ति के ही निर्देशक तत्व नही होते, उसकी संघटना मे रूप के निर्देशक तत्व भी होते है। हर अनुभूति को परंपरित शैली मे नही ढाला जा सकता। उसे लेकर किसी भी तरह के छन्द की रचना नही की जा सकती। कुछ अनुभूतियाँ प्रकृत्या निश्चित छन्द-संघटना मे अभिव्यक्त हो सकती है, पर कुछ मुक्त छन्द मे ही व्यक्त हो पाती हैं। कलात्मक रूप मे समन्वय, सामंजस्य, केन्द्रीयता और विकास को विशेष महत्व प्रदान किया जाता है। इधर कलाओं मे एक निश्चित प्रकार के 'रिद्म' की योजना भी मिलती है। साराश यह, 'कलात्मक रूप ऐसे संबंधो का स्वरूप है जो सामान्य उपादान के तत्वो और सामग्रियो को प्रातिबोधिक पूर्णता से सम्बद्ध करता है, या वह ऐसी संघटना प्रस्तुत करता है जो पुनर्साक्षात्कार के स्तर के कला के तथ्यो को पुनर्गठित करती है। कला की सामग्री के विविध स्तर होते है।.....इसे संवर्द्धित अस्तित्वमय आकार की संज्ञा दी जा सकती है। यह वस्तुत: सम्पूर्ण भौतिक अस्तित्व के स्वरूप का परिचायक है। यहाँ कलाकार निश्चित क्षेत्र मे संगति, सामंजस्य, केन्द्रीयता, विकास और उनके सहयोगी अन्य सिद्धान्तो के माध्यम से देशकाल के नियमपूर्ण या नियमविहीनता तथ्यो को मूर्तिमान स्वरूप प्रदान करता है। अगर हम इसमे भी उपयुक्त शब्दावली का प्रयोग करना चाहे तो हम कह सकते है कि रूप कला की सामग्री को इस प्रकार अन्वित करता है कि सभी प्रकार के श्रेणी विभाजन, वर्गीकरण और अस्पष्ट संघटनाये तिरोहित हो जाती है और इनके स्थान पर व्यवस्थित, स्वत पूर्ण और स्पष्ट संघटना का आविर्भाव होता है। इस कलात्मक संघटना मे हर प्रकार की कला की सामग्री भौतिक माध्यम के साथ इस प्रकार सूक्ष्मता और पूर्णता के साथ संबद्ध हो जाती है कि कलाकृति अवबोध की दृष्टि से छोटे मे अस्तित्वमय जगत सी ज्ञात होने लगती है।[११]

हमने पूर्व-पृष्ठो मे अभिव्यक्ति और कला रूप पर प्रकाश डाला है। अभिव्यक्ति के परिणाम स्वरूप कला के रूप का निर्माण होता है। ये दोनो क्रियाये हमे किसी अनुभूति, विचार, भाव अथवा कार्य-व्यापार से परिचित कराती हैं। इस दृष्टि से हम कह सकते है कि कला रूप-निर्माण की क्रिया मे अपनी अभिव्यक्ति के माध्यम से जो विचार या भाव के तत्व हम तक प्रेषित करती है उसे उसकी विषय-वस्तु माना जाता है। अनुभूति संवितो के रूप मे कलाकार के बोध का संश्लेषित रूप उसमे क्रियाशील रहता है। कलात्मक चेतना और रुझान के द्वारा उसको अभिव्यक्त करना पडता है। जो कुछ भी कलात्मक रूप मे अभिव्यक्त होकर हमारे सामने आता है उसपर रचनाकार के 'सेल्फ' की अमिट छाप होती है। पर आत्मस्वरूप के अभिव्यक्तीकरण मे उसकी चेतना के उस वस्तुगत स्वरूप की व्यंजना भी निहित रहती है

जिसका उसके निर्माण मे सहयोग होता है। सामान्य कोटि के रचनाकार इसी बिन्दु पर आत्माभिव्यक्ति मे उलझ जाते हैं, पर कुशल रचनाकार उसका अतिक्रमण करते है। एम० एच० अब्राम ने इसी का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है, 'कलाकृति मूलतः आन्तरिक स्पन्दन के अभिव्यक्तीकरण का साधन होती है। इसके मूल मे संवेदन मे क्रियाशील होने वाली सृजन-क्रिया सक्रिय रहती है। इस क्रिया मे कवि के अवबोध, विचार और संवेदना का मिश्रित रूप पाया जाता है। इस दृष्टि से विषय-वस्तु का मूलस्रोत कलाकार के मानस की क्रियायें और विशेषतायें है। बाह्य भौतिक तत्व तभी इसके विषय हो सकते है जब वे कवि की मानसिक क्रिया के द्वारा तथ्य से काव्य के रूप मे परिणत कर दिए जायँ।[१२] ऐसे प्रश्न का उठना स्वाभाविक है कि क्या कलाकार अपने विषय-वस्तु का चुनाव करने के लिए स्वतंत्र है? सबसे महत्वपूर्ण तथ्य तो यह है कि चुनाव शब्द का प्रयोग बहुत उचित नही जान पडता। उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि वह अनुभूति की स्थिति मे कलात्मक रुझान के द्वारा विषय-वस्तु को अधिगत करता है। अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिए विषय का उपयोग किया जाता है न कि विषय को अनुभूति पर आरोपित करने के लिए। अभिव्यक्ति की स्थिति मे अनुभूति के अनुरूप ही विषय भी सामने आता है, पर विषय के अनुभूति पर आरोप की स्थिति मे अनुभूति की तीव्रता समाप्त हो जाती है, वह गौण हो जाती है और विषय प्रमुख। कलात्मक चिन्तन की विशेषताये इस स्थिति मे हमारा मार्ग दर्शन कर सकती हैं। कलात्मक चिन्तन की अवस्था सक्रिय सहयोग, प्रतिबद्धता और अनासक्त अनुसन्धान की अवस्था होती है। अनासक्त अनुसन्धान विरोधाभासी ज्ञात हो सकता है, पर वह रचना की प्रमुख विशेषता होता है। कलात्मक चिन्तन को भी उसी कोटि मे रखा जा सकता है। यह चिन्तन कल्पना का मुखापेक्षी होता है। रचनाकार की प्रमुख विशेषता यह है कि वह जीवन को जीता ही नही भोगता भी है। रचना मे जीवन का समाकलन सदैव पुनर्भोग के धरातल पर ही होता है। इसे पुनस्मृति भी कहा जा सकता है। अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनो धरातलो पर रचनाकार को वस्तु जगत का चितेरा बनना पडता है। अनुभूति की दशा मे वह वस्तु जगत के स्पन्दनो को अपने मे निहित करता है, पर अभिव्यक्ति की स्थिति मे अपने अनुभूति के संवितो को वस्तु जगत के उपादानो द्वारा व्यक्त करता है। कला मे उसका बोध नही अपितु कलात्मक बोध व्यक्त होता है।

विषय वस्तु और विषय विन्यास को बिना समझे विवाद का विषय बना दिया गया है। कुछ लोग इनमे अनावश्यक भेद करना अनुचित समझते है। अगर हमने सृजक मस्तिष्क के उपजीव्य का निराकरण कर लिया होता तो कम से कम इस संकुचित दृष्टि-प्रस्थान-बिन्दु से अब तक मुक्त हो गए होते। हम इस अनावश्यक विभेदीकरण को तूल दिए बिना आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दो में कह सकते है, 'मनुष्य छन्द से, वर्णविन्यास से, काकु से, वचनवक्रता से

अपारशक्ति का समाधान करना चाहता है। इच्छा अनन्त है, क्रिया शान्त है। इच्छा काल है क्रिया देश है। गति और स्थिति का यह द्वन्द्व चलता रहता है। इसी से रूप बनता है, इसी से छन्द बनता है, इसी से नृत्य बनता है, इसी से धर्माचरण बनता है इसी से नैतिकता बनती है। इन सबको छाप कर, सबको अभिभूत करके, सबको अन्तर्ग्रथित करके जो सामग्रस्य भाव प्राप्त होता है वह सौन्दर्य का दूसरा रूप है। एक प्राकृतिक सौन्दर्य है, दूसरा मानवीय इच्छा शक्ति का विलास। दूसरा सौन्दर्य प्रथम द्वारा चालित होता है, पर है मनुष्य के अन्तरतम अपार इच्छाशक्ति को रूप देने का प्रयास। एक केवल अनुभूति देकर विरत हो जाता है, दूसरा अनुभूति द्वारा अभिव्यक्त होकर अनुभूति की परम्परा का निर्माण करता है[१३]।'

निराला ने कई जगह सामयिक बातें कही है। उसमें उनके दृष्टिकोण का पता चलता है। उन्होंने लिखा है, 'साहित्य दायरे से छूटकर ही साहित्य है। साहित्य वह है जो साथ है, वह है जो संसार की बड़ी चीज है। साहित्य लोक से—सीमा से—प्रान्त से—देश से—विश्व से ऊँचा उठा हुआ है। इसीलिए वह लोकोत्तरानंद दे सकता है। लोकोत्तर का अर्थ है, 'लोक' जो कुछ देख पड़ता है, उससे और दूर तक पहुँचा हुआ। ऐसा साहित्य मनुष्य मात्र का साहित्य है, भावों से, भाषा का केवल एक देशगत आवरण उसपर रहता है[१४]।' उन्होंने पुनः कहा है, 'कला केवल वर्ण, छन्द, शब्द, अनुप्रास, यमक, अलंकार या ध्वनि की सुन्दरता नहीं, किन्तु इन सभी से सम्बद्ध सौन्दर्य की पूर्ण सीमा है, पूरे अंगों की सत्रह साल की सुन्दरी की आँखों की पहचान की तरह देह की क्षीणता पीनता में तरंग सी उतरती चढ़ती हुई, भिन्न वर्णों की बनी वाणी में खुलकर क्रमशः मन्द मधुर तर होकर लीन होती हुई-जैसे, केवल बीज में पुष्प की कला विकसित नहीं होती, न अंकुर से, न डाल से, न पौधे से, जड़ से लेकर तना, डाल, पल्लव और फूल के रंग-रेणु-गंध तक फूल की पूरी कला के लिए जरूरी है, वैसे ही काव्य की कला के लिए काव्य के सभी लक्षण; और, जिस तरह फूलों की सुगन्ध पेड़ के दृश्य समस्त भाग को ढँके हुए अपने सौन्दर्य तत्व के भीतर रखती है—पेड़ की काष्ठ निष्ठुरता दिखती हुई भी छिपी रहती है, उसी तरह काव्य-कला आवश्यक अशोभन वर्ण सम्प्रदाय को अपनी मनोज्ञता के भीतर डाले रहती है।[१५]' दोनों ही उद्धरण उनकी अभिव्यक्ति के सिद्धान्त पर प्रकाश डालते हैं। पहले में भाषा के 'आवरण' की बात आई है, और दूसरे में कृति की समग्रता में उमड़ते जीवन-बोध के अभिव्यक्ति की बात उठाई गई है। निराला ने विचार के केन्द्र को सूक्ष्म और विचार की अभिव्यक्ति को स्थूल कहा है। वे मानते हैं कि स्थूल के द्वारा सूक्ष्म को जाना नहीं जा सकता है।'[१६] इसी को जानने के लिए वे 'स्थितप्रज्ञ' की बात करते हैं। उनकी धारणा है कि मन में जो

निश्चयात्मिका चित्तवृत्ति उठती है वह हमे यंत्र रूप मे कार्य करने को प्रेरित करती है, पर उस निश्चयात्मिका चित्तवृत्ति का प्रमुख केन्द्र मनस्काम कल्पतरु हमारे मे ही होता है[३७]। निराला ने पहली अभिव्यक्ति और दूसरी अभिव्यक्ति का संकेत भी किया है। पहला अभिव्यक्ति का सम्बन्ध मनस्काम कल्पतरु से होता है अतएव वह उसकी बहिर्व्यंजना की तुलना मे सूक्ष्म होता है। इस दृष्टि से वे अमूर्त की मूर्त अभिव्यक्ति को ही प्रतिपादित करते है। वे कल्पना को चंचल गतिशील पर प्रवाह युक्त मानते है[३८]। यही प्रवाह अभिव्यक्ति का प्रमुख कारण होता है। इसी प्रवाह से सत्य और ईश्वर का रंग, रस के रूप मे कृतिकार की आत्मा के भावो की तरंग को पाठक की आत्मा मे मिला देता है। अनेक प्राणो मे, एक ही तरह की सहानुभूति और एक राग बज उठता है।[३९] अभिव्यक्ति सम्बन्धी अनेक विचार उनकी कविताओ मे भी मिलते है। 'प्रलाप' कविता मे निराला ने स्पष्ट लिखा है कि वे शुष्क है, उच्छृंखल है और क्या-क्या है इसका तो उन्हे ज्ञान नही है, पर एक बात का ज्ञान उन्हे अवश्य है कि बाहु बल्लियो से एक कल्पना लता उन्हे अवश्य घेरती है।[४०] वे अपने सरल और शान्त मन की कोमल क्रान्ति का आह्वान करते है और उसमे किसी भाव रस का प्याला पिलाने को कहते है।[४१] उन्हे और कोई चाह शेष नही है वे तो 'आत्म संभवा अभिव्यक्ति' को अपने अर्द्धविकच हृदय-कमल मे लाना चाहते है। इसी कविता मे वे उसका स्पष्टीकरण भी दे देते है;

मेरे जीवन की तू प्रिये साधना
प्रस्तर मय जग मे निर्झर बन
उतरी रसाराधना।'

कविता, कवि की साधना है, कवि के लिए अभिव्यक्ति के धरातल पर वह निर्झर जैसे फूट करके रसाराधना का रूप ले लेती है। अभिव्यक्ति तब होती है जब कोई अपने कराघातो से हृदय का चिर परिचित द्वार खोल देता है, जब हृदय के सिंहासन पर कोई विराजमान हो जाता है और हृदय के ढीले तारो को कसकर अपनी कोमल उँगलियो से एक तान छेड देता है। जब कवि का हृदय इस अनुभूति से अनुगुंजित हो उठता है, जब उसकी निद्राभंग हो जाती है, और उसके प्राण व्याकुल हो जाते है। सुप्त सुरो के छाये सन्नाटे मे भाव गूँजने लगते है और मौन-हृदय पर 'एक विरह-व्यथित प्रभाव' छोड़ जाते है।[४२] कवि भाषा में 'तुम फिरो रही हो शब्द तोल कर',[४४] 'खिलते नही है फूल वैसे बसन्त मे जैसे तब कल्पना की डाली पर खिलते है',[४५] 'मुक्त छन्द सहज प्रकाशन वह मन का,'[४६] 'बजे छन्द जो बन्द रहे'[४७] 'फूट पड़ा सहजगान'[४८] आदि अंशो मे भी अभिव्यक्ति का ही प्रकारान्तर से संकेत करता है। कुछ अन्य स्थल भी द्रष्टव्य है—

(१) 'टूटे सकल बंध
कलिके, दिशा ज्ञान गत हो, बहे गंध।
रुद्ध जो धार रे
शिखर निर्झर झरे
मधुर कलरव भरे
शून्य शत-शत रन्ध्र।[४९]

(२) वहे रस स्रोत रवर
वेध तनु विविध शर
पार कर गए रे
जग का अपर पार।[५०]

(३) ये जिस करके रे झंकृत स्वर
गूँजते हुए इतने सुखकर,
खुलते, खोलते प्राण के स्तर भर जाते,
व्याकुल आलिंगन को दुस्तर
रागिनी की लहर, गिरि-वन भर
तरती, जो ध्वनित भाव सुन्दर कहलाते।[५१]

इनके आधार पर यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि 'निराला' अनुभूति के ही धनी नही थे, वे अभिव्यक्ति के स्वरूप, उसके मार्ग मे आने वाले व्यवधान, भावतीव्रता की स्थिति मे उसके स्वयं चालित स्तर, रचना की स्थिति मे भावो के द्वारा प्राणो के स्तर के खुलने, भावो के अभिव्यक्ति के लिए मचलने, प्रेरणा द्वारा अभिव्यक्ति के मुकर रूप मे रूपायित होने की क्रिया से पूर्ण परिचित थे। उनकी रचना मे अभिव्यक्ति के कई स्वरूप रूपायित हुए है। प्रगीतो मे भाषा और भाव अन्योन्याश्रित है तो लंबी कविताओ मे अन्योन्याश्रित होने के साथ ही पृथक रूप मे भी उपस्थित हुए है। निराला न तो भाषा को स्वतंत्र मानते है और न भाव को। वे अभिव्यक्ति की जटिलता से भी परिचित है।

'तोड़ो-तोडो-तोडो कारा'
या
बहे रस स्रोत रवर
वेध तनु विविध शर'

के द्वारा इसी का संकेत करते है।

निराला की कविताओ मे अभिव्यक्ति का माध्यम भाषा है। अतएव उनकी काव्य भाषा के स्वरूप पर गम्भीरता से विचार कर लेना आवश्यक है। चतुर्थ अध्याय मे भी हमने भाषिक संरचना पर प्रकाश डालने वाले कुछ सिद्धान्तो का उल्लेख किया

है। इसमे कोई सन्देह नही कि भाषा और काव्य-भाषा मे भेद होता है। निराला इससे परिचित थे। वे आशावान कवि थे। उन्हे यह ज्ञात था, 'इस नवीन जीवन के भीतर से शीघ्र ही एक ऐसा आवर्त बँधकर उठने वाला है, जिसके साथ साहित्य के अगणित जलकण उस एक ही चक्र की प्रदक्षिणा करते हुए, उसके साथ एक ही प्रवाह मे बह जायँगे और लक्ष्य भ्रष्ट या निदाघ से शुष्क न हो एक ही जीवन के उदार महासागर मे विलीन होगे। वे पुन: लिखते है,' 'हिन्दी के हृदय मे खड़ी बोलीकी कविता का हार प्रभात की उज्ज्वल किरणो मे खूब ही चमक उठा है।'[५२] भाषा और भाव के सम्बन्ध पर प्रकाश डालते हुए वे कहते है, 'बडे साहित्यिको ने प्रकृति के अनुकूल ही भाषा लिखी है। कठिन भावो को व्यक्त करने मे प्राय: भाषा भी कठिन हो गई है। जो मनुष्य जितना गहरा है, वह भाव तथा भाषा की उतनी ही गंभीरता तक पैठ सकता है और पैठता है। साहित्य मे भावो की उच्चता का ही विचार रखना चाहिए। भाषा भावो की अनुगामिनी है।[५३] निराला भाषा को आदान-प्रदान ही नही अपितु परायो को भी गले मिलाने का साधन मानते है। यह न तो भाषा को आसान करने से संभव हो सकता है और न उसे मधुर बनाने से। यह तो केवल भाषा मे व्यापक प्रभाव भरने से संभव हो सकता है।[५४] निराला का भाषा-ज्ञान समृद्ध था। वे कई भाषाओ को लिख-पढ सकते थे। बंगला, अंग्रेजी और संस्कृत के ग्रन्थो को उन्होने देखा था। उससे उन्हे प्रेरणा भी मिली थी। उन्हे यह भलीप्रकार ज्ञात था, भले चित्र के भीतर वर्णन का निकटतर सम्बन्ध आत्मा से ही होगा ·· ····।'[५५] वे इस तथ्य से भी परिचित थे कि वर्णन मे कुशलता प्राप्त करने के लिए अधिकाधिक अध्ययन और चिन्तन आवश्यक है। अध्ययन द्वारा विषय-प्रवेश होता है और चिन्तन द्वारा मौलिक उत्पत्ति और रचना-शक्ति का विकास।[५६] 'मेरे गीत और कला' निबन्ध तो उनके भाषा-ज्ञान का पूर्ण परिचायक है। उसमे एक स्थल विशेष रूप से द्रष्टव्य है। निराला लिखते है, 'प्रकृति की स्वाभाविक चाल से भाषा जिस तरफ जाय—शक्ति सामर्थ्य या मुक्ति की तरह या सुखानुशयता, मृदुलता और छन्द लालित्य की तरफ, यदि उसके साथ जातीय जीवन का भी सम्बन्ध है तो यह निश्चित रूप मे कहा जायगा कि प्राण-शक्ति उस भाषा मे है। 'निराला भाषा के सहज विकास के समर्थक है, पर उसे जातीय जीवन से सम्बद्ध देखना चाहते है। वस्तुत: भाषा एक सामाजिक-सास्कृतिक धरोहर होती है। इन्ही के सन्दर्भ मे उसका विकास भी होता है। निराला इस रहस्य से पूर्ण परिचित है। वे साहित्य को दिव्य और विराट भावों से अलंकृत देखना चाहते है। उनकी धारणा है कि खडी बोली की प्रगति मुक्ति की ओर अग्रसर है। वे लिखते हैं, 'यह मुक्ति' दिव्य भावना के बल से प्राप्त होगी। भारत की जलवायु इसी के अनुकूल है। जड परमाणुओ के घात-प्रतिघातो से कविता मे जड़त्व के प्रचार से, न भाषा की मुक्ति होगी, न उससे सबद्ध इस जाति की ही मुक्ति हो सकती है। यदि

देश का अर्थ मिट्टी है, यदि विश्व के माने मिट्टी का एक वृहत् पिण्ड है, यदि देश के उद्धार से मिट्टी के उद्धार का एक अर्थ सिद्ध होता है, यदि विश्वमैत्री का सिद्धान्त जड शरीर से प्रेम करने की शिक्षा है और यदि आजकल के कवि इन्ही भावनाओ की पुष्टि करेंगे तो निःसन्देह इससे भाषा के साथ भाषा बोलने वालो की 'मुक्ति असम्भव होगी।'[५७] निराला 'भाषा के साथ भाषा बोलने वालो की मुक्ति' के पक्षधर है। 'भाषा बोलने वाले' से भी जातीय-राष्ट्रीय-जीवन की ही प्रतिध्वनि मिलती है।

पूर्ववर्ती अध्यायों मे निराला के सम्पूर्ण रचनात्मक प्रयास को तीन कालो मे विभक्त किया गया है। पहला काल छायावादी काल है जो सन् १९३६ तक चलता है। दूसरा काल सन् छियालीस तक चलता है तीसरा काल सन् छियालीस से लेकर उनके मरने तक प्रसरित है। छायावादी काल रचना की दृष्टि से सब से प्रौढ़ काल है। इस काल मे निराला ने रचना के कई स्तरो पर भाषा का प्रयोग किया है। प्रयोग का एक स्वरूप वह है जहाँ वे अपने विराट जीवन-बोध से हमे स्तब्ध कर देते है और भाषा की मुक्ति के साथ हमारी मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करते है। 'जागो फिर एक बार', 'बादलराग', 'राम की शक्ति पूजा' और तुलसीदास' मे भाषा का जो प्रयोग किया गया है उसमे भावानुकूल अनेक मोड और स्वरूप है, पर सर्वत्र किसी न किसी रूप मे औदात्यपूर्ण जीवन का विराट-बोध उपस्थित है। ऐसा ज्ञात होता है कि निराला अपने विराट-बोध-प्रसूत उदात्त कल्पना मे, ओज और अपराजेय व्यक्तित्व से मुमूर्ष राष्ट्र को जीवन्त और सप्राण बनाने के लिए तत्पर है। निराला ने साहित्य की रचना निश्चित उद्देश्य-सिद्धि के लिए की है। उद्देश्य स्पष्ट है। इसीलिए 'सरोज स्मृति' को छोडकर प्राय. अन्य बड़ी कविताओ मे उन्होने जीवन के निश्चित आदर्श को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। आदर्श के अनुचिन्तन से कवि की प्रेरणा निरन्तर केन्द्रीय विचार के चतुर्दिक चक्कर काट कर उसे सशक्त और सप्राण बनाती जाती है। जो सशक्त और रचना-सक्षम विचार कवि के मानस मे अवतरित होते हैं, उनकी भाव-संघटना के अनुरूप भाषा-संरचना का स्वरूप भी कवि को प्राप्त होता जाता है। इसका निर्देश किया जा चुका है कि अनुभूति मूल्य, निर्णय और संश्लिष्ट बोध की परिचायक होती है। परिपक्व होकर मानस मे कौधने के समय उसमे रचना के ऐसे निर्देश होते है कि अगर रचनाकार उनकी अवहेलना करता है तो वह सफल रचना नही दे पाता है। प्रायः देखने मे आता है कि आरम्भ मे उमडने वाली अनुभूति सप्राण और सशक्त होती है, इसीलिए वहाँ भाषा प्रायः प्रयास निरपेक्ष रूप मे कवि को उपलब्ध होती है। इस अनुभूति के वेग के क्षीण होने पर अवशिष्ट अनुभूति को अभिव्यक्त करने के लिए कवि को भाषा के साथ संघर्ष करना पडता है। छोटी कविताओ में अनुभूति की एकतान अभिव्यक्ति संभव होती है, इसीलिए भाषा और अनुभूति मे अन्योन्याश्रित सम्बन्ध होता है। पर बडी कविताओं मे यह अनुभूति की

एकतानता उसके निश्चित बिन्दु पर जाकर क्षीण हो जाती है और कवि को पुनः प्रेरणा का मुखापेक्षी होना पड़ता है। निराला के प्रथमकाल की रचनाओ मे यह विशेषता विद्यमान है। 'राम की शक्ति पूजा' मे आरम्भ के अंश, पवनसुत हनुमान के उर्ध्वगमन के अंश और श्रीराम के हृदय मे सीता की स्मृति जगने के अंश, जितने सशक्त है उतने अन्य अंश नही। 'तुलसीदास' के विषय मे भी यही कहा जा सकता है। सास्कृतिक अधःपतन के आरंभिक अंश, तुलसी के मन के उर्ध्वगमन, और अन्तिम पदो मे अनुभूति की सघनता है। उसके अनुरूप सघनता कविता मे अन्यत्र नही दिखाई देती। 'सरोजस्मृति' मे भी इसी तरह का उतार-चढाव दिखाई देता है। इन कविताओं मे उसके अनुरूप भाषा की संरचनात्मक सघनता, दीप्ति और व्यंजना मे उतार चढाव आता गया है। 'राम की शक्ति पूजा' को ही लीजिए। 'रवि हुआ अस्त' से 'रावण संवर' तक भाषा की संरचनात्मक एकता और उसकी अभिव्यक्ति सक्षम विशिष्टता अक्षुण्ण है। समास-प्रधान-शब्द गुंफ, बिम्ब-प्रधान-संघटन, नाटकीय शैली, भाव व्यंजक शब्द चित्र, प्राजल भाषा का संश्लिष्ट स्वरूप विशेष दर्शनीय है। पूरी अठारह पंक्तियो के पद मे आठ जगह भावो की स्पष्टता से निरूपित करने के लिए पडी पाई का निशान है। सोलह पंक्तियाँ आरम्भ से अन्त तक सामासिक चिह्नो से भरी हुई है। 'ज्योति के पत्र पर लिखे' रह जाने वाले राम-रावण के अपराजेय समर का जो चित्र प्रस्तुत किया गया है, वह बडा जीवन्त, सप्राण, द्वन्द्व और संघर्ष पूर्ण, युद्ध की विभिन्न भंगिमाओ का द्योतक और दोनो ओर के प्रयत्न का सार्थक निरूपक है। चतुर्थ अध्याय मे हमने इस अश की रचना-प्रक्रिया पर प्रकाश डाला है। आरम्भिक अंश को हमने उनके दीप्त मानस की अनुभूति का परिचायक माना है। दीप्तमानस की अनुभूति 'पैराडाइम्स' के माध्यम से व्यक्त होती है। भाषा परुष, कठोर और ओज प्राण होती है। बिम्बो के स्वरूप से विविध संघर्ष-पूर्ण स्थितियाँ उभडती है। उदाहरण के लिए 'तीक्ष्ण-शर-विधृत-क्षिप्रकर, वेग प्रखर' 'शत शेल सम्वरणशील', 'विच्छुरित वह्नि', 'विश्वजिद्दिव्य-शरभंग-भाव', 'बद्धकोदण्ड मुष्टि', 'गर्जित प्रलयाब्धि', 'उद्गीरिति वह्नि' आदि अनेक स्थलो को लिया जा सकता है। हर अंश स्वत. मे एक पूर्ण भाव-चित्र है और भाषा की गति उन भावचित्रो को उरेहने मे पूर्ण समर्थ है। युद्ध की क्रिया के सूचक शब्द-चित्र उसके प्रभाव और पुनः होने वाले युद्ध प्रयास के पूर्ण परिचायक है। अनुभूति को अभिव्यक्त करने वाले भाषा चित्र पुनः अनुभूति की व्यंजना के धरातल पर मिल करके पूर्ण चित्र का निर्माण करते है।

'लौटे युगदल' से 'असमर्थ मानता मन उद्यत हो हार हार', मे अनुभूति बिम्ब उतने सघन नही है, भाषा मे ओज और औदात्य है, पर पहले अंश से भिन्न। लेकिन इसी के बाद 'जागी पृथ्वी तनया कुमारिका छवि' से 'फिर विश्वविजय भावना हृदय मे आई भर' का संरचनात्मक-विधान पूर्व-भाषा-विधानो से कुछ भिन्न हो जाता है। इसे हमने रचनाकार के स्वयं प्रकाश की कविता की संज्ञा दी है। इसमे

कोमलता, चित्रफलक के एक आयाम के पक्ष विशेष का चित्रण, और ओज प्रधान शैली के स्थान पर प्रसाद गुण सम्पन्न शैली का दर्शन होता है। यहाँ निराला के राम के सपने जग गए है, अतएव यहाँ के शब्द-बंध मे न तो राघव, लाघव-रावण-वारण-गत युग्म-प्रहर का आज है और न 'मानता मन उद्यत हो हार-हार' का पराजय बोध। यहाँ 'पृथ्वी तनया' की कुमारिका छवि विद्युत् की कौंध की तरह उनके मानस मे जगती है, स्मृति जैसे-जैसे घनीभूत होती है, उसका दृश्य-पट जैसे-जैसे आगे बढता जाता है वैसे ही प्रेम जनित मसृणता और कोमलता के चित्र उद्घाटित होकर सामने उपस्थित होते जाते है। पद के आरम्भ की संश्लिष्ट, समास प्रधान पदावली भी यहाँ नही दिखाई देती है। वेग स्थिर है। प्रथम अंश मे भाषा को विराट चित्रफलक पर घटित होने वाले युद्ध का सजीव चित्र प्रस्तुत करना है, पर यहाँ उसे प्रेम की स्मृति को केन्द्र मे रखकर उससे उत्पन्न होने वाले प्रभावो को आकलित करना है। तीन चार पंक्तियो मे –'पृथ्वी-तनया-कुमारिका-छवि', 'खग-नव-जीवन परिचय', 'विश्वविजय-भावना-हृदय मे आई भर –कवि ने सामासिक पदो का प्रयोग किया है। पर ये प्रयोग प्रकृतया पूर्व प्रयोगो मे भिन्न है। उस स्वय प्रकाश की स्थिति मे विगत घटनाये हो उन्हे दिखाई देती है, फिर भी 'विश्वविजय भावना हृदय मे आई भर' के द्वारा कवि ने इस अंश · अभीप्सित प्रभाव को भी चित्रित कर दिया है। ताडका, सुबाहु, शिरस्त्रय, खर, दूषण, पहले मारे जा चुके है। उस घटना मे उन्हे प्रेरणा मिलती है। इसका पूर्ण उत्कर्ष 'खिच गये दृगो मे सीता के राममय नयन' मे दिखाई देता है। पर वही नाटकीय ढंग से भावापकर्ष की स्थिति चित्रित कर दी गई है, 'फिर सुना-हँस रहा अट्टट्टहास रावण खलखल।' इस स्थल पर आते-आते विश्वविजय भावना ही नही मुमूर्ष हो गई है, अपितु राम के नेत्रो मे दो 'मुक्तादल' गिरकर उन्हे पुन पहली स्थिति मे ला देते हैं। कविता की सोलहवी पंक्ति मे 'हनुमत्-केवल प्रबोध' की बात मिलती है, पर इस अंश मे हमे 'उद्वेल हो उठा शक्ति खेल-सागर-अपार' की क्रिया का दर्शन होता है। इस स्थल को हमने चतुर्थ अध्याय मे कवि की अधिमानस अनुभूति का पर्याय कहा है। इसी कोटि मे हमने 'देखो बधुवर सामने स्थित जो भूधर' से लेकर 'मानव के मन का असुर मन्द हो रहा खर्व' को परिगणित किया है। महावीर हनुमान के उर्ध्वगमन से उत्पन्न स्थिति का सामना विद्या का आश्रय लेकर उनको प्रबोध देने से ही हो सकता है। हनुमान के उर्ध्वगमन मे निराला की ये पंक्तियाँ विशेष महत्वपूर्ण हैं—

'रावण महिमा' श्यामा विभावरी अन्धकार
यह रुद्र राम पूजन प्रताप तेजः प्रसार;
उस ओर शक्ति शिव की जो दशस्कन्ध पूजित,
इस ओर रुद्रवन्दन जो रघुनन्दन कूजित,

एकतानता उसके निश्चित बिन्दु पर जाकर क्षीण हो जाती है और कवि को पुनः प्रेरणा का मुखापेक्षी होना पड़ता है। निराला के प्रथमकाल की रचनाओ मे यह विशेषता विद्यमान है। 'राम की शक्ति पूजा' मे आरम्भ के अंश, पवनसुत हनुमान के उर्ध्वगमन के अंश और श्रीराम के हृदय मे सीता की स्मृति जगने के अंश, जितने सशक्त है उतने अन्य अंश नही। 'तुलसीदास' के विषय मे भी यही कहा जा सकता है। सास्कृतिक अधःपतन के आरंभिक अंश, तुलसी के मन के उर्ध्वगमन, और अन्तिम पदो मे अनुभूति की सघनता है। उसके अनुरूप सघनता कविता मे अन्यत्र नही दिखाई देती। 'सरोजस्मृति' मे भी इसी तरह का उतार-चढाव दिखाई देता है। इन कविताओ मे उसके अनुरूप भाषा का संरचनात्मक सघनता, दीप्ति और व्यंजना मे उतार चढाव आता गया है। 'राम की शक्ति पूजा' को ही लीजिए। 'रवि हुआ अस्त' से 'रावण संवर' तक भाषा की संरचनात्मक एकता और उसकी अभिव्यक्ति क्षमता विशिष्टता अक्षुण्ण है। समास-प्रधान-शब्द गुंफ, बिम्ब-प्रधान-संघटन, नाटकीय शैली, भाव व्यंजक शब्द चित्र, प्राजल भाषा का संश्लिष्ट स्वरूप विशेष दर्शनीय है। पूरी अठारह पंक्तियो के पद मे आठ जगह भावो को स्पष्टता से निरूपित करने के लिए पडी पाई का निशान है। सोलह पंक्तियाँ आरम्भ से अन्त तक सामासिक चिह्नो से भरी हुई है। 'ज्योति के पत्र पर लिखे' रह जाने वाले राम-रावण के अपराजेय समर का जो चित्र प्रस्तुत किया गया है, वह बडा जीवन्त, सप्राण, द्वन्द्व और संघर्ष पूर्ण, युद्ध की विभिन्न भंगिमाओ का द्योतक और दोनो ओर के प्रयत्न का सार्थक निरूपक है। चतुर्थ अध्याय मे हमने इस अंश की रचना-प्रक्रिया पर प्रकाश डाला है। आरम्भिक अंश को हमने उनके दीप्त मानस की अनुभूति का परिचायक माना है। दीप्तमानस की अनुभूति 'पैराडाइम्स' के माध्यम से व्यक्त होती है। भाषा परुष, कठोर और ओज प्राण होती है। बिम्बो के स्वरूप से विविध संघर्ष-पूर्ण स्थितियाँ उभड़ती है। उदाहरण के लिए 'तीक्ष्ण-शर-विधृत-क्षिप्रकर, वेग प्रखर' 'शत शेल संवरणशील', 'विच्छुरित वह्नि', 'विश्वजिद्दिव्य-शरभंग-भाव', 'बद्धकोदण्ड मुष्टि', 'गर्जित प्रलयाब्धि', 'उद्गीरिति वह्नि' आदि अनेक स्थलो को लिया जा सकता है। हर अंश स्वत. मे एक पूर्ण भाव-चित्र है और भाषा की गति उन भावचित्रो को उरेहने मे पूर्ण समर्थ है। युद्ध की क्रिया के सूचक शब्द-चित्र उसके प्रभाव और पुनः होने वाले युद्ध प्रयास के पूर्ण परिचायक हैं। अनुभूति को अभिव्यक्त करने वाले भाषा चित्र पुनः अनुभूति की व्यंजना के धरातल पर मिल करके पूर्ण चित्र का निर्माण करते है।

'लौटे युगदल' से 'असमर्थ मानता मन उद्यत हो हार हार', मे अनुभूति बिम्ब उतने सघन नही है, भाषा मे ओज और औदात्य है, पर पहले अंश से भिन्न। लेकिन इसी के बाद 'जागी पृथ्वी तनया कुमारिका छवि' से 'फिर विश्वविजय भावना हृदय मे आई भर' का संरचनात्मक-विधान पूर्व-भाषा-विधानो से कुछ भिन्न हो जाता है। इसे हमने रचनाकार के स्वयं प्रकाश की कविता की संज्ञा दी है। इसमे

कोमलता, चित्रफलक के एक आयाम के पक्ष विशेष का चित्रण, और ओज प्रधान शैली के स्थान पर प्रसाद गुण सम्पन्न शैली का दर्शन होता है। यहाँ निराला के राम के सपने जग गए है, अतएव यहाँ के शब्द-बंध मे न तो राघव, लाघव-रावण-वारण-गत युग्म-प्रहर का आज है और न 'मानता मन उद्यत हो हार-हार' का पराजय बोध। यहाँ 'पृथ्वी तनया' की कुमारिका छवि विद्युत् की कौध की तरह उनके मानस मे जगती है, स्मृति जैसे-जैसे घनीभूत होती है, उसका दृश्य-पट जैसे-जैसे आगे बढता जाता है वैसे ही प्रेम जनित मसृणता और कोमलता के चित्र उद्घाटित होकर सामने उपस्थित होते जाते है। पद के आरम्भ की सश्लिष्ट, समास प्रधान पदावली भी यहाँ नहीं दिखाई देती है। वेग स्थिर है। प्रथम अंश मे भाषा को विराट चित्रफलक पर घटित होने वाले युद्ध का सजीव चित्र प्रस्तुत करना है, पर यहाँ उसे प्रेम की स्मृति को केन्द्र मे रखकर उसमे उत्पन्न होने वाले प्रभावो को आकलित करना है। तीन चार पंक्तियो मे –'पृथ्वी-तनया-कुमारिका-छवि', 'खग-नव-जीवन परिचय', 'विश्वविजय-भावना-हृदय मे आई भर –कवि ने सामासिक पदो का प्रयोग किया है। पर यह प्रयोग प्रकृत्या पूर्व प्रयोगो से भिन्न है। उस स्वयं प्रकाश की स्थिति मे विगत घटनाये ही उन्हे दिखाई देती है, फिर भी 'विश्वविजय भावना हृदय मे आई भर' के द्वारा कवि ने इस अंश अभीप्सित प्रभाव को भी चित्रित कर दिया है। ताडका, सुबाहु, शिरस्त्रय, खर, दूषण, पहले मारे जा चुके है। उस घटना मे उन्हे प्रेरणा मिलती है। इसका पूर्ण उत्कर्ष 'खिच गये दृगो मे सीता के राममय नयन' मे दिखाई देता है। पर वही नाटकीय ढंग से भावापकर्ष की स्थिति चित्रित कर दी गई है, 'फिर सुना-हँस रहा अट्टहास रावण खलखल।' इस स्थल पर आते-आते विश्वविजय भावना ही नही मुमूर्ष हो गई है, अपितु राम के नेत्रो से दो 'मुक्तादल' गिरकर उन्हे पुन पहली स्थिति मे ला देते हैं। कविता की सोलहवी पंक्ति मे 'हनुमत्-केवल प्रबोध' की बात मिलती है, पर इस अंश मे हमे 'उद्वेल हो उठा शक्ति खेल-सागर-अपार' की क्रिया का दर्शन होता है। इस स्थल को हमने चतुर्थ अध्याय मे कवि की अधिमानस अनुभूति का पर्याय कहा है। इसी कोटि मे हमने 'देखो बधुवर सामने स्थित जो भूधर' से लेकर 'मानव के मन का असुर मन्द हो रहा खर्व' को परिगणित किया है। महावीर हनुमान के उर्ध्वगमन से उत्पन्न स्थिति का सामना विद्या का आश्रय लेकर उनको प्रबोध देने से ही हो सकता है। हनुमान के उर्ध्वगमन मे निराला की ये पंक्तियाँ विशेष महत्वपूर्ण हैं—

'रावण महिमा' श्यामा विभावरी अन्धकार
यह रुद्र राम पूजन प्रताप तेज. प्रसार;
उस ओर शक्ति शिव की जो दश.स्कन्ध पूजित,
इस ओर रुद्रवन्दन जो रघुनन्दन कूजित,

करने को ग्रस्त समस्त व्योम कपि बढा अटल
लख महानाश शिव अचल हुए क्षण भर चंचल ।[५८]

दूसरे स्थल मे भी महादेवी के विश्वरूप के साथ ही शिव का स्वरूप चित्रित है। यहाँ दो पंक्तियाँ विशेष रूप से द्रष्टव्य है—

'लख महाभाव-मंगल पदतल धँस रहा गर्व ।
मानव के मन का असुर मन्द हो रहा खर्व ।[५९]

इन स्थलो की प्रमुख विशेषता चिन्तन-विलपुता है। इनमे तपः पूत आत्मा के बोध, स्वप्न संवेग जनित अनुभूति संवित् और चेतना के उर्ध्वअभियान के आत्म साक्षात्कार की विशेषताये विद्यमान पाई जाती है। इस बोध को अभिव्यक्त करने के लिए निराला ने उसी तरह की शब्दावली का प्रयोग किया भी किया है। 'महाराव' 'महाकाश' 'महाभाव' 'मानव के मन मन का असुर' का प्रयोग बड़ा सार्थक है, पर उसकी ओर लोगों की दृष्टि नही गई है। अपने दुराग्रह मे अधिकांश आलोचक कविता की भाषिक संरचना और उसके स्थापत्य से उमड़ने वाले बोध की अवमानना कर बैठे है। वे अनुभूति के स्वरूप को समझ ही नही सके है; अतएव उसकी अभिव्यक्ति का निराकरण उनसे नही हो पाया है। 'राम की शक्ति पूजा' के स्थापत्य म अन्य मनोदशाओ का चित्रण भी है। विभाषण की उक्ति इसी कोटि की है। इन बाइस पंक्तियो मे प्रमुख केन्द्रीय भाव है, 'फिर, कैसे असमय हुआ उदय यह भाव प्रहर।' लेकिन राम पर इनका कोई प्रभाव नही पड़ता है। इसकी सटीक अभिव्यक्ति निराला ने की है,

'सब सभा रही निस्तब्ध: राम के स्तिमित नयन
छोड़ते हुए, शातल प्रकाश देखते विमन
जैसे ओजस्वी शब्दो का जो था प्रभाव
उसमे उन्हे कुछ चाव, न हो कोई दुराव,
ज्यो हो वे शब्द मात्र-मैत्री की समनुरक्ति
पर जहाँ गहन भाव के ग्रहण की नही शक्ति ।,[६०]

राम सुन चुके है, 'रावण अट्टहास करके हँस रहा है।' उसका कारण भी उन्हे ज्ञात है। रावण के आमंत्रण पर महाशक्ति उसकी सहायता कर रही है। इसी के माध्यम मे निराला उस मूलभूत समस्या से टकराते है, जिसका उन्हे जीवन भर सामना करना पडा ;

'आया न समझ मे यह दैवी-विधान,
रावण अधर्म रत भी, अपना, मे हुआ अपर—
यह रहा शक्ति का खेल समर, शंकर शंकर ।'[६१]

राम की ही तरह निराला के भी प्रयत्न असफल हुए है,

विचलित लख करि दल, क्रुद्ध युद्ध को मैं ज्यो-ज्यो
झक-झक झलकती वह्नि वामा के दृग त्यों-त्यो।[६२]

इसी से मिलता जुलता स्वरूप कमल की चोरी के समय भी देखने मे आता है। विभीषण की मंत्रणा के पश्चात् जामवन्त उचित परामर्श देते हैं—

'आराधन का दृढ़ आराधन से दो उत्तर
तुम वरो विजय संयत प्राणो से प्राणों पर।

•••• •••• ••••

शक्ति की करो मौलिक कल्पना करो पूजन।'[६३]

इसके पश्चात् पूरी कविता शक्ति की 'मौलिक कल्पना' और 'पूजन' को चरितार्थ करती है।

इस विवेचन से कई तथ्य सामने आते है। निराला की सभी रचनाओ के अपने नक्शे है, स्थापत्य है, उनसे उभड़ता रूप हमारे समक्ष उपस्थित होता है। हर कविता एक 'फिगर' बनाती है। गीतो मे तो इनकी 'डिज़ाइन' स्पष्ट होते हुए भी सर्वत्र एक होने का संकेत नही कर पाती। फिर बड़ी कविताओ के धरातल पर उन का एक होना कहाँ तक संभव है। यह निःसंदेह सत्य है कि कली (जूही की कली) कविता के आरम्भ मे सोती है, फिर सोने से जागती है और प्रिय से मिलती है। इसमे मन के अन्धकार के बाद जागरण की स्थिति आती है। इसी को निराला परिणति मानते है और उत्कृष्ट कला का उदाहरण कहते हैं।[६४] लेकिन उन्होने किसी बने बनाए खाके को समान रंगो से भर कर उसकी पुनरावृत्ति करने के स्थान पर कविता के खाके को अभिव्यक्ति के विकासक्रम मे उपलब्ध किया है। इसीलिए किसी एक 'पैटर्न' के अनुगमन की प्रवृत्ति उनमे नही दिखाई देती है। अगर कोई समानता है तो केवल यही कि उनके अनुभूति के संवित् अभिव्यक्ति के घटना-प्रधान-संवितो के रूप मे ढलने मे सक्षम हैं। 'राम की शक्ति पूजा' मे आरम्भ में जो औदात्य है उसकी पुनरावृत्ति राक्षस पदतल पृथ्वीटलमल', 'या शत घूर्णा-वर्ततरंग-भंग उठते पहाड' के बाद की पाँच छ पंक्तियों मे दिखाई देती है। यही 'सिहरा तन, क्षण भर भूला मन लहरा समस्त' के बाद की एक दर्जन पंक्तियो मे पुन उभड़ती है। इससे स्पष्ट होता है कि बीच-बीच मे यथास्थान परिस्थिति योजना के अनुकूल उस स्तर को उन्होने पुन ग्रहण किया है और कविता के स्थापत्य को जीवन्त बनाने का प्रयत्न किया है। यही स्थिति स्वयंप्रकाशपूर्ण अभिव्यक्ति की भी है। 'याद आया उपवन विदेह का' के साथ ही 'वह रहा एक मन और राम का जो न थका' मे यह दिखाई देती है। पूरी कविता मे उनका संप्रज्ञात समाधि

जनित बोध भी दो स्थानों पर व्यक्त हुआ है। उसके साथ उनके जीवन का बोध, विभीषण का प्रवचन, जामवन्त का परामर्श और अन्त मे साधना का स्वरूप संम्बद्ध है। 'पूरी कविता मे विकास है, तर्क की रेखाओं के अनुरूप भाव और मूर्तिविधान की इमारत खडी की गई है। कविता जिस स्थिति से शुरू होती है उसी मे खत्म नहीं होती। खत्म होने तक स्थिति बदलती है और उसका बदलना तर्कसंगत होता है। प्रथम स्थिति यदि कारण है तो अन्तिम स्थिति उसका परिणाम है। 'लेकिन इनके बावजूद निराला ने जिसे परिणति कहा है, वह हर कविता के साथ बदलती गई है। शिल्प को उनकी यही महान देन है। कथ्य मे अभिव्यंजना के धरातल पर कुछ उभयनिष्ठ बातें अवश्य उपस्थित है पर कविता की 'डिजाइन' में उनका समाकलन किसी एक निश्चित संरचना मे नही ढला है। भाषाभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त भाषा के संवित् भी समान संघटना का परिचय देते हैं, पर वे अनुभूति के अनुसार सघन और विरल बन गए है। शर्मा जी ने पूरी कविता को उदात्त, स्वरित और अनुदात्त नामक तीन भागो मे विभक्त किया है। उन्होंने कविता के सिंह द्वार और शिखरो की ओर भी हमारा ध्यान आकृष्ट किया है।[६६] उससे स्थापत्य की कुछ विशेषताये स्पष्ट हुई है। मेरी दृष्टि मे 'राम की शक्ति पूजा', 'तुलसीदास' और 'सरोजस्मृति' उच्च विचार की कवितायें है। प्रथम दो 'ग्रेण्ड स्टाइल' मे रचित है। पर निराला ने किसी भी स्थल पर पूर्ण रैखिक रचना कौशल को नही अपनाया है। इनकी संरचना चक्रिल, आवर्तमय और जटिल अनुभूतियों के तनाव और सुलझाव पर आश्रित है। रचना के विकास मे एक ही संरचनात्मक मानसिकता एकाधिक बार चक्कर काटती है, पर उनके घनत्व में गुणात्मक और परिमाणात्मक भेद हो गया है। उदाहरण के लिए 'राम की शक्ति पूजा' को हम लेते है। इसे हम अधोलिखित रूप मे प्रस्तुत कर सकते है। (देखे चित्र पृ० २९० का)

आरंभिक अन्त दीप्ति की अभिव्यक्ति पर्याप्त उदात्त और व्यापक चित्रफलक पर प्रतिष्ठित है। उसके बाद तुलनात्मक दृष्टि से कम उदात्त मानसिक स्थिति और उसकी अभिव्यक्ति को प्रश्रय दिया गया है। पुनः अन्तःदीप्ति स्वयं प्रकाश मे बदल कर अनुभूति के उसी आयाम का स्पर्श करने लगती है जिसका अन्तःदीप्ति ने स्पर्श किया है। इसके पश्चात् पहले की तुलना मे कम सशक्त पर अन्तःदीप्ति प्रधान अनुभूति का स्वरूप सामने आता है। उसे अधिमानस से जोड़ने वाली अनुभूति पहले से कम उदात्त है। वह प्राय. अनुदात्त धरातल की हो गई है। लेकिन अधिमानस अनुभूति से वह पुनः अपने पूर्ववर्ती आयाम का स्पर्श करने लगती है। इस अधिमानस अनुभूति को जोड़ने का कार्य अनुदात्त अनुभूति द्वारा संपादित होता है जो अन्तःदीप्ति की अशक्त स्थिति से होकर पुन. अधिमानस अनुभूति की अवस्था मे परिणत हो जाती है। बाद मे अनुदात्त अनुभूति पुनः स्वयं प्रकाश मे जुडकर निश्चित क्रियाशीलता प्राप्त करती है। कविता के अन्त मे भावबोध और रचनाशील मानसिकता का स्वरूप एकमेक होकर क्रमशः

उभडने लगता है। 'डिजाइन' स्पष्ट हो जाती है, रचनाकौशल अनेक स्तरों को समेट कर अभिनव व्यंजना का कारण बन जाता है और रचना का समन्वित प्रभाव उभड-कर हमारे समक्ष प्रस्तुत हो जाता है। अतएव उस समय उसका स्वरूप किसी भी अनुभूति या अभिव्यक्ति के एक आयाम से वृहत्तर और व्यंजनापूर्ण होता है। उपर्युक्त चित्र मे हमने अनुभूति की विशेषताओ की अभिव्यक्ति की दृष्टि से 'राम की शक्ति पूजा' के स्थापत्य पर दृष्टिपात किया है। कवि ने इतने विशाल चित्रफलक को ग्रहण किया है कि बाह्य और आभ्यन्तरिक दोनो आयामो को कलात्मक ढंग से नियोजित करने मे वह सफल सिद्ध होता है। इस कविता की 'डिजाइन' से हमे कवि के 'इन्टेन्शन' और 'इक्जीक्यूशन' दोनो का ज्ञान प्राप्त होता है। इसीलिए रुझान की दृष्टि से हमे अनुभूति पर दृष्टिपात करना पडता है और उस रुझान की कलात्मक परिणति की दृष्टि से उसकी संरचना पर। इस तरह अभिकल्प का एक पक्ष विषय वस्तु, उपजीव्य, उद्देश्य आदि का परिचायक बन जाता है तो दूसरा पक्ष उसके रूप, आकार, विन्यास का।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि विषय-वस्तु की दृष्टि से भी कविता के स्थापत्य का निरूपण संभव है। 'तुलसीदास' का विवेचन इसी दृष्टि से किया जायगा। अनु-भूति अरूप होती है अभिव्यक्ति सरूप। अभिव्यक्ति के निर्देश अनुभूति मे निहित होते है। परिपक्व अनुभूति सघटना प्रधान होती है। फिर भी चूँकि उसे जानने का हमारे पास कोई साधन नही है अतएव हम उसे अरूप कहते है। अनुभूति और अभिव्यक्ति के बीच एक अन्तराल भी हो सकता है। कुछ को अभिव्यक्त करने के लिए प्रयत्न नही करना पडता, पर कुछ की अभिव्यक्ति प्रयत्न सापेक्ष होती है। अशक्त अनुभूतियो की अभिव्यक्ति मे ही विशेष परेशानी होती है। अभिव्यक्ति भाषा के माध्यम से ही संभव होती है। 'तुलसीदास' के आरम्भ मे भारत के अधःपतन और उसकी दुर्दशा का चित्र प्रस्तुत किया गया है। उसके पश्चात् कवि तुलसीदास का प्रसंग आ जाता है। वे अपने मित्रो के साथ चित्रकूट भ्रमण को जाते है। वहाँ प्रकृति की शोभा देखते ही उनके पुरातन संस्कार जग जाते है, वे उसके आनन्द से विभोर हो उठते है। इसी स्थिति मे प्रकृति उन्हे सत्ता की खोज के लिए प्रेरित करके अभिनव आकर्षण से भर देती है, मुसलमान संस्कृति मे प्रताडित हिन्दू सभ्यता के स्वरूप से परिचित कराती है और पार्थिव सभ्यता के मोहक पर विध्वंसक स्वरूप से आगाह करती है। कई पदो मे देश के अधःपतन, शूद्रो की दयनीय स्थिति, उच्चवर्ग के लोगों पर इस्लामी प्रभाव आदि का चित्रण किया गया है। कवि को ज्ञान हो जाता है कि सास्कृतिक और जातीय मुक्ति इसी इस्लामी सभ्यता के बाह्याडंबर से मुक्ति की परिचायक है। कवि को उसकी मुक्ति का मार्ग मिला होता, लेकिन उनके पत्नी की मोहक छवि उन्हे आसक्त कर लेती है। इसके बाद उसी के जीवन से संबद्ध अनेक रूप उसके सामने आये हैं। तुलसी की अनुपस्थिति मे उनका

साला उनकी पत्नी को लिवा कर चला जाता है। वे उसके पीछे-पीछे ससुराल पहुँच जाते हैं। इससे पत्नी घृणा से भर उठती है और उन्हे फटकारती है। उनके ज्ञान के नेत्र खुल जाते हैं। अन्त के चौदह पदो मे कवि पुनः उदात्त स्थिति को प्राप्त कर लेता है। (देखें चित्र पृ० २९२ का)

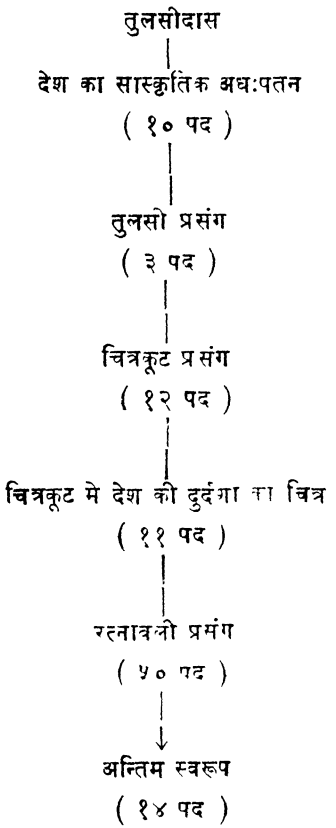

स्पष्ट है कि पूरी कविता मे चित्रकूट प्रसंग और रत्नावली प्रसंग बडे है। फिर भी स्थापत्य की दृष्टि से कविता के आरम्भ, चित्रकूट में उर्ध्वगमन, रत्नावली के प्रेम प्रसंग और कविता के अंतिम पद का विशेष महत्व है। इनका विस्तार कम होने हुए भी घनत्व अधिक है। बड़ी कविताओ मे विस्तार और घनत्व दोनो का महत्व होता है। घनत्व के स्थलो को अन्तर्दीप्तिमय कौध की संज्ञा दी गई है। 'तुलसीदास' मे चेतना के उर्ध्वगमन के स्थल भी है। इन्हें पूर्ववर्ती अध्यायों में चित्रित किया जा चुका है।

पहले काल की रचनाओ मे अन्य प्रवृत्तियाँ भी है। गीतिकाव्य मे ही प्रपात्त, मरणबोध, देश-प्रेम, प्रेम और सौन्दर्य प्रेम तथा मानव-प्रेम के दर्शन होते है। इनके अतिरिक्त 'प्रेयसी' 'रेखा' 'महाराज शिवाजी का पत्र' 'पंचवटी प्रसंग' तथा 'सरोजस्मृति' लंबी कवितायें है। 'सरोजस्मृति' 'तुलसीदास' और 'राम की शक्ति पूजा' निराला की प्रतिनिधि रचनायें है। इनका स्थापत्य उनकी अन्य बड़ी रचनाओ मे भी नही पाया जाता। निराला के गीतो का स्थापत्य भी कम महत्वपूर्ण नही है। इनमे भेद भी है। हर गीत एक ही तरह के नही है। फिर भी 'गीतिका' के गीतो का रूप समझाया जा सकता है। उनके हर गीत के आरम्भ मे 'टेक' होता है। इसके साथ निश्चित भाव संग्रथित रहता है। गीत के माध्यम मे मूल केन्द्रीय भाव को पल्लवित या विकसित किया जाता है। गीत मे दो, तीन या चार पद होते है। हर पद मे तीन, चार और कभी-कभी पाँच पंक्तियाँ पाई जाती है। हर पद के अन्त मे टेक का जोड देने से भावो का एक वृत्त बन जाता है। अनुभूति की तरल अभिव्यंजना से के भाव-वृत्त आपस मे मिलकर केन्द्रीय भाव को सशक्त और सप्राण बनाकर एक निश्चित परिणति के परिचायक बन जाते है। यही परिणति निराला के गीतों की प्राण है। हर गीत मे किसी न किसी अन्त दीप्ति की योजना रहती है। इसके द्वारा वे सम्पूर्ण गान की संघटना को उद्भासित करके उसे एक नया मोड़ प्रदान कर देते है। गीतो की संरचना और बनावट-बुनावट के विषय मे उनकी चरम परिणति की मान्यता विशेष फलवती सिद्ध हुई है। गीतो की रचना को तीन भागों मे विभक्त करके देखा जा सकता है, (१) केन्द्रीय भाव (२) भाव पल्लवन तथा विकास और (३) चरम परिणति। निराला का एक गीत लिया जाय,

'भावना रग दी तुमने प्राण
छन्द बंधो मे निज आह्वान
दिशाओ के सहस्र दशदल
खुल गए नए नए कोमल
मध्य तुम बैठी चिर अचपल
बह रहा प्रतिपल सौरभ ज्ञान
बेठ जीवन उपवन मे मन्द
मन्द मिखलाती नव-नव छन्द
चतुर्दिक प्रभा, प्रभा आनन्द
हर रहा जड-निशि-कृश अज्ञान।[६७]

स्पष्ट है कि गीत की अनुभूति किसी प्रेरणा द्वारा रंजित है जो केन्द्रीय भाव के रूप मे व्यक्त होकर संपूर्ण गीत मे पुही रहती है। उसी के आह्वान से इनके छन्द फूटते है। दिशाओं मे प्रसरित भाव के नए-नए कोमल पत्तो के रूप में विकसित और

प्रौढ होकर कवि को रचना के लिये उपलब्ध हो जाते है। पर वह प्रेरणा रूप केन्द्रीय भावना शान्त भाव से इनके मध्य सदैव उपस्थित होती है। उसके चतुर्दिक ज्ञान का सौरभ प्रसरित होता रहता है। वह जीवन उपवन मे बैठकर धीरे-धीरे नए छन्दो को शिक्षा देती रहती है। उसमे चारो ओर प्रभामय आनन्द प्रसरित होता रहता है और जड रात्रि से उत्पन्न तमोगुणी अज्ञान का नाश होता रहता है। स्पष्ट है इस गीत मे पहले प्रेरणा प्रसूत केन्द्रीय भाव उपस्थित हुआ है पुन उसकी उपस्थिति के प्रभाव को विकसित किया गया है। तीसरा स्तर कविता की चरम परिणति का है। इस स्तर पर पूर्ववर्ती स्वरूप को एक अभिनव आयाम प्रदान किया गया है। केवल भावना रग जाने, छन्दो म आह्वान को उपस्थित हो जाने या प्रेरणा के निरन्तर बने रहकर अपने केन्द्रीय स्वरूप मे कविता मे विकसित हो जाने से ही कवि सन्तुष्ट नही है। उसका संतोष तो अंतिम पंक्तियो मे व्यक्त होता है जहाँ पर अपने को प्रभापूर्ण आनन्द से घिरा पाता है और उसका जड़ अज्ञान समाप्त हो जाता है। निराला अपने गीतो मे इस चरम परिणति की योजना मे बडे कुशल है। (देखे चित्र पृ० ९४ का)

टेक के रूप मे केन्द्रीय भाव गीत के हर छन्द के साथ आता है। आरम्भ मे वह अधिक वेगवान और सशक्त होता है। पर विकास के साथ यह (केन्द्रीय भाव) कविता के साथ मिलने लगता है। उसका स्वरूप उससे मिलकर चमत्कृत हो उठता है। पर कवि की पूर्ण व्यंजना तो परिणति के धरातल पर ही उपलब्ध होती है। अतएव वहाँ हमारा ध्यान किसी एक भाव पर न टिक कर गीत की संरचना से उमडती और चरमपरिणति से चमत्कृत मूलभूत व्यंजना पर टिक जाता है। चरम परिणति कविता की समूची संवेदना को अपनी अन्तर्दीप्ति से एक अभिनव आयाम प्रदान कर देती है। वहाँ उस का प्रभाव क्षेत्र पहले की अपेक्षा अधिक व्यापक बन जाता है। उपर्युक्त चित्र मे बने सांकेतिक चिह्नो मे पोषण-और पुनर्पोषण के साथ ही अपनी व्यंजना मे गीत के व्यापक प्रभावक्षेत्र की क्रिया का स्पष्ट निर्देश किया गया है।

दूसरे काल की रचनाओ मे निराला मे रचनात्मक दृष्टि मे परिवर्तन आया है। अब वे भावना प्रधान कवि के स्थान पर चिन्तन प्रदान कवि बने है। इस परिवर्तन का संकेत प्रथम काल की रचनाओ मे ही 'मिल गया था। 'भिक्षुक', 'तोड़ती पत्थर' जैसी रचनायें आ चुकी थी। उनमे 'हो गया व्यर्थ जीवन। मै रण मे गया हार' के बोध का भी आविर्भाव हो चुका था। द्वितीय काल मे यही प्रवृत्तियाँ बढी। छायावादी भावना का संस्पर्श रह-रहकर उनमे उमॉस भरता रहा। उसके अवशेष कुछ गीतो मे ढले भी पर अब निराला का मूल स्वर मानववादी हो गया था। 'स्थापत्य' और 'डिज़ाइन' के प्रति उनम विशेष आस्था न रह गई थी। वे दो टूक खरी अभिव्यक्ति के पक्षपाती बन गए थे। 'कुकुरमुत्ता' उसी जीवन-

बोध का परिचायक था। निराला ने 'बन्दीगृह वरण' करके भी 'जनता के हृदय जीने' का जो संकल्प लिया था, यह कविता उसी की चरम परिणति है। इसकी अभिव्यक्ति सहज, बिम्बहीन, सपाट और चलती-फिरती शब्दावली को स्वीकार करके अग्रसर हुई है। निराला अब 'विशिष्ट' को नहीं सामान्य को प्रतिष्ठित करते हुए दिखाई देते हैं। अभिव्यक्ति में इस परिवर्तन के क्या कारण हो सकते हैं? मेरी दृष्टि मे इसे मूलत: परिवर्तन नही कहा जा सकता। रचना के पहले काल मे जो प्रवृत्ति गौण थी वही दूसरे काल में प्रमुख, और जो प्रवृत्ति प्रमुख थी वह दूसरे काल मे गौण हो गई है। दूसरे काल की रचनाओं मे वह ओज, विराट जीवन-बोध, चेतना के अनेकश: आरोह-अवरोह और ज्वार नही है। 'नये पत्ते' और 'कुकुरमुत्ता' मे सपाट बयानी को महत्व दिया गया है। 'बेला' की अधिकाश रचनाओं (गीत) मे वे छायावादी शब्दगुम्फ और भावों के घटाटोप से मुक्ति का संकेत देते हैं। 'अणिमा' मे कुछ छायावादी तर्ज के महत्वपूर्ण गीत—'नूपुर के स्वर मन्द रहे', 'बादल छाए', 'स्नेह निर्झर बह गया,' 'गहन है यह अन्धकार'—है। पर इन्ही के साथ मेरे घर के पश्चिम ओर रहती है,' 'सडक के किनारे दुकान है,' 'चूँकि यहाँ दाना है' और 'जलाशय के किनारे कुहरी थी' आदि यथार्थ बोध की रचनाये भी हैं। इनका शिल्प, भाषा और भाव, बनावट-बुनावट स्वच्छन्द धारा के रुझान से भिन्न है। 'कुकुरमुत्ता' का रचना-कौशल 'पैरलेलिज्म' (Parallelism) का उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करता है। इसमे कवि की रचनात्मक मनोभूमि ऐसी मानसिक दूरी को बनाए रखती है। जिसमे तुलनीय उपादानो को पूर्णता के साथ परखा, समझा और वैचारिक संवितो मे परिणत किया जा सकता है। 'ज़ियाफत' मे निराला ने इसका आशिक संकेत कर दिया है, 'इसमे वही शरीक होगे जिहे न्योता नही भेजा गया है, साथ ही जो कंगाल नहीं, न ऐसे बडे आदमी, जो अपनी जगह गड़े रह गए। मतलब साफ है, हम दोनो मतलब के। हम दोनो मतलब के। न हम पैरो पडे न वह। मिहनत की कमाई हम भी खायं और वह भी। 'हम दोनो मतलब के, 'न हम पैरो पडें न वह।' दोनों,' 'हम,' 'वह' शब्दो द्वारा उसी विधान का संकेत किया गया है जिसका उपयोग 'कुकुरमुत्ता' की रचना म हुआ है। इसकी अनुभूति का दायरा कम महत्वपूर्ण नही है। यहाँ न तो 'मै' शैली का उपयोग है, न 'परी नागरी' के 'नभ पार' करने का। यहाँ आकाश और पाताल के कुलाबे भी नही मिलाये गए हैं। पर रचना के स्वत: फूटने और विकसित होने के लक्षण उपस्थित है। उसमे वेग है, गति प्रवाह, और रवानी है। रचना गुलाब से शुरू होती है। वह कवि के निरीक्षणजनित बोध को समेटती हुई अग्रसर होती है। गुलाब को नव्वाब के बाग के परिदृश्य में चित्रित किया गया है। अतएव कवि उस परिदृश्य को इतना विविध आयाम प्रदान करता है कि सब कुछ सहज स्वाभाविक और विश्वसनीय ज्ञात होने लगता है। उससे बाग के बड़प्पन की ही थाह नही मिलती,

कवि के वर्णन कौशल की थाह भी सहज ही मिल जाती है। अपने लिखने के मौसम मे गुलाब अपने समूचे विकास मे प्रस्फुटित हुआ है। उसे देखते ही कुकुरमुत्ता तड़प कर बोल उठता है। गुलाब को सुनाकर कुकुरमुत्ता द्वारा प्रस्तुत किया गया यह वक्तव्य कविता के प्रथम अंश को घेरे हुए है। प्रतिपाद्य है 'तू नही मै ही बडा।'[७०] यहाँ तक पहुँचने के लिए निराला को द्रविड़ प्राणायाम नही करना पड़ता है। वे आरम्भ मे ही 'गुलाब की खुशबू' और उसके रंगोआब को निरर्थक सिद्ध करना चाहते है। उसके पक्ष मे उन्होंने सबल और सशक्त तर्क दिया है। उनकी दृष्टि मे गुलाब अशिष्ट है जो दूसरों का खून चूस कर, दूसरो की सेवा पा कर केपिटलिस्ट जैसे इतरा रहा है। लेकिन उसे यह ज्ञात नही कि वह जिस पौधे मे फूलता है, उससे उसका सारा शरीर कंटकाकीर्ण हो जाता है। कोई इसका स्पर्श नही कर सकता है। गुलाब बडे लोगों को तो प्रिय है पर सामान्य व्यक्तियो को नही। इसके बाद कुकुरमुत्ता अपनी बड़ाई करता है। वह कहता है 'मै स्वयं उगा और बिना किसी का शोषण किए बढा हूँ। मैं दोगला नही है। मेरा कलम नही लगता है। मै मौलिक हूँ। मैने तुम्हारी तरह दुनियाँ को बिगाडा नही है अपितु सम्हाला और उभाडा है। मै लोगों को जनखा बनाकर उनकी रोटी नही छीनता। मै तो उन्हे एक के बदले तीन खाने को देता हूँ। तात्पर्य यह कि सारी दुनियाँ का काम मुझसे ही सधता है।'

इसके बाद कवि ने रूप साम्य के आधार पर अनेक वस्तुओ के साथ 'कुकुरमुत्ता' का सम्बन्ध स्थापित किया है। बीच मे जो गैप है उसे वह अपनी कला से भरता गया है। चीन का छाता, पैराशूट, सुदर्शनचक्र, जसोदा की मथानी, राम के तीर से खीचा धनुष, बलराम का हल, कलजुगी ढाल, डांड़ी के लगा पल्ला, डमरू, वीणा मृदंग, तबला सब मे उसी का रूप दिखाई देता है। उसी से संगीत पैदा हुआ है, नृत्य पैदा हुआ है और रस पैदा हुआ है। प्राय. पंक्तियो को वे अपनी उक्ति से पूरी करते गए हैं। यथा—

उलट दे जसोदा की मथानी
और भी लंबी कहानी—
× × ×
तीर से खीचा धनुष राम का
काम का—
× × ×
मैं ही डाडी से लगा पल्ला
सारी दुनियाँ तोलती गल्ला
× × ×

सरसता मे फ्राड
कैपीटल में जैसे लेनिनग्राड ।

× × ×

सच समझ जैसे रक़ीब
लेखको मे लण्ठ जैसे खुशनसीब ।

स्पष्ट है कि रेखांकित पंक्तियो से निराला सादृश्य निरूपक पंक्ति का अर्थ-विस्तार करके उसे एक मोड देते गए है । व्यंग्य का चटपटापन पूरी कविता मे मुखर है । अन्य कविताओ से जहाँ उनकी अनुभूति की गहनता, बिम्बात्मकता और भावसंवेग का अजस्र प्रवाह द्योतित होता था वही इस कविता की पंक्तियो से उनका निरीक्षण, चिन्तन और व्यग्य मुखरित होता है ।

कविता का दूसरा अंश स्थापत्य की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण है । बाग के बाहर पडे झोंपडे से कविता शुरू होती है और कवि उसका यथार्थ चित्रण हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है । झोपडे भी कायदे के न थे । जगह-जगह पानी रुककर सड़ रहा था । उसमे कीडे (पड गए है जो) बिलबिला रहे थे । हड्डिया, मुर्गी के अण्डे इधर-उधर बिखरे थे । हवा बदबू से भरी हुई थी । वहाँ भी लोग रहते थे । निराला का चित्रण द्रष्टव्य है;

'एक खाम हिन्दू-मुस्लिम खान्दान ।
एक ही रस्सी की किस्मत से बंधा
काटता था जिन्दगी गिरता-मधा ।
बच्चे, बुड्ढे, औरते और नौजवान
रहते थे उस बस्ती मे कुछ बागवान
पेट के मारे वहाँ पर आ बसे,
साथ उनके रहे, रोये और हंसे ।,[७२]

इस परिवेश का चित्रण अपेक्षित था । इससे गुलाब (नबाब) के मरण-पोषण में लगे लोगों की दयनीय शोषित स्थिति का उद्घाटन किया गया है । इसी के बाद कविता मे गोली और बहार का प्रसंग आता है । मालिन की स्थिति और लोगो से थोड़ी भिन्न थी निराला का चित्रण देखिए—

'देखो, वह गोली
मोना बंगाली की लडकी
भैस भड़की,
ऐसी उसकी माँ की सूरत
मगर है नव्वाज की आँखों मे मूरत ।

राज जाता है महल को जगे भाग
आँखों का उतरा पानी,लगे आग,
रोज ढोया जा रहा है माल असबाब
बन रहे हैं गहने जेवर
पकता है कलिया कवाब' ।७३

यह है सोना बंगाली की लडकी, माली की पत्नी और नव्वाब की चहेती का रूप। इन कविताओं मे निराला का सूक्ष्म-निरीक्षण जनित-बोध अपनी पूरी विविध गहराई के साथ सामने आया है। बहार का चित्रण तो इसमे भी सूक्ष्म है—

'नाम था नव्वाब जादी का बहार
नजरो मे सारा जहाँ फर्माबरदार ।
सारंगी जैसी चढी
पोएट्री मे बोलती थी
प्रोज मे बिलकुल अड़ी ।'७४

इसी सन्दर्भ मे गोली की माँ की अदाओ पर विचार कीजिए -

'गोली की माँ बगालिन, बहुत शिष्ट
पोएट्री की स्पेशलिस्ट
बातो जैसी मँजती था
सारंगी वह बजती थी
सुनकर राग, सरगम तान
खिलती थी बहार की जान ।'७४

स्पष्ट है निराला 'कुकुरमुत्ता' मे भाषा की अभिव्यक्ति के नए आयाम का उद्‌घाटन करना चाहते है। यह आयाम शब्द-गुम्फ और सरचना मे पहले आयाम से भिन्न है। इस आयाम के चित्रण का उनके पास दो ही साधन है, व्यंग्य और रवानी। यहाँ कुकुरमुत्ता की संघटना मे निहित व्यंग्य दुधारी तलवार का काम करता है। वह चतुर्दिक वार करता है। बिना एक बूँद रक्त बहाये वह लाखो का सिर काट लेता है। यह है उनका रचनात्मक-कौशल। व्यंग्य के मूल मे भाग्य की बिडम्बना का बडा हाथ होता है। निराला ने जीवन मे घुन की तरह लगी इस विडम्बना का बड़ा सटीक विश्लेषण किया है। इसी से 'कुकुरमुत्ता' की आंशिक और पूर्ण संघटना से एक अव्यक्त त्रासद अनुभूति की व्यंजना मिलती है, ऐसी कसक और टीस भरी व्यंजना जो उनकी किसी भी रचना से प्राप्त होने वाली व्यंजना से कम सशक्त नही है। प्रथम काल की रचनाओ के स्थापत्य को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वहाँ निराला को रचने की आवश्यकता नही पडती, अनुभूति ही उन्हें

रचकर सामने रख देती है। पर 'कुकुरमुत्ता' को देखने से ऐसा लगता है कि निराला को अब भाषा और भाव पर एकाधिकार प्राप्त हो गया है। वे जीवन को अब भाव-संवितो का रूप नही अपितु विचार-प्रधान भाव को अभिव्यक्ति मानने लगे हैं। यहाँ उन्ही के द्वारा निरूपित उनको परिणति की मान्यता भी विद्यमान है, पर उसके चरितार्थ होने का धरातल भिन्न हो गया है। गोली और बहार की मित्रता का कारण भी कवि ने स्पष्ट किया है—

'देखा देखी बोली मे
माँ की अदा सीखी नही गोली ने।
इसीलिए बहार वहाँ बारहोमास
डँटी रही गोली की माँ के
कभी गोली के पास।'[७५]

गोली की माँ के लिए नव्वाब की पुत्री का आना शुभ है और नव्वाब की पुत्री बहार को भी उनके साथ (गोलो और गोली की माँ) रहने मे आनन्द का अनुभव होता है। वे दोनो एक दिन बाग मे जाती हैं, कवि ने बाग के साथ ही बहार की भावभंगिमा और रुझान का बड़ा सटीक वर्णन किया है। इसी उपवन परिभ्रमण में गोली को कुकुरमुत्ता दिखाई देता है। वह दौड़कर उनके पास पहुँचती है और उन्हे तोडकर अपने आँचल मे भर लेती है। वह आनन्द विह्वल होकर बहार से कह पड़ती है—

'देखो जी भरकर गुलाब
हम खायेंगे कुकुरमुत्ते का कबाब।'[७५]

बहार उसके प्रति जिज्ञासा प्रकट करती है। गोली उसका समाधान करते हुए कहती है—

'जैसी खुशबू
इसका वैसा ही सवाद,
खाते-खाते हर एक को
आ जातो बिहिश्त को याद
सच समझ लो इसका कलिया
तेल का भूना कबाब
माजियो मे वैसा
जैसा आदमियो मे नव्वाब।'[७६]

इस पर नौकरानी गोली को डाँटती है। बहार कबाब खाने के लिए गोली के घर जाती है। अब गोली का महत्व बढ जाता है। वह आगे-आगे डिक्टेटर जैसी

चलती है और बहार पीछे-पीछे 'फालोअर' जैसी। उसके पीछे चलनेवाला टेरियर आधुनिक 'पोएट' है और उसके पीछे चलनेवाली बाँदी 'कैपिटलिस्ट-क्वेट'। कबाब बना। इस बीच दोनों खेलती रही। खाना परसा गया, बहार को वह निहायत पसन्द आया। इसकी सूचना नव्वाब को मिली। वे कुकुरमुत्ते का कबाब खाने के लिए मचल पडे। पर वह न मिला। उसके लिए जोर देने पर माली ने जवाब दिया,

'फरमाये मुआफ खता
कुकुरमुत्ता अब उगाया नही उगता।'[७७]

स्पष्ट है कि 'कुकुरमुत्ता' मे कवि अर्थ के कई स्तरों को व्यजित करता है। इस रचना मे भी आरम्भ मे गुलाब के वर्णन द्वारा एक परिदृश्य के निर्माण की ओर उनकी रुचि है। पर कुकुरमुत्ते के भाषण के समक्ष वह विशेष कारगर नही सिद्ध हुआ है। कविता मे सादृश्य-विधान पर आधारित उक्तियो ने अधिक स्थान घेरा है, पर कवि उनके पूरक रूप मे प्रयुक्त पंक्तियो से उनका अर्थ-विस्तार करता जाता है। समूची संघटना मे व्यंग्य के स्थल अधिक है और उनके माध्यम से कवि व्यंजना को सघन बनाकर उनका क्षेत्र-विस्तार करता है। कविता के दूसरे भाग मे आरम्भ मे ही नव्वाब के अन्य फरमाबरदारो के रहन-सहन का सटीक चित्रण किया गया है। बाग का भी चित्रण कम मोहक नही है। पर कवि कौशल का चमत्कार बहार और मोना बंगालिन के निरूपण मे जिस रूप मे प्रस्तुत है उससे उसकी प्रतिभा को चार-चाँद लग गया है। कविता के अन्त की उक्ति बहुत अर्थगर्भी है। उक्ति है, 'कुकुरमुत्ता उगाया, नही उगता।' माली कवि है जो रचना की बागबानी करता है। उसकी रचना मे जो कृत्रिम है वह गुलाब है जो सहज स्मृति और अभिव्यक्ति का विषय है, सर्वग्राह्य है, वही सुस्वादु कबाब बनाने का साधन कुकुरमुत्ता है। कवि ने कलम किए भावों को ग्रहण नही किया है। उसकी रचना उसके संघर्षशील एकान्तिक जीवन की अभिव्यक्ति है। इस दृष्टि से 'कुकुरमुत्ता' को हम कवि के संघर्षशील एकान्तिक जीवन की चरम कलात्मक परिणति मान सकते है।

स्पष्ट है कि रचना के द्वितीय स्तर मे कुछ छायावादी अवशेष बच रहे थे, फिर भी कवि का कलात्मक बोध निरन्तर यथार्थोन्मुख बनता जा रहा है। इसका पूर्ण विकास 'नए पत्ते' के साथ ही बेला की कुछ रचनाओं मे दृष्टिगोचर होता है। (चतुर्थ अध्याय मे हमने इसपर प्रकाश डाला है। अतएव यहाँ उसका निरूपण अनावश्यक है)।

अब रही तृतीय स्तर पर कवि के 'टेक्श्चर' और 'डिज़ाइन' की बात। इस काल मे कवि ने 'अर्चना', 'आराधना', 'गीत गुंज' और 'सांध्य काकली' के गीतो की रचना की है। गंभीरता से विचार करने पर यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि निराला के एक काल की रचना में अन्य कालों में विकसित होने वाली प्रवृत्तियाँ

निहित है। वे रचना में एक साथ कई धरातलो पर अपने रचनात्मक कौशल को मुखर करने मे समर्थ हैं। फिर भी काल विशेष मे एक ही प्रवृत्ति की प्रधानता रही है। प्रथम काल मे छायावादी प्रवृत्ति की प्रधानता देखने को मिली है तो द्वितीय काल मे मानव केन्द्रित यथार्थवाद की प्रवृत्ति की प्रधानता। तृतीय काल मे 'प्रपत्ति के भाव' की प्रधानता है। इसका विशेष निरूपण तृतीय अध्याय मे किया जा चुका है। प्रायः पुरानी ही प्रवृत्तियो का विकास यहाँ दिखाई देता है। पर इसके बावजूद कवि मे भाषा, छन्द और ध्वनि के साथ प्रयोग करके अनुभूति को नया आयाम देने की प्रवृत्ति यहाँ भी विद्यमान है। उदाहरण के लिए 'बादल रे जी तड़पे', 'धिक मनस्सब मान गरजे बदरवा', 'मोरिनो वालो वारी वे वारी घना' तथा 'ताक कम-मिन वारि' रचनाओ को लिया जा सकता है। इनमे निराला का निरालापन अपने समूचे विकास मे उपस्थित है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

'बादल रे, जी तरसे
किए उपाय सैकडो तन के,
मन के, चरण मिले सज्जन के;
व्यर्थ प्रार्थना जैसे अब है
पंजर-पिंजर कर से।
अब अँधियाली ही बढती है,
छाया पर छाया चढती है
प्राणो के घन श्याम गगन से
बूँदे कभी न बरसे।
छिप जाती है तब बिजली में
सर सर मे दबती है ही मे
बूँदो की छन से छन उन्मन
प्राण न मेरे हरसे।'[७८]

यह सन् चौवन की रचना है, सत्रह, आठ सन् चौवन की। गीतों के जिस 'टेक्श्चर' और 'स्ट्रक्चर' तथा 'डिजाइन' की बात पूर्व पृष्ठों मे की गई है, वही यहाँ विद्यमान है, पर कथ्य बदल गया है। सैकडों उपाय तन और मन के किए गए है, पर कवि को यही ज्ञात हुआ है कि 'अब पंजर-पिंजर कर से' प्रार्थना व्यर्थ है। प्राणो की निराशा निरन्तर घनीभूत होती जा रही है। आशा कभी-कभी बिजली सी चमकती अवश्य है, पर वह बादलो के गहन अन्धकार मे छा जाती है। अब कवि का मन कभी उल्लसित नही हो रहा है। तीसरे काल की रचनाओं में यही निराशा, अवसाद और मरणबोध का भाव विद्यमान है।

निराला ने अभिव्यक्ति के लिए कई तरह की तकनीकों का प्रयोग किया है, इनमें भाषण शैली, स्वगत कथन शैली और संवाद शैली को प्रमुख स्थान मिला है। 'पंचवटी-प्रसंग', 'जागो फिर एक बार', 'शिवाजी का पत्र', 'बादल राग' और 'राम की शक्तिपूजा' के अनेक स्थलों पर भाषण कला का वेग अपने पूर्ण-विकास मे देखा जा सकता है। कविता मे दिए गए इन भाषणो का सम्बन्ध देश-प्रेम, उद्‌बोधन, दर्शन, सामाजिक स्थिति और सांस्कृतिक अधःपतन के चित्रण से है। इनके द्वारा कवि के अभिप्राय, ओज, तर्क-शृंखला, दृष्टिकोण और उद्देश्य पर प्रकाश पड़ा है। इन स्थलो पर कवि की शैली गति और प्रवाह पूर्ण बन गई है। राजनीतिक का भाषण बौद्धिक होता है पर कवि का भाषण ओज की रक्षा करते हुए भी बोध प्रधान। 'पंचवटी प्रसंग' मे निराला जीव, ब्रह्म और माया की गुत्थी सुलझाने के लिए प्रवचन देते है, पर इसका सबसे अच्छा रूप शूर्पणखा की आत्मप्रशस्ति मे देखा जा सकता है। 'राम की शक्ति पूजा' मे अंजना और विभीषण का भाषण नियोजित है। 'तुलसीदास' के आरम्भ के पदों मे भी यही कला अपनी पूरी छटा के साथ विद्यमान है। 'कुकुरमुत्ता' मे, पहले अंश में ही, उसके लम्बे भाषण को नियोजित किया गया है। प्रश्न यह है कि इनके पीछे निराला का कौन सा उद्देश्य निहित है? नाटक मे भाषण, स्वगतकथन और संवाद की योजना पाई जाती है। क्या कविता के रूप-विधान मे उसका सफल निर्वाह हो सकता है? इसका समुचित समाधान करने के लिए यह बताना आवश्यक है कि कविता प्रकृत्या नाटक के अधिक निकट पडती है। रचना-कौशल और रूप-विधान दोनों दृष्टियो से इनमे साम्य है। खण्डकाव्य और महाकाव्य मे भाषणों को महत्व दिया गया था। नाटक मे भी उन्हें स्थान मिला था। कविता मे भी उद्‌बोधन, देशप्रेम तथा मानवीय दृष्टिकोण को स्पष्टतापूर्वक प्रतिपादित करने और भाव की गुत्थियों को सुलझाने के साथ ही मुखर आत्माभिव्यक्ति के लिए इनकी अपेक्षा थी। अतएव निराला ने इनका उपयोग किया। नाटक और महा-काव्य के भाषण और निराला के भाषण में स्पष्ट भेद था। नाटक और महाकाव्य में रचनाकार प्रत्यक्ष रूप से मंच पर आकर भाषण देता है, पर कविताओ मे वह कही पीछे छिप कर अपने को व्यक्त करता है। इन्हे मोड़ देने के लिए वह यथास्थान अन्य कलात्मक साधनो का उपयोग भी करता जाता है।

स्वगत कथन की शैली का उपयोग अन्तर्द्वन्द्व के चित्रण के लिए किया जाता है। निराला इससे परिचित रहे है। इसीलिए उनकी कविताओं मे जहाँ भी स्वगत कथन का उपयोग किया गया है। वहाँ उनके संघर्ष-जनित-अन्तर्द्वन्द्व को मुखर अभिव्यक्ति मिली है। स्वगत कथन का नियोजन इसलिए किया जाता है कि कवि पूर्वापर सम्बन्धों के बीच अपनी वस्तु स्थिति से परिचित हो सके। भाषण शैली तर्क पूर्ण और तथ्यात्मक होती है, पर स्वगत कथन की शैली विश्लेषणात्मक। एक में विस्तार होता है, पर दूसरे मे गहराई। पुनर्पोषण की स्थितियाँ दोनों मे पाई जाती

है। पर स्वगत कथन की शैली भाव-प्रधान और चक्रिल होती है। कवि की चेतना बार-बार मूल समस्या से टकराती है, उसमे भाव के आवर्त बनते है, कवि अपनी मानसिक स्थिति मे उनका अन्तर्मंथन करके समाधान का नवनीत प्राप्त करना चाहता है, पर वह कर नही पाती है। इसी से भावो की घुमड़ बनी रहती है। निराला 'राम की शक्ति पूजा' में लिखते है—

'आया न समझ मे यह दैवी विधान,
रावण अधर्मरत भी अपना मे हुआ अपर—
यह रहा शक्ति का खेल समर शंकर-शंकर
करता मै योजित बार-बार शर-निकर निशित,
हो सकती जिनमे यह संसृति सम्पूर्ण विजित,
जो तेजःपुंज सृष्टि की रक्षा का विचार
है जिनमे निहित पतन घातक संस्कृति अपार—[७९]

\+ \+ \+

'यह है उपाय', कह उठे राम ज्यो मन्द्रित घ —
'कहती थी माता मुझे सदा राजीव-नयन।
दो नील कमल हैं शेष अभी यह पुरश्चरण
पूरा करता हूँ देकर मातः एक नयन।'[८०]

निराला बार-बार महत् उद्देश्य के प्रति अपने को समर्पित करते हैं, उनका अपना कुछ नही रह जाता है, फिर भी पराजय बोध उनके गले लगता है। वे स्वयं अपने पराजय बोध के द्रष्टा ही नही भोक्ता भी बनते हैं। उसका विष उनकी नसों में मिलता जाता है। वे बार-बार अपने पर रोने के लिए बाध्य होते है, और उनकी स्थिति कौरवों के चक्रव्यूह में घिरे अभिमन्यु जैसी होती जाती है। 'अन्याय जिधर हो उधर शक्ति' की भावना से उनका दिल दहल उठता है, आस्था हिल उठती है और वे अकिंचन की तरह निराश्रित होकर अपने से बातें करने लगते है। कही सुख की कल्पना करके उसका रस लेते है, तो कही अद्वैत वेदान्त की गुत्थी सुलझाते हैं, कहीं पराजय-बोध के क्रम मे मृत्यु की भयावहता से जूझते है तो कही 'प्रपत्ति' के द्वारा इस भयावहता से मुक्ति का मार्ग पाना चाहते हैं। वस्तुत निराला के जीवन, उसकी उलझन और विषमता से उन्हे स्वगत-कथन की पृष्ठभूमि प्राप्त होती है। इसी-लिए उनकी कविताओ मे यह विशेष रूप से देखने को मिलता है।

संवाद का उल्लेख करते हुए रामविलास शर्मा ने लिखा है, 'निराला स्वगत कथन की शैली में खुद से बाते करते है, नाटकीय-संवाद की शैली मे दूसरों से भी बातें करते है। वह विवेक से जैसे अपनी स्थिति का विश्लेषण करते है, वैसे ही अपनी स्थिति समझाने के लिए दूसरों से तर्क भी करते हैं, वह स्वगत कथन में अपने मन

की द्विविधा पूर्ण स्थिति, संशय, ग्लानि आदि व्यक्त करते हैं, वैसे ही संवाद शैली मे दूसरो मे तर्क करते हुए वह मन का आक्रोश, क्षोभ अथवा विश्वास प्रकट करते हैं। सूरदास के गीतों मे कृष्ण, राधा, गोपियाँ, ऊधो, यशोदा, कोई न कोई किसी से बोलता ही रहता है, सूरदास अपनी ओर से कम बोलते है, जब बोलते हैं तो श्रोता रूप मे आस-पास कही कृष्ण भी होते है। निराला उन कवियो की तरह नही है जो भाव मे डूबकर गाने लगते है, सुनने वाला सामने हो चाहे नही। उनकी वक्तृत्व कला से मिलती-जुलती उनकी संवाद कला है, जिसमे कभी वह, कभी अन्य व्यक्ति दूसरे से बातें करता है।[८१] 'इसके कई स्वरूप उनकी कविताओ मे मिलते है। इनका उल्लेख रामविलास शर्मा ने अपनी पुस्तक के संवाद नामक खण्ड मे किया है। वस्तुत: निराला की कविताओ मे संवाद-योजना उसी उद्देश्य की सिद्धि का साधन सिद्ध होती है जिसका साधन कहानी या उपन्यास है। कहानी या उपन्यास मे संवाद का प्रयोग कथानक को विकसित करने, किसी उलझी मन:स्थिति को स्पष्ट बनाने, नाटकीयता द्वारा अभिव्यक्ति को चमत्कृत करने, आत्मकथ्य को स्पष्ट करने और परामर्श देने के लिए किया जाता है। निराला के गीतो मे उसके ये सभी स्वरूप स्पष्टता से देखे जा सकते है। 'राम की शक्ति पूजा' मे जामवन्त के वार्तालाप द्वारा कथानक के विकास मे सहायता मिली है। परिमल की 'बैठ लें कुछ देर' या 'एक दिन थम जायगा रोदन तुम्हारे प्रेम अचल मे' कविताओ मे संवाद द्वारा कवि ने आत्मकथ्य को स्पष्ट किया है। पहली कविता मे कुछ देर बैठने का उद्देश्य स्पष्ट है—

'मौन मधु हो जाय
भाषा मूकता की आड़ मे
मन सरलता की बाढ मे
जल बिन्दु-सा बह जाय।

सरल, अति स्वच्छन्द
जीवन, प्रात के लघुप्रात से
रह जाय चुप निर्द्वन्द्व।'[८२]

इस पद मे मूकता की आड मे वे भाषा को 'मौन मधु' मे परिणत करने का स्वप्न देखते है। निवेदन म भी उसी मौन भाषा की अभिव्यक्ति क्षमता का संकेत किया गया है। प्रेम की स्मृति भाषा द्वारा अभिव्यक्त न हो पायगी, इसका निराला को ज्ञान है। उन्हे इस बात पर भी पूर्ण विश्वास नही है कि इस मिलन के बाद मिलने वाला कवि का ही बना रहेगा, या वह पराए का बन जायगा? निराला ने अपनी प्रेरणा के मूलस्रोत को परखा और पहचाना है। 'मै लिखती, सब कहते तुम सहते प्रिय सहते' मे इसी की अभिव्यक्ति मिली है। प्रेरणा है स्त्री और उसको झेलने वाला है पुरुष। कही-कही निराला की गर्वोक्ति भी उमड़ी है—

'अशब्द अधरों का सुना भाष
मैं कवि हूँ पाया है प्रकाश
मैंने कुछ अहरह रह निर्भर
ज्योतिस्तरणा के चरणों पर ।'[८३]

निराला ने अपने को बसन्त का अग्रदूत भी कहा है । 'उक्ति' नामक कविता में उनका दूसरे तरह का सन्तोष व्यक्त हुआ है । यहाँ उन्हे संसार की किसी आशा-अभिलाषा की अपेक्षा नही रह गई है । वे तो केवल उसे पास रहने पर संतोष का अनुभव करने के लिए तत्पर है जो उनकी प्रिय है ।[८४] इससे स्पष्ट है कि निराला का संवाद कई कलात्मक उद्देश्यो की पूर्ति मे सक्षम है ।

निराला को अभीप्सित अभिव्यक्ति मे 'रिद्म' से विशेष सहायता मिली है । इस पर विचार करने के पूर्व उन कई शब्दो को समझ लेना है जिनके साथ इसका सम्बन्ध होता है । 'रिद्म' को तालानुगति, रवानी या लय कहा जाता है और 'राइम' को तुक या अन्त्यानुप्रास की संज्ञा दी जाती हे । 'मीटर' शब्द छन्द के लिए प्रयुक्त होता है और 'प्रोजोडी' छन्दशास्त्र के लिए । निराला-काव्य का छन्दशास्त्र है, कविता मे छन्दो और तुको का प्रयोग हुआ है, पर उसकी सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धि तालानुगति, लय या रवानी है । कविता का माध्यम भाषा होती है । भाषा शब्द-प्राण और शब्दध्वनि-प्राण होते है । इस तरह कविता और ध्वनि का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध होता है । इन बातो को ध्यान मे रखते हुए हम यह भी कह सकते है कि कविता लयात्मक सांचे मे ढली भाषा है ।[८५] ढलने की क्रिया से रचना के द्वैत को अद्वैत मे परिणत होने की क्रिया का ज्ञान होता है । रचनाकार के समक्ष उसके वस्तुगत-आत्मगत बोध, भाषा और ध्वनि, शब्द और अर्थ तथा विचार के अनेक क्षेत्र उपस्थित होते है । इन दोनों मे अन्तः सम्बन्ध की स्थापना ही रचनाकार का प्रमुख उद्देश्य होता है । अन्तः संबंध स्थापित हो जाने पर वह अद्वैत की परिचायक अवश्य बन जाती है, पर उसके विश्लेषण में हमे पुनः उसी द्वैत से काम लेना पड़ता है ।

रवानी पर विचार करने के पूर्व कुछ अन्य स्वरूपो का निराकरण अपेक्षित हे । हम सबसे पहले निराला के छन्द-विधान पर सक्षिप्त रूप में प्रकाश डालना अपेक्षित समझते है । एक समय योरोप मे ही नही भारत मे भी मुक्त छन्द को अभिव्यक्ति का प्रमुख साधन माना गया था । एडिथ सिटवेल ने स्पष्ट लिखा था, 'हर कविता अपनी प्रकृति के नियम के अनुसार विकसित होती है ।[८६] लारा राइडिंग और रोबर्ट ग्रेब्ज की धारणा थी कि कविता अत्यधिक कोमल भाव पर आश्रित है । यह किसी बने बनाए छन्द के सांचे मे ढलने के बजाय स्वतंत्र रूप से विकसित होने में अधिक सफल अभिव्यक्ति प्रदान करती है ।[८७] डी० एच० लारेंस ने और स्पष्टता पूर्वक कहा था कि कविता की संरचना को श्रवणेन्द्रिय के स्थान पर संवेदनशील आत्मा की

अपेक्षा होती है।[८८] बिम्बवादी विचारकों के साथ ही एजरा पाउण्ड ने भी कहा था, मुक्त छन्द मे तभी रचना की जानी चाहिए, जब कवि मे उसके माध्यम से मात्रिक छन्दों की तुलना मे अधिक लयात्मकता पैदा करने की शक्ति हो।[८९] निराला का स्वर भी कुछ उपर्युक्त विचारकों से मिलता है। 'परिमल' की भूमिका मे उन्होंने लिखा है, 'मनुष्यों की मुक्ति की तरह कविता की मुक्ति भी होती है। मनुष्यों की मुक्ति कर्मों के बंधन से छुटकारा पाना है और कविता की मुक्ति छन्दों के शासन से अलग हो जाना।.....मुक्त काव्य कभी साहित्य के लिए अनर्थकारी नही होता, प्रत्युत् उससे साहित्य में एक प्रकार की स्वाधीन चेतना फैलती है, जो साहित्य के कल्याण की मूल होती है।[९०] उन्होने पुनः लिखा है—

'मुक्त छन्द,
सहज प्रकाशन वह मन का
निज भावों का प्रकट अकृत्रिम-चित्र।'[९१]

निराला मे अपने भावों के प्रकट अकृत्रिम चित्र तथा मन के सहज-प्रकाशन के प्रति विशेष आग्रह था, उन्होने 'मेरे गीत और कला निबंध मे' इसके सहज सावयव विकास की क्रिया पर प्रकाश भी डाला था। अधोलिखित कविता उनकी इसी भावना की द्योतक है—

आज नही है मुझे और कुछ चाह
अधंविकच इस हृदय-कमल में आ तूँ
प्रिये छोड कर बंधनमय छन्दो की छोटी राह।
गजगामिनि, वह पथ तेरा संकीर्ण कण्टकाकीर्ण
कैसे होगी उससे पार।,[९२]

'निराला भाषा, भाव और छन्द' तीनों की मुक्ति आवश्यक समझते हैं। उन्होने 'भाषा-विहीन मुक्त-छन्द-बन्ध' को 'सच्चिदानन्द रूप आनन्द' में निमग्न कहा है। निराला ने मुक्त छन्द के आधार के रूप में कवित्त छन्द का उल्लेख किया है। इस उपर्युक्त विवेचन से कई तरह के प्रश्न सामने आते है? पहला यह कि निराला ने मुक्त छन्द को अपनाने के पक्ष में जो तर्क ऊपर दिए हैं, वे क्या उपयुक्त है. और दूसरा यह कि निराला ने कवित्त छन्द को ही मुक्त छन्द का आधार क्यों कहा? उन्होने मुक्त छन्द के पक्ष में सबसे सबल जो तर्क दिया है उसका सम्बन्ध कविता की मुक्ति से है। वस्तुतः रचनाकार सृजन-पूर्व, यथार्थ सृजन और सृजन के बाद की स्थितियों से परिचित रहता है। उसके मानस मे अभिव्यक्ति के लिए तिरने वाले भाव कितने आग्रहशील होते है, उसे इसका ज्ञान रहता है। रचना भावों के आग्रह की पूर्ति का साधन होती है। कवि अभिव्यक्ति के द्वारा भावो को ही नहीं मुक्त करता

अपितु उन भावों से स्वतः भी मुक्त होता है। ऐसी स्थिति मे हर रचना को क्या रचनाकार को मुक्त करने का साधन माना जा सकता है? अगर नही तो मुक्त छन्द के लिए आग्रह क्यों? इसका कारण स्पष्ट है। निराला इस तथ्य से भली प्रकार परिचित थे कि कविता नाटक के अधिक निकट होती है। वह लयात्मक संघटन को स्वीकार करके चलती है। इसका महत्व इस बात मे नही निहित होता है कि वह येनकेन प्रकारेण रची जाय। उसका महत्व तो इस बात मे निहित होता है कि रची जानेके बाद वह व्यक्ति-मुक्ति और जाति-मुक्ति का साधन बने। ऐसी स्थिति में कवि के लिए यह आवश्यक है कि वह ऐसी संरचना को स्वीकार करे जो इन उपर्युक्त अपेक्षाओ की पूर्ति कर सके। मुक्त छन्द के स्वतः स्फूर्त-ऊर्जस्वित गति से इस अपेक्षा की पूर्ति हो सकती थी। अतः उन्होने उसे स्वीकृति प्रदान की। पर इससे प्रश्न के दूसरे अंश का समाधान नही हो पाता। इस सन्दर्भ मे निराला की इन उक्तियों की ओर ध्यान दिलाना चाहता हूँ कि मुक्त छन्द के लिए, 'आर्ट ऑफ रीडिंग' की जरूरत पडती है। उसकी महत्ता 'गाने मे नही वार्तालाप करने मे' निहित होती है। 'मुक्त छन्द जीतने वालों का घर है।' 'निर्गुण आत्मा की तरह यह पुरुष भी बनता है और स्त्री भी।' इन उक्तियो मे मुक्त छन्द की नमनीयता, प्रभावित करने की क्षमता और उसके सामाजिक उद्देश्य की पूर्ति की संभावना पर प्रकाश पडता है। पर इनसे भी महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि मुक्त छन्द का लय व्यंजना का अचूक साधन सिद्ध होती है। इसके माध्यम से 'बोलचाल की भाषा' मे अभिव्यक्ति समव हो पाती है।

ध्वनि के स्वराघातो के साथ निरन्तर प्रयोग रत रहने पर निराला को अभिव्यक्ति के अन्य साधन भी उपलब्ध हुए और उनकी सार्थकता भी प्रमाणित हुई। निराला परम्परित छन्दो मे कवित्व के जिस गुण पर रीझे थे उसका उपयोग तो उन्होने मुक्त छन्द मे किया, पर वे अपने सारे जीवन मात्रिक छन्दों के स्वराघात के साथ भी प्रयोग रत बने रहे। उनकी कविताओ मे इसके तीन रूपो का विकास प्रमुख रूप से ध्यातव्य है, (१) अशक्त अथवा क्षीण, (२) मध्यम, (न अशक्त और न सशक्त) और (३) ओजपूर्ण। 'बसन्त समीर' में स्वराघात क्षीण है, 'बैठ लें कुछ देर', 'एक दिन थम जायगा रोदन', 'सुमन भर न लिए' मे वह मध्यम है और 'तुम तुंग हिमालय-शृंग' मे उदात्त और ओजपूर्ण। गीतों मे भी उन्होंने सानुप्रास मात्रिक छन्दो का प्रयोग किया है। निराला ने १६ और २४ मात्राओं के छन्द में भी रचनायें की है। यथास्थान उनमे लोकगीतो के अनुकरण पर छन्द रचने की प्रवृत्ति भी दृष्टिगोचर होती है। निराला मे सममात्रिक, अर्द्धसममात्रिक, विषम अन्त्यानुप्रासों के साथ संगीत की ताल और लयबद्ध पद्धति मे रचना की प्रवृत्ति मिलती है। उन्होने उर्दू फारसी के छन्दों के अनुकरण पर गजल, ख्याल, रुबाई की पद्धति को भी अपनाया है। इस तरह छन्द प्रयोग की दृष्टि से उनमे विविधता देखी जा सकती है। इनके छन्द-प्रयोग पर अलग से शोध की अपेक्षा है।

हार्वे ग्रॉस ने आधुनिक कविता में छन्द प्रयोग की अनिश्चितता पर विचार करते हुए लिखा है 'छन्दशास्त्री आधुनिक कविता की संकटापन्न स्थिति के विश्लेषण के समय अस्पष्टता से ग्रस्त हो उठता है। दान्ते की तरह वह अपनी यात्रा आरम्भ करते ही अनिश्चितता से ग्रस्त हो जाता है। चार प्रमुख बाधाये मार्गावरोध का कार्य करती है। पहली बाधा यह है कि अभी तक इस बात पर सहमति नही हो पाई है कि छन्दशास्त्र का क्या तात्पर्य है और कौन से विषय इसके उपयुक्त है। दूसरी बाधा यह है कि शताब्दियो से प्रचलित प्रमुख छान्दिक परम्परा के विषय मे वैज्ञानिक ढंग से विवेचन का सर्वथा अभाव है। तीसरी बाधा यह है कि कविता मे छन्द किस तरह क्रियाशील पाया जाता है, इसका सैद्धान्तिक निरूपण नही हो सका है। चौथी बाधा यह है कि छन्दो के गण-विभाजन और परीक्षण सम्बधी निश्चित मान्यता का निरूपण नही हो पाया है।[६१] 'निराला के छन्दो पर विचार करते समय भी ये बाधायें प्रमुख रूप से उपस्थित होती है। रचना की दृष्टि मे छन्द पर विचार करते समय हमे उसकी संरचना के दो स्तरो का अभिज्ञान होना है, पहला स्तर छन्द का होता है जो निश्चित साँचे का परिचायक माना जाता है, पर दूसरा स्तर अनुभूति मे निहित उस लयात्मकता का होना है जो अपनी अभिव्यक्ति के लिए मचलता रहता है। अनुभूति की निश्चित संघटना और सरचना होती है। अतएव उसकी अभिव्यक्ति के लिए उसकी प्रकृति मे अवगत होना आवश्यक है। उसकी प्रकृति मे ओज, लालित्य के साथ ही मनोभावो का उतार-चढाव उपस्थित होता है। अभिव्यक्ति के समक्ष जब वह प्रौढ रूप मे अवतरित होती है तो उसकी प्रकृति से अवगत होना, और उसे उसी रूप मे अभिव्यक्त करना आवश्यक होता है। भाषा और भाव के साथ निरन्तर प्रयोग रत रहने से कवि मे अभिव्यक्ति के कुछ स्वरूप स्वत: बनते बिगडते रहते है। उसके छन्दो के पूर्व ज्ञान, भाषा के अर्जित संस्कार और रचनात्मक ऊर्जा से कविता अपने अभिव्यक्ति के स्वरूप का निर्माण करती है। कविता बनाई नही जाती, निर्मित नही की जाती, रची जाती है। तत्परता के स्तर पर कवि अपरिपक्व और अप्रौढ अनुभूति संवितो के साथ रचना को रूप देने के लिए प्रयोग रत पाया जाता है। इसमे कुछ पूर्व प्रस्तुत अभिव्यक्ति के आदर्शो के साथ वह जोड-तोड करने का प्रयत्न करता है। यह तत्परता की स्थिति रचना के संस्कार की जनक होती है। अभी न तो अनुभूति का स्वरूप निश्चित हो पाता है और न उसे अभिव्यक्त करने वाले छन्द का स्वरूप। पुनर्पोषण की स्थिति मे मानस अनुभूति को ही प्रौढ नही बनाता, अपितु प्रच्छन्न रूप मे उसके अनुरूप संघटन का निर्माण भी करता जाता है। किसी पंक्ति के रूप मे उसे मन मे कौधते ही, उसकी अभिव्यक्ति का माध्यम मिल जाता है।

भाषा विकास शील है। परिवर्तित परिस्थतियो मे अनुभूति संवित भी निरन्तर बदलते रहे है। रचनाकार संवेदन शील व्यक्ति होता है। अतएव वह

वह जीवन का अधिक निकटता से अनुभव करता है। उसे अपने को अभिव्यक्त करने के लिए नए छन्दो और तालो की अपेक्षा होती है। जीवन की जटिलता के साथ बोध की जटिलता बढी है। इस जटिल-बोध के लिए पुराने अभिव्यक्ति के साँचे बेकार सिद्ध हुए है। उसे अपना साँचा भी बनाना है। पर अनुभूति की अभिव्यक्ति के योग्य संवितो को लेकर के, उन्हे पूर्ण विकसित रूप मे कही सजा करके उसे साँचे की खोज नही करनी पडती है। सभी लोग जानते है कि अनुभूति क्षरणशील होती है। इसका वेग निरन्तर समान रूप से नही बना रहता है। अतएव इसकी तैयारी पहले मे पूर्ण रहती है। तत्परता की स्थिति के चिन्तन, अन्तर्मथन और पुनर्पोषण की स्थिति के प्रच्छन्न परिपोषण से ये स्थितियाँ सदैव एक निश्चित् संघटना का रूप लेती रहती है। निराला के छन्दो के प्रयोग के पीछे भी यही प्रक्रिया क्रियाशील पाई जाती है। इस दृष्टि से विचार करने पर हार्वे ग्रॉस द्वारा निरूपति बाधाओ का समाधान भी हो सकता है। निराला की हर कविता के अनुभूति संवितो का अभिव्यक्ति-विधान के साथ निकट सम्बन्ध है। वे यह मानते हैं कि रचना के लिए कौशल की भी अपेक्षा होती है, पर केवल वही सब कुछ नही होता। कौशल के लिए अपेक्षित साँचे का अभिज्ञान बहुत अंशो मे अनुभूति की प्रकृति के ज्ञान, पुनर्पोषण से उभडे अनुभूति संवित और संरचना के पुनर्अर्जित अभिव्यक्ति कौशल का मुखापेक्षी है। उनकी अभिव्यक्ति से जो संघटना प्रतीक रूप मे प्रस्तुत होती है, रचना का जो संसार उभड कर हमारे सामने आता है, वह सदैव उनके जीवन्त अनुभूति के लयात्मक स्पन्दन से अनुप्राणित होता है। इसी स्पन्दन मे निहित संघटन के कारण उनके छन्द का अवतरण होता है। उनका छन्द-विधान उनकी अनुभूति की अभिव्यक्ति का साधन है, ऐसी अनुभूति की अभव्यक्ति का साधन जिसमे उनके विचार, अनुभव और चित्तवृत्ति एकमेक होकर एक निश्चित लयात्मक संघटना मे उनके समक्ष प्रस्तुत रहते है। निराला छन्दो के माध्यम से अनुभूति की विकासोन्मुख गतिशीलता को उसकी लयात्मक संघटना मे मूर्तिमान करने का प्रयत्न करते हैं। इसीलिए उनकी कविता आरम्भ से ही अनुभूति के निश्चित स्तर से हमे परिचित कराने लगती है, और अपने विकास के साथ अर्थ के कई स्तरो का उद्घाटन करके हमारे समक्ष ऐसा जीवन-बोध प्रस्तुत करती है जो अपनी व्यापक विराटता और व्यंजना मे सर्वथा अनुभव, तनाव और भाव संवेग के विविध आयामो के उद्घाटन का जनक बनता है। हार्वे ग्रॉस ने लिखा है, 'लयात्मक संघटन प्रतीकात्मक होता है। उसमे प्रकृति की सावयव क्रिया और उसके कार्य-व्यापार के अनुभव को प्राप्त करने के निर्देश निहित होते है।'[८४] इस संघटना मे काल को उसके सातत्य मे ग्रहण करके अर्थवान ढंग से व्यक्त करने की क्षमता होती है। इसके माध्यम से कवि मे भौतिक कार्य-व्यापारो के अनुकरण की शक्ति पैदा होती है और वह मानव के भाव संवेग के निरन्तर परिवर्तनशील जटिल स्वरूप को चित्रित करने की सामर्थ्य प्राप्त करता है।[८५]

लय का सम्बन्ध छन्द और अर्थ दोनों से होता है। निराला को यह स्वीकार्य है। वे रैन्सम की तरह छन्द को अर्थ से मुक्त ध्वनि का स्तर नहीं मानते और न केवल कला के लिए उसके ध्वनि के आरोह-अवरोह मे डूबते-उतराते हैं। वे तो योवर विन्टर्स की तरह उसके अभिव्यंजक स्वरूप से परिचित है। इसीलिए भाव संवेग और उसकी लयात्मक संघटना के अन्त: सम्बन्ध के आधार पर कविताओ का तानाबाना बुनते दृष्टिगोचर होते हैं।* एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

झूम-झूम मृदु गरज-गरज घनघोर।
राग-अमर अंबर मे भर निज रोर।
झर-झर-झर निर्झर-गिरि सर मे
घर, मरु-तरु-मर्मर, सागर मे
सरित-तडित-गति-चकित पवन मे
मन मे विजन गहन कानन मे
आनन-आनन मे, रव-घोर कठोर—
राग-अमर अंबर मे भर निज रोर।'[६]

कविता से स्पष्ट है कि निराला के लिए यथास्थान ध्वनि का आरोह-अवरोह भी काम्य है, पर उसे वे निश्चित व्यंजना का वाहक बनाना चाहते है। बादल के चढ़ने, घोर रव करने और अपने रव से आकाश को निनादित कर देने की जिस भौतिक क्रिया का उल्लेख प्रथम दो पंक्तियो मे हुआ है, निराला ने अभिव्यक्ति के पूर्व स्वत: अनुभूति की एकतानता के धरातल पर उसका अनुभव किया है। निराला का बादल झूम-झूम कर वर्षा भी कर रहा है। प्रकृति मे बादल के रव के साथ उसकी शीतल वृष्टि का प्रसार हो रहा है। पर पूर उद्धृत अश मे वर्षा की व्यंजना गर्जन की व्यंजना की तुलना मे कुछ दबकी हुई है। वह तो नाने के अंश 'बरस तू, बरस-बरस जलधार' मे अधिक मुखर होती है। निराला बादल के माध्यम से उसके भैरव संसार को देखना चाहते है। वे उसे हृदय मे उथल-पुथल मचाने को कहते है। 'झर-झर-झर-निर्झर' से वृष्टि की क्रिया मूर्तिमान की गई है। 'धमता दल-दल। हँसता है नद खल-खल बहता, कहता कुलकुल-कलकल कल कल' से वृष्टि के पश्चात् उसके जलप्रवाह की गति और अन्तर्निहित ध्वनि को व्यजित किया गया है। यहाँ

---

* विण्टर्स से भी इस पक्ष के अतिरिक्त अन्य पक्षो पर निराला अमहमत है, विंटर्स ने कविता का 'रेशनल डिस्कोंस कहा था। दूसरे काल की मानववादी रचनायें इस मान्यता के अनुकूल है, पर छायावादी रचनाये इसका अतिक्रमण करती हैं। निराला के छन्दो का केवल शब्द-वैज्ञानिक निरूपण संभव नही है। उनकी छन्द-संघटना उसका अतिक्रमण करती है।

तुक तथा अनुप्रासों के प्रयोग से कवि भौतिक जगत के कार्य-व्यापार को कलात्मक ढंग से अभिव्यक्त करने मे सक्षम है। निराला मन के लिए विकल विशेषण से ही संतुष्ट नहीं होते, वे पड़ी पाई के बाद जोर देकर बेकल शब्द का प्रयोग भी करते है। पद मे समान ध्वनि सूचक शब्दो का प्रयोग भी किया गया है। 'झर-झर-झर' 'गरज गरज' 'खल-खल' 'कुल-कुल' 'कलकल कल-कल, रोर, शोर, मरोर, घोर, 'बरस तू' बरस-बरस' के प्रयोग के द्वारा कवि इसी ध्वनि-साम्य के द्वारा क्रिया-विशेष की व्यंजना करना चाहता है। इसी को पुनरावृत्ति द्वारा अभीप्सित लयात्मक प्रभाव उत्पन्न करने की क्रिया कहा जाता है। लेकिन लय के लिए पुनरावृत्ति के साथ उससे भिन्न गति सूचक शब्दो की अपेक्षा भी होती है। इसी कविता को लिया जाय—

धँसता दल-दल
हँसता है नद खल-खल
बहता, कहता कुलकुल-कलकल-कलकल[८७]।'

शुरू मे धँसता, हँसता, बहता का प्रयोग है। अन्त मे दल दल, खल-खल, कल-कल का प्रयोग है। दल-दल-धँसता है, बहता हुआ नद खल-खल हँसता है, वह कल-कल कुल-कुल कहता है। यहाँ हँसता, धँसता, बहता और नद शब्द के प्रयोग के द्वारा कवि ने कल-कल, खल-खल, दल-दल के समान्तर भिन्न ध्वनि के शब्दों का आयोजन किया है। इन दोनो के मेल से ही, रिद्म उत्पन्न होता है। समान ध्वनि खण्डो की आवृत्ति के साथ ही अन्य शब्दों के पूरक प्रभाव की विशेषता देखी जा सकती है। दल-दल पानी से भीगी मिट्टी का पिलपिला संग्रह है जिसमे कुछ पोला होता है। अतएव निराला ने उसके लिए धंसता शब्द का प्रयोग किया है। नदी जल मे प्रवाहित हो उठी है अतएव उसकी गति को सूचित करने के लिए कुल-कुल, कल-कल शब्द का प्रयोग किया गया है। इस तरह ध्वनि के सम्मूर्तन मे निराला ने शब्द के साथ सम्बद्ध अर्थ को उपयुक्त और सार्थक प्रयोगो द्वारा व्यञ्जित किया है।

निराला की कविताओ मे काव्यात्मक शब्दावली का प्रयोग मिलता है। यह शब्दावली ध्वनि प्राण होती है। निराला को इसकी परख है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य है,

(१) झर-झर-झर निर्झर गिरि सर मे (बादल राग)
(२) झक-झक-झक झलकती वह्नि वामा के दृग त्यो
(राम की शक्ति पूजा)
(३) झुक-झुक, तन-तन, फिर झूम-झूम, हँस-हँस झकोर।
(बन बेला)
(४) डम ड डम डम डम ड
डमरू निनाद है। (साध्यकाकली)

(५) कण-कण कर कंकण प्रिय
किण-किण रव किंकिणी (गीतिका)

उपर्युक्त पदों को पढते समय हमारा ध्यान पहले शब्द-ध्वनि पर जाता है। पर रचना के धरातल पर केवल शब्दों के साथ खिलवाड करके अनुप्रासों की कला-पूर्ण छटा दिखाना उन्हे अभिप्रेत नही है। वे इन शब्दों का प्रयोग क्रिया-प्रदर्शित करने के लिए करते है। इन क्रियाओं का ज्ञान पठन की स्थिति में केवल अर्थ—साक्षात्कार के धरातल पर होता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि निराला ने लयात्मकता को शब्दार्थमय संघटना के आरोह-अवरोह से व्यंजित होने वाली संरचना का मुखापेक्षी माना है। इनमे ध्वनि की संगीतमय संघटना के प्रति आग्रह है, पर उसकी चरम परिणति ध्वनि के धरातल पर नही अपितु उससे व्यंजित होने वाले अर्थ के धरातल पर होती है। उनकी सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धि यह है कि रचना के धरातल पर शब्दों और ध्वनियों के आरोह-अवरोह और स्वराघानों के नियोजन के द्वारा वे अपने को क्रमशः उस उदात्त-अनुभूति-प्राण पृष्ठभूमि में प्रतिष्ठित कर देते हैं, जिसकी व्यंजना में शब्द असमर्थ सिद्ध होते है। वहाँ लय के नर्तन, रचनात्मक ऊर्जा के संश्लेषण और अनुभूति के उदात्त निरूपण की समन्वित क्रिया से उस मनोभूमि का साक्षात्कार करके वे स्वयंचालित ढंग से उसको समग्रता में प्रस्तुत करते है। निराला रचना के उपकरणो और संघटनों के द्वारा उसके रूप को भी संवारते हैं पर वे यही तक सीमित नही रह जाते। वे इनके परे जाकर एक अमूर्त रूप को भी निर्देशित करते दृष्टिगोचर होते है। इसीलिए उनकी रचना में यथास्थान दीप्तिमय, स्वयं-प्रकाशपूर्ण, और संप्रज्ञात समाधि जनित अनुभूतियों के अनेक लयात्मक भाव-चित्र-हमें मिलते हैं, जिनका संकेत पहले किया जा चुका है। निराला की कविता मे शब्द अभिव्यक्ति के माध्यम है। वे जब भी लयात्मक शब्दों का उपयोग करते है तो उसके द्वारा किसी निश्चित क्रिया और भावचित्र को मूर्तिमान करना ही उन्हे अभिप्रेत है। उनकी कविता की संरचना से, उसके छंद-विधान से यह लयात्मकता अनायास फूट कर पाठक को प्रभावित करती है। सारांश यह कि निराला की कविता की लय उनकी अनुभूति में तिरने वाले लय का ही व्यक्त रूप होती है।

कविता लयात्मक है और लय और तान को संगीत की प्रमुख विशेषता माना जाता है। इससे कविता स्वतः संगीत के निकट पहुँच जाती है। निराला ने संगीत और कविता के अन्तः सम्बन्ध पर विचार भी किया है। मैं उनकी वर्ण चमत्कार कविता को उद्धृत करना चाहूँगा—

'वर्ण चमत्कार,
एक एक शब्द बँधा ध्वनिमय साकार।
पद-पद बह चलो भावधारा,

निर्मल कल-कल में बँध गया विश्व सारा,
खुली मुक्ति बन्धन से बँधी फिर अपार-
वर्ण चमत्कार ।
शत-शत रंग खिला मिला प्राण,
गूंजे गगनांगण मे वे अगण्य गान
दिखी रूप की छवि झंकृत-कर-स्वर-तार
वर्ण चमत्कार ।[६८]

इस पद से इसके पूर्व प्रतिपादित मान्यता पर प्रकाश पडता है । पर मै रचनात्मक दृष्टिकोण से इसकी अन्तिम पंक्ति की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ । पंक्ति है, 'दिखी रूप की छवि, झंकृत कर स्वर तार ।' स्पष्ट है कि निराला को ऐसा शोभामय रूप दिखाई देता है जिससे उनकी स्वर साधना के तार झंकृत हो उठते है । निराला ने 'वीणावादिनि वर दे' मे भी यही कामना की थी;

वीणावादिनि वर दे ।
प्रिय स्वतंत्र-रव, अमृत मंत्र नव
भारत मे भर दे ।
काट अंध उर के बंधन स्तर
बहा जननि ज्योतिर्मय निर्झर
कलुष-भेद तम-हर प्रकाश भर
जग-मग-जग कर दे ।
नव गति, नव लय ताल छन्द नव
नवल कण्ठ, नव जलद मन्द्र रव
नव नभ-के नव-विहग वृन्द को
नव पर नव स्वर दे ।[६९]

इस पूरे गीत मे निराला ने 'नव' शब्द का प्रयोग नौ बार किया है और 'नव' के अर्थ मे नवल का प्रयोग एक बार । इस तरह दस बार इस शब्द की पुनरावृत्ति से उनकी मानसिक रुझान का सहज ही ज्ञान हो जाता है । वे और तरह की कामनाये करते हैं जिनका रचना से सम्बन्ध होता है, पर उनकी जिज्ञासा उन सबके स्वच्छन्द और नवीन होने पर ही अधिक बल देती है । उनकी यह कामना फलीभूत हुई है । निराला ने संगीत मे नये प्रयोग किये है और उसमे उन्हे सफलता भी मिली है । उनका पहला प्रयोग तो खडी बोली मे शास्त्रीय शैली के गीतों की रचना है । धम्मार, रूपक, झपताल, चौताल, तीन ताल, दादरा आदि की रचना पर उन्होने गीतिका मे प्रकाश ही नही डाला है, अपितु उनके शास्त्रीय पक्ष का उद्‌घाटन भी

किया है। दूसरा प्रयोग गीतो की लम्बाई को लेकर किया गया है। गीतों की लंबाई भिन्न-भिन्न है। ११, १३, १५, १४, ६, १८, १६, १६ पंक्तियो के अनेक गीत 'गीतिका' मे संग्रहीत है। वे संरचना की दृष्टि से भाषा और भाव दोनो धरातलों पर निरन्तर गतिशील रहे है। तीसरी प्रमुख विशेषता है, 'निराला काव्य व्यंजना प्रधान है। इसका अर्थ यह नही कि उसमे स्वरो का महत्व नही है। स्वरो का ढाँचा बहुत कुछ अदृश्य रहता है। उस अदृश्य साँचे मे व्यंजन मजबूती से जडे है। इन स्वरों मे जो दीर्घ है वे ढाँचे की सबसे मजबूत छडें है। अनेक लघु वर्णो के बाद दीर्घ स्वर वाला वर्ण रखकर छन्द की गति मे भंगिमा पैदा करना, दो तरह की पद रचना मे वैषम्य दिखाकर नाटकीय प्रभाव उत्पन्न करना निराला का प्रिय कौशल है।..... उन्हे दीर्घ 'आ' स्वर अत्यन्त प्रिय है। ग-वर्ण की तरह इस स्वर को साधे बिना वह उदात्त-स्तर तक नही पहुँच सकते।[६८]

निराला ने संगीत को भावाभिव्यक्ति का प्रमुख साधन माना है। उनका सौन्दर्य-चित्रण स्वयमेव संगीत मय हो उठता है। स्वर-साधना उनके लिए अव्यक्त को लयात्मक ढग से व्यक्त बनाने का प्रमुख साधन है। निराला-काव्य मे लय के भी उदात्त, मध्यम, क्षीण, अनुदात्त कई स्तर देखे जा सकते है। निराला भाषा के प्रयोग से ध्वनि और लय पैदा करने मे विशेष पटु है। उनकी कविता की लय अर्थ-बोध मे विशेष सहायक होती है। कही उसके द्वारा वे प्रकृति के कार्य-व्यापार को मूर्तिमान करते है, कही क्रिया को, और कही भाव-संवेग को। कही-कही उसी के माध्यम से वे 'संसृति की सीमा के अपरपार' जाने का माध्यम भी ढूँढ निकालते है। उनकी कविता मे लय का लय के लिए उपयोग नही हुआ है। उनकी कविता की लयात्मक संरचना तरल होती है, वह एक दूसरे से मिलती जाती है, और अपनी गति से अर्थ का विस्तार करती हुई कवि को ही नही पाठक को भी एक गन्तव्य तक पहुँचा देती है। उनका सारा लय-विधान अनुभूति-सार्थक अनुभूति-को वाक्य के सघटन से प्रवाहित करके उसे मूर्तिमान करने का साधन है।

इसी सन्दर्भ मे निराला के शब्द-चयन पर विचारकर लेना अपेक्षित ही नही आवश्यक है। भाष भाव-सप्रेषण का प्रमुख माध्यम होती है। इसके माध्यम से हम अपने विचार, अनुभूति और दैनिक कार्य-व्यापार को दूसरो तक प्रेषित करते हैं। जो प्रचलित है, अथवा जिनका हम प्रयोग करते है उनके साथ सदैव एक अर्थ-सन्दर्भ और मूल्य जुडा होता है। वे वैयक्तिक-ऐन्द्रिय-अनुषंग और भावात्मक संस्पर्श से अनु-प्राणित होते है। 'भाषा की स्थिति उर्वर मिट्टी के सदृश होती है। जैसे मिट्टी की उर्वरा शक्ति निरन्तर उपज से घटती रहती है, वैसे ही भाषा की उर्वरा शक्ति भी ऐसे प्रयोगो से निरन्तर क्षीण होती रहती है जो अपने प्रयोग द्वारा उसकी शक्ति को चूस कर उसे निःशेष बनाते रहते है। भाषा की इस शक्ति को अनुप्राणित रखना आवश्यक

होता है [९३]।' निराला इससे परिचित हैं। उन्होने स्वीकार किया है, 'माल की तरह किसी भाव की रफ्तनी भाषा की थैली मे भर कर को जाती है। जिस भाषा के तहखाने या माल खाने में पूंजी या रकम कम होती है, या उसके मालिक चतुर नही होते या बनिये डाँडी मारना नही जानते—हाथ की सफाई नही दिखाते, वे अक्सर घाटा ही उठाते है, वहाँ धर्म ढकोसला ही रहलाता है—बुद्धिमान जब आँखों मे धूल तो झोक जाते है किन्तु एक नसीहत भी जिन्दगी भर याद करने के लिए छोड़ जाते है और वह यह कि घर का घर जला, बेशऊर नाम ऊपर से पड़ा।..... संसार की जाग्रत जातियाँ, भाषा की स्वच्छन्द गति मे रुकावट डालना तो दूर रहा बल्कि उसके बाधक कंकडों-पत्थरो को दिन पर दिन चुनने के लिए किस तरह दत्त-चित्त है, यह हम जब चाहे किसी कोष का नया संस्करण या कोई सामयिक पत्र उठा कर देख सकते है।[९४] उन्होने पुन. लिखा है,' बिन्दु से अक्षर की सृष्टि, अक्षरो से शब्दो की, शब्दो से वाक्यो की, छन्दो की, इसी तरह ग्रन्थादि की सृष्टि का क्रम रखना पडता है और इसी से साबित होता है कि शब्दो का ढलना-एक दूसरे रूप मे बदलना अनिवार्य है, यदि कोई भाषा अपना भण्डार पूर्ण रखने का इरादा रखे तो।[९५] निराला उर्वरा शक्ति का उल्लेख तो नही करते पर वे भाषा की प्राण शक्ति से परिचित है जिसका विकास सदैव पूर्णता की ओर होना है।[९६] वे इस तथ्य से भी अवगत रहे हैं कि हिन्दी की गति और उसका भाषा प्रवाह मन्द है।[९७] निराला ने रचनाकार के रूप मे इस तथ्य का साक्षात्कार तो किया है कि कविता की भाषा मे मनोरंजन तो होता है पर वह जीवन-संग्राम के काम की नही रह जाती।[९८] उन्होने भाषा और भाव के साथ सघर्ष करके उसकी उर्वराशक्ति को समृद्ध करने, आधुनिक युग की आवश्यकता के अनुकूल ढालने, उसके विकास के अवरोधो को समाप्त करने, उसे गति और प्रवाह से मंडित करने और उसमे 'कर्म-जीवन के चित्र और हृदय की सुकुमार-भावनाओ को व्यक्त करने'[९९] का अथक प्रयास किया। उन्होने 'भाषा की गति को मातृशक्ति के उत्थान'[१००] का प्रमुख माध्यम बनाना चाहा और उसमे अभिनव प्राण-प्रतिष्ठा की। उनकी दृष्टि स्पष्ट था। वे हिन्दी मे चारो ओर से परकोटा घेर कर अन्य जातियो और देशो की भाव-राशियो को अपने से दूर रखने के विरुद्ध थे।[१०१] वे इस 'बनी रहे-ठनी रहे' की भावना से ऊपर उठे थे और अपनी उदार भावना से अन्य साहित्यो की भावराशि और शब्दावली को हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल ढालकर उसे ग्रहण किये थे। इसका कारण स्पष्ट था। उनकी दृष्टि मे 'साहित्य को जीवित रखने के लिए उसमे अनेक भाव, अनेक चित्रो का रहना आवश्यक है।'[१०२] वे इन भावो और चित्रो को जातीय जीवन से सम्बद्ध करके उसे उसकी समृद्धि का साधन बनाना चाहते थे।

निराला ने भावों की प्रकृति के अनुकूल भाषा के प्रयोग मे विशेष पटुता प्रदर्शित की है। भाषा पर उनका जैसा अधिकार रहा है, वैसा किसी अन्य छाया-

वादी कवि का नही रहा है। वे एक ही काल मे अनेक भाव-धरातलो पर क्रियाशील पाए गए हैं। इसका प्रमुख कारण यह है कि वे भाषा के सर्जनात्मक प्रयोग और उसकी प्रकृति से परिचित रहे है। उनके द्वारा प्रयुक्त भाषा के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं:—

प्रेम—

अ—'कैसी निरलस दृष्टि !
सजल शिशिर-धौत पुष्प-ज्यो प्रात मे
देखता है एक टक किरण कुमारी को
पृथ्वी का प्यार सर्वस्व उपहार देता
नभ की निरुपमा को,
पलकों पर रख नयन
करता प्रणयन, शब्द
— —
समझ न सकी हाय,
बँधा सत्य अंचल से
खुल कर कहाँ गिरा।,[१०३]

ब—केन्द्र दो आ मिले
एक ही तत्व के
सृष्टि के कारण वे,
कविता के काम-बीज[१०४]

शृंगार—

स —नयनो मे हेर प्रिये,
मुझे तुमने ये बचन दिए—
'तुम्ही' हृदय के सिहासन के
महाराज हो, तन के, मन के,
मेरे मरण और जीवन के
कारण जाम पिये।'[१०५]

द—बजे सजे उर के इस सुर के सब तार—
प्रिय-पथ पर चलती सब कहते शृंगार।[१०६]

य—स्पर्श से लाज लगी,
अलक-पलक मे छिपी छलक
उर से नव-राग जगी।[१०७]

फ–सुख के भय काँपती प्रणय-कूलम
बन श्री चारु तरा ।[१०८]

मानव-प्रेम—

अ–मेरे पडोस के वे सज्जन
करते प्रतिदिन सरिता मज्जन ।
झोली के पुए निकाल लिए
बढते कपियो के हाथ दिए ।
देखा भी नही उधर फिर कर
जिस ओर रहा वह भिक्षु इतर ।
चिल्लाया किया दूर दानव,
बोला–'श्रेष्ठ धन्य मानव' ।[१०९]

ब–'रानी अब हो गयी सयानी,
बीनती है, काँडनी है, कूटती है, पीसती है
डलियो के मोने अपने रूखे हाथो मीसती है,
घर बुहारती है, करकट फेकती है
और घडो भरती है पानी' ।[११०]

हास्य व्यंग्य—

क–'लेखको मे लण्ठ जैसे खुश नसीब ।[१११]

ख–'मुझसे मूँछे मुझसे कल्ला
मेरे लल्लू मेरे लल्ला' ।[११२]
'गुस्सा आया बुआ काँपने लगी
गालियों से गला नापने लगी
....
मेढक बोलता था जैसे सुकरात
दूसरा फलातूं सुन रहा था बात ।
....
'मिट्टी के सबब दूध ऐसा था पानी
खुश होकर बुआ ने नहाने की ठानी
उतरी जैसे ठाकुर की विजयिनी हो
जिसके दिल मे नही आजकल परसो
....

बुआ ताल मे पैठी जैसे हथनी
डर के मारे काँपने लगा पानी' ।[११३]

सौन्दर्य—

क–घेर अंग-अंग को
लहरी तरंग वह प्रथम तारुण्य की
ज्योतिर्मयिलता-सी हुई मै तत्काल
घेर निज तरु-तन ।
खिले नव पुष्प जग प्रथम सुगन्ध के
प्रथम वसन्त मे गुच्छ-गुच्छ' ।[११४]

ख–क्या यह वही देश है
संध्या की स्वर्ण वर्ण किरणा मे
दिग्वधू अनम हाथो से
थी भरती जहाँ प्रेम की मदिरा
पीती थी वे नारियाँ
बैठी झरोखो मे उन्नत प्रासाद के ?[११५]

ग–'अप्सरा सुघर
सिक्त-तन-केश शत लहरो पर
काँपती विश्व के चकित दृश्य के दर्शन-शर ।[११६]

घ–देख यह कपोत-कण्ठ
बाहु-बल्ली कर सरोज
उन्नत उरोज पीन-क्षीण कटि-
नितंब भार—चरण सुकुमार
गति मन्द-मन्द
छूट जाता धैर्य ऋषि मुनियों का ।[११७]

च–आयत दृग, पुष्ट देह
अपने प्रकाश मे निःसंशय
प्रतिभा का मन्द स्मित परिचय, संस्मारक ।[११८]

अवसाद, मरणबोध—

अ–'हो गया व्यर्थ जीवन
मै रण मे गया हार' [११९]

ब–धिक् जीवन जो पाता ही आया विरोध
धिक् साधन जिसके लिए सदा हो किया शोध ।[१२०]

स–'हमारा डूब रहा दिन मान
मास-मास, दिन-दिन प्रतिपल
उगल रहे हों गरल अनल
जलता यह जीवन असफल ।[१२१]

प्रपत्ति—

'कृष्ण-कृष्ण राम-राम
जपे है हजार नाम
जीवन के लड़े समर
डटे रहे हारे स्तर
स्मर के शर मर्मर
गये पुन. जिते घाव ।'

निराला के भाव और शब्द-प्रयोग की दृष्टि से इन उपर्युक्त रचनाओं को देखा जाय । प्रेम के चित्रण मे उद्धृत अंश मे निरलस दृष्टि, सजल, शिशिर, धौत, पुष्प, किरण, कुमारी, पृथ्वी, प्यार, नभ, निरुपमा, सत्य, अचल, एक तत्व, केन्द्र सृष्टि, कारण कामबीज जैसे शब्दो का प्रयोग किया गया है । सभी शब्द उसके पूर्व भी प्रयोग मे आए है । पर उनके संगठन द्वारा उन्होने जो अनुभूति-सवित् या चित्र प्रस्तुत किया है यह उनकी विशेषता है । शब्दो का प्रयोग सन्दर्भ मे किया गया है और वे उसी के प्रवाह के अंग है । शृंगार, प्रेम और सौन्दर्य चित्रण मे भी नयनो, हेर, वचन, दिए, तन के, मन के, हृदय सिंहासन के, महराज, जाम, पिये, बजे-सजे, उर, सुर तार, स्पर्श लाज, नव, राग, सुख प्रणय-क्लम, वन श्री, चारु तरा शब्दो का प्रयोग किया गया है । इसके साथ ही खिलते, मिलते, पुष्प, सुगंध, गुच्छ-गुच्छ, स्वर्ण, वर्ण, किरण, दिग्वधू, अलस, अधूरा, सिक्त, तन, केश, दर्शन, शर, कपोत, कण्ठ, बाहु, बल्ली, कर, सरोज, उन्नत, उरोज, पीन, क्षीण, कटि, नितंबभार, चरण, सुकुमार, गति, धैर्य, ऋषि, मुनि, लहरी, तरंग, तारुण्य, ज्योतिर्मयिलता, का प्रयोग किया गया है । प्राय: सभी शब्द तत्सम है । यहाँ कवि संस्कृत-प्राण हिन्दी के अतिरिक्त अन्य भाषा-रूपो को नही अपनाता दृष्टिगोचर होता । शुद्ध, प्राजल, संस्कृत निष्ठ भाषा का प्रयोग उनके प्रथम काल की रचनाओ की प्रथम विशेषता है । इससे उन्हें भावानुकूल भाषा के प्रयोग मे सहायता मिली है । प्रथम काल की रचनाओं मे निराला, कोमल-कान्त-पदावली—'अलक पलक मे छिपी छनक', 'सजल शिशिर-धौत पुष्प ज्यो प्रात मे देखता एक टक किरण-कुमारी को', 'बजे सजे उर के इस सुर के सब तार' 'काँपती विश्व के चकित दृश्य के दर्शन-शर'—का उपयोग करते है । वह उन्हें प्रिय भी है । इनके उपयोग से उनको अपनी स्वच्छन्द अनुभूति की अभिव्यक्ति में सहायता मिलती है । पर सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि इसमे भी वे उदात्त

भाव-बोधक शब्दो का प्रयोग करने से बाज नही आते। उपर्युक्त उद्धरणों मे 'स' मे सिंहासन 'फ' मे 'प्रणय क्लम' 'श' मे ज्योतिर्मयिलता' इसके उदाहरण हैं। कुछ अन्य उदाहरण भी दिए जा सकते हैं—

अलस पंकज दृग अरुण मुख
तरुण अनुरागी (यामिनी जागो)
या
खुलते खोलते प्राण के स्तर भर जाते। (तुलसी दास)
या
प्रेयसी के प्रणय के, निश्चल विभ्रम के
....
जीवन के, भावो के विलास शम-दम के। (तुलसीदास)

उदात्त ध्वनि का प्रयोग हर पंक्ति मे देखा जा सकता है। निराला ने इसका सफल प्रयोग 'राम की शक्ति पूजा' और 'बादल राग' मे किया है। उदाहरण द्रष्टव्य है; 'तीक्ष्ण-शर-विधृत क्षिप्र', 'वेग-प्रखर', 'व्यूह भेद कौशल-समूह', 'विच्छुरित वह्नि', 'हत-लक्ष्य-बाण', 'रावण-मदमोचन-महीयान', 'उद्धत लंकापतिमर्दित', 'विश्व-जिद्दिव्य शरभंग भाव', 'विद्धाग-बद्ध-कोदण्ड-मुष्टि'।[१२३] इसका प्रयोग निराला ही कर सकते थे। इसका कारण था। वे केवल शब्द गढ कर के शब्द-शिल्पी नही बने थे। उन्होंने अनुभूति के ओज को स्वत. झेला था। कही शब्दो की पुनरावृत्ति द्वारा भी वे अभीप्सित प्रभाव उत्पन्न करते है। बादल राग (१) मे गरज-गरज, दल-दल, खल-खल, कुल-कुल, कल-कल, कलकल का प्रयोग इसका प्रमाण है। बादल राग (२) मे बादल को दिए गए उपनामो की सूची पर थोड़ा विचार कीजिए, ऐ निर्बन्ध, (ऐ) अन्ध-तम-अगम-अनर्गल-बादल-ऐ स्वच्छन्द, ऐ उद्दाम, (ऐ) अपार कामनाओ के प्राण, (ऐ) बाधा-रहित-विराट, ऐ विप्लव के प्लावन, ऐ सम्राट, ऐ अटूट पर टूट पड़ने वाले-उन्माद, (ऐ) विश्व विभव को लूट-लूट लड़ने वाले अपवाद, ए बज्र-घोष से प्रचण्ड आदि-आदि। जितनी भी क्रियाओं विशेषणों का इसमे प्रयोग हुआ है वे सब सार्थक है। शैली मे कही एक भी विजातीय शब्द देखने को नही मिलता है। इसकी तुलना उद्धृत अंशो से कीजिए, जहाँ निराला ने, निरलस दृष्टि. शिशिर-धौत पुष्प, पृथ्वी का प्यार, नभ की निरुपमा, बँधा सत्य अंचल से, नयनो मे हेर, स्पर्श से लाज लगी, वन श्री चारुतरा का प्रयोग किया है। पहले काल की रचनाओ मे केवल 'महाराज शिवा जी का पत्र' मे मिश्रित शैली का सर्वाधिक प्रयोग हुआ है। उदाहरण के लिए आन-बान-शान के साथ भारत उद्यान, मोगल दल के साथ विगलित बल, मागल सिंहासन। यहाँ उर्दू-फारसी के शब्दो का प्रयोग भी जम कर किया गया है; यथा शराबोर खून से, हम रकीब, दगाबाज, मरजाद, मर्दानगी, तुर्क, सेहरा समर का, वीर शेमरमर्दो, काँटों, आह, जानदार, काफिर, गुलाम,

दुखियों, तदबीर, तलवार, आस्तीन आदि। जिस शैली का 'भिक्षुक', 'तोड़ती पत्थर', 'वह आता' में प्रयोग किया गया है वही द्वितीय युग में विशेष रूप से विकसित होकर हमारे सामने आई है। भिक्षुक को भाषा भी मिश्रित शैली का उदाहरण है, उसमें कवि ने कलेजा, दाना, भूख आदि उर्दू के शब्दो का प्रयोग किया है। ऐसे ही 'दिल्ली' को भी लिया जा सकता है। उनकी छायावादी शब्दावली कवित्व पूर्ण है। उसमें मसृण, सजल, चकित, प्रिय, अलि, सखि, मर्मर, मन्द, गन्ध, अन्ध, टलमल, कली, किसलय, पल्लव, नव, तव, विमल, नवल, मंजु, कुंज, शुचि, उन्मन, श्लथ, अतीत, कनक, प्रभात, स्मृति, वीणा, मुग्ध लुब्ध, अधर, नूपुर, किरण, ज्योत्स्ना, वेदना, कंपन, तरग, प्राण, ज्योति, गात, स्वप्न, रश्मि, छवि, उर, मलय, पथ, शतदल,[१२४] आदि शब्दो का बार-बार प्रयोग हुआ है। 'अलि, सखि शब्दो का व्यवहार स्त्रैण भावों का द्योतक है। अन्य शब्द कोमलता से अत्यधिक मोह और दिवास्वप्नो में डूबे रहने की प्रवृत्ति की ओर संकेत करते हैं। कलियों का खुलना, नर या नारी के शरीर का श्लथ होना, कलियो का थर-थर काँपना, रश्मि द्वारा शरीर का चूमा जाना, समीर का बहना, छबि का जागना, परिचय खोलना, जीवन भरना, जीवन को बाँधना आदि ऐसे व्यापार है जिनसे भाषा के व्यावहारिक स्तर पर सामान्य जन अपरिचित है। इन क्रियाओं के व्यवहार का उद्देश्य भी भाषा को कवित्वपूर्ण बनाना है।[१२५] इस दृष्टि से निराला के क्रियाविशेषणो का प्रयोग भी कम महत्वपूर्ण नही है। उदाहरण के लिए निरंजन-अंजन, पृथुल प्रणय, नीरव-चुंबन, तरंगित-सृष्टि, अविकच-जीवन, मूर्छित-बसन्त, निस्तब्ध-मीनार, मौन-मकबरे, शिथिल-चुंबन, चंचल-आकाश, तान-तरल-कंपन, मूर्तराग, सैकत विहार, ज्योत्सना चुंबित वन, उत्कंठित प्यार, व्याकुल पनघट, कातर झंकार, फेनिल शैया, अधीर गंध, अधीर नुपुर, उदात्त आकाश, क्रन्दन मलिन पुलिन, व्यथित अभिमान, नीरव समाज, नग्नवेदना, नृत्य-चपल-अधर, इंगित-मुखरित सुखद उदार संवाद, शिथिल घूँघट, हास्यमधुर उक्ति, पीन उभार, मलिन मर्म, प्रगल्भ धारा, द्रवनीहार, अस्त-आकाश, मिलन-मुखस्तर, तन्द्रालस-लालसा, निरंजन आशीर्वाद, तरुण किरण, रूपक्षीण महिमा, ज्योतिर्मय प्रपात, उन्मन उपवन, किसलयो तुली शाखा, हीन नमस्कार[१२६] का प्रयोग द्रष्टव्य है। जिससे भावोद्बोधन की क्रिया को संपादित किया गया है। निराला मे कुछ शब्दों की पुनरावृत्ति अवश्य मिलती है। उदाहरण के लिए हम दो शब्दों को लेते है। 'टल मल' और 'केशर'। टलमल का प्रयोग कई जगह किया गया है,

(१) वृन्तपर टलमल उज्ज्वल प्राण (परिमल ५८)
(२) रूप राशि मे टलमल टलमल (गीतिका, पृ ०)
(३) जल टलमल करता नील-नील (अनामिका १३०)
(४) राक्षस पदतल पृथ्वी टलमल (अनामिका, पृ १५३)

चारों स्थलों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि निराला में एक ही शब्द

का भिन्न-भिन्न सन्दर्भों मे प्रयोग किया गया है और उससे भिन्न भाव-संवितों को व्यक्त किया गया है। पहले उद्धरण मे 'टलमल' उल्लास का प्रतीक है और दूसरे में चमत्कृत होने के साथ गतिशील होने का। तीसरे उद्धरण में उसके द्वारा गति को चित्रित किया गया है और चौथे मे पृथ्वी के कंपित होने की क्रिया का। ऐसे ही 'केशर' शब्द के प्रयोग पर भी विचार किया जा सकता है—

(१) अब स्मर के शर-केशर से झर (तुलसी दास, पृ० २१)
(२) केशर–रज कण अब हैं हीरे पर्वत चय (वही, पृ० ३१)
(३) स्मर के शर के मर्मर (आराधना, पृ० १२)
(४) केशर के केश कली के छुटे (गीतिका, पृ ५)
(५) स्मरशर हर केशर झर (गीतिका, पृ० ६)

कही निराला स्मर के शर के सन्दर्भ में 'केशर' का प्रयोग करते हैं तो कभी केशर के गुण और धर्म के आधार पर प्रभाव साम्य को चित्रित करने के लिए। यह उनकी कला है। ऐसे ही अनेक शब्दों के प्रयोग को लिया जा सकता है।

रचना के प्रथम काल से ही उनमे मुहावरों और लोकोक्तियों के प्रयोग के प्रति अधिक रुझान दिखाई देती है। रचनात्मक कौशल को चित्रित करने और अभिव्यक्ति को मुखर करने मे इन मुहावरों का अप्रतिम योगदान है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य है :—

प्रथम काल

अनामिका

मीनार और मकबरों का मौन होना	पृ० ६३
आसू टपकना	पृ० ६२
स्यार बोलना	पृ० ६२
स्तब्ध होना	पृ० ६२
किरीट बदलना	पृ० ६०
प्रेम की मदिरा भरना	पृ० ६०
आनन्द की धारा बहना	पृ० ६०
पाठ पढ़ना	पृ० ५६
अंबर का गलकर गिरना	पृ०५७
बिहार करना	पृ० ५३
शूल से बेधना	पृ० ५२
स्नेह के बाट पर चढ़ना	पृ० ५०
पत्थर तोड़ना	पृ० ८१
माथे से पसीना गिरना	पृ० ८१

कर्म (काम) में लीन होना पृ० ८१
बार-बार प्रहार करना पृ० ८१
धूप चढ़ना पृ० ८१
दाल न गलना पृ० २०६
सेहरा समर का पृ० २०६
कांटो की राह पृ० २०८
आह भर कर पार करना पृ० २०९
शेर-शेर का शिकार नही करता
शेर कभी मारता नही है शेर पृ० २०९
उकसाना पृ० २१०
आँख दिखाना पृ० २१०
दाग़ धोना पृ० २१०
हद हो जाना पृ० २१४
मुठ्ठा भर होना पृ० २१४
चाल चलना पृ० २१४
पैर जकड़ना पृ० २१४
बरबाद हो जाना पृ० २१५
क्रीतदास होना पृ० २१५
ईट का जवाब पत्थर से देना पृ० २१६
कीर्ति जग जाना पृ० २१६
आस्तीन का साँप होना पृ० २१७
ठगना पृ० २२०
तरंग मारना पृ० २२१
खून की धार पीना पृ० २२२

परिमल

डगमग फिरना पृ० ३१
पतवार टूट जाना पृ० ३१
दाग मिट जाना पृ० ३२
गगन-मगन मन मे विचरना पृ० ३३
जीवन में बहार आना पृ० ३८
मलिन मुख वि का ढलना पृ० ४०
दिन मान डूबना पृ० ४१
तन मन लहराना पृ० ४२
अनन्त का नीला अंचल हिलाना पृ० ७६

चंचल चरण बढाना पृ० ७६
बाट जोहना पृ० ८१
कड़ी मार पड़ना पृ० ६४
काल की चाल से मुरझा जाना पृ० ६५
मन्द-मन्द कुसुमो मे जय की लिपि खिलना पृ० ६६
कठिन शृंखला बजा कर अतीत के गीत गाना पृ० ६८
अधरों पर मुस्कान पाना पृ० ६८
जग के पार जाना पृ० ६६
प्राणो का मोल न होना पृ० १००
निशा के उर की कली खिलना पृ० १०१
मर देना पृ० १११
अन्धकार का रोदन पृ० १११
कलेजा दो टूक करना पृ० १२५
आँसू के घूंट पी कर रह जाना पृ० १२५
जूठी पत्तल चाटना पृ० १२५
ओठ सूखना पृ० १२५
प्रेम का पयोनिधि उमड़ना पृ० २२४
कलेजा धडकना पृ० २२४
पीठ फेरना पृ० २२५
चतुराई धूल मे मिल जाना पृ० २३२
आदि रस के सम्मोहन शर छूटना पृ० २३३
सिर झुका लेना पृ० २३३
धैर्य छूट जाना पृ० २३४
प्राण त्रस्त करना पृ० २३४
धूल उडना पृ० २३४
कलियों के साथ अनूठे गीत गाना पृ० २३५
सप्तम सोपान पर चढना पृ० २३७
खिल-खिल कर हँसना पृ० २४२
दगा देना पृ० २४५
काल नागिनी सी बात मे पृ० २४५

निराला के प्रथम काल के शब्द-गुम्फों और अलंकार-प्रयोगो के साथ ही उनकी मुहावरे दानी भी दूसरे काल मे बदली है। इसका प्रमुख कारण यह है कि वे अब छायावादी प्रभाव से कुछ मुक्त हुए है। प्रथम काल के अवशेष उनकी कविता मे रह-रह कर तरंग मारते है। पर दूसरे काल की कविता का मूल स्वर मानववादी

हो गया है। उनकी इस प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व उनके 'कुकुरमुत्ता' 'बेला' और 'नये पत्ते' काव्य संग्रहो द्वारा भली प्रकार द्योतित होता है। 'कुकुरमुत्ता' की शब्दावली पहले से एकदम बदल गई है। इसके कारणो का पूर्ववर्ती अध्यायो मे निराकरण किया जा चुका है। उर्दू-फारसी के शब्दो की तालिका प्रस्तुत है—

नव्वाब, फ़ारस, बाग़, ग़ज़नवी, साँस, तहज़ीब, तरतीब, चमन, खुशनुमा, सब्ज़, फौगेज़ी, ज़र्द, चटकती, साफ़, नक़ली, मौसिम, रोबोदाब, गुलाम, शाहों, राजो, अमीरों, हस्ती, हरामो, ख़ान्दानी, जबाँ, लफ़्ज, बालिश्त, क़लम, नक़ली, ज़नख़ा, नक़ल, सुबह, ग़ल्ला, कल्ला, चमकता, बमकता, प्यार, रक़ीब, खुशनसीब, इक, बग़ल, जने, जहन्नम, गोते, जिगर, जहाँ, ज्यादा, अम्मा, मुहर, पिट्ठी, बाज़, किश्ती, गन्दी, मुर्गी, बदबू, खादिम, आदमी, फोलवान, ज़िन्दगी, बीबी, नव्वाब-ज़ादी, नज़र, फर्माबरदार, अदा, वक्त, खुशामद, खुशी, औरत, माल-असबाब, गहने-ज़ेवर, कलिया-कबाब, क़बाब, ताज, गुलाबबाड़ी, दगी, निसार, लजोज़, नाचीज़, बिहिश्त, परिन्दा, बाँदी, मसालेदार, फरमाया, शौक, ताज़ा, अर्ज़, मंज़ूर, सिर्फ फरमायें, मुआफ़, खुदा।

अंग्रेजी और अन्य योरोपीय भाषाओ के शब्दो का भी इस कविता मे निराला ने प्रयोग किया है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

पैराशूट, कॉस्मापॉलीटन, मेट्रोपॉलिटन, फलसफा (फिलासफी), फ्राड, केपीटल, डबल, लायर, लीरिक, बालडान्स, रोमान्स, प्रोलीटेरियन, क्लाइमेक्स, पिरामिड, फोर्ट, एरियन, गोथिक, आर्च, इंगलिस्तान, ट्रेप, केप, स्ट्रा, मेट, हैट, टेरियर, रेंज, फासीसी, डिक्टेटर, फालोअर, पोएट।

'बेला' और 'अणिमा' मे निराला की भाषा, शब्द और मुहावरे के दो धरातलो पर क्रियाशील है। एक ओर तो छायावादी शैली का दर्शन होता है तो दूसरी ओर यथार्थवादी शैली का। कही-कही मिश्रित शैली के गीत भी दिखाई पड़ते है। पर इन सबसे महत्वपूर्ण कृति 'नये पत्ते' है। इसमे केवल यथार्थवादी रचनायें है। अभिव्यक्ति सपाट, सहज और प्रवाह युक्त और छायावादी शब्द-बन्धों से सर्वथा मुक्त है। तत्सम शब्दों के स्थान पर तद्भव और लोक-प्रचलित शब्दों को बिना हिचक ग्रहण किया गया है। शब्दो पर भाव की ललित पर्त अब नही दिखाई देती है। निराला ने काव्यात्मक शब्दावली का मोह भी त्याग दिया है, पर भाषा की रवानी बनी हुई है। निराला यहाँ अपने विचार प्रधान रूप में हमारे समक्ष उपस्थित हुए हैं। 'रानी और कानी' कविता मे प्रयुक्त कुछ शब्दों द्वारा उनकी मानसिक रुझान का सहज ही संकेत मिल जाता है—

उल्टा, दाग़, नकचिप्टी, गंजासर, सयानी, बीनती, कांड़ती, कूटती, पीसती सीले, रूखे, मीसती, बुहारती, करकट, फेंकती, दिल, बैठा, पैठा, मसोस, निगरानी।

कोई भी शब्द छायावादी नही है। छायावादी काल मे उन्होंने तत्सम शब्दावली का प्रयोग किया था, लेकिन वे अब तद्भव मे अपनी कला दिखाने लगे थे। वे अब किसी भी शब्दावली को काव्य के लिए उपयुक्त मानने लगे थे। 'खजोहरा' में बुआ स्नान करने जा रही हैं। रास्ते मे उन्हे जो दृश्य मिलते है, उनका वर्णन निराला ने किया है। कुछ वाक्यों को लिया जा सकता है;

टिन्ना बैठा काट रहा था दोहरा (नये पत्ते, पृ० १६)
आगे बढ़ी, चढ़े अबरू खमदार
स्वाभिमान से पड़े पहलू दमदार (वही, पृ० २०)
तेज हवा से पछाँह को झुके
ज्वार के पौधे, सिपाही जैसे दिखे (वही, पृ० २०)

यह नही कि निराला की कवित्व शक्ति समाप्त हो गई है, इसके बाद भी उन्होंने अच्छे गीत रचे है। इन रचनाओं मे वे यथार्थ के निकट आ गए है। अब वे वनबिलाव, भुजैल, सतभइये, रुकमिन, पेड़ की झोझ, भागते मोर और हिरण तथा भैसो को लेवारने वाले कुण्ड तक की खबर लेते चलते है। यह है उनके यथार्थवादी प्रेम का स्वरूप।

'कुकुरमुत्ता' तो जैसे मुहावरो में लिखी गई रचना है। सारी कृति व्यंग्य-प्रधान है। वे अभिव्यक्ति मे यहाँ भी स्वच्छन्दता का परिचय देते हैं, पर माध्यम पहले से सर्वथा भिन्न है। कुछ मुहावरे द्रष्टव्य है—एक सपना जगना, तहज़ीब की साँस, तरतीब की गोंद, चटकती कलियाँ, चहकते बुलबुल, मचलती टहनियाँ, रोबोदाब पड़ना, बुत्ता उगाना, खून चूसना, डाल पर इतराना, पैर पर सर रखकर पीछे भगना, औरत की जानिब मैदान छोड़कर (भागना), तबेले के टट्टू, साधारणो से न्यारा, तेरी क्या हस्ती, खानदानो हरामी, ख्वाब मे डूबना, पेट मे डँड पेले (चूहे) जबाँ पर प्यारा लफ्ज होना, दाने चुगना, कलम न लगना, रोटी छीनना, ज़नखा बनाना, काम सधना, सुबह का सूरज, गिरह लगना, डूबना-उतराना, टुकुर-टुकुर देखना, जोश न रुकना, जिन्दगी काटना, पेट का मारा, साथ रोना हंसना, नजरों में फर्माबरदार, पोएट्री मे बोलना, प्रोज मे अड़ना, बातो जैसे मजना, सारंगी जैसे बजना, अदा सीखना, डटी रहना, दिल मिलना, पासंग वाली कौड़ी, खुशी से दिन कटना, आँख का पानी उतरना, जी का सागर लहराना, जोम मे पानी आना, लजीज होना, नाचीज होना, बिहिश्त की याद आना, पानी भरना, नानी मरना, कानी आँख पोंछना, आँखो से तोलना, खिल जाना, मिल जाना, फरमाये मुआफ खता, कुकुरमुत्ता उगाया नही उगता। पहले काल के मुहावरो और लोकोक्तियो मे भी जीवन्तता और कलात्मकता है। निराला ने कुछ नये प्रयोग भी किए हैं, पर इस काल के मुहावरे पहले से अधिक अर्थ-व्यंजक, सहज और अभिव्यक्ति को कलात्मक मोड़ प्रदान करने वाले हैं। इन्हीं की प्रकृति का विकास 'नये पत्ते' मे हुआ है। उसको पहली

कविता 'रानी और कानी' में निराला ने 'दिल बैठा रहा', 'चोर घर में पैठा रहा', 'मन मसोस कर', 'रखती निगरानी' के प्रयोग द्वारा पूर्व परम्परा को ही आगे बढ़ाया है। हास्य और व्यंग्य की दृष्टि से प्रयुक्त मुहावरों और वाक्यो मे उन्होने चार चाँद लगा दिया है।

कहकहे लगाते हुए टूट पड़े (नये पत्ते, पृ० १७)
नातिन जैसे नानी की गोंद पर (वही, पृ० १७)
जैसे लौकी लम्बी तुम्बी (वही, (पृ० १७)
गलियों से गला नापने लगी (पृ० १६)
मेढक एक बोलता जैसे सुकरात (पृ० २०)
बनबिलाव मार्लबरो जैसे अडा (पृ० २०)
भैसो के लेवारे वाला मिला कुण्ड (पृ० २१)

अंतिम काल की रचनाये 'अर्चना' 'आराधना' 'गीत गुंज' और 'साँध्यकाकली' में संग्रहीत है। अर्चना की सत्योक्ति मे निराला ने लिखा है, 'अन्तरंग विषय यौवन से अतिक्रान्त कवि के परलोक से सम्बद्ध है। इसलिए यहाँ सम्पत्ति का फल निष्काम ही होगा। रस सिद्धि की परताल कीजियेगा तो कहना होगा कि हिन्दी के भाषा-साहित्य मे ज्ञानी और भक्त कवियो की पंक्ति बैठी हुई है जिनकी रचनायें साधारण जनो के जिह्वाग्र से अमृत की धारा बहा चुकी हैं। ऐसी अवस्था मे लोकप्रियता की सफलता दुराशा मात्र है। अतः यहाँ प्राचीन परम्परा से इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि,

'भाव कुभाव अनख आलसहूँ
(नाम) राम जपत मंगल दिसि दसहूँ[१२८]।

इस काल के अधिकाश पदो मे तत्सम शब्दावली का प्रयोग हुआ है। कुछ गीतो मे मिली जुली भाषा भी देखने को मिल जाती है। अधिकाश रचनायें गीत-शैली मे रची गई है। यहाँ न तो छायावादी युग का ओज है और न मानववादी युग का सहज मिश्रित शब्द-बंध। कविताओ का धरातल आत्मनिवेदन का धरातल है, आत्मस्वीकृति का धरातल है, अतएव निराला ने जो कुछ भी लिखा है, उससे प्रपत्ति और करुणा को प्रश्रय मिला है। 'साध्यकाकली' मे उन्होंने ध्वनि के साथ कुछ प्रयोग अवश्य किया है, पर उसकी परम्परा बढ़ने और विकसित होने के पूर्व वे काल-कवलित हो गए है।

इस सन्दर्भ में एक तथ्य का संकेत करना विशेष आवश्यक है। हम भाषा और उसके शब्दों पर विचार करते समय शब्दों के अन्तः सम्बन्ध और सुनिश्चित अर्थ-क्षमता की बात तो उठाते हैं। हम पढते समय शब्द से वाक्य और वाक्य से पूरी कविता का साक्षात्कार करते हैं। इस क्रिया में हम शब्द के क्षेत्रावकाश (बलाघात

द्वारा जो वह अपना प्रभामण्डल निर्मित करता है) मे नही डूब पाते हैं। निराला में भिन्न बोधो को अपनाने के लिए भिन्न-भिन्न पदविन्यासों के अवतारणा की क्षमता है। उनके पदो के पढ़ने से हमे ज्ञात होता है कि उनकी कविता की उद्‌बोधक क्षमता कुछ ऐसे शब्दों के पदविन्यास में निहित है जो हमारे मानस पे चक्कर काटा करते है। इन शब्दो की विशेषता के कारण इनके आगे-पीछे एक रिक्त स्थान का निर्माण हो जाता है। इस रिक्त स्थान मे हम कुछ सोच भी नहीं पाते, और उसे अपनी तरह से भर भी नही सकते। वहाँ केवल शब्द रहता है जिसके चारो ओर रिक्त स्थान है। शब्दध्वनि उस रिक्तता मे गूंजती रहती है। फिर ऐसे शब्दो या मुहावरों का अर्थ केवल उनके अन्त:सम्बन्ध के द्वारा नहीं अपितु उनकी दीप्ति और प्रभावक्षेत्र के द्वारा निर्धारित होता है। चतुर्थ अध्याय में अनुभूति के सन्दर्भ में निराला की इस विशेषता का हमने उद्‌घाटन किया है। यहाँ केवल प्रयोग की दृष्टि से उस पर विचार करना अपेक्षित है। 'वासना की मुक्ति मुक्ता त्याग मे त्यागी', जैसे कुछ उदाहरण पहले दिये जा चुके है, यहाँ कुछ नये उदाहरणो की ओर ध्यान आकृष्ट किया जा रहा है—

····वरना क्या तेरी हस्ती है·····पोच तू····
····काटो से ही भरा·····यह सोच तू (कुकुरमुत्ता, पृ० ४०)
····सामने लाकर मुझे बेंडा·····देख कैंडा···(कुकुरमुत्ता, पृ० ४१-४१)
····तीर से खीचा धनुष मै राम का·····काम का-(वही, पृ० ४१-४२)

इन शब्दो और मुहावरो के प्रयोग के पहले भी रिक्त स्थान है, बीच में भी है और बाद मे भी। यह उनको पकड मे आ सकता है जिनको संवेदना सूक्ष्म है। ये मुहावरे स्वत: उस रिक्त स्थान को अपनी दीप्तिमय अभिव्यंजना और ध्वनि से भरते है। 'राम की शक्ति पूजा' के आरम्भिक अंश मे निराला ने इस कला का प्रचुर प्रयोग किया है। यथा,

····जानकी-भीरु-उर·····आशा भर·····रावण संवर·····

चतु:प्रहर के बाद रिक्त स्थान है, पुन: जानकी-भीरु-उर लिखा गया है, पुन: रिक्त स्थान की योजना की गई है, उसके बाद रावण संवर सामने आता है। इन रिक्त स्थानो को भरने मे ध्वनि, कल्पना, चिन्तन विशेष रूप से सहायक होते हैं। यहाँ हम रचनाकार की अनुभूति के तनाव से ही परिचित नही होते है, अपितु कल्पना से उसे भरने का प्रयत्न भी करते है।

'राइटिंग डिग्री ज़ीरो' में रोलैण्ड बर्थीज़ ने परम्परादर्शवादी भाषा और आधुनिक भाषा के स्पष्ट विभेद का निरूपण किया है। उनकी दृष्टि में पहले तरह की भाषा में अर्थ सातत्यपूर्ण, रैखिक और पूर्वापर संबंध पर निर्भर रहता है। हम पढ़ते जाते हैं और उससे संतुष्ट होते जाते हैं। लेकिन आधुनिक कविता में शब्दों के ये

पुराने सम्बन्ध खो गये हैं। शब्द ही आकस्मिक संप्रकाशन के साथ सामने आते हैं। इन शब्दों में अद्भुत शक्ति पैदा हो गई है। हम इन शब्दो को नही पढ़ते हैं। हमे इन शब्दों का सामना करना पड़ता है। इन शब्दों के बीच रिक्त स्थान होते है, ये अद्भुत प्रकाश-व्यंजना-से मण्डित पाये जाते है। इन शब्दों का प्रयोग सामाजिक उद्देश्य के स्थान पर कलात्मक उद्देश्य की पूर्ति करता है। ये शब्द या मुहावरे अपने एकाकी होने का सकेत करते हैं। अधुनिक भाषा छितराई हुई और असंबद्ध होती है। शब्द या वाक्य के बिखरे प्रखण्डों से स्थान भरा होता है। इनके बीच हमें सम्बन्धों की खोज करनी पडती है। ऐसे प्रयोगो मे कवि नियम की अवहेलना करता है।[१२९] इस तरह की कवितायें हमारे लिये चुनौती होती हैं। कभी-कभी हम जब संबंध-सूत्र खोजने मे असमर्थ हो जाते है तो हम हाय-तोबा मचाने लगते है और बेचारे कवि को काव्यक्षेत्र से निर्वासित करने के प्रयत्न मे लग जाते है। निराला के साथ अदूरदर्शिता मे यह अन्याय कम नहीं हुआ है। आधुनिक कविता को समझने के लिए हमें ट्रेनिंग की अपेक्षा होती है। जो लोग यह नही समझ पाते कि आधुनिक कविता एक उपकथानक है जिसका मूल कथानक खो गया है, वे उसे नही समझ सकते। निराला की अधिकांश कविताओं से एक रूप तो उभडता है पर वह दिखाऊ होता है। उसके असली रूप तक पहुँचने के लिए हमे 'डाइलेक्टिक' की अपेक्षा होती है। ईलियट ने ठीक ही लिखा था, 'अनुभूति द्रष्टा और दृश्य दोनों मे महत्व-पूर्ण होती है, क्योंकि इसमे प्रकारान्तर से दोनो निहित होते है।.....रचना मे परि-वर्तन का ऐसा सातत्य दिखाई देता है जिससे अनुभूति उपादानमय हो उठती है और उपादान अनुभूतिमय।[१३०] इस अनुभूति के उपादानमय और उपादान के अनुभूतिमय होने की 'डाइलेक्टिक' से हमे परिचित होना आवश्यक है। 'क्लासिकल कान्टिनुइटी' का एक काल होता है। निराला की कविताओ मे इसे उसी रूप मे खोजने पर निराशा ही हाथ लगती है। कवि निराला ने अपनी अभिव्यक्ति के माध्यम से अपने को पाने का प्रयत्न किया है। कही-कही उनकी 'सेन्सिबिलिटी डिस्मोशिए-टेड' भी है। इसको ध्यान मे रखते हुए हमें उनके उद्देश्य का साक्षात्कार करना है। अपने इस प्रयत्न मे सतर्क होकर ही हम उनकी कविता को समझ सकते हैं। निराला द्वारा रचित कविता को पठन के धरातल पर पुनर्रचित करने की यह आव-श्यक शर्त है।

मेरी बोरोफ (Marie Boraff) ने शब्द, भाषा और रूप पर विचार करते हुए इस तथ्य का उल्लेख किया है कि आलोचक कवि की रचना से प्राप्त 'टेक्स्ट' पर चार स्तरो में विचार करता है, पहला शब्द का स्तर होता है, दूसरा सूत्रीकरण का। तीसरा विकास का स्तर होता है और चौथा प्रत्यय बोध का। प्रथम दो स्तर कविता की भाषा के पूरक होते है और अन्तिम दो स्तर मूर्तीकरण तथा कथानक के व्यवस्थापन के (स्तर) होते हैं। प्रथम स्तर का सम्बन्ध पद-विन्यास और विशिष्ट

शब्दो के उचित अनुषंगों के क्षेत्र से होता है। इसमे ध्वनि, छन्द और व्याकरण के स्वरूप निहित होते है। सूत्रीकरण का स्तर शब्दावली और व्याकरणिक संरचना का विचार-प्रधान स्तर होता है। इन दोनों स्तरों का सम्बन्ध कथानक से होता है। विकास के स्तर पर कविता का रूप उभड़ता है, लेकिन इसका सम्बन्ध विषय से भी होता है। रूप का संकेत शब्द-गुंम्फ के धरातल पर ही हो जाता है। सूत्रीकरण के धरातल पर उसको झिलमिलाहट मिलने लगती है, पर विकास और प्रत्यय के धरातल पर वह पूर्णरूप से मूर्तिमान होकर हमारे समक्ष उपस्थित हो जाता है। निराला की कविताओ को भी इन चार धरातलो पर परखा और देखा जा सकता है। उनसे उनका रूप सामने आता है। उन्होने काव्य मे दो रूपो का प्रयोग किया है, (१) गेय कविता और (२) लंबी कविता। गेय कविताएँ भी कई तरह की है। शिल्प, भाव, और रूप की दृष्टि से उनमे विविधता पाई जाती है। यही स्थिति लंबी कविताओं की भी है। इनमे शिल्प भाव के साथ निरन्तर प्रयोगशील रहते है। अतएव गीतो मे तो कुछ प्रगीत एक संरचना-कौशल के परिचायक रूप मे सामने आते भी है, पर लंबी कविताओ मे रूप की दृष्टि स कोई एकता नही है। निराला प्रतिमा बनाने और उसका अपने हो भंजन करने मे बड़े पटु है। हमने इसी अध्याय में जड़ वस्तुओ के रूप-निर्माण की क्रिया के उल्लेख के सन्दर्भ मे आकर्षण और मुक्ति (attraction & release) की क्रिया पर प्रकाश डाला है और शेष तनाव से असन्तुलन के बने रहने का संकेत किया है। भावराशि में अभिव्यक्ति के धरातल पर सन्तुलन-असन्तुलन की इसी क्रिया को रूप का जनक माना जाता है। इसी क्रिया से मानव-शरीर की प्रोटोप्लाज़िमक व्यवस्था प्रभावित होकर अभिव्यक्ति पूर्व-मानसिक क्रिया का रूप लेती है। इन मानसिक क्रियाओं मे प्रच्छन्न सहज वृत्ति का सहयोग भी होता है। इस प्रकार कलात्मक रूप अनुभूति के संघटन, व्यवस्थापन और कलात्मक निरूपण का अंग होता है। अभिव्यंजना विशिष्ट होती है अतएव रूप भी उसी के अनुरूप विशिष्ट बन जाता है। निराला के निरन्तर कई भाव धरातलों पर प्रयोगशील होने का यही रहस्य है। अपनी संवेदनशीलता से उन्होंने अपनी संवेदना के दायरे को समृद्ध बनाया है। अतएव उन्हे उसे व्यक्त करने के लिए अभिनव कलात्मक रूप की आवश्यकता पड़ी है।

कलाकार-रूपनिर्माण की क्रिया मे अपनी अभिव्यक्ति के माध्यम से विचार या भाव का जो तत्व हमतक प्रेषित करता है उसी को उसकी विषयवस्तु की संज्ञा दी जा सकती है। कोई भी विचार या भाव ज्यो का त्यो अभिव्यक्त नही होता है। कला मे उसका संश्लेषित बोध व्यक्त किया जाता है। अनुभूति पर ही नहीं अभिव्यक्ति पर भी कलाकार के 'सेल्फ' की अमिट छाप होती है। अनुभूति को अभिव्यक्ति आत्मगत के वस्तुगत निरूपण की पर्याय होती है। यही वस्तुगत स्वरूप विषय का परिचायक होता है। इस दृष्टि मे निराला ने देश-प्रेम, प्रेम, मानव-प्रेम, आत्म-

संघर्ष, मरण-बोध, निराशा और प्रपत्ति को अपनी कविताओं के द्वारा व्यंजित किया है। उनका उल्लेख पूर्वपृष्ठों में किया जा चुका है।

तात्पर्य यह कि निराला अनुभूति के जितने धनी थे उतने ही अभिव्यक्ति में भी पटु पाए गए। उनका सम्पूर्ण जीवन कलाकार के प्रयोग में रत होने का परिचायक था। वे एक साथ बिना दृष्टिकोण मे कोई विशेष परिवर्तन किए, कई भाव बोधों के धरातलो पर क्रियाशील थे। उन्हे उसमें सफलता भी मिली। पहले काल की रचनाओं में ओज और औदात्य की प्रमुखता थी। उन्होंने उसके अनुकूल शब्द-बन्ध को स्वीकार किया था। इस काल की प्रमुख रचनाओं की शब्दावली तत्सम और प्रांजल थी। दूसरे काल में, पहले काल का प्रमुख स्वर गौण हो गया और गौण स्वर प्रमुख। वे छायावादी रचनाओ के साथ यथार्थवादी रचनाओ की ओर भी उन्मुख हुए। उन्हे उसमे अभूतपूर्व सफलता मिली। रचना के तीसरे काल का प्रमुख स्वर प्रपत्ति था। स्थापत्य की दृष्टि से उन्होने किसी कविता के एक रूप की पुनरावृत्ति नही की। वे निरन्तर रूपनिर्माण और विघटन मे प्रयोगरत रहे। निराला ने शब्दो के साथ ही उनकी ध्वनियो के साथ भी प्रयोग किया। अपने लिए रचना का आदर्श निर्धारित किया और अटूट क्षमता के साथ अग्रसर होते रहे। विक्षिप्तता के काल के पहले तक उनकी अभिव्यक्ति निरन्तर उनकी सहगामी बनी रही।

●

सप्तम अध्याय

प्रतीक

आज यह प्रायः निश्चित हो चला है कि भाषा के उद्‌भव के पूर्व किसी न किसी रूप में प्रतीकों का आविर्भाव हो चुका था। ये प्रतीक ही अभिव्यक्ति के प्रमुख माध्यम थे। लिपि का विकास क्रमशः पूर्व स्थापित प्रतीकों और चिह्नों से ही हुआ। उस समय के लोग सूर्य को द्योतित करने के लिए गोलाकार चिह्न, चन्द्रमा को द्योतित करने के लिए अर्द्ध-चन्द्राकार चिह्न, वृक्ष को द्योतित करने के लिए तने और डालियों का रेखाचित्र, तथा व्यक्ति को चित्रित करने के लिए उसके रेखा-चित्र से काम लेते थे। ये चिह्न और प्रतीक भाषा के उद्‌भव के बाद भी जीवन के अनेक क्षेत्रों मे किसी न किसी प्रकार बने रहे। चित्रकला और मूर्तिकला में इनका स्वरूप किंचित् संशोधन और परिवर्द्धन के साथ आज भी अक्षुण्ण है। साधना में उनका प्रयोग निश्चित तथ्य की अभिव्यक्ति के लिए अब भी किया जाता है। भारतीय स्वस्तिक का चिह्न, गुह्य विधाओं मे प्रयुक्त होने वाले प्रतीक, 'ॐ' का स्परूप, यीट्स के 'जी' का प्रतीक, सोलोमन की सील आदि का प्रयोग अब भी इसी तथ्य की पुष्टि के साधन है। विज्ञान का अध्ययन और अध्यापन आज प्रतीक और चिह्न पर आश्रित है। इससे स्वतः सिद्ध हो जाता है कि प्रतीकों का प्रयोग बहुत समय से अभिव्यक्ति के सफल माध्यम के रूप में होता रहा है।

ज्ञान-विज्ञान के विकास के साथ अध्ययन का क्षेत्र भी विकसित हुआ है। लेकिन अब भी अनेक लोग अपनी 'यूतोपिया' मे निवास करते है। वे भाग्यवान लोग हैं जो इस तरह अपने को सर्वज्ञाता और सर्व-विद्या-विशारद मानकर अपने अहं की चौहद्दी मे निरन्तर नि.संशय भाव से निवास करते रहते है। लेकिन कल की दुनियाँ प्रेमचन्द की दुनियाँ होगी, निराला की दुनिया होगी, उन तमाम लोगों की दुनियाँ होगी, जो कम से कम जीवन को समझने के लिए थोडा हाथ पैर चलाते है। इधर बड़े दुख के साथ यह कहना पडता है कि ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र विकसित होकर न मालूम कितना आगे बढ़ गए, पर आज के साहित्यकार ने उससे कोई लाभ नही उठाया। यह स्थिति सर्वथा आवांछनीय है।

जब हम प्रतीक पर विचार करने के लिए तत्पर होते हैं तो हमारे समक्ष दार्शनिक, समाजशास्त्रीय, मनोवैज्ञानिक और साहित्यशास्त्रीय लोगों की मान्यतायें प्रस्तुत हो जाती है। हर निकाय के विचारकों ने अपनी दृष्टि से इसका विवेचन किया है। हम सबसे पहले दार्शनिक विचारको को लेते हैं जिन्होंने अनुभव पर आधारित ज्ञान की व्याख्या करते हुए ऐन्द्रिय-बोध के उपस्कारक स्वरूप का साक्षात्कार किया है और इसी को प्रतीक की व्याख्या का प्रमुख आधार बनाया है। इसी के परिणाम-स्वरूप शब्दार्थ सम्बधी विवेचन सामने आया है। शब्द और अर्थ के दार्शनिक विवेचन का आधार द्रष्टा और दृश्य के बीच पाया जाने वाला अन्तःसम्बन्ध था। मेलवाइल ने

पद्धतिमूलक वैशिष्ट्य (methodological significance) सिद्धान्त के आधार पर यह बतलाया कि द्रष्टा और दृश्य मे अभेद की स्थिति हो सकती है, फिर भी उसका उद्भव और अन्त विरोधाभास मे होता है। कलाकार को शब्दों को सुनिश्चित ढाँचे मे ढालने मे उसके कौशल से विशेष सहायता मिलती है।

इस विचारधारा को आगे बढाने मे 'ह्वाइट हेड' और सुसन के० लैंजर ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। ह्वाइट हेड ने परिग्रहण-सिद्धान्त के आधार पर वस्तुओं का विवेचन करते हुए इस निष्कर्ष को प्रतिपादित किया कि कलात्मक अवबोध द्विविध होता है, (१) सकारात्मक और (२) नकारात्मक। सकारात्मक अवबोध सशक्त होता है। जब विषय और विषयि के ज्ञान आपस मे मिलते है तो अनुभूति का आविर्भाव होता है। इनके बीच आदान-प्रदान की क्रिया संवेदना द्वारा संपादित होती है। इससे अनुभूति के संवित् निर्मित होते है। इन्होने अवबोध के सन्दर्भ में आकस्मिक प्रभावोत्पादकता की विधि, प्रत्यक्ष दर्शन विषयक तारतम्य की विधि, और प्रतीक-सन्दर्भ-विधि पर प्रकाश डाला है। उनकी दृष्टि मे प्रतीक-सन्दर्भ-विधि विशेष महत्वपूर्ण होती है। इसका प्रमुख कारण यह है कि इसी विधि मे प्रत्ययी क्रिया गतिशील होती है और प्रथम दो विधियो का संचरण भी संभव होता है। अनुभूत विचारों के सक्रिय होने की कतिपय आवश्यक शर्तें है। जब ज्ञान-संवित् पृथक रूप से प्रतीक सन्दर्भ के माध्यम से स्मृति मे प्रस्तुत प्रतीको से सम्बन्ध स्थापित करते है तो अनुभूत विचार सप्राण हो उठते है। इसमे परिस्थितियो का सद्यःबोध विशेष सहायक सिद्ध होता है। उन्होने यह भी स्वीकार किया है कि प्रतीको का सम्बन्ध अनुभूति और मनोदशाओं से भी होता है, पर हर अनुभूति और मनोदशा प्रतीक की जनक नही होती।

लैंजर के प्रतीक संबंधी विचारो से आज के चिन्तक को नई दिशा मिली है। वे भाषा को संप्रेषण का माध्यम मानती है, पर इसी के साथ यह भी स्वीकार करती है कि उसके ऐसे स्वरूप भी सामने आते है, (शिशुओं की भाषा, कलात्मक भाषा) जिनके आधार पर इसे केवल उसी उद्देश्य तक केन्द्रित कर देना अनुचित ज्ञात होता है। भाषा यथार्थ मे स्वर का मूर्तीकरण है जो यथार्थ को प्रतीक रूप में देखने के परिणाम स्वरूप उत्पन्न होती है। इसी विशेषता से भाषा संप्रेषण में सक्षम होती है। सामाजिक आदान-प्रदान का माध्यम होने के कारण ही आज की भाषा जटिल और परिष्कृत रूप मे हमारे सक्षम उपस्थित हुई है।[1] यथार्थ को प्रतीक रूप में ग्रहण करना भाषा की प्रमुख विशेषता है। इसी को वे 'हाइ फार्म ऑव सिम्बोलिज्म' की संज्ञा देती है। वे इसे स्पष्ट करती हुई पुन कहती हैं, 'भाषा केवल प्रतीकों का समुच्चय नहीं अपितु सावयव संघटना है। प्रतीक इस संघटना के प्रमुख तत्व है। भाषा के शब्द भिन्न-भिन्न प्रस्तर खण्डों की तरह सर्वथा असंबद्ध नही होते। इनका आपस में निश्चित सम्बन्ध और संकुल संघटना होती है। इसी अन्तः सम्बन्ध

और संघटना के कारण ये विषय-सांसारिक-संबंधों को सार्थक रूप में अभिव्यक्त करते हैं'।[२]

प्रतीक विचारो को स्पष्ट रूप में अभिव्यक्त करने का प्रमुख साधन है। कुछ लोग इसका सम्बन्ध मानस की क्रिया के साथ स्थापित करते है। पर लैंजर के अनुसार विचार की क्रिया को मानस का विशिष्ट प्रतीक मानना अधिक उचित है।[३] लैंजर ने 'आर्ट सिम्बल' और 'सिम्बल इन आर्ट' को परस्पर भिन्न माना है। कला के रूप द्वारा जो बात हमारे सामने आती है उसे 'आर्ट सिम्बल' कहा जाता है। उदाहरण के लिए चित्रकला के आकार, रूप, रंग को लिया जा सकता है। काव्य मे भी अभिधेयार्थ प्रधान काव्य की यह प्रमुख विशेषता होती है। इसमें यथार्थ प्रतीक की सभी विशेषताये नही पाई जाती है। यह स्पष्ट बौद्धिक बोध या स्वयंप्रकाश के लिए अनुभूति को सूत्रबद्ध रूप मे प्रस्तुत करता है, पर अव्यवस्थित विचार के लिए कोई अमूर्त प्रत्यय नही प्रस्तुत कर सकता। उसकी विशेषता उसी मे निहित होती है, उचित कलात्मक प्रतीक के अर्थ की तरह वह उसके द्वारा नही प्रस्तुत की जाती। कला मे प्रयुक्त प्रतीक स्पष्ट रूप से रूपक या बिम्ब होते है। इनका स्पष्ट या अस्पष्ट शाब्दिक महत्व होता है।[४]

मनोवैज्ञानिको की प्रतीक सम्बन्धी मान्यता, दमित भावनाओं की छद्म अभिव्यक्ति, प्रतीक और परिस्थिति के अन्योन्याश्रित सम्बन्ध, और संवेग-सन्दर्भ पर विशेष रूप से आधारित है। उनकी धारणा है कि व्यक्ति का मानस प्रतीकों के माध्यम से अभिव्यक्ति-कार्य संपादित करता है। इस अभिव्यक्ति मे अवचेतन में पड़ी हुई दमित भावनाओ का विशेष सहयोग होता है। ई० जोन्स ने इस पर विचार करते हुए लिखा है, 'दमित भावनाये व्यक्ति की सामान्य क्रियाओ मे प्रतिच्छायित होती रहती है। ये संवेदना प्रधान होती है, अतएव ये अचेतन को परिवर्तित रूप मे चेतन के स्तर पर ले आकर, उसके अनुरूप परिवेश प्रदान करती रहती है। अचेतन से चेतन तक आने की सम्पूर्ण क्रिया को केवल प्रतीक द्वारा अभिव्यक्त किया जा सकता है। प्रतीक विशिष्ट प्रकार के अपरोक्ष निरूपण का परिचायक होता है। यह अपनी विचित्रता के कारण, उपमा, रूपक, अध्यवसित रूपक, संकेत और अन्य प्रकार के चित्रमय निरूपणो से भिन्न होता है। इसकी व्यवस्था म अभिव्यक्ति के अन्य माध्यमो का आदर्श समन्वय दृष्टिगोचर होता है, इसे प्रातिबोधिक प्रतिस्थापन का स्थानापन्न स्वरूप कहा जा सकता है यह प्रच्छन्न को व्यक्त करने का साधन होता है। अव्यक्त के साथ वह आन्तरिक सहकारी संबंधों से जुड़ा होता है, अतएव दोनों मे कुछ उभयनिष्ठ विशेषतायें पाई जाती है।[५] जोन्स ने प्रतीक की कुछ विशेषताओं का उल्लेख किया है। मनोवैज्ञानिक, प्रतीकीकरण मे मानसिक पक्ष से संबंधित अचेतन-ग्रन्थि, दमन के स्वरूप और उदात्तीकरण की प्रवृत्ति का समावेश स्वीकार करते है। जोन्स की उपर्युक्त मान्यता फ्रायड से प्रभावित रही है। फ्रायड के ही काल में उससे भिन्न

विचारधारा के लोग भी उपस्थित थे। युंग ने अचेतन को दो भागों मे विभक्त किया था : (१) व्यक्तिगत अचेतन मन और (२) सामूहिक अचेतन मन। उन्होंने आद्य-बिम्बों और मूलादर्शों के द्वारा अपनी मान्यता को व्यापक चित्रफलक प्रदान किया था। युंग ने काम मूलक बिम्बों को सर्वथा अस्वीकार नहीं किया है, फिर भी उन्होने बिम्ब के जातीय और सांस्कृतिक स्वरूप को विशेष महत्व दिया है। उनके अनुसार बिम्ब-सृजन सास्कृतिक प्रयास है। कभी-कभी 'लिबिडो' की स्वाभाविक गति सांस्कृतिक चेतना मे अनुप्राणित हो उठती है। इसी से प्रतीकों का सृजन होता है। यह प्रयासज नही अपितु स्वत: प्रेरित और स्वत:स्फूर्त संमूर्तन है। उनका कहना है, 'सभी ऐसे विचार जो प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति को ज्ञात वस्तु के सदृश या उसके संक्षिप्त अभिव्यक्तीकरण के सदृश मानते है, अर्द्धसत्य हैं। वस्तुत: प्रतीक ज्ञात वस्तु के उस ज्ञात स्वरूप का निरूपण है जिसे सरलता या स्पष्टता से अभिव्यक्त नही किया जा सकता। ऐसे विचार को जो प्रतीक को ज्ञात वस्तु की इच्छापूर्ण प्रतिकृति मानते हैं, अध्यवसित रूपक की संज्ञा दी जा सकती है।'[६]

युंग ने व्यक्तिगत और सामूहिक अवचेतन की धारणा के आधार पर ही प्रतीको की व्याख्या की है। सामूहिक अचेतन को वे दीर्घकाल से निरन्तर गतिशील पारिवारिक सामूहिक और जातीय स्मृतियो का आगार मानते है। ये स्मृतियाँ यथा-समय चेतन मन की ओर बढ़ती है। इसी से प्रतीको की सृष्टि होती है। कभी ये प्रतीक अभिव्यक्त 'लिबिडो' के प्रकटीकरण और अभिव्यक्तीकरण के रूप मे सामने आते है तो कभी उसके क्रियान्तरण के परिचायक रूप मे। युंग स्पष्ट रूप से इस तथ्य को प्रतिपादित करते है कि जब 'लिबिडो' की स्वाभाविक शक्ति और गति को अव-रुद्ध करके उसे किसी सास्कृतिक प्रयास मे संलग्न कर दिया जाता है तो प्रतीक पैदा होते है। उनकी दृष्टि मे मनुष्य का अचेतन मन अपने सर्वातिशायी कार्य-व्यापार से निरन्तर प्रतीकों का सृजन किया करता है। इस दृष्टि से वे इन प्रतीकों को 'लिबिडो एनालॉग' की संज्ञा देते हैं। उनकी मान्यता है कि इधर साहित्य और कला में वैयक्तिक प्रतीको के स्थान पर सामूहिक प्रतीको का प्रयोग अधिक होने लगा है। इनका सम्बन्ध मूलादर्शों से होता है। इन मूलादर्शों को कला में व्यक्त करने के लिए हम कई पद्धतियो का सहारा लेते है। युंग ने कलात्मक प्रतीकों की विशेषताओं का भी उल्लेख किया है। उनकी दृष्टि मे प्रभावी प्रतीक प्रकृत्या दोषारोपण से मुक्त होता है। यह प्रस्तुत विश्वदर्शन का संभव और उपयुक्त अभिव्यक्तीकरण, तथा अद्वितीय अर्थ का वाहक होता है। इसका रूप निश्चित अवधारणा से इतना मुक्त होता है कि आलोचक-मस्तिष्क उसका उचित विवरण प्रस्तुत करने मे असमर्थ पाया जाता है। फिर भी इसकी सौन्दर्य-शास्त्रीय रूपरेखा मे ऐसी प्रभावोत्पादक क्षमता होती है कि इसके विरुद्ध कोई निश्चित तर्क नही प्रस्तुत किया जा सकता है।[७]

मनोवैज्ञानिको ने चेतन और अचेतन के बीच तनाव और सुलझाव के माध्यम

के रूप मे प्रतीकों का उल्लेख किया है। चेतन और अचेतन का द्वन्द्व अपनी अभिव्यक्ति का जो मार्ग खोजता है वह प्रायः प्रतीकमय हुआ करता है। रैंक और शॉस ने प्रतीक को परावर्तित संघटना का पर्याय माना है। इस घटना मे चित्रोपम विचारों के स्तरों की ओर प्रत्यावर्तन देखा जाता है। सिलवेरर ने प्रतीक के मूल में अन्तर्बोध की अपूर्णता (apperceptive insufficiency) को महत्व दिया है। इस अपूर्णता के कारण हम प्राचीन और नवीन विचारों मे भेद नही कर पाते है। आदिमानस इसे भलीभाँति समझ लेता है। अतएव उसी को प्रतीको का जनक माना जाता है। इस उपर्युक्त विवेचन से यह भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है कि इस निकाय के लोग प्रतीकों के विषय मे किसी एक मान्यता का निराकरण करने मे असमर्थ है।

समाजशास्त्रीय विचारको ने हमे यह महत्वपूर्ण सूत्र प्रदान किया है, 'लिटरेचर इज नॉट ओनली एफेक्ट ऑव सोशल कॉजेज, इट इज आलसो द कॉज ऑव सोशल एफेक्टस'[८]। स्पष्ट है कि इस धारा के विचारक साहित्य को न तो केवल सामाजिक प्रभाव के परिणाम के रूप मे ग्रहण करते है और न सामाजिक प्रभाव के कारण के रूप मे। ये साहित्य और समाज की क्रिया-प्रतिक्रिया को विशेष महत्व प्रदान करते है। इसीलिए इनके लिए पूर्व-पृष्ठो मे विवेचित सिद्धान्त अपूर्ण सिद्ध हुए हैं। इन विचारको की दृष्टि मे प्रतीक मूलत. सभ्यता और संस्कृति के संकुल वैविध्य का प्रतिफलन है। इसका कारण स्पष्ट है। प्रतीक मानव मनोरागों और मनोविकारों के परिचायक होते है, अतएव इन्हे सभ्यता और संस्कृति के निश्चित विकास को निश्चित सरणि का द्योतक माना जा सकता है। संस्कृति भी विकसित और अविकसित किसी भी तरह की हो सकती है। उसी के अनुसार प्रतीक भी संस्कृति के प्रतीक और अविकसित संस्कृति के प्रतीक नामक दो उपविभागों मे विभक्त किये जा सकते हैं। पहले तरह के प्रतीक अभिव्यक्ति-लाघव के कारण वक्र, कुटिल और दुरूह होते है, पर दूसरे तरह के प्रतीक सरल, सहज और स्पष्ट। समाजशास्त्रीय विचारको ने प्रतीको को दो तरह का माना है, (१) लालित्यबोधीय भावना को उद्बुद्ध करने वाले प्रतीक और (२) प्राविधिक कार्यों मे प्रयुक्त होने वाले प्रतीक।

कई आलोचको ने प्रतीक, बिम्ब और अध्यवसित रूपक के अन्तःसम्बन्ध पर विचार किया है। सर्वप्रथम कालरिज ने उनके विभेद का संकेत करते हुए लिखा है, 'ऐन एलीगरी इज बट ए ट्रान्सलेशन ऑव ऐब्स्ट्रैक्ट नोशन इन्टू पिक्चर लैंग्वेज, ह्विच इन इटसेल्फ इज नथिंग बट ऐन ऐब्स्ट्रैक्ट फ्राम आब्जेक्ट आन सेन्सेस; द प्रिंसिपुल बीइंग मोर वर्थलेस दैन इट्स फैन्टम प्रॉक्सी, बोथ एलाइक अनसब्स्टैंशियल एण्ड द फार्मर शेपलेस टु बूट। आन द अदर हैण्ड ए सिम्बल इज़ करेक्टराइज्ड आफ ए ट्रान्स्ल्यूसेंस ऑव द स्पेशल (द स्पीशाज़) इन इण्डिविडुअल, आर ऑव द जेनरल (द जीनस) इन द स्पेशल, आर ऑव द यूनिवर्सल इन जेनरल, आर आल बाइ ट्रान्स्ल्यूसेंस ऑव द इटरनल थ्रू एण्ड इन द टेम्पोरल'।[९] अध्यवसित रूपक

सम्बन्धी यह उपर्युक्त मान्यता बाद मे बहुत ग्राह्य नही सिद्ध हो सकी है। योट्स ने बाद मे इनके विभेद को और स्पष्टता पूर्वक निरूपित करते हुए लिखा है, प्रतीकवाद में अनुभूति को उस पूर्णता के साथ अभिव्यक्त किया गया जिसमे अधिक पूर्णता के साथ वह अन्य किसी माध्यम से अभिव्यक्त नही की जा सकती थी। इसे समझने के लिए उपयुक्त सहजवृत्ति की अपेक्षा थी। अध्यवसित रूपक मे अनुभूति को उस रूप मे अभिव्यक्त किया गया, जिस रूप मे या जिसके अच्छे रूप मे वह अभिव्यक्त की जा सकती थी। इसे समझने के लिए उपयुक्त ज्ञान की अपेक्षा होती है। एक ने मूक को मुखर और अमूर्त को मूर्त बनाया गया है, जब कि दूसरे ने किसी दृश्य या श्रुत घटना मे अर्थ की खोज की है और उसे अर्थ के लिए नही बल्कि अपने लिए चाहा है।'[१०] यीट्स का यह उपर्युक्त विवेचन अधिक तर्क संगत है। कहने की आवश्यकता नही कि अध्यवसित रूपक एक परम्परा है जिसके माध्यम से मानव की चेतना के आन्तरिक मनोराग स्पष्ट रूप मे अभिव्यक्त किये जा सकते है। इसमे आत्मा के विभिन्न पक्ष मानवीकृत रूप मे प्रस्तुत रहते है। मानवीकरण की विशेषता के कारण इनका वैयक्तिक पक्ष विशेष रूप से उभडा होता है। इसमे आधान और कार्य के स्वरूप क्रियाशील रहते है। इन स्तरो का सम्बन्ध प्रतीकीकृत उपादान और प्रतीकीरण की क्रिया से होता है। सृजन-रत कलाकार का ध्यान इन दोनों स्तरो पर होता है। रूपक मे विशिष्ट प्रतीक की अभिव्यंजना का भार पाया जाता है। यह उद्देश्य मनोवैज्ञानिक अभिव्यक्ति से प्रभावित होता है। इसीलिए यह मिश्रित काव्य-प्रेरणा से आरम्भ होकर स्वत. स्फूर्त वर्णनात्मकता मे बदल जाता है। इसका रहस्य इसके अन्तर्मथन मे स्पष्ट होता है। उत्कृष्ट अध्यवसित रूपक उच्चकोटि की प्रतिभा की उपज होता है। प्रतीकबद्ध अध्यवसित रूपक मे, प्रतीकात्मक रूप मे प्रस्तुत व्यक्ति और मानस की क्रियाओ मे प्रतीकात्मक आदान-प्रदान बना रहता है। प्रतीक और अध्यवसित रूपक मे भेद भी होता है। प्रथम विधायक कल्पना प्रसूत होता है, पर दूसरा स्मृति प्रसूत। प्रतीक मे प्रस्तुत का निरूपण होता है पर अध्यवसित रूपक मे अप्रस्तुत का। प्रतीक अर्थ-संकोच की क्रिया का द्योतक है जबकि रूपक अर्थविस्तार की क्रिया का। प्रतीक मे एक ही शब्द या अप्रस्तुत विधान द्वारा सम्पूर्ण अर्थ संदर्भ को को व्यंजित किया जाता है। रूपक सादृश्य-गर्भित होता है। वह बहुसमावेशक या अनेक युज पाया जाता है। प्रतीक का अर्थ-संदर्भ समास रूप से उसी मे व्याप्त रहता है। इससे अवगत होने के लिए पाठक को प्रयत्न करना पडता है।

अंग्रेजी मे बिम्ब के लिए 'इमेज' शब्द का प्रयोग किया जाता है। 'इमैजिनशन' भी इसी धातु रूप से निष्पन्न हुआ है। बिम्ब-निर्माण की क्रिया प्रतिभा या विधायक कल्पना की मुखापेक्षी होती है। जब विधायक कल्पना मूर्त रूप में कुछ अभिव्यक्त करती है तो बिम्ब की रचना होती है। जब ये बिम्ब किसी निश्चित अर्थ मे रूढ हो जाते हैं तो उन्हे प्रतीक माना जाता है। इस प्रकार प्रतीक और बिम्ब

प्रकारान्तर मे अन्योन्याश्रियत सिद्ध होते है। इन दोनों मे उपमान आवश्यक रूप से प्रस्तुत रहना है। जब तक इस उपमान का स्वरूप रूढ नही हो जाता, तबतक इनका सम्बन्ध बिम्ब मे होता है, पर ज्यो ही यह किसी निश्चित अर्थ-सन्दर्भ मे रूढ हो जाता है, त्यो ही इसे प्रतीक की संज्ञा मिल जाती है। साराश यह कि गतिशील उपमान बिम्ब का निर्माण करते है और निश्चित अर्थो म रूढ बिम्ब प्रतीक बन जा।

प्रतीक और मिथक को लेकर आलोचना मे कम विवाद नही हुआ है। मिथक के मूल मे धर्म-भावना सक्रिय रहती है। कर्मकाण्ड, विश्वास और संस्कार के आधार पर इसका निर्माण हुआ है। मिथक और प्रतीक दोनो मे साम्य-वैषम्य होता है। जॉर्ज ह्वैले के शब्दो मे, 'प्रतीक विशिष्ट प्रकार का रूपक है और मिथक रूपक की क्रिया से लक्षित होने वाला प्रतीको का समुच्चय। जिस प्रकार रूपक के उद्भव के मूल मे वैचारिक टकराहट, द्वन्द्व, सुलझाव और केन्द्रीकरण का भाव निहित रहता है, उसी प्रकार प्रतीक-निर्माण मे भी ये विशेषताये विद्यमान होती है। प्रतीक कभी किसी वस्तु का परिचायक नही होता, वह तो केवल विविध सम्बन्धों का सन्दर्भ सूचक होता है। इसकी अर्थवत्ता इसी सन्दर्भ की मुखापेक्षी होती है।[११]

मिथक धर्म पर आधारित और यथार्थ का अभिव्यंजक होता है अतएव इसे केवल विश्वास उत्पन्न करने का प्रमुख साधन नही माना जाता है। यह प्रकारान्तर मे मानव द्वारा गवेषित और उद्घाटित मूल्य को समझने का माध्यम होता है। इसी के द्वारा मानव-समाज की एकता और अन्तर्निहित सूक्ष्मता का परिचय मिलता है। इन्ही तथ्यो को दृष्टिपथ मे रखकर रिचर्डस ने कहा था, 'विश्वास पैदा करना ललित कल्पना की ततवीर्य क्रिया है।' इसे विधायक कल्पना के विकास के साथ जोड़ना दोनों को न समझना है। महत् और विवेकपूर्ण निर्जंधरी कथाये काल्पनिक नही है। वे मानव की पूर्ण आत्मा की पुकार है, अतएव उन्हे चिन्तन के द्वारा नही समझा जा सकता है। वे केवल मनबहलाव के लिए अभीप्सित मनोरंजन अथवा मन को दूसरी ओर प्रेरित करने का साधन नही है। उन्हे जीवन के सत्य से पलायन की संज्ञा भी नही दी जा सकती। वे तो मूल रूप मे जीवन की कटु अनुभूति का प्रक्षेपण, प्रतीकात्मक मान्यता, सहयोग और स्वीकृति है। मिथकीय कथायें हमारी इच्छा को एकत्रित, शक्ति को अन्वित और विकास को नियंत्रित करता है। इन्ही के माध्यम से मानव जीवन मे संबंधित अनन्त वैविध्यपूर्ण तथ्य समन्वित होते है।[१२]

स्पष्ट है मिथक की अपनी कुछ विशेषताये होती है। इसकी कहानी काल्पनिक होती है, इसमे नैसर्गिक पात्रों और घटनाओं के साथ कुछ सर्वप्रिय विचारों का समावेश होता है और यह यथार्थ पर आश्रित पाया जाता है। मिथक विश्वसनीय होता है और इसमें वैज्ञानिक मूल्यो का सर्वथा अभाव पाया जाता है। इसमें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप मे कथा का सूत्र विद्यमान रहता है। यह प्रतीकों का समुच्चय होता है, जो अपनी प्रतिध्वनि के द्वारा यथार्थ के व्यापक स्वरूपों को चित्रित करता है।

इसके वर्णन प्रधान रूप को 'लीजेण्ड' या निजंधरी कथा की संज्ञा दी जाती है। इन कथाओ मे ऐतिहासिक कथानक को काल्पनिक स्वतंत्रता के साथ निरूपित किया जाता है। 'मिथ' मे आद्य प्रतीको का प्रयोग मिलता है जो सर्वतोभावेन उसी मे अन्तर्भुक्त रहते है। इसके आरम्भ मे इन्ही प्रतीको की आन्तरिक व्याख्या विशेष रूप से सक्रिय पाई जाती है। इन प्रतीको की निजी विशेषताये है। जब ये किसी अन्य परिवेश, वातावरण, या विश्वास के रूप मे बदल जाते है तो ये आन्तरिक प्रतीक भी नये अर्थ-संदर्भ के परिचायक बन जाते है। प्रतीक-सृजन और पुनर्सृजन के द्वारा अपने ही रूप की रक्षा करते है, पर मिथक वैयक्तिक चिन्तन द्वारा उसे बनाये रखते है। परम्परित और अपरम्परित प्रतीक लेखक द्वारा गृहीत होने पर सृजन मे सहायक सिद्ध होते है, पर मिथक के साथ यह बात लागू नही होती। मिथकीय चेतना त्रासद होती है। मिथक परीकथा से भिन्न होता है। इसमे मानस की चिर सचित और चिर-इच्छित अभिलाषाये क्रियाशील पाई जाती है। इन अभिलाषाओ की प्राप्ति का मार्ग सरल नही है। जब व्यक्ति इन्हे उपलब्ध करने के लिए तत्पर होता है तो उसके मार्ग मे आधिदैविक बाधायें उपस्थित हो जाती है। इन बाधाओ और अभिलाषाओ के संघर्षमय स्वरूप से मिथकीय कल्पना जनमती है। यह कल्पना प्रतीक-प्रधान होती है। प्रतीकीरण से विचारो का मूल स्रोत तो अवगुण्ठित हो जाता है, पर उनका प्रत्यय अधिक स्पष्ट रूप मे प्रतिभासित होने लगता है। परीकथा का काल्पनिक प्रकृति का परिष्कृत रूप ही मिथक का प्राण होता है। साहित्य और कला के प्रतीको का इसमे सहयोग तो होता है, पर इनको स्वतंत्र सत्ता नही होती। वे इसी के स्वरूप में अन्तर्ग्रथित रहते है। मिथक मे भौतिक, प्राकृतिक और आध्यात्मिक प्रतीको की बहुलता होती है और इसके प्रयोग से कला को जीवन्त और व्यापक अर्थ-सन्दर्भ-प्रदान किया जाता है। प्रतीक मे ये विशेषताये नही पाई जाती है। मिथक का मानवाकृत रूप प्रौढ़ कथातत्व के माध्यम से प्रस्तुत होने पर विशेष महत्वपूर्ण सिद्ध होता है। प्रतीक के प्रयोग मे कलाकार कथा-सन्दर्भ के प्रति सचेष्ट तो रहता है, पर उसमे कथातत्व के प्रयोग की बात नही मिलती। मिथक के प्रयोग से सामाजिक विचारो के साथ ही दार्शनिक विचारो को स्पष्ट करने मे भी सहायता मिलती है। इसके माध्यम से महान संघर्षशील विचार के आद्यस्वरूप को व्यक्त किया जा सकता है। एडविंग होनिंग ने व्युत्पत्ति की दृष्टि से प्रतीक और मिथक के भेद को निरूपित किया है।[१३]

मिथक के सृजन की क्रिया के उद्घाटन का प्रयत्न भी किया गया है। प्रायः माना जाता है कि इसका निर्माण दो विरोधी तत्वो से हुआ है। प्रथम तत्व मकड़ी के जाले की तरह सूक्ष्म और कोमल होता है। और दूसरा तत्व इस्पात की तरह कठोर। कहना न होगा कि यह निर्माण म सुकोमल और अन्तस्थ शक्ति मे कठोर होता है। इसके इस ढाँचे को स्पर्श करते ही विचारो का तारतम्य अपने जीवन्त और अन्तस्थ स्वरूपो मे फूट पड़ता है जो विकासोन्मुख होकर निश्चित मिथक केन्द्र

की ओर उन्मुख होने लगता है। जब यह प्रभाव रहस्यमय अनुभूति के अज्ञात स्वरूपो से संश्लिष्ट हो जाता है तो इससे भूत के भूले बिसरे चित्रो के अनन्त सुख-दुख-प्रद स्वरूप प्रतिध्वनित होने लगते है। कलाकार उन्हे ग्रहण करता है और उनके माध्यम से वायवी शून्यता को एक साकार अर्थवत्ता प्रदान करता है। यही है उस महान सृजन का इतिहास। इसके चाक-चिक्य मे रचनाकार निरुद्देश्य होकर अज्ञात गह्वरों में दिग्भ्रमित होता रहता है। अचानक प्रौढ विचार उसके मानस मे तिरने लगते है। इस स्थिति मे उसका तर्क, चिन्तन, निरुद्देश्य परिभ्रमण और दिशाहीन संवेदन निश्चित स्वरूप ग्रहण करने लगता है और वह अपनी उपलब्धि पर आनंद-विभोर हो उठता है। कलाकार अब उन अमूर्त विचारो को एक मिथकीय कलेवर प्रदान करता है। इस रूपायन की क्रिया मे मिथक और चिन्तन अपनी कतिपय विशेषताओं को त्याग देते है। इसी को कलात्मक अतिक्रमण की संज्ञा दी जाती है। इस रूप मे मिथक मानस मे कौधने वाले किसी विकसित विचार को रूपायित करने का प्रमुख साधन होता है। यह विशुद्ध रूप मे लचीला, नमनीय और कलात्मक दृष्टि से परिवर्तन सापेक्ष होता है। प्रतीक और मिथक दोनो मे सृजन की परम्परा का अवलम्बन किया जाता है, पर परिणाम मे ये दोनो भिन्न होते है। प्रतीक अपने पूर्ण उत्कर्ष मे विशेषोन्मुख होता है जबकि मिथक सामान्योन्मुख। कही-कही ये एक दूसरे से इतने मिले होते है कि इन्हे अलग कर पाना कठिन हो जाता है।

इस सन्दर्भ मे प्रतीक और साकेतिक चिह्न के साम्य और वैषम्य के निरूपण की ओर दृष्टि जाना भी स्वाभाविक है। इन पर मोरिस, रिचो और हंगरलैण्ड ने पर्याप्त लिखा है। यहाँ उस विवाद को बिना बढाये हम केवल यही कहना चाहते है कि प्रतीक और साकेतिक चिह्न मे भेद होता है। प्रतीक अभिव्यंजक होता है, कलात्मक होता है, पर साकेतिक चिह्न संकेतात्मक और अकलात्मक। प्रतीक में लालित्यबोधीय गुण पाया जाता है, जबकि साकेतिक चिह्न मे या तो वह नही पाया जाता या उसे पैदा करने के लिए आवश्यक शर्त को पूरा करना पड़ता है। साकेतिक चिह्न से केवल उपादान का ज्ञान होता है, पर प्रतीक से उपादान के साथ ही उसके प्रत्यय की व्यंजना भी मिलती है। साकेतिक चिह्न से उपादान का रूप सामने आ सकता है, पर प्रतीक उस वस्तु को देखने की क्षमता प्रदान करता है। इस प्रकार इन दोनो का भेद स्पष्ट है।

प्रतीकवाद एक बहुत बड़े साहित्यिक आन्दोलन का प्रतिपाद्य रहा है। अतएव उस आन्दोलन की मूलभूत मान्यताओ का स्पष्टीकरण प्रतीक को समझने मे सहायक हो सकता है। कैसिरर ने सर्वप्रथम अस्थिर विचार और उसके अभिव्यक्तीकरण पर विचार किया है। उन्होंने प्रतीक को उपादान का यथार्थ प्रतिरूप नही अपितु उसके प्रत्ययबोध का परिचायक कहा है। प्रतीकवादी आन्दोलन के पूर्व यथार्थवाद और प्रकृतवाद का साहित्य में बोलबाला हो चुका था। साहित्य को इससे मुक्त होना

आवश्यक था। प्रतीकवादी आन्दोलन ने इस आवश्यकता की पूर्ति की। फ्रांसीसी लेखकों ने प्रतीक को लौकिक और अलौकिक जगत के बीच सम्बन्ध-स्थापन का प्रमुख माध्यम माना और इसे 'विशिष्ट संवेदना को आत्मसात् करने का प्रमुख साधन' कहा। प्रतीकवाद मे स्वच्छन्दतावाद, प्रभाववाद, आदर्शवाद और रहस्यवाद के प्रति आग्रह बढा और विचार को ऐन्द्रिय कलेवर प्रदान करने का प्रयत्न किया गया। इससे विशिष्ट विषय-वस्तु और विषय-विन्यास का महत्व बढा। इससे कला मे अद्भुत सघनता, भाव-शबलता, अनुभूति-तीव्रता, दिवास्वप्न की सहजता और संगीत की सौन्दर्यबोधक नैसर्गिक दीप्तिमयता के परिग्रहण का प्रयास किया गया और रहस्यवाद की अन्तर्मुखी जादुई स्वप्निलता को मूर्त रूप प्रदान करने के लिए काल के उपादानो और विचारों के विविध संयोजन पर बल दिया गया। इस आन्दोलन का विकास तीन सोपानो मे हुआ, (१) बादेलेयर के साथ चिन्तन की नीव पडी, (२) वर्लेन और मेलार्मे के साथ वह सूत्रबद्ध हुआ और (३) नवप्रतीकवादी काल में इस पर तर्क-वितर्क किया गया। बादेलेयर ने विविध संयोजन (multiform combination) को ग्रहण किया और अपनी सादृश्य की पद्धति के द्वारा (symtem of correspondence) उसे विकसित किया। वह प्रकृति को देव-मन्दिर और उसके हर उपादान को आध्यात्मिक सत्य का व्यंजक मानता था। उसने सामान्य शब्द और अर्थ के माध्यम से इसे ग्रहण करना चाहा। स्वच्छन्दतावादी पद्धति मे उसे कल्पना का सिद्धान्त मिला था और सादृश्य के द्वारा उसने उसे अनन्त और शान्त में रूपायित करने का प्रयत्न किया था। बादेलेयर ने वाह्य जगत की अनुभूतियो को परिवर्तित करके प्रकृति को मानवीय संस्पर्श प्रदान करना चाहा था। उसने ऐन्द्रिय अनुभूति को अपर्याप्त मानकर उदात्त धरातल की खोज करना चाहा था। उसने दैनिक जीवन की पद्धति से हटकर उस विन्दु को प्राप्त करना चाहा था, जहाँ वस्तुयें स्वत: नैसर्गिक बोध की वाहक बन जाती हैं। इसी की पूर्ति के लिए 'करेस्पॉण्डेन्स' की बात उठाई गई थी। इसके लिए स्वयं-प्रकाश की अपेक्षा होती है। प्रतीकवादी केवल मानस को यथार्थ को पकडने मे असमर्थ मानते है। वे तो ऐसी स्थिति को मान्यता प्रदान करते है, जिसमे द्रष्टा और दृश्य की सीमाये मिट जाती हैं और सर्जक शब्द और अर्थ की संभावनाओं की गवेषणा के द्वारा समन्वित व्यक्तित्व को प्रकट करने के लिए उद्यत हो जाता है। यह तभी संभव होता है, जब सर्जक में अनुभूति के काल्पनिक निरूपण की क्षमता हो। प्रतीकवादी वर्णन को नही, व्यंजना को महत्व देता है। गतिशील मानसिक तनाव वर्णन का विषय नही बन सकता। प्रतीकवादी इस तथ्य को स्वीकार करता है कि कला सर्जक को बने-बनाए रूप में नही उपलब्ध होती है। उसे अनुभूति के काल्पनिक निरूपण द्वारा उसे बनाना पडता है। कला निरन्तर गतिशील और विकासशील आत्ममंथन और आत्मबोध का प्रतिफलन है, अतएव वह सर्जक के समूचे जीवन-बोध की परिचायक होती है। वह सजग चेतना का कीर्तिस्तंभ होती

है। हम चेतना को अनुभूति प्रदत्तबोध और आत्म सजगता का पर्याय मानकर ग्रहण करते हैं।

मेलार्मे ने लिखा है, 'कविता में किसी उपादान का नाम लेने का मतलब है, उसके तीन चौथाई आनन्द से वंचित रह जाना—उस आनन्द से वंचित रह जाना जो हमे धीरे-धीरे कविता के विकास के साथ मिलता है और अन्त में व्यंजना के रूप मे यह अभिज्ञान छोडकर अदृश्य हो जाता है कि सब कुछ सम्मोहन था। रहस्य का पूर्णता से निरूपित करने के कौशल मे ही प्रतीक का जन्म होता है। यह दो तरह से संभव है। पहले म हम किसी उपादान को धीरे-धीरे चेतना के किसी रंग मे रंगते जाते है जिससे वह हमारी मानसिक स्थिति का परिचायक बन जाता है। दूसरे स्वरूप मे इसमे भिन्न पद्धति से हम किसी उपादान को चुनते हैं और उससे विभिन्न सुझावो के द्वारा मानसिक दशा को अलग करते जाते हैं'।[१४] उसने इसी आधार पर कविता की व्याख्या भी की है। उसका कहना है, 'कविता आवश्यक लययुक्त मानवीय भाषा के माध्यम से संसृति के किसी रहस्यमय पक्ष के रहस्यमय बोध का निरूपण करती है। इसके द्वारा हम कुछ समय के लिए यथार्थ, ऐसे यथार्थ, का सान्निध्य प्राप्त कर लेते है जो आध्यात्मिक कार्य का परिचायक होता है।[१५]

प्रतीकवादी कविता को संगीत की आवश्यकता के अनुरूप ढालना चाहते थे। वे कविता और संगीत मे समन्वय स्थापित करना चाहते थे। कविता को संगीत के निकट पहुँचाने के लिए यह आवश्यक होना है कि उसे बौद्धिक तत्वो से मुक्त करके संगीत मे ढाला जाय। परवर्ती प्रतीकवादी विचारकों के लिए कविता यथार्थ मे 'स्वप्निल दीप्ति' की वाहक थी। इन विचारको का ध्यान स्वप्न और अवास्वप्न की ओर भी गया था और उन्होने कविता को अर्थ और लय के निकट पहुँचाना चाहा था।

इसी संदर्भ मे प्रतीको के सृजन की क्रिया पर विचार कर लेना आवश्यक है। इसके पूर्व इस ओर लोगो की दृष्टि गई है। प्राय. यह माना जाता रहा है कि प्रतीक-सृजन विस्मृति की स्थिति मे रहस्यानुभूति मे अनुप्राणित होता है। विस्मृति या स्वप्निल आवेश की स्थितियाँ जब रचनाकार मे आती है। इसके परिणामस्वरूप कविता का कुछ अंश या कभी-कभी पूरी कविता उसी आवेश मे रच दी जाती है। यह रचना स्वयंचालित लेखन की विशेषताओ से मंडित भी होती है। लेकिन ध्यान देने की बात यह है कि कविता या उसका अंश विशेष स्वयंचालित लेखन की विशेषताओ से मंडित हो सकता है पर समूचे काव्य-साहित्य को उसी श्रेणी मे ले जाकर बैठाने का प्रयत्न करना अनुचित है। दूसरी बात यह है कि कविता मे कुछ शब्दो मे भावोद्बोधन की अप्रतिम शक्ति होती है। सास्कृतिक वासना के प्रभाव से संयुक्त, विशेष आकर्षणपूर्ण ये शब्द, हमारे लिए प्रतीक का काम करते है। यह सत्य है कि कुछ शब्द सांस्कृतिक परम्परा मे इतने प्रचलित हो गए होते हैं कि उनके हमारे समक्ष

उपस्थित होते ही एक निश्चित भाव उद्बुद्ध होकर उपस्थित हो जाता है। उदाहरण के लिए राम और रावण शब्दों को लिया जा सकता है। 'राम की शक्ति पूजा' के राम और रावण निश्चित अर्थ-सन्दर्भों की व्यंजना करते हैं। इससे कुछ महत्वपूर्ण निष्कर्ष मिलते हैं। पहला महत्वपूर्ण निष्कर्ष तो यह है कि प्रतीक संप्रेषण का माध्यम है। लेकिन यहीं पर हम पुनः इस प्रश्न को पूछ सकते हैं कि उसके द्वारा क्या संप्रेषित किया जाता है? इसका उत्तर देते हुए हम यह कह सकते हैं कि इसके द्वारा रचनाकार की कलात्मक अनुभूति को पाठक तक संप्रेषित किया जाता है। इससे यह ध्वनित होता है कि प्रतीकों की रचना अनुभूति की अभिव्यक्ति की स्थिति में होती है। हम पूर्व अध्यायों में इस तथ्य पर प्रकाश डाल चुके हैं कि विभिन्न स्थितियों में विभिन्न अनुभव ज्ञानवहा नाडियों के द्वारा मस्तिष्क को प्रेषित किए जाते हैं। इन अनुभवों को कोषाणुओं में संग्रहीत कर लिया जाता है। समान आवेग के पुनः प्रस्तुत होने पर उन कोषाणुओं में विस्फोट होता है। उसके कार्य-व्यापार का मनुष्य के सहजवृत्ति के साथ संयोग होता है। इसी संयोगजन्य स्थिति को मानस के भाव की स्थिति की संज्ञा दी जाती है। इस मनोदशा को हम तरंगायित होते हुए जल-प्रसार के सदृश मान सकते हैं। इस स्थिति में मन में तरह-तरह की भाव-तरंगें बनती और बिगड़ती रहती हैं। यह अन्तर्मंथन की स्थिति होती है जबकि मन में लहरें उठती और आपस में टकराकर, अन्य लहरों को पैदा करके, उन्हीं में विलीन होती जाती हैं। कलाकार की अनुभूति रह-रह कर अभिव्यक्ति के लिए मचलती है, पर इसी के साथ उसे यह भी ज्ञात होने लगता है कि वह उन्हें शब्द और अर्थ देने में असमर्थ है। इसके कई कारण हैं। एक तो कलाकार के भाव स्पष्ट नहीं रहते हैं। दूसरे उसे उपयुक्त शब्दावली भी अभी तक नहीं ही मिल पाई है। इससे रचनाकार के मन में अनुभूति की परवशता और उसे अभिव्यक्त करने की आवश्यकता के बीच द्वन्द्व की स्थिति पैदा होती है। इस द्वन्द्वात्मक स्थिति में वह अनुभूति को स्पष्ट बनाने के साथ ही उसको शब्दार्थ पूर्ण कलेवर प्रदान करने के लिए प्रयत्नशील पाया जाता है। इस प्रयत्नावस्था में भावों में पुनर्पोषण की स्थिति—एक या अनेक विचार सन्दर्भित क्षेत्रों के आपस में मिलकर अभिनव भाव-क्षेत्र के निर्माण की स्थिति—क्रियाशील पाई जाती है। इस क्रियाशीलता में कुछ निश्चित-प्रौढ और अभिव्यक्ति-सक्षम अनुभूति-संविद् अचानक मानस में पुनः कौंध उठते हैं। इन संविदों में उनकी अभिव्यक्ति का निर्देश भी निहित होता है। कवि को उसी को ग्रहण करके अनुभूति को रचना में ढालने का प्रयत्न करना पड़ता है। अनुभूति में निर्णय, मूल्य, बोध अथवा रूप की जो व्यंजना निहित होती है, प्रकृत्या उसकी अभिव्यक्ति भी उसी ओर ढल जाती है। रचनाकार के अनुभूति के 'पैराडाइम्स' घटनामय पैराडाइम्स में बदल जाते हैं और उसके अर्जित भाषा-संस्कारों से बँधकर हमारे समक्ष उपस्थित हो जाते हैं। इस रचना की स्थिति में रचनाकार के चेतन-अव-

चेतन-सातत्य के साथ ही उसकी आसंग और निःसंग स्थितियो (self-not self) का भी सहयोग रहता है। प्रतीक के सृजन मे उसका आसंग क्रमशः उसके निःसंग मे परिणत होता जाता है। इसलिए वह प्रतीको के माध्यम से अपने अन्तः और बाह्य, परोक्ष और अपरोक्ष, गोचर और अगोचर स्थितियो मे सामंजस्य उत्पन्न कर पाता है। यह सामंजस्य आत्म और अनात्म के संश्लेषण का मुखापेक्षी होता है। यह संश्लेषण अथवा आत्म के अनात्म मे परिणत होने की क्रिया, अनुभूति के अन्तर्निहित निर्देश को ग्रहण करने से अधिक सफलतापूर्वक सम्पादित हो सकती है। रचनात्मक अनुभूति की कुछ विशेषता होती है। जिस प्रकार विद्युत प्रवाह अपने तारों के घेरे मे प्रवाहित होता रहता है, उसी प्रकार अनुभूति भी अपने आत्म-केन्द्रित-स्वरूप मे क्रियाशील पाई जाती है। इस क्रिया का एक निश्चित विशिष्ट क्षेत्र होता है। इसमे संकल्प और विश्वास का सहयोग पाया जाता है। इसीलिए यह सामान्य संवेदन से विशिष्ट होती है। कलाकार के मानस मे अपने मौलिक रूप मे अभिव्यक्ति के लिए मचलने वाली अनुभूति का एक प्रभा-मण्डल बन जाता है। सामान्य व्यक्ति मे उसकी मानसिक हलचल आंगिक चेष्टाओ द्वारा अभिव्यक्त होती है, पर कलाकार में यह शाब्दिक-अभिव्यक्ति के रूप मे मुखर पाई जाती है। रचना की स्थिति मे कवि या कलाकार एक माध्यम के रूप मे क्रियाशील पाया जाता है। वह भावो से पलायन करके नही, अपितु उनके साथ संघर्ष करके उन्हे अभिव्यक्त करता है। इसी को कलात्मक शब्दावली मे इन्सकेप (inscape) कहा जाता है। यह क्रिया आवश्यकतानुसार अपने मे कई स्तरो को समेट कर चलती है। कवि को अनुभूति का साक्षात्कार उसी समय हो पाता है जब भिन्न-भिन्न विचार-सन्दर्भित-क्षेत्र आपस मे मिलकर एक अभिव्यक्ति-सक्षम-अनुभूति-संवित् के रूप मे उसके समक्ष उपस्थित हो जाते है। इस स्तर पर अभिव्यक्ति कभी या तो स्वयंचालित हो उठती है या प्रयत्न साध्य बनी रहती है। प्रयत्न साध्य अभिव्यक्ति के लिए उसे प्रयोग करके अभिव्यक्ति का मार्ग ढूँढना पडता है, पर स्वयंचालित अभिव्यक्ति स्वयमेव क्रियाशील हो उठती है। दोनो ही स्थितियो मे स्मृति-बिम्बो और विधायक-कल्पना से रचनाकार विशेष उपकृत होता है। स्वयंचालित-रचना-स्थितियो का उल्लेख पूर्वपृष्ठो मे किया जा चुका है। इसमे संलग्न मानस-प्रकोष्ठो से रचना की सामग्री स्वयमेव खिचती हुई चली आती है और वह स्थिति तबतक बनी रहती है जबतक रचना हो नही जाती है। प्रयत्नसाध्य रचना तोड-ताड पर आधारित होती है। भाषा स्वयं चिह्न और प्रतीक-प्रधान होती है और इसकी अर्थवत्ता सन्दर्भों मे चरितार्थ होती है। इन सन्दर्भों के निर्माण मे मनोभावो के विधायक कल्पना द्वारा निरूपित होने मे विशेष सहायता मिलती है। अनुभूति के कुछ उपादान अभिव्यक्ति के इन सन्दर्भों मे विशेष रूप से दीप्तिमय हो उठते है। इस क्रिया से वे अपने चारो ओर एक प्रभामण्डल बिखेरने लगते है। रचना की स्थिति में उपर्युक्त स्थिति प्राप्त करनेवाले किसी भी उपादान को प्रतीक की संज्ञा दी जाती है।

कुछ लोगो ने प्रतीक-सृजन की क्रिया को प्रत्याहार और प्रत्यावर्तन (withdrawl & return) के द्वारा समझने-समझाने का प्रयत्न किया है। उनका कहना है कि हर रहस्यवादी या जटिल अनुभूति को अभिव्यक्त करने के लिए आरम्भ मे रचनाकार को उस प्रत्याहृत करना पड़ता है। इसका तात्पर्य यह है कि उसे अन्य अनुभूतियो और संवेदनाओ से विलगाना पड़ता है। पुन. उन्हे भौतिक उपादानो से सम्बद्ध करके प्रत्यावर्तित किया जाता है। वस्तुत: देखने और सुनने मे तो यह सहज और वैज्ञानिक लग सकता है पर व्यवहार मे अस्वीकार्य और अवैज्ञानिक है। किसी अनुभूति को अन्य अनुभूतियो से सर्वथा अलग कर पाना सरल नही है। अभिव्यक्ति के लिए प्रौढ रूप मे प्रस्तुत होने वाली अनुभूति स्वयमेव अपने प्रभा-मण्डल के साथ विशिष्ट रूप मे अलग होकर रचनाकार के समक्ष उपस्थित हो जाती है। अपनी सहज आन्तरिक ऊर्जा के कारण कभी वह स्वत: अभिव्यक्त हो जाती है, पर कभी-कभी उसे अभिव्यक्त करने का प्रयत्न भी करना पडता है। इन्ही क्रियाओ से प्रतीको की रचना होती है। हमने अभिव्यक्त-स्थिति मे निश्चित वैचारिक प्रभामण्डल के साथ उपस्थित भाव-संवित को प्रतीक की संज्ञा दी है। इसे समझने के लिए हम प्रतीक की कुछ विशेषताओ को समझ लेना आवश्यक है। प्रतीक मूलत विविधार्थी और किंचित विरोधाभासी होता है। इसकी मुख्य रूप से दो विशेषताये होती है। पहली विशेषता घटना के कलात्मक गुणो से सम्बद्ध होती है और दूसरी ऐसे केन्द्रीय-बिम्ब से जिसके चतुर्दिक भावचक्र मूर्तित और प्रतिच्छायित होता है। प्रथम विशेषता मे ध्वनि तरंगो के गुण विद्यमान होते है, अतएव इसे ध्वनि तरंग-विषयक विशेषता भी माना जाता है। इस स्थिति मे इसका स्वरूप केन्द्रापगामी होता है, बाह्य दृष्टि से गतिशील और आकर्षक होता है। ये दोनो विशेषताये विश्लेषण की दृष्टि से अलग-अलग हो सकती है, पर यथार्थ मे वे एक ही क्रिया की पूरक होती है।

प्रतीक पर प्राय: कई दृष्टियो से विचार-विनिमय हुआ है। भाषा को प्रतीक-मय माना गया है। दर्शन के क्षेत्र मे ह्वाइट हेड ने इसपर विचार करते हुए प्रतीक-सन्दर्भ-विधि का उल्लेख किया है तो लैंजर ने 'हाई फार्म ऑव सिम्बोलिज्म' का। मनोवैज्ञानिको मे फ्रायड और नव-फ्रायडवादियो ने दमित वासनाओ की प्रतीक रूप मे अभिव्यक्ति को मान्यता दी है तो युंग ने सामूहिक अचेतन की स्मृतियो को चेतन की ओर बढने और उससे प्रतीक की क्रिया के निर्मित होने का। कुछ अन्य मनोवैज्ञानिको ने चेतन के तनाव और अन्तर्बोध की अपूर्णता को इनका जनक माना है। समाज-शास्त्रीय विचारको ने प्रतीक को संस्कृति के विकास के साथ सम्बद्ध किया है। आलोचना के विकास-क्रम के साथ आलोचको की दृष्टि प्रतीक, बिम्ब और अध्यवसित रूपक के विभेद की ओर भी गई है। इसी विचार-क्रम मे प्रतीक और मिथक पर भी विचार किया गया है। प्रतीक और चिह्न का विश्लेषण करने के बाद प्रतीकवादी आन्दोलन की मान्यताओं को भी स्पष्ट किया गया है। इससे हमे कुछ

महत्वपूर्ण संकेत उपलब्ध होते है। मनोवैज्ञानिकों ने प्रतीक को मन के कार्य-व्यापार से सम्बद्ध किया है तो समाज-शास्त्रीय विचारको ने उसे बाह्याचारो से। यह स्पष्ट है कि कला के प्रतीकों की रचना कलाकारो द्वारा होती है। उनपर कलाकार के अनुभूति की अमिट छाप पाई जाती है। इन्ही प्रतीको के माध्यम से वह निराकार को साकार और अमूर्त को मूर्त स्वरूप प्रदान करता है। जीवन के अन्य क्षेत्रो के प्रतीको के अर्थ एक होते है, पर कला के प्रतीक अनेकार्थी और विरोधाभासी पाए जाते है। कला के प्रतीकों का सम्बन्ध कलाकार की अनुभूति से होता है। ये व्यजना प्रधान होते है, इसलिए इनमे अनेक प्रकार की मानसिक छबियो को उत्पन्न करने की क्षमता होती है। काव्य मे प्रतीकों का मूल स्रोत, बिम्ब, पौराणिक, आख्यान और लेखक का जीवन-दर्शन होता है। अत्यधिक प्रयोग मे आ जाने पर कुछ प्रतीक अपनी व्यंजकता खो देने के कारण सपाट हो जाते है, अतएव उनके पुनर्नवीकरण की अपेक्षा बनी रहती है। बिम्ब मे चित्रोपमता पाई जाती है पर प्रतीक मे सांकेतिक व्यंजना।

प्रतीक के वर्गीकरण को लेकर तरह-तरह के विचार सामने आए है। मै उनका तालिका देना बहुत उचित नही समझता हूँ। सभी विचारक इस दृष्टि से प्राय. एकमत है कि प्रतीक अनुभूति को अभिव्यक्ति के प्रमुख साधन है। प्रतीक के वर्गीकरण मे उन्ही तत्वो को ग्रहण करना विशेष महत्वपूर्ण है जिनसे अनुभूति का निर्माण होता है। प्रतीक रूढ बिम्ब होते है, उनसे कवि का जीवन-दर्शन भी मुखर होता है। अतएव हमारे लिए ऐसा वर्गीकरण ही ग्राह्य होना चाहिए जिनके आधार पर हम कवि की अनुभूति, विचार और जीवन-दर्शन से परिचित हो सके और उसके काव्य के मूल-स्रोतो का सरलता से साक्षात्कार कर सके। इस दृष्टि से विचार करने पर हमारे समक्ष वर्गीकरण के दो आधार उपस्थित होते है, (१) जीवन का आधार और उसका स्वरूप और (२) दूसरा जीवनेतर आधार और उसका स्वरूप। ये दोनो आधार पर्याप्त विविध, प्रशस्त और व्यापक होते है। अतएव हमे विवेचन की सुकरता के लिए उनके प्रमुख पक्षो पर ही विचार करना आवश्यक है। संक्षेप मे हम प्रतीक के वर्गीकरण को अधोलिखित रूप मे प्रस्तुत करते है।

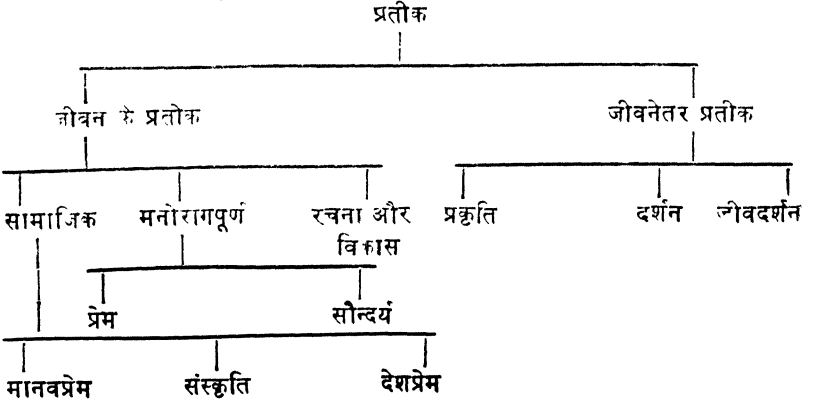

हम निराला साहित्य मे प्रयुक्त प्रतीकों को इन्ही उपर्युक्त शीर्षको मे प्रस्तुत करने का प्रयास करेगे। इस तथ्य को स्पष्ट रूप से संकेतित कर देना आवश्यक है कि इस उपर्युक्त वर्गीकरण को केवल उनके काव्य की विशेषताओ के उद्‌घाटन के माध्यमके रूप मे ग्रहण किया गया है।

इस तथ्य का संकेत किया जा चुका है कि निराला एक सचेतन कलाकर थे। सचेतन कलाकार समाज के कल्याण के लिए प्रतिबद्ध होता है। उसकी यह प्रतिबद्धता ही उसके उत्तरदायित्व को परिचायक बन जाती है। समाज के प्रति प्रतिबद्ध होने का परिणाम हमे स्पष्ट रूप मे उनकी मानववादी रचनाओ के रूप मे हमे मिला है। अनामिका की 'तोडती पत्थर' कविता को लिया जा सकता है। इस कविता मे प्रतीकों का प्रयोग, या यो कहें कि एक ही प्रतीक का प्रयोग भिन्न-भिन्न सन्दर्भो मे किया गया है। सबसे पहले तो पत्थर तोडना ही अभिषप्त जीवन का परिचायक है, पत्थर तोडने वाली स्त्री उन करोडो लोगों को नियति की परिचायक है जो अपने खाली पेट को भरने के लिए कठोर श्रम करते है। यहाँ तोड़ने का काम दूसरा करता है और उससे निर्मित भवन मे रहने का सुख दूसरा भोगता है। इसीलिए निराला ने पत्थर तोड़ने वाले के हाथ के गुरु हथौडे की चोट को, उसके बार-बार प्रहार को, अट्टालिका पर होने वाले प्रहार की संज्ञा दी है। लेकिन अट्टालिका तो जड है। जड पर प्रहार करके उसे विघटित किया जा सकता है, पर मानव मन को तो बदला नहीं जा सकता। इसी कविता के अन्त मे 'मैं तोडती पत्थर' के द्वारा कवि ने सारी व्यंजना 'मै तोड़ती पत्थर-हृदय' की ओर मोड दिया है। इस कविता मे प्रयुक्त प्रतीक रचना के तीन धरातलों पर उसके भिन्न-भिन्न सन्दर्भो मे तीन अर्थो के परिचायक बन गए है। 'ठूठ'[१७] कविता मे भी प्रयोग की यही स्थिति देखने को मिलती है। कविता का शीर्षक स्वत: प्रतीक ह, एक ऐस जीवन का प्रतीक जिसका सारा वैभव अपहृत हो चुका है, जिसके मनोरागो का स्वरूप मुरझा गया है और जो उपयोगिताहीन बन चुका है। 'ठूँठ' पर बैठने वाला वृद्ध विहँग जैसे अपने बीते दिन की याद कर-कर के उसके ठूंठ होने के पहले को स्मृति को पुनर्जागृत कर रहा है। पहली पंक्ति मे कवि ने 'ठूंठ है यह आज' के द्वारा यह बता दिया है कि वह इसके पहले ठूंठ नही था। आज अचानक वैभव-विहीन बन गया है। 'विधवा' मे निराला ने विधवा के पति को 'ध्रुवतारा' कहा है। ध्रुवतारा शब्द एक साथ हा अर्थ के अनेक स्तरों को अपने मे समेटे हुए है। वह जीवन को अंधेरी निशा का एक मात्र संबल, दिशानिर्देक और स्थिर आस्था का परिचायक है। लेकिन वह भी आज अपने गुणधर्म को छोड चुका है–दूर होगया है। उसने अपना स्थान बदल दिया है, स्त्रो को उसका सहारा नही मिल पा रहा ह। इसीलिए वह निःसंबल हो गई है। 'भिक्षुक' कविता के शीर्षक से अनेक परवश भिक्षुओ का चित्र अनायास हमारे मानस मे कौधने लगता है। 'तुलसीदास' मे 'वे हतश्वांस, पशु मूक भाष' जैसे अनेक स्थलों पर उनकी

सामाजिक चेतना प्रतीकों के माध्यम से विशेष रूप से व्यक्त हुई है। पर इस तरह के प्रतीकों का पूर्ण विकास बाद की रचनाओं मे हुआ है। 'कुकुरमुत्ता' मे कुकुरमुत्ता और गुलाब दोनो प्रतीक है। इनके अतिरिक्त 'जसोदा को मथानी', 'तीर से खींचा धनुष मैं राम का', हलबलराम का' से भी धर्माख्यान के निश्चित स्वरूपो का चित्र हमारे समक्ष प्रस्तुत होता है। सामाजिक चेतना की अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त इन प्रतीकों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इनके माध्यम से निराला के सतत् प्रवहमान संवेदनशील मानस के निश्चित स्वरूप से हम परिचित होते है। यह परिचय भी विशिष्ट कोटि का है। इसमे न तो सब कुछ एक साथ ही व्यक्त कर दिया गया है और न सबको अव्यक्त रखा गया है। इनका यह परिचय 'व्यक्ताव्यक्त' की स्थिति का परिचायक है। 'ठूँठ' को ही लीजिए। इसके माध्यम से कवि ने एक जीवन-चित्र सामने रखा है। शब्द प्रचलित होने के कारण निश्चित अर्थ-सन्दर्भ से जुडा हुआ है। उसे देखते ही हमारे मन मे एक भावचित्र बनता है। यह स्वरूप व्यक्त है, लेकिन उसके साथ संबद्ध अन्य अव्यक्त स्वरूप भी है, जिनकी व्यंजना के लिए उसका उपयोग किया गया है, प्रतीक व्यक्त के माध्यम से अव्यक्त की ओर ले जाता है और उसकी प्रतीति कराता है। इसमे एक क्रिया का दर्शन भी होता है। इसी को लैंजर ने 'सिम्बालिक ट्रान्सफार्मेन्शन' की संज्ञा दी है। कवि निराला स्वतः अपने मानस मे किसी अस्तित्व का बोध तो कर रहे है, पर यह अस्तित्व अपने वैभव से रिक्त है। उन्हें अनुभूतिजनित उस वैभव-रिक्तता का अभिज्ञान कराना है। वे उसको व्यक्त करने के लिए प्रयत्नशील होते हैं। अचानक उनके मानस मे प्रौढ और अभिव्यक्ति-सक्षम संवित् कौधता है। उन्हें ठूंठ शब्द मिल जाता है जो अपने सादृश्य से अस्तित्व की रिक्तता का परिचायक बन सकता है। सारी अनुभूति उसी के माध्यम से अभिव्यक्त हो उठती है। अनुभूति के 'करेस्पॉण्डेन्स' के द्वारा निश्चित शब्द-गुंफ के द्वारा अभिव्यक्त होने की ऐसी क्रिया, जिसमे गुण और धर्म के धरातल पर उसकी विशेषतायें विद्यमान होती है, पर अर्थ को अभिधा के धरातल पर नही अपितु लक्षणा और व्यंजना के धरातल पर ग्रहण किया जाता है, सिम्बॉलिक ट्रान्सफार्मेशन (Transformation) की संज्ञा से अभिहित की जाती जाती है। यह क्रिया 'आचार्यवक्रता' का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण होती है। यहाँ ठूँठ प्रस्तुत है। अनुभूति की रिक्तता का कविजनित ज्ञान अप्रस्तुत है। ठूँठ पर कवि की अनुभूति का आरोप होता है। आरोप की स्थिति मे उस पर भाव की चादर चढ जाती है, लेकिन रचना के धरातल पर अर्थसकोच की क्रिया के परिणामस्वरूप जिस शब्द या शब्दगुंफ को हमने ग्रहण किया है, व्यंजना के धरातल पर वही अर्थ-विस्तार की क्रिया का परिचायक बनकर हमारे समक्ष उपस्थित हुआ है। रचनाकार ने ठूंठ के माध्यम से अपनी अनुभूति को सूत्रबद्ध किया है। पाठक को रचनाकार की अनुभूति का साक्षात्कार करने के लिए

पुनः अर्थ के अनेक स्तरों पर प्रतीक का अर्थ-विस्तार करना या उसका विश्लेषण करना पड़ता है।

निराला की सांस्कृतिक चेतना को अभिव्यक्त करने वाले प्रतीक भी सदैव किसी न किसी सामाजिक उद्देश्य से मण्डित पाये गए है। उनके काव्य में सांस्कृतिक अन्तर्द्वन्द्व कई रूपो मे क्रियाशील पाया गया है। शिवाजी और राजा जयसिंह, राम, रावण और तुलसीदास तथा मुगल संस्कृति के अधःपतन के जिस द्वन्द्व को निराला ने मुखर किया है वह कही न कही उनके सामाजिक उद्देश्य से ही संलग्न है। निराला ने लिखा है 'जीवन का प्रत्येक खण्ड-ज्ञान एक चित्र विशेष है। उसे भी आप एक दृश्य कह सकते है। उस ज्ञान के मूल मे प्रगतिपूर्ण एक वासना विद्यमान है। अथवा यो कहिये कि उस ज्ञान की प्राप्ति के पहले मन मे वासना थी, इच्छा का स्फुरण होता है जिसकी प्रेरणा मन मे उस खण्ड ज्ञान का चित्र अंकित कर जाती है।[२०] वे पुन. लिखते है, 'व्यक्तिगत खण्ड ज्ञानो पर अनुकूल परिस्थितियों के समष्टिगत विश्वास द्वारा जातीय जीवन पुष्ट होता है। अर्थात् खण्डज्ञान प्रकाशित या प्रचारित होने पर, उसपर समष्टि का जो विश्वास है वह जातीय जीवन को शक्तिमान कर देता है। प्रत्येक जाति का खण्ड ज्ञान उस जाति का साहित्य है। जातीय जीवन मे जितना दृढता होगी, जातीय जीवन मे जीवनीशक्ति भी उतनी ही अधिक होगी।' ऊपर के उद्धरण म निराला ने जीवन के खण्डज्ञान को दृश्य की संज्ञा दी है। नीचे वे उसी क प्रचार व प्रसार और जातीय जीवन को शक्तिमान बनाने की बात करते है। उनका यह प्रयत्न व्यक्ति-स्तर पर अपने को शक्तिमान बनाने के साथ ही राष्ट्र के धरातल पर समूचे देश को शक्तिमान बनाने के प्रयत्न का परिचायक है। निराला ने इसी दृष्टि से सा कृतिक अधःपतन का उल्लेख भी किया है। कुछ आलोचको को 'महाराज शिवाजी का पत्र' म निराला को जातीय ग्रन्थि से ग्रस्त होने का सदमा पहुँचा था। आलोचना की दृष्टि से अपने को कवि पर आरोपित करके झूठी वाह-वाही लेने के लिए कुछ ऐसे अप्रासंगिक तथ्यो का उल्लेख कर देना जिनसे प्रगतिशीलता का तोहफा मिल जाय, आज के लोगो की प्रमुख विशेषता है। यह कार्य इतने आकर्षण से भरा हुआ है कि सभी लोग इससे मुक्त नही हो सकते। सत्य यह है कि इस कविता के 'शिवाजी' और राजा जयसिंह दोनों प्रतीक है। शिवाजी उस अदम्य शूरवीरता के परिचायक है जो सदियो से विदेशी प्रतारण से देश को मुक्त करने के लिए अपने को देशहित के लिए समर्पित करते आये है और जयसिंह उन लोगो के प्रतीक है जिन्होने अपनी स्वार्थ-लिप्सा मे देश के राष्ट्र-भक्तो की पीठ मे छुरा भोकनेका कार्य संपादित किया है। यह प्रवृत्ति इतिहास के गर्त मे विलीन नही हो गई है। यह निराला के काल मे भी सक्रिय थी और आज भी सक्रिय बनी हुई है। देश को इसका जो मूल्य चुकाना पड़ा था वह बहुत महँगा था। निराला इससे परिचित थे। वे जब भी मोगल-दल-बल का उल्लेख करते है तो उनकी दृष्टि प्रकारान्तर से उसी सांस्कृतिक द्वन्द्व के बिन्दु

से अनायास जा टकराती है। यही चेतना 'फिर सुना, हँस रहा अट्टाहास रावण खल-खल'[२२] में भी विद्यमान है। इसी का पल्लवन 'मोगल-दल-बल के जलद-यान दर्पित-पद उन्मद-नद पठान'[२३] मे भी हुआ है। यह 'मोगल' शब्द निराला को बहुत प्रिय है। जब भी अन्याय और सास्कृतिक अध पतन की झाँकी वे प्रस्तुत करना चाहते है तो यह अनायास ही उनके सामने प्रस्तुत हो जाता है। इसी पद मे निराला ने 'घन' 'वज्र' और 'प्रलय' का उल्लेख भी किया है। पद्य पाँच मे 'सिहो' 'पिजर', 'किन्नरगण', 'आसव'[२४] शब्द प्रयुक्त हुए है। इसी के बाद जैसे प्रतीक-गर्भित शब्दो की लड़ी बँध गई है। ऐसा क्यों हुआ है? इसी लिए न कि निराला को अपने अनुभूति के प्रत्ययो को अभिव्यक्त करना है। पाषाण[२५] शब्द का भी निराला ने अनेक बार प्रतीक के रूप मे प्रयोग किया है। यह उनके लिए जड़ता और संस्कृति के हिम-बिन्दु से उत्पन्न निष्क्रियता का परिचायक है। 'जागो फिर एकबार' मे भी उदात्त प्रतीको का प्रयोग विशेष रूप से देखने को मिलता है। 'सिह', 'स्यार', 'मृत्युंजय', 'मेषमाता', "गीता" का इस कविता मे लाक्षणिक प्रयोग किया गया है। 'बादल राग' मे कवि ने बादल का 'मरीचिमाली', 'सव्यसाची', 'इन्द्रधनुर्धर 'श्यामा' आदि शब्दो से अभिहित किया है और उनके द्वारा उसके विभिन्न रूपो को उद्घाटित करने का उपक्रम किया है। बादल विप्लव का बादल है। वह पृथ्वी की क्रोड़ से उमड़कर संरक्षण और परिपोषण के लिए प्रतीक्षा रत आशा-अंकुरो का जीवन सर्वस्व है। निराला की सास्कृतिक रचनाओ का मूलस्वर उद्बोधन प्रधान है। इसीलिए इन प्रतीको को उन्होंने अपने अपराजेय व्यक्तित्व का वाहक बनाया है। उन्हे पतन के चित्रण के द्वारा लोक-चेतना को उद्बोधित करके उत्थान की व्यवस्था करनी है। इसीलिए वे यथास्थान विरोधी प्रकृति के शब्दो को भी एक साथ लेते चलते है। उदाहरण के लिए 'सिहो की माद मे आया है आज स्यार' अथवा 'सिह की गोद से छीनता रे शिशु कौन? .... एक मेषमाता ही रहती है निर्निमेष' को लिया जा सकता है। सिह अपराजेय पौरुष का प्रतीक है और स्यार तथा मेष भीरुता के प्रतीक। सास्कृतिक प्रतीको की विशेषता यह है कि निराला ने उसमे सादृश्य के साथ ही यथास्थान असादृश्य का विधान भी किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने प्रतीको को भावोद्बोधन का प्रमुख माध्यम कहा है।[२६] वैसे तो निराला के सभी प्रतीको मे यह क्षमता है, पर सास्कृतिक चेतना को व्यक्त करने वाले प्रतीक इससे विशेष रूप से अनुप्राणित पाये जाते है।

देश-प्रेम का सम्बन्ध भी सामाजिक - सास्कृतिक चेतना से ही होता है। निराला मे यह प्रवृत्ति आरम्भ से ही विद्यमान थी। 'प्रसाद' ने इसे अपने नाटको के माध्यम से मुखरित करना चाहा था, पर निराला मे यह प्रवृत्ति 'चोटी की पकड़' जैसे उपन्यासो मे देखने को मिली थी। सन् १९२० मे ही निराला 'जन्मभूमि मेरी है जगन्महारानी' की रचना कर चुके थे। 'मतवाला' के प्रकाशन के साथ आरम्भ

के कई अंको मे देश-प्रेम प्रधान गीतों की रचना की जा चुकी थी । कुछ उदाहरण द्रष्टव्य है—

(१) बढ गई शोभा सखी सावनी सलोनी हुई
बड़े भाग्य भारत के गये दिन आये फिर ।
'रक्षा' से बंधे है भारतीयों के कोमलकर
मंगल मनाती क्यों न ? रहा क्यों कलेजा चिर ।[२९]

(२) चूम चरण मत चोरों के तू
गले लिपट मत गोरो के तू ।[३०]

(३) मेरे साथ मेरे विचार—
मेरी जाति—
मेरे पददलित—
मौन है-निद्रित है
स्वप्न में भी पराधीन ।[३१]

सभी उपर्युक्त रचनाओं की भाषिक-संरचना और शब्द-बंध मे प्रतीक अभिव्यक्ति का संकेत मिलता है । पहली रचना मे कवि भारत के भाग्य के लौटने और भारतीयो के हाथ को रक्षा से बंधे होने का संकेत करता है । 'रक्षा' एक ओर तो अभय का परिचायक है, दूसरी ओर रक्षा के लिए जीवन-सर्वस्व-अर्पित करने का इतिहास भी उसमे निहित है । भारतीयों ने ही नही अभारतीयो ने भी एक समय उसकी लाज रखी है । दूसरे उद्धरण में 'चोरों' और 'गोरो' द्वारा कवि ने साम्राज्यवादी शोषक-प्रवृत्तियो स बचने और दूर रहने की राय दी है । तीसरे उद्धरण की प्रतीक-व्यंजना से स्पष्ट हो जाता है कि निराला को अपने विचार के साथ ही अपनी जाति और देश का पददलित और पराधीन होना असह्य है । 'निद्रित हैं—स्वप्न मे भी पराधीन है' से वे उस दुरवस्था की ओर संकेत करते है जिसके बीच परवश और परतंत्र भारतवासियों को गुजरना पडा है । निराला ने अपनी कविताओ में 'भारत' 'भारति' का अनेक बार प्रयोग किया है;

(१) भारत के नभ का प्रभापूर्य
शीतलच्छाया सांस्कृतिक सूर्य ।[३२]

(२) भारत के उर के राजपूत
उड़ गये आज वे देव दूत ।[३३]

(३) भारत का सम्यक देशकाल
खिचता, जैसे तम-शेषजाल ।[३४]

(४) होगे भारत पर इस प्रकार तृष्णा पर ।[३५]

(५) यह भारत संस्कृति पर सभंग ।[३६]

(६) आती भारत की ज्योतिर्धन महिमाबल ।[३७]

(७) आएगी भाल पर
भारत की नयी ज्योति ।[३८]

(८) व्याधि भारत की छूट जाय ।[३९]

स्पष्ट है कि निराला को 'भारत' से प्रेम है। अपनी रचनाओं में उन्होंने इसका अनेक बार उल्लेख किया है। अतएव यह आवश्यक है कि हम इस तथ्य का निराकरण कर ले कि इस शब्द से उनका क्या तात्पर्य है? रामविलास शर्मा ने इस पर प्रकाश डालते हुए लिखा है, 'निराला की एक प्रिय कल्पना थी, भारत अपने शब्दार्थ से ही ज्ञानमय है। 'भा' अर्थात् प्रकाश, भारत अर्थात् प्रकाशवान्।' वर्तमान धर्म मे उन्होने इसी अर्थ-सन्दर्भ मे भारत के विषय में लिखा था, 'भारत अपने नाम से ही धर्मात्मा है। इसलिए भारत की सीमा जैसी भी लकीरो से निश्चित की जाए, वह असिद्ध है, ज्ञान के द्वारा।' इस पर उनकी टिप्पणी है, 'संस्कृत में भारत भरत से बना है (भरं तनोति, तन्+उ) पर भारत का अर्थ मैने किया है—भाः+रत (भासि रत) जो ज्ञान मे रमा हुआ है।'[४०] स्पष्ट है कि निराला ने भारत का अर्थ प्रकाशवान या ज्ञानवान् किया है। तुलसी ने काशी को 'ज्ञान खानि अघहानि कर' की संज्ञा देकर 'सा काशी सदृश कस न' पर प्रकाश डाला था। निराला भी तुलसी से प्रभावित थे। उन्होने भारत को ही ज्ञान और प्रकाश का केन्द्र बना दिया। उपर्युक्त उद्धरणो मे एक, छः और सात मे भारत को इसी अर्थ सन्दर्भ मे प्रस्तुत भी किया गया है। शेष उद्धरणो मे प्रकारान्तर से उसके प्रकाशविहीन अथवा ज्ञानविहीन हो जाने पर चिन्ता व्यक्त की गई है। निराला ने भारत की ही तरह 'भारती' शब्द का प्रयोग भी किया है,

(१) दृष्टि से भारती मे बँधकर....[४१]

(२) हो गई भारती रूप क्षीण महिमा अब[४२]

(३) भारती रूप मे सुरभि छन्द निष्प्रश्रय[४३]

(४) भारती इधर है....[४४]

(५) भारति जय विजय करे....[४५]

उपर्युक्त उद्धरणो में 'भारती' या 'भारति' शब्द का प्रयोग द्रष्टव्य है। भारत और भारती में निराला ने अटूट और अविच्छेद्य सम्बन्ध स्थापित किया है। यहाँ प्रायः 'भारती' शब्द श्री देवी रूप के लिए और 'भारति' शब्द भारत के लिए आया है। निराला की अपनी कुछ मान्यताये थी। वे भारत की कल्पना को देवी और देवताओं के रूप मे करते थे। उन्होंने कही भारत को दुर्गा की मौलिक कल्पना का आधार माना है तो कहीं पर हनुमान के रूप मे ग्रहण किया है। इस कल्पना से संस्कृति, देशप्रेम और आस्था एकमेक हो उठी है। निराला के लिए भारत ज्ञाननिष्ठ संस्कृति का प्रतीक है, और भारती तथा हनुमान उसके प्रमुख अधिष्ठाता हैं। हनुमान ज्ञानियो

मे अग्रगण्य और सरस्वती ज्ञान की अधिष्ठात्री है। इससे 'भारत' और 'भारती' प्रायः पर्याय से बन जाते है। इस दृष्टि-बिन्दु को और स्पष्टता मे समझने के लिए हम अधोलिखित प्रसंगो को लेते है;

(अ) 'बन्दूँ तव अमल-कमल
चिरसेवित चरण युगल।
मुकुट शुभ्र हिम सागर
हृदय बीच विमलहार
पंच सिन्धु ब्रह्मपुत्र रवितनया गंगा
विन्ध्य विपिन राजे घन घेरियुगल जंघा।
त्रिदश कोटि नर समाज
मधुर कण्ठ मुखर आज।
चपल-चरण-भंग नाच तारागण सूर्यचन्द्र
चूम-चरण ताल मार गरज जलधि मधुरमन्द्र'।[४६]

(ब) भारति, जय, विजय करे
कनक-शस्य-कमल धरे।
लंका पदतल शतदल,
गर्जितोर्मि सागर जल
धोता शुचि चरण युगल
स्तव कर बहु अर्थ भरे।
तरु-तृण-वन लता वसन,
अंचल मे खचित सुमन,
गंगा ज्योतिर्जल-कण
धवल धार हार गले।
मुकुट शुभ्र हिम तुषार
प्राण प्रणव ओंकार,
ध्वनित दिशाये उदार
शतमुख-शतरव-मुखरे।[४७]

(स) 'बन्दूँ पद सुन्दर तव,
छन्द नवल स्वर गौरव।
जननि, जनक-जननि-जननि,
जन्मभूमि-भाषे।
जागो, नव अम्बर भर,
ज्योतिस्तर वासे।

उठे स्वरोर्मियो - मुखर
दिक् कुमारिका - पिक - रव।
दृग - दृग को रंजित कर
अंजन भर दो मर-
बिधे प्राण पंच बाण
के भी, परिचय शर।
दृग - दृग की बंधी सुछवि
बांधे सचराचर भव।[४८]

उद्धृत अंशो मे निराला ने मातृभूमि की वन्दना की है। सभी पद उनके देश-प्रेम मे ओत-प्रोत है। पहली कविता (अ) मे तीन बिंब है। आरम्भ मे ही चिरसेवित दोनो कमलवत् चरणो की वन्दना का चित्र सामने आता है। पुनः कवि की दृष्टि भारतमाता के भौगोलिक चित्रण मे संलग्न हो जाती है। भारत माँ का मुकुट हिममण्डित हिमालय है। हृदय मे पंचनद के साथ ही सिंधु, गंगा, यमुना का हार सुशोभित है उसके नीचे विन्ध्याचल पर्वत की श्रेणियाँ सुशोभित हैं। तैंतीस कोटि देशवासी मधुर कंठ से जयगान गा रहे है। चारो ओर तारे, सूर्य और चन्द्र नृत्य कर रहे है। चरणो को चूमकर समुद्र कोमल तान दे देकर मधुर स्वर में शब्द कर रहा है। तीनो बिम्ब आपस मे मिलकर एक वृहत्तर बिम्ब की रचना कर रहे हैं, जिसमे भारतमाता का भौगोलिक स्वरूप ही स्पष्ट नही हो रहा है, बल्कि उसकी महत्ता का ज्ञान भी हो रहा है, जिसको अक्षुण्ण बनाये रखने मे प्रकृति के उपादान भी निरन्तर सहयोग प्रदान कर रहे है। दूसरी कविता (ब) मे भी मुकुट, हार और अलकरण के अन्य स्वरूप प्रायः वही है, जो पहली कविता मे है। यहाँ केवल चन्द्रमा, सूर्य और तारो का नृत्य नही है। दिशायें ओकार से ध्वनित हो रही हैं और तरु-तृणवन तथा लतायें वमन का काम कर रही है। उसका अंचल पुष्प से भरा हुआ है। पहली कविता के शब्द-बंध और दूसरी कविता के शब्द-बन्ध मे सामान्य भेद दृष्टिगोचर होता है। पर तीसरी कविता (स) के धरातल पर वह सर्वदा अभिनव तथ्य का परिचायक बन गया है। पहली और दूसरी कविता मे प्रयुक्त प्रतीक घिसे-पिटे और रूढ है पर इस कविता के प्रतीक सर्वथा अभिनव न होने पर भी अभिनव सन्दर्भो मे प्रयुक्त होने के कारण अभिनव अर्थ के परिचायक है। यहाँ न तो हिमालय है, न विन्ध्याचल, न गंगा-यमुना और न सिन्धु (नदी) है और न सिन्धु (समुद्र)। यहाँ तो नवल छन्द और नव स्वर है, ज्योतिस्तर वास (ज्योति की तह की हुई साडी) है, दिक्कुमारिका का पिक् रव है और उसी की स्वर-लहरियाँ मुखर होकर चतुर्दिक प्रसरित हो रही हैं। प्रथम दो कविताओ मे कवि ने केवल रूप-वर्णन कर दिया है और सांस्कृतिक संस्पर्श प्रदान करने के लिए ओकार की ध्वनि से उसे जोड़ दिया है। ये कविताये कही न कही हमारे राष्ट्रगीत की रचना-पद्धति की परिचायक है। तीसरी

कविता भाषिक-संरचना, रचनाशील मानसिकता और कथ्य की दृष्टि से (अ) और (ब) से सर्वथा भिन्न ही नही उत्कृष्ट है। कवि ने यहाँ माँ से कुछ करने की प्रार्थना की है। यहाँ वह उनसे दिक्-दिक् को रंजित कर अंजन भरने, कुसुमायुध काम के परिचय-शर से बिधने और आँख से आँख बँधी छवि के द्वारा समस्त सचराचर को मुग्ध कर देने की प्रार्थना कर रहा है। प्रतीको के प्रयोग की दृष्टि से भी यह तीसरी कविता पहले और दूसरे की तुलना मे अधिक सफल है। निराला का प्रिय प्रतीक-ज्ञान और प्रकाश का प्रतीक उन कविताओ मे भी आया है। वह ज्योति का प्रतीक पहली कविता में 'अमल-कमल', 'विमल हार' 'सूर्य चन्द्र' के माध्यम से, दूसरी कविता मे 'गंगा ज्योतिर्जल-कण', 'धवल धार हार-गले' और तीसरी कविता मे 'ज्योतिस्तर वासे' और 'बँधी सुछवि' के माध्यम से व्यक्त हुआ है। तीनो कविताओ से 'भारती' का ही स्वरूप उभड़ता है। इस स्वरूप की कल्पना निराला के मानस मे अनेक बार तिरी है और सन्दर्भों के अनुसार उनकी रचनात्मक ऊर्जा से वह बदल कर हमारे समक्ष उपस्थित हुई है। 'पार्वती' कल्पना है, इसकी 'मकरन्द-बिन्दु' 'दे मै करूँ वरण' और 'भारत ही जीवन-धन' नामक रचनाओ मे इसको पुन कलात्मक अभिव्यंजना मिली है। इस दृष्टि से यह सरलता से ज्ञात हो जाता है कि निराला के राष्ट्रीय गीतों में 'भारत और भारती' प्रायः पर्याय है। भारत ज्ञान का स्रोत है और भारती उसकी अधिष्ठात्री देवी है। उस स्रोत को निरन्तर हरा-भरा और अक्षुण्ण बनाने का कार्य 'भारती' द्वारा ही संपादित होता है।

स्वच्छन्दधारा का कवि मूलतः मनोरागो का कवि होता है। वैसे तो इनके कई स्वरूप काव्य मे अभिव्यक्त हुए है, पर उनमे प्रेम और सौन्दर्य को शीर्षस्थ स्थान प्राप्त है। निराला मे इन मनोभावो को अभिव्यक्त करने वाले प्रतीको मे विविधता है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य है—

(१) प्रथम बसन्त मे गुच्छ-गुच्छ (अनामिका, पृ० १)
(२) युवाकुल पतग-ज्यो (वही, पृ० १)
(३) उठी हुई उर्वशी-सी (वही, पृ० २)
(४) बँधा सत्य अंचल मे (वही, पृ० ६)
(५) ये दीपक जिसके सूर्यचन्द्र (वही, पृ० १८)
(६) जो करे गन्ध मधु का वर्जन
वह नही भ्रमर (वही, पृ० १८)
(७) निष्कलता कमल जो मानव का (वही, पृ० १६)
(८) वासन्ती की गोद मे तरुण (वही, पृ० २२)
(९) उर-उर के हीरो के हार (वही, पृ० ३२)
(१०) अप्सरा सुघर (अनामिका, पृ० ९०)
(११) मै ही बसन्त का अग्रदूत (वही, पृ० ९०)

(१२) मेरे नभ के बादल यदि न कटे
चन्द्र रह गया ढँका
तिमिर रात को तिर कर न अटे
लेश गगन भास का (वही, पृ० १२०)

(१३) सरोज का ज्योतिःशरण-तरण (वही, पृ० १२१)
(१४) ज्योतिस्तरणा के चरणों पर (वही, पृ० १२१)
(१५) जागे जीवन-जीवन का रवि (वही, पृ० १२५)
(१६) ज्यो मालकोश नव वीणा पर (वही, पृ० १३०)
(१७) ज्यो भोगावती उठी अपार (वही, पृ० १३०)
(१८) ऐसे शिव से गिरिजा विवाह (वही, पृ० १३४)
(१९) मेरे बसन्त की प्रथम गोति (वही, पृ० १३६)
(२०) रति-रूप प्राप्त कर रहा वही
आकाश बदल कर बना मही (वही, पृ० १३६)
(२१) जागी पृथ्वी तनया कुमारिका छवि (वही, पृ० १५५)
(२२) डोलती नाव प्रखर है धार (परिमल, पृ० ३०)
(२३) जीवन प्रात-समीरण सा (वही, पृ० ३४)
(२४) सुमन भर न लिए
सखि बसन्त गया (वही, पृ० ६९)
(२५) सुधा मधुर ज्योतिधार (वही, पृ० ६८)

ऐसे ही अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते है। निराला ने इन प्रतीको को प्रकृति,जीवन, मिथक, धर्म, संस्कृति और लोकाचारो से ग्रहण किया है। जीवन के उमंगमय पूर्ण विकास को चित्रित करने के लिए 'बसन्त' सौन्दर्य के प्रति अनायास समर्पित होने के लिए पतंग, जावन की दीप्ति के लिए दीपक, सूर्यचन्द्र, अप्रतिम सौन्दर्य को चित्रित करने के लिए अप्सरा, मृत्यु के लिए ज्योतिः शरणतरण, सरस्वती के लिए ज्योतिस्तरणा, जीवन की जागृति के लिए, जीवन का रवि, पूर्ण निष्कलुष और पवित्र सौन्दर्य के लिए पृथ्वी-तनया-कुमारिका-छवि, का प्रयोग निराला की सजग कारयित्री प्रतिमा का परिचायक है। कुछ लोगो के अनुसार निराला में प्रतीक के प्रति कम आग्रह पाया जाता है। अन्य छायावादियो मे यह प्रवृत्ति अधिक है। मेरी दृष्टि मे उन्होने निराला-काव्य मे घिसे-पिटे प्रतीको को पाना चाहा है : वे हैं भी, विपुल हैं, लेकिन उनका काव्य अभिनव प्रतीक-सृजन मे भी कम समृद्ध नही है। ऊपर के उद्धृत अंशो मे बसन्त, पतंग, उर्वशी, अंचल, सूर्यचन्द्र, कमल, हीरा, अप्सरा, बादल, तिमिर, गगन, शिव, गिरिजा, नाव, सुमन परंपरित प्रतीक हैं। निराला ने उसी अर्थ में उन्हे ग्रहण भी किया है, पर ज्योतिःशरण, ज्योतिस्तरणा,

मालकोश नव वीणा पर, पृथ्वीतनया कुमारिका छवि, प्रातसमीरण, बसन्त की प्रथम गीति, सुधामधुर ज्योतिधार का प्रयोग निराला ही कर सकते थे। इसका कारण था। वे अपने मानस में तिरने वाले भाव-संवित की प्रकृति, उसके अन्तर्निहित निर्देश और उसके कोमल और कठोर स्वरूप से अवगत थे। कवि शब्द अर्थ के भाण्डार से ही अपना जीवन व्यतीत करता है। वही उसकी सम्पत्ति है, धन है, जीवन सर्वस्व है जिस कवि को शब्द की प्रकृति का ज्ञान होता है और वह अनुभूति के सन्दर्भ मे उन्हे परखने मे कुशलता का परिचय देता है, वह यथार्थ में महान कवि होता है। अनुभूति संवेदन प्राण होने के कारण लयात्मक ही नही होती, उसको अभिव्यक्त करने वाले) शब्द-गुंफो में भी उसे व्यक्त होना आवश्यक माना जाता है। इस तरह अभिव्यक्ति को अनुभूति के अनुरूप दबाना पडता है। यह क्रिया सरल नही है इसके लिए कुशल, अभ्यस्त और तत्वाभिनिवेषी-कृती की अपेक्षा होती है। निराला इस दृष्टि से कृती रचनाकार है। परम्परा और प्रयोग की बात प्रायः उठाई जाती है। महान कवि जीवन पर्यन्त प्रयोग रत रहता है, वह पूर्व परम्परा को तोड़ता है, पर अपनी सचेतन अभिव्यक्ति द्वारा वह अपने रचना की परम्परा का निर्माण भी करता है। अनुभूतिमय भावो के बार-बार मानस मे तिरने से उसके अनुभूति-संवित प्रच्छन्न रूप से एक आदर्श संवित् मे ढलते भी जाते है। इस तरह उसे केवल बाहरी परम्परा से ही संघर्ष नही करना पड़ता, अपितु अपने अन्दर प्रच्छन्न रूप से निर्मित होने वाली अभिव्यक्ति की परम्परा के प्रति भी सचेष्ट रहना और सचेतन रूप में उसे तोड़कर गतिशील बनाना आवश्यक होता है। निराला मे सदैव इस दुहरे संघर्ष का दर्शन हुआ है। सचेतन रूप मे एक ओर वे अपनी अनुभूति की प्रक्रिया से परिचित रहे है तो दूसरी ओर उसे एक निश्चित साँचे मे ढालकर पुनरावृत्ति प्रधान बनने, अतएव निष्क्रिय हो जाने के दुष्परिणाम के प्रति भी निरन्तर सतर्क पाए गए है। कुछ प्रतीकों की पुनरावृत्ति उनमे पाई जाती है, अनुभूति-संवितो को अभिव्यक्त करने वाले कुछ शब्द-गुम्फों को भी उन्होने दुहराया है, पर इन प्रतीको और शब्द-चित्रों को नए सन्दर्भ मे प्रयुक्त करके वे व्यंजना के धरातल उन्हे अभिनव भाव-बोधो का परिचायक बनाने मे पूर्ण सफल सिद्ध हुए है। इस तरह उनमे भावपक्ष के धरातल पर अनुपम द्रष्टा और अभिव्यक्ति के धरातल पर अनुपम शब्द-शिल्पी की सभी विशेषतायें विद्यमान है। दूसरे शब्दो में हम यह भी कह सकते है कि वे अनुपम द्रष्टा और स्रष्टा रहे हैं। उनमे ये दोनो प्रवृत्तियाँ एक दूसरे के पूरक रूप में ही नही अपितु अभेद की स्थिति मे विद्यमान पाई गई है।

जहाँ पर उन्होने प्रेम और सौन्दर्य की सफल और व्यंजक झाँकी प्रस्तुत की है, वहाँ पर प्रतीक इन उपर्युक्त विशेषताओं से स्वयमेव मण्डित हो गए है। पूर्व अध्यायों में हमने 'स्मर' और 'केशर' के प्रयोग-लाघव का संकेत किया है। यहाँ पर इस तथ्य को उनकी कविता 'जागो फिर एक बार ?' के माध्यम से स्पष्ट करने का

प्रयत्न करेगे। कविता पर विचार करने के पूर्व कुछ तथ्यों का उल्लेख अपेक्षित है। हमने इस तथ्य का बार-बार संकेत किया है कि अभिव्यक्तिपूर्व स्थिति में मानस मे प्रौढ रूप मे तिरनेवाली अनुभूति की अपनी संघटना होती है। रचनाकार को उसी मे मिलती-जुलती संरचना के माध्यम से उसको व्यक्त करना पडता है। इसके परिग्रहण मे प्रेरणा का विशेष सहयोग होना है। घनीभूत प्रेरणा की स्थिति मे इसकी अभिव्यक्ति स्वयं-चालित होती है। लेकिन इस स्तर तक पहुँचने के पूर्व कवि तत्परता और पुनर्पोषण के स्तर से गुजर चुका होता है। अतएव स्वयंचालित क्रिया भी किसी न किसी रूप मे पूर्व प्रयत्न के स्तरो की ऋणी होती है। फिर भी प्रेरणा की स्थिति मे उसके प्रभाव को झेलनेवाला कवि रचना के समय केवल एक माध्यम भर रह जाता है जिसके माध्यम से कविता की शब्दमय रचना होता रहती हे। ऐसी स्थिति मे कवि का व्यक्तित्व रचना के सन्दर्भ के साथ अभेद स्थिति मे क्रियाशील पाया जाता है। जो लोग अपनी चेतना से कुछ देर को मुक्त होकर अपने सहज स्वरूप की क्रियाशीलता के पारखी है वे इस तथ्य को सरलता से समझ सकते है। द्वितीय अध्याय मे रचना के इस स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। विगत अध्यायो में अनुभूति, अभिव्यक्ति और प्रेरणा की विभिन्न स्थितियो को इसी सन्दर्भ मे विवेचित और विश्लेषित करने का प्रयत्न भी किया गया है। सबसे महत्वपूर्ण बात तो यह है कि पूर्ण रचनात्मक मनोदशा मे रची गई स्वत: स्फूर्त रचनाओ मे केवल तर्क प्रधान सचेतन मस्तिष्क की तर्क योजना ही नही पाई जाती अपितु आशु-लेखन की प्रतीक-पद्धति का समावेश भी होता है। इस द्विविध संयोग से उन रचनाओ की प्रतीक-योजना एक विशिष्ट कलात्मकता मे मण्डित हो उठती है। इन प्रतीको को कार्य-कारण-शृखला मे बाँध कर विश्लेषित करने मे हम उस मूलभूत विशेषता से वचित रह जाते है जो उसमे आशु-लेखन की प्रतीक-पद्धति के कारण उत्पन्न हुई है। रचना के इस धरातल पर बिरले रचनाकार ही पहुंच पाए है। निराला की रचनाओ मे चेतन प्रतीकीकरण, चेतन-अचेतन के संयुक्त सहयोग पर आधारित प्रतीकीकरण, और अचेतन प्रतीकीकरण की विशेषताये विद्यमान है। प्रेरणा और अनुभूति के सघन और विरल होने अथवा रचनात्मक ऊर्जा के सशक्त-अशक्त होने के कारण उनकी रचनाओं मे इसके कई स्तरो का दर्शन होता है। अनुभूति के विवेचन के सन्दर्भ मे इस पर प्रकाश डाला गया है। उनके प्रतीक निरूपण की पद्धति पर इसकी स्पष्ट छाप है। 'जागो फिर एक बार' (!) कविता मे आरम्भ मे किरण का मानवीकरण किया गया है। विशेषणो के रूप मे निराला ने प्रेम और सौन्दर्य मे प्रयुक्त 'अरुण' और 'तरुण' शब्दो का प्रयोग किया है, जो उन्हे बहुत प्रिय है। ये शब्द अनुभूति की निश्चित आदर्श-संघटना को ग्रहण करने की क्रिया के परिचायक हैं। इनसे अनुभूति-संवित् को घटनामय अभिव्यक्ति-सवित् मे परिणत करने मे उन्हे सहायता मिली है। लेकिन किरणों पर कवि के भावो का आरोप स्पष्ट है। अतएव उपर्युक्त अंश मे किसी सफल प्रतीक की योजना नही

हो पाई है। इसी से संलग्न पंक्तियों मे 'अलि' 'मधु की गली' और 'कमल-कोरक' मे हमे सफल प्रतीक व्यंजना का दर्शन होता है। मधुप रसग्राही वृत्ति का होता है, वह मधु की तलाश मे इधर-उधर भटका करता है, कभी-कभी आस्वादन मे तल्लीन होने के कारण कमल द्वारा बन्दी भी बना लिया जाता है। निराला ने इस विधान के द्वारा रसग्राही, पर प्रेम की मधुप वृत्ति का दिग्दर्शन कराया है। इस वृत्ति के कारण व्यक्ति म विवेक-शून्यता की स्थिति होती है। अतएव 'जागो फिर एक बार' पंक्ति उसी विवेक-शून्य स्थिति मे अपनी सार्थकता को सिद्ध करती है। कविता के तीसरे अंश मे रवि, शशि, यामिनीगंधा, चकोर और चौथे अश मे 'पपीहा' जैसे परम्परित प्रतीको का प्रयोग किया गया है। सूर्य अस्ताचलगामी है, शशि की छटा चतुर्दिक प्रसरित हो रही है, यामिनी गंधा अपनी पूर्ण उत्फुल्लता मे है और चकोर विविध आशाओ से उन्मत्त होकर अपनी मूक अभिलाषा की तृप्ति के लिए चन्द्रमा को घेर रहा है, शिशिर के भार को न वहन कर सकने वाले फूलो की मस्ती उनके झुक कर झूमने से प्रकट हो रही है, यह कलियों मे भी अंट नही पा रही है, उनका यौवन उसकी तरंग मे उभड आया है। ऐसे उद्दीपन प्रधान वातावरण मे कवि नायक के जगने की कामना कर रहा है। इतना ही होता तो भी कोई विशेष बात न होती। यहाँ तो पपीहे भी पी कहाँ, पी कहाँ की रट लगाने लगे है। विरह-विदग्धा वधू पूर्व मिलन की बातो को याद करके अपनी सुन्दर पलको को उसी स्मृति मे मूंद लेती है। लेकिन वह कल्पना-सुख उसकी इच्छा को तृप्त नही कर पाता है। उसके नेत्रो से परवशता मे आसू ढुलक पडते है। इससे उसकी व्यथा कुछ कम हो जाती है। नीचे की पंक्तियो मे कवि ने 'समीर' तथा 'भारती' का प्रतीक रूप मे प्रयोग किया है। यहाँ पर उसकी कामना मूर्तिमान होकर उपस्थित हो गई है। वह प्रियतमा से नेत्रो के आसू को पोछने, सोने मे शिथिल हुई बाहो को स्वप्निल आवेश मे भरने, हृदय पर मुक्ति के लिए तत्पर वस्त्रो को मुक्त करने और सुषुप्ति को सुखोन्माद मे बदल देने की कामना करता है। इस सुखोन्मान की क्रिया का चित्रण करने मे कवि को विशेष सफलता मिली है। केशो के कल्पना जैसे इधर-उधर बिखर जाने और तन-मन के थक जाने की बात से तो सभी परिचितहै। पर मन के मन मे लीन होने और बुद्धि के बुद्धि मे लीन होने के पश्चात् उभय आत्माओ मे एक ही अनुभव को प्रवाहित होने, दोनो के अद्वैत मे पहुँच जाने और पुनः रति को ब्रह्मानंद सहोदर बन जाने की कामना निराला की अपनी विशेषता है। जिस कवि ने जीवन के मधु का पान पूर्ण पौरुष के साथ नही किया है, जिसने भाषा के प्रतीक स्वरूप से अपने को पूर्ण परिचित नही कराया है, उसके लिए यह प्रतीक व्यंजना संभव नही है। इन ललित कामनाओ के संदर्भ मे 'कब से मैं रही पुकार' की विह्वलता और 'जागो फिर एक बार' की अभिलाषा जैसे अनन्त व्यंजना के साथ

मुखर हो उठी है। यथार्थ मे कविता को यही पूरा हो जाना चाहिए पर कवि अनायास ही उसे नया मोड़ प्रदान करने और अभिनव आध्यात्मिक संस्पर्श से मंडित करने के लिए आगे बढा देता है। यही पर अनुभूति का धरातल सचेतन अभिव्यक्ति का परिचायक बन जाता है। इसके ऊपर के अंश मे कवि केवल माध्यम रहा है। लेकिन नीचे के अंश मे वह बात नही पाई जाती। ऐसा लगता है कि वह अब सचेतन होकर कुछ कहना चाह रहा है। उसकी आत्मविस्मृति समाप्त हो चुकी है। इसीलिए उसे पूर्ववर्ती व्यंजना को, आत्मा के शाश्वत प्रवाह और परमतत्व से शाश्वत विछोह के साथ जोडना पडता है। छोटी कविताओ मे भी कवि ने इस पद्धति का प्रयोग किया है। उदाहरण के लिए 'वासना की मुक्ति, मुक्ता त्याग मे त्यागी' या 'स्वर्ण-शस्य अचल पृथ्वी का लहराया' को लिया जा सकता है। वहाँ पर उस छोटे से चित्रफलक मे कवि का समूची कविता को एक अभिनव आयाम प्रदान करना उसके अन्तःदीप्तिपूर्ण आलोक का परिचायक है। पर यहाँ 'जागो फिर एक बार' मे चित्रफलक प्रगीतो की तुलना मे व्यापक है, अतएव उसे मोड प्रदान करने मे वह पकड मे आ जाता है।

समूची कविता के विवेचन से प्रतीक विवेचन की कई बाते सामने आती है। कविता की चरम परिणति भी व्यंजना के धरातल पर प्रतीक के रूप मे क्रियाशील पाई जाती है। समूचे कार्य-व्यापार को शाश्वतता से जोडकर कवि ने समूची कविता की संरचना को प्रतीक अभिव्यक्ति का सफल माध्यम बना दिया है। 'राम की शक्ति पूजा' और 'तुलसीदास' जैसी रचनाओ मे भी यह बात विशेष रूप से पाई जाती है। इसके अतिरिक्त जो दूसरी महत्वपूर्ण बात देखने को मिलती है, वह यह है कि कविता के अंशो मे भी एक प्रतीक व्यंजना निहित है। पहले अंश मे किरण के आह्वान की व्यंजना है। इसी अंश मे मधुपवृत्ति के कारण आह्वान को न सुन सकने के भाव को द्योतित किया गया है। तीसरे अंश मे प्रकृति के उद्दीपक चित्रण के साथ ही 'मद उर यौवन उभार' से 'जागो फिर एक बार' की भावना को पल्लवित किया गया है। कविता के महत्वपूर्ण अंश का सम्बन्ध पूर्व-मिलन की स्मृति के पश्चात् सम्मिलन की आकाक्षा से है। यहाँ कवि ने उसका सजीव चित्रण किया है। इसके पश्चात् अन्त मे कविता को मातत्य से जोड़कर उसके चित्रफलक को और व्यापक बना दिया गया है। निराला के शब्दो मे उसकी चरम परिणति भी उससे स्पष्ट होती जाती है। इस तरह कविता का विकास स्तरो मे हुआ है। हर स्तर के अंश मे प्रतीकात्मक व्यंजना निहित है। यह रचना मे अन्य स्तरो के साथ पिघल कर मिलती जाती है और समग्र रचना स्वयं एक प्रतीक के रूप मे हमारे समक्ष उपस्थित हो जाती है। इसके पहले हमने कविता द्वारा प्रस्तुत 'फिगर' का उल्लेख किया है। यहाँ उसको चरम परिणति-प्रतीकात्मक व्यंजना–पर भी ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक है। इससे स्पष्ट है कि कविता मे प्रतीको का प्रयोग किया जाता है, पर उसका हर अंश स्वयं प्रतीकव्यंजना में

समर्थ होता है। उसके माध्यम मे हमे कवि की अनुभूति का साक्षात्कार होना है। ये अनुभूतियाँ अन्त तक एकमेक होकर एक प्रतीक व्यंजना से पूर्ण पर समन्वित चित्र के रूप में हमारे समक्ष उपस्थित होती है। पूरी कविता मे कुछ स्थलो को लिया जाय—

(१) अरुण पंख तरुण-किरण
खडी खोलती है द्वार
जागो फिर एक बार।

(२) बन्द कर पाँखे
पी रही है मधुमौन

(३) आया कलियो मे मधुर
मद उर यौवन उभार।

(४) याद कर बीती बाते, राते मन मिलन की
मूंद रही पलकें चारु।

(५) आतुर उर वसन मुक्त कर दो
सब सुप्ति सुखोन्माद हो।

(६) एक अनुभव बहता रहे उभय आत्माओ में
कब से रही पुकार·····४६

उन उपर्युक्त पंक्तियो मे कवि ने निश्चित बिम्बो के माध्यम से जीवन की अनुभूति को मूर्तिमान करने का प्रयत्न किया है। ये बिम्ब उन अनुभूतियो को कलात्मक ढंग से अभिव्यक्त करते हैं। इससे ये अनुभूतियाँ विशिष्ट रूप मे हमारे समक्ष उपस्थित हो जाती हैं। चूंकि ये अंश व्यंजनापूर्ण जीवन-चित्र प्रस्तुत करते है, अतएव इन्हें भी प्रतीक की संज्ञा दी जा सकती है। लेकिन रचनाकार बिहारी जैसे दोहे नही लिख रहा है जिसके भावो का कोई पूर्वापर सम्बन्ध नही है। वह तो एक लम्बी कविता लिख रहा है, जिसके चित्रफलक को भरने के लिए उसे विभिन्न संस्पर्श प्रदान करने वाले रंगो को इस रूप मे प्रस्तुत करना है जिससे उसकी 'डिजाइन' का हमारे पर एक निश्चित प्रभाव पड सके। ऊपर के उद्धरण उसकी जीवंत अनुभूति के विविध रंगो की चित्रशाला को प्रस्तुत करते है। इन प्रयुक्त रंगो के परस्पर अन्तः सम्बन्ध से कविता के रूप का—अभिव्यंजक रूप का—निर्माण होता है। उसका यह रूप स्वयं मे विशिष्ट होता है। इसे हम कला-प्रतीक की संज्ञा दे सकते हैं। इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कला मे प्रयुक्त प्रतीक और कला प्रतीक (symbol in Art and Art Symbol) के भेद को स्पष्टता से समझ सकते है। कला-प्रतीक को हम इस कविता के अभिव्यंजक रूप की संज्ञा दे सकते हैं,

पर कला में प्रयुक्त प्रतीक रूपक या बिम्ब होता है और उसकी अस्पष्ट या स्पष्ट शाब्दिक विशिष्टता होती है।

जीवन के प्रतीकों के विवेचन और विश्लेषण के पश्चात् रचना के प्रतीको का उल्लेख विशेष तर्क-संगत होगा। इस दृष्टि से हम निराला-काव्य मे प्रयुक्त प्रकृति-प्रतीको का उल्लेख करना आवश्यक समझते है। पूर्ववर्ती विवेचन मे भी हमने बसन्त, सूर्य, चन्द्र और बादल आदि का नामोल्लेख किया है। वस्तुत. अन्य स्वच्छन्दधारा के कवियो की तरह निराला को भी प्रकृति से प्रेम था। उनकी दृष्टि उसके विविध कार्य-व्यापारो में रमी थी। उसके विविध-रूपो से उनका काव्य-जगत अलंकृत हुआ था। निराला साहित्य मे प्रकृति के 'अन्धकार' और 'प्रकाश' का बार-बार निरूपण हुआ है। अन्धकार के कुछ स्वरूपो का उल्लेख नीचे किया जा रहा है;

(१) अंधकार था हृदय (अनामिका, पृ० ८)
(२) संशय अधकारमय पथ पर भूला प्रियतम तरा (वही, पृ० २६)
(३) आज उसी जीवन-वन मे अंधकार छाया रहता है (वही, पृ० ४८)
(४) ध्वनिमय ज्यो अन्धकार। (वही, पृ० ४८)
(५) सूनना है अंधकार खडा चुपचाप जहाँ। (वही, ६३)
(६) तिमिर का गुरु भार। पीडित करता है प्राण (वही, पृ० ७२)
(७) श्रावण नभ का स्तब्धाधकार (वही, पृ० १२२)
(८) हे अमानिशा उगलता गगन घन अंधकार (अनामिका, पृ० १५४)
(९) ऐसे क्षण अंधकार घन मे जैसे विद्युत (वही, पृ० १५५)
(१०) रावण महिमा श्यामा विभावरी अंधकार (वही, पृ० १५९)
(११) तुम मुखपान घन अधकार (परिमल, पृ० ८०)
(१२) अंधकार मे मेरा रोदन (वही, पृ० १११)
(१३) कलुष-भेद तम-हर प्रकाश भर (गीतिका, पृ० ३)
(१४) कौन तम के पार रे कह (वही, पृ० १४)
(१५) दुःखभार भारत तम केवल (वही, पृ० १७)
(१६) पलक तरल-तम, मृग दृगतारे (वही, पृ० ४३)
(१७) स्तब्ध अन्धकार मघन (वही, पृ० ७८)
(१८) तमस्तूर्य-दिङ्-मंडल (तुलसीदास, पृ० ११)
(१९) छाया ऊपर घन अन्धकार (वहा, पृ०)
(२०) खिचता, जैसे तम शेष जाल (वही, पृ० २३)
(२१) पार्थिव ऐश्वर्य का अंधकार पोडा कर (वही, पृ० २७)
(२२) करना होगा यह तिमिर पार (वही, पृ० २८)
(२३) अब अंधियाली ही बढती है (गीतगुंज, पृ० ७२)
(२४) घन तम से आवृत धरणी है (अर्चना, पृ० ६७)

(२५) गहन है यह अंधकारा (राग विराग, पृ० १४८)

उपर्युक्त उद्धरणो स यह तथ्य पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि निराला ने अन्धकार का कई धरातलो पर साक्षात्कार किया था। कई स्थानों मे उसका चित्रण परिवेश, संस्कृति, जीवन और समाज मे व्याप्त जड़ता की स्थिति के लिए भी किया गया है। उनका जीवन स्वतः मे सद् और असद् के बीच संघर्ष का परिचायक रहा है। इस दृष्टि से अन्धकार असद् या अज्ञान का परिचायक है। कभी-कभी जीवन मे उन्हें यथाशक्ति संघर्ष करने पर सर्वथा निराश भी होना पड़ा है। ऐसी स्थिति मे अंधकार जीवन की दिशाहीन निराशा का परिचायक बन गया है। जीवन के अन्त में यह स्थिति बलवती होती गई है। अन्तिम बोध मे कवि अन्धकार तक ही सीमित नहीं रह जाता अपितु जीवन को 'अंधकारा' भी मान लेता है। यह अन्धकार की 'अन्धकारा' मे परिणति उनके पराजय–बोध की परिचायक बन जाती है। निराला ने उसके 'गुरु भार' को झेला है, वे उससे पीड़ित भी हुए है। उनकी सरोज श्रावण घन के स्तब्ध-अन्धकार मे उनका साथ छोड़ती है, उनके राम के समक्ष आसमान अंधकार उगल रहा है, रावण की महिमा का मूल तत्व महाकाली अंधकार स्वरूप है, भारत के दुख-दग्ध भविष्य पर अंधकार छाया हुआ है, फिर निराला उससे स्वयं कैसे बच सकते है। उन्हे भी इसका ज्ञान होने लगता है कि अब जीवन मे 'अंधियाली' हो बढ रही है और कवि उस बढती हुई अंधियाली में अरण्य-रुदन कर रहा है। निराला ने पार्थिव-ऐश्वर्य को अन्धकार का प्रतीक माना है। उन्होने यथा स्थान उसका मानवीकरण भी किया है, यथा 'सुनता है अंधकार खडा चुपचाप जहाँ।' 'ध्वनियम ज्यों अंधकार', 'तुम सुरापान-घन अन्धकार', या 'पलक तरलतम, मृग दृग तारे' जैसे प्रयोगों मे अंधकार को विशेष अर्थों का वाहक बनाया गया है। निराला ने एक ही पद मे इसके अनेक स्वरूपों द्वारा वातावरण की सृष्टि की है। 'राम की शक्ति पूजा' को लीजिए। इसमें राम के समक्ष अमानिशा का अंधकार है, उनकी लटों को खुलकर इधर-उधर फैलने से पर्वत पर अंधकार छा जाता है, उसी अंधकार की स्थिति में राम के मन में सीता की स्मृति कौधती है। इससे एक भिन्न अंधकार भी है। श्यामा की तुलना विभावरी के अंधकार से की गई है। उसे तमोगुण प्रधान तो कहा गया है, पर उसकी विशिष्टता को भी शब्द के द्वारा चित्रित कर दिया गया है। गोधूली और 'विभावरी' दोनों में प्रकाश का अंश होता है। गोधूलि का प्रकाश रात्रि के गर्भ में सिमट कर लीन हो जाता है। पर विभावरी का प्रकाश लीन नही होता, वह बढता जाता है, और अन्ततोगत्वा वह अन्धकार-मुक्त हो जाता है। 'राम की शक्ति पूजा' मे राम के समक्ष जो घोर अन्धकार है उसका कारण भी श्यामा है। राम ने उपासना के द्वारा 'श्यामा' विभावरी अन्धकार' को 'दुर्गाभास्वर' में बदल दिया है। वे पुरुषोत्तम नही बल्कि 'पुरुषोत्तम नवीन' बन गए हैं। इसीलिए उनकी विजय भी होती है। लेकिन अन्धकार पर प्रकाश के विजय का यह क्रम केवल

छायावादी युग मे ही बना रहता है। बाद में तो उनके लिए उनकी अबोलिखित कविता हो अधिक सार्थक ज्ञात होती है—

'नियति संध्या मे मुंदे सकल
वही दिन मणि अगणित साज
न है वे कुसुम न वह परिमल
न है वे अधर न है वह लाज !
तिमिर-ही-तिमिर रहा कर पार
लक्ष-वक्ष स्थलार्गलित द्वार।[४०]

निराला अन्धकार को दृश्य ही नही स्पृश्य स्वरूप मे भी चित्रित करते है। 'तिमिर ही तिमिर रहा कर पार' मे ये विशेषतायें विद्यमान है। अन्धकार उनके ऐसे प्रतीक का काम करता है जिसके आधार पर वे त्रासद और भयावनी मनः स्थितियों को भी चित्रित करने मे सफल हुए है। अन्धकार वैसे तो केवल प्रकाश के अभाव का पर्याय है, पर कवि-बोध मे पर्त-दर अपनी विशेषताओं मे उतरने पर निराला अनुभव करते हैं, 'तिमिर का गुरुभार पीडित करता है प्राण।' यह अनुभव 'गुरु हथौडा हाथ, करती वार-बार प्रहार' से अधिक त्रासद है। इससे उनकी कविता मे बेगानगी और बिलगाव को तल्खी पैदा हुई है। अन्धकार को प्रकाश मे बदलने के लिए जिस जिजीविषा से उन्होने काम लिया था, वह भी अब अदृश्य हो गई है। वे स्पष्ट अनुभव करने लगते है।

'हमारा डूब रहा दिनमान।
मास-मास दिन-दिन प्रतिपल
उगल रहे हो गरल अनल
जलता यह जीवन अमफल,
हिम-हत पातो सा असमय ही
झुलसा हुआ शुष्क निश्चल।
झरने ही पर है पल्लव-प्राण
हमारा डुब रहा दिन मान।'[४१]

'दिनमान डूबना' किस अर्थ का परिचायक है, उसे आप सभी समझ सकते हैं। 'राम की शक्ति पूजा' में भी 'उगलता गगन घन अन्धकार' की बात आती है और 'तुलसीदास' मे भी कवि को 'तुलना नमशेष जाल' की अनुभूति हुई। यहाँ पर 'उगल रहे है गरल' मे जो तल्खी है वह उन स्थलो पर नही पाई जाती है। यहाँ का अंधकार परिमाणात्मक और गुणात्मक दृष्टि से पहले से भिन्न है। दिन और मास गरल उगल रहे है, जीवन जल रहा है। ओलों से पिटे पत्तो जैसे जीवन असमय ही निरर्थक हो गया है। प्राण रोके नही रुक रहे हैं। वे झर जाना चाह रहे है। अंधकार

निराला के लिए जीवन अंधकार का ही नही मृत्यु का प्रतीक है, उपर्युक्त पद से यह तथ्य पूर्णतया ध्वनित होता है। 'अर्चना' में भी उन्होंने लिखा है,

'छाया-पथ घनतर से घनतम,
होता जो गया पंक कर्दम,
ढंकता रवि आँखो से सत्तम
मृत्यु की प्रथम आभा भाई।
धीरे-धीरे हँसकर आई
प्राणो की जर्जर परछाई।'[५२]

स्पष्ट है कि अंधकार का प्रतीक उनकी चित्तवृत्ति की रूझान के अनुसार कई भूमिकाओ में प्रस्तुत हुआ है। निराला ने इसके कई रूपो को कलात्मक ढंग से अभिव्यक्ति प्रदान की है।

अंधकार से निराला ने निरन्तर संघर्ष किया है। परवश हो जाने पर ही उन्होने उसके अस्तित्व को स्वीकार किया है। अंधकार से संघर्ष का प्रमुख अस्त्र प्रकाश है। प्रकाश उनके लिए ज्ञान, विश्वास, आस्था, जागरण, आशा और जीवन के विकास का परिचायक है। निराला मूलत. प्रकाश के कवि हैं, पर नियति की विडंबना से उन्हे अन्धकार के गर्त को झेलने के लिए विवश होना पडा है। इस तरह प्रकाश और अंधकार दोनो उनकी नियति बन गये है। भारतीय साधना मे प्रकाश और अंधकार महत्वपूर्ण भूमिका निभाये है। इनका जीवन से भी निकट का सम्बन्ध रहा है। निराला ने जैसे अन्धकार को सामाजिक-सास्कृतिक और दार्शनिक कलेवर प्रदान किया है वैसे ही प्रकाश को भी। इन दोनो प्रतीकों से उन्होन व्यष्टिचेतना के साथ ही समष्टि-चेतना को भी समेटा है। अन्धकार के स्तरो की ही तरह वे प्रकाश के विविध रंगो के प्रति विशेष सचेष्ट रहे हैं। इन रंगो का उन्होने प्रतीक-रूप मे प्रयोग किया है। निराला मे काला रंग, अन्धकार, निराशा, माया, भ्रम आदि का प्रतीक है। 'कौन तम के पार रे कह' जैसी कविताओ मे वह रहस्य को छिपाने वाला परदा बन गया है। जीवन की कुटिल गति को भी वे 'अन्धतम जाल' की संज्ञा देते है और दार्शनिक साधकों की तरह मनोगगन के गहन अंधतम को भेदने की बात करते है। 'श्याम' शब्द भी उन्हे प्रिय है। पत्थर तोड़ने वाली की देह श्याम है। 'उतरे जल मे अवसन श्यामा' के द्वारा भी वे श्याम सौन्दर्य का संकेत करते है। नीला रंग छायावादियो के लिए विशेष प्रिय है। निराला ने इसका प्रयोग कई अर्थ सन्दर्भों मे किया है;

(१) वहाँ कहाँ कोई अपना
सब सत्य नीलिमा में लयमान (परिमल ८५)

(२) नील सिंधु में खुले कमल दल
हरित ज्योति चपला अति चंचल (परिमल पृ० ९५)
(३) नयन नगन, नव नील गगन मे (गीतिका, पृ० ६)
(४) किस अनन्त का नीला अंचल हिला-हिला कर (परिमल, पृ० ७६)
(५) देखा शारदा नील वसना (तुलसीदास, पृ० ५४)

स्पष्ट है कि निराला ने नीले रंग को रहस्य का परिचायक माना है। सिन्धु नीला है, गगन नीला है, कवि की शारदा नीली है और सभी सत्य नीलिमा मे लयमान है। इस तरह नीला अनन्तता और असीमता का प्रतीक बन जाता है। उन्होंने पीले रंग को रजोगुण का प्रतीक, श्वेत को सतोगुण का प्रतीक और काले को तमोगुण का प्रतीक माना है। यथास्थान प्रकृति के उल्लास को द्योतित करने के लिए ही रंग का उल्लेख भी मिलता है। पर इन सब के बावजूद श्वेत, और लाल रंग उन्हे विशेष प्रिय है। लालरंग को चित्रित करने वाले कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं,

(१) लक्ष्मी का शतमणि लाल जटित
ज्यों रक्त पद्म (अनामिका, पृ० २२)
(२) रक्ताभ मंजु उड़ते षटपद (वही, पृ० २२)
(३) सोहता स्वस्थ मुख बालारुण (वही, पृ० २२)
(४) हंसता रक्ताम्बर पर पलास (वही, पृ० २२)
(५) नव अरुण संग हो लो (परिमल, पृ० ३७)
(६) अरुण पंख तरुण किरण (वही, पृ० १८५)
(७) लालसी कपोल (वही, पृ० १८३)

निराला ने सौन्दर्य को स्वास्थ्य से संबद्ध करके देखा है। स्वस्थ व्यक्ति का मुख लाल होता है। इस तरह लाल रंग यौवन के उल्लास का प्रतीक सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त उन्होने लाल को प्रकृति की रक्तपूर्ण वस्तुओं के लिए भी प्रयुक्त किया है। 'लालसी कपोल' जैसे प्रयोग व्यक्ति की निश्चित मनोदशा के चित्रण मे विशेष सफल हैं। श्वेत को उन्होंने सर्वाधिक अर्थ-सन्दर्भ प्रदान किया है। उदाहरण के लिए अधोलिखित अंशो को लिया जा सकता है—

(१) ज्योतिर्मयिलता सी (अनामिका, पृ० १)
(२) शुभ्र हीरक सुमन हार (वही, पृ० २)
(३) ज्योति छवि (वही, पृ० ४)
(४) सजल शिरीस धौत पुष्प (वही, पृ० ५)
(५) छिड़क ज्योत्स्ना घट अपना भर-भर के (वही, पृ० २६)
(६) तेजः पुंज तपस्या की वह ज्योति-प्रलय साकार (वही, पृ० ५३)
(७) मेरे गगन-मगन मन मे अयि
किरणमयी विचरो (परिमल, पृ० ३४)

(८) वृन्त पर टलमल उज्ज्वल प्राण (वही, पृ० ६४)
(९) दिवस का किरणोज्ज्वल उत्थान (वही, पृ० १३४)
(१०) तुम किरण से अश्रु पोछ लेते हो (वही, पृ० १३५)
(११) रश्मि चमत्कृत स्वर्णालंकृत नवल प्रभात (वही, पृ० १५३)
(१२) हरित ज्योति-जल-मरित-सरित, सर प्रखर प्रपात (वही, पृ० १५३)
(१४) कौन तुम शुभ्र किरण वसना (गीतिका, पृ० ३४)
(१५) जागो-जागो आया प्रभात (तुलसीदास, पृ० ५७)
(१६) झरता भर ज्योतिर्मय प्रपात पूर्वांचल (वही, पृ० ५७)
(१७) जागा कवि अशेष छविधर (वही, पृ० ५९)
(१८) जो दिया मुझे तुमने प्रकाश (वही, पृ० ६७)
(१९) प्राची दिगन्त में पुष्कल रवि-रेखा (वही, पृ० ६१)

ज्योतिप्रात ज्योति रात
ज्योति नयन, ज्योतिगात
ज्योति चरण, ज्योतिचाल
ज्योति विटप, आलबाल,
ज्योति सलिल, ज्योतिताल
ज्योति कलश, ज्योतिपात ।
ज्योति प्रथम प्रिय दर्शन,
ज्योति कंप आकर्षण,
ज्योति मिलन, श्रम वर्षण
ज्योति विभ्रम, ज्योति जात । (आराधना, पृ० ५४)

(२०) जीवन-प्रदीप चेतन तुम से हुआ हमारा ।
ज्योतिष्क का उजाला ज्योतिष्क से उतारा । (बेला, पृ० ३३)

ऐसे ही अनेक उद्धरण उनके काव्य से उद्धृत किये जा सकते हैं । सबसे प्रमुख बात, जो इन उद्धरणों में देखने को मिलेगी, वह है अनुभूति की प्रकृति का ज्ञान और उसको अभिव्यक्त करने के लिए उपयुक्त प्रतीकों का प्रयोग । निराला प्रकाश को ज्योति, शुभ्र, किरण, रश्मि, प्रकाश, पुष्कल रवि रेखा, आदि शब्दों से अभिहित करते हैं । इन शब्दों के साथ वे कोई न कोई अन्य शब्द जोडकर अभिव्यक्ति में चार चाँद लगा देते हैं । उदाहरण के लिए ज्योतिर्मयिलता, ज्योति छवि, ज्योतिर्मय-निर्झर, ज्योतिर्मय-प्रपात, शुभ्र-हीरक-हार, शुभ्रकिरण वसना, छिडक ज्योत्स्ना, सजल-शिशिर-धौत-पुष्प, तेज पुंज तपस्या, किरणमयि, किरणोज्ज्वल-उत्थान को लिया जा सकता है । कवि उनके लिए अशेष-छविधर है और वह ज्योतिस्तरण के चरणों पर रहकर तपस्या कर चुका है । इसीलिए उसे प्रकाश भी मिला है । कवि अपने ही ज्ञान प्राप्त

करके संतुष्ट नहीं है। वह उस ज्ञान के प्रकाश को दूसरों तक पहुँचा करके उनकी तन्द्रा भंग करना चाहता है। ज्योति उनके लिए ज्ञान के साथ ही तपःपूत साधना की परिचायक भी है। वे इसीलिए उज्ज्वल प्राण की कल्पना करते हैं। यह तभी संभव है जब ज्योतिर्मय निर्झर फूटे, ज्योति का प्रपात झरे। 'रश्मि चमत्कृत स्वर्णालंकृत नवल प्रभात', 'हरित-ज्योति-जल', या 'प्राची दिगन्त मे पुष्कल रविरेखा' जैसे वाक्यों से उनकी इसी अभिलाषा का संकेत मिलता है। अंधकार की ही तरह ज्योति के द्वारा भी उन्होने वातावरण की सृष्टि करनी चाही है। इसमे उन्हें सफलता भी मिली है। 'कौन तुम शुभ्र किरण वसना' जैसे स्थलो पर ज्योति को रहस्यावेष्टित स्वरूप मे चित्रित किया है। यथास्थान वे अपने जीवन-प्रदीप को अमरज्योति पुंज से अनुप्राणित मानते है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि निराला ने ज्योति का प्रयोग विविध अर्थ-सन्दर्भों मे किया है। निराला मे प्रकाश का प्रतीक रूढ अर्थों में भी प्रयुक्त है। पर यथास्थान इसे अपने नये अनुभव से संबद्ध करके उन्होंने इसमें चमत्कार भर दिया है। 'जागो फिर एक बार' (!) मे किरण रहस्यवादी कवियों का परिचित प्रतीक है, किन्तु निराला उसे ब्रह्म का प्रतीक मानकर माया का प्रतीक बना देते हैं। 'अरुण पंख तरुण किरण खडी खोल रही द्वार।' सोने वाला पुरुष है, जगानेवाली प्रकृति है। किरण मे रंगीनी है, ब्रह्म का वर्णहीन प्रकाश नही है। इसी तरह 'पावन करो नयन' मे किरण उसी प्रकृति, शक्ति अथवा माया का प्रतीक है। उसे दिन के बाद रात मे चन्द्रकिरण से जोडकर, उसे दुख निशा में सपने की सुघर जागृति बनाकर निराला ने चमत्कार उत्पन्न किया है। प्रतीक एक होते हुए भी प्रतीक-योजना रहस्यवादी रूढि से उल्टी दिशा मे चल रही है।[५१]

निराला-काव्य मे प्रकाश और अन्धकार के बीच की स्थितियों का भी चित्रण है। इन्हे उन्होने 'विभावरी' और 'संध्या' के नाम से अभिहित किया है। 'राम' की शक्ति पूजा' का आरम्भ 'ज्योति के पत्र पर लिखा रह गया राम-रावण का अपराजेय समर' से होता है। वह ज्योति का पत्र क्या है? उस पर राम-रावण का अपराजेय समर क्यो लिखा रह जाता है? इसका उत्तर स्पष्ट है। निराला ने दिन को ज्योति का पत्र कहा है। दिन भर युद्ध होता है और शाम को वह बन्द हो जाता है। इसी बात को चित्रित करने के लिए 'ज्योति पत्र पर लिखा रह गया' का प्रयोग किया गया है। भूत काल के प्रयोग के द्वारा कवि ने बडे कौशल से संध्या के आगमन को चित्रित कर दिया है। 'हमारा डूब रहा दिन मान' भी उन्होंने ही लिखा है। 'ज्योति के पत्र' की ही तरह 'दिनमान' भी सूर्य का ही परिचायक है। इन दोनों स्थलों पर संध्या का जो चित्रण किया गया है वह गतिशील होते हुए भी जीवन की निरर्थकता का बोध कराता है। 'राम की शक्ति पूजा' मे संध्या का वक्षस्थल, रक्त और शव से भरा हुआ है। उसमे युद्ध की विगत विभीषिका नग्न ताण्डव कर रही है। यही संध्या क्रमशः रात्रि में बदल जाती है। दैत्याकार आसमान अन्धकार उगलने लगता है।

इसके अत्यधिक बढ़ने से दिशाओं का ज्ञान समाप्त हो जाता है। जिस भीमकाय पर्वत पर राम की सेना टिकी हुई है, ध्यान मग्न दिखाई पड़ रहा है। चारों ओर अंधकार ही अंधकार है, पर उसमे केवल एक छोटी सी मशाल जल रही है। घोर निराशा के बीच भी आशा का क्षीण संबल उपस्थित है। 'हमारा डूब रहा दिनमान' मे सूर्य डूबने वाला है। लेकिन उसी स्थिति मे निराला को जीवन की भयावहता, मूर्तिमान होकर निगल जाने के लिए तैयार है। उन्हे लगता है कि मास, दिन और पल अनल उगल रहे है। 'तुलसीदास' मे भी कविता का आरम्भ संस्कृति के सान्ध्यकाल से होता है। भारत के नभ का प्रभापूर्ण, शीतल-छाया प्रदान करने वाला सास्कृतिक सूर्य अस्त हो गया है। निराला इसका चित्रण करते हुए लिखते है—

'शत-शत अब्दो का सान्ध्यकाल
यह आकुचित भ्रू कुटिल-भाल
छाया अंबर पर जलद-जाल ज्यो दुस्तर।'[५४]

संध्याकाल कवि में भी उदासी भरता है। समष्टि की तरह व्यष्टि मरणबोध की विभीषिका से त्रस्त हो उठता है;

'ढल रहे ये मलिन मुख रवि, दुख किरण
पद्म-मन पर थी, रहा अवसन्न वन
देखती यह छबि खडी मैं, साथ वे,
कह रहे थे हाथ मे ये हाथ ले।
'एक दिन होगा
जब मै न हूँगा
हर्ष-हरण-हृदय
नही निर्दय क्या ?[५५]

संध्या का यह स्वरूप 'सन्ध्या सुन्दरी' मे बदल गया है। वहाँ वह परी है जो धीरे-धीरे आसमान से उतर रही है। उसमे चंचलता नही है। उसके अधर मोहक और गंभीर हैं। उसके केशो मे गुंथा हुआ एक तारा हँस रहा है। वह नीरवता के कंधे का सहारा लेकर छाया जैसे आसमान से उतर रही है। न तो उसके हाथ मे वीणा बजती है और न अनुरागपूर्ण राग ध्वनित होता है। केवल शान्ति का वातावरण चतुर्दिक व्याप्त है। जगत उसकी क्रोड मे स्वप्नमय नीद मे डूब जाता है। कवि के विरहाकुल कमनीय कण्ठ से विहाग का गान फूट पडता है। यहाँ संध्या का स्वरूप भिन्न है। इससे यह भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है कि एक ही प्रतीक का निराला ने परिस्थिति के अनुसार भिन्न-भिन्न उपयोग किया है।

विभावरी पर इसके पूर्व हम कुछ लिख चुके है। जागो फिर एक बार (!) मे प्रकृति नायक को जगाती है। 'गीतिका' मे अनेक ऐसे स्थल आये है जिनमे प्रभात के स्वरूप को चित्रित किया गया है। 'अलस पंकज दृग अरुण मुख तरुण अनुरागी'

द्वारा कवि सूर्य जैसे लाल मुख वाले नायक में नायिका को अनुरक्त दिखाया है। 'जागो जीवन-धनिके' गीत मे कवि ने लिखा है;

दुःख भार भारत तम-केवल
वीर्य सूर्य के ढके सकल दल
खोलो उषा-पटल निज कर अयि
छविमय दिन मणि के।[५६]

उषा यहाँ नवीन आशापूर्ण जीवन का प्रतीक है। निराला काव्य मे इसको अनेक बार आवृत्ति मिलती है;

'गई निशा वह, हँसी दिशाएँ
खुले सरोरुह जगे अचेतन
बही समीरण जुड़ा नयन-मन
उड़ा तुम्हारा प्रकाश केतन।'[५७]

प्रभात कवि के लिए नव जागरण का भी प्रतीक है। उपर्युक्त पद में कवि ने रात्रि के बीत जाने पर दिशाओ के हँसने, कमलो के खिलने, सुषुप्ति में पड़े लोगों के उठने, शीतल वायु के चलने से नेत्र और मन के जुड़ने और प्रकाश केतन को फहरने का उल्लेख किया है। पर 'तुलसीदास' के पदों में यह प्रवृत्ति बहुत स्पष्ट होकर हमारे सामने आई है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं;

जागो जागो आया प्रभात
बीती वह बीती अन्धरात।
झरता भर ज्योतिर्मय प्रभात पूर्वांचल;
बाँधो बाँधो किरणें चेतन
तेजस्वी है तमजिज्जीवन;
आती भारत की ज्योतिर्धन महिमाबल[५८]।

अथवा,

तम के अमार्ज्य जो तार-तार
जो उन पर पडी प्रकाशधार
जगवीणा के स्वर के बहार रे जागो
इसकर अपने कारुणिक प्राण
करलो समक्ष देदीप्यमान
दे गीत विश्व को रुको, दान फिर माँगो[५९]।

इन पंक्तियों मे उद्‌बोधन का स्वर प्रमुख है।

निराला ने ऋतुओ का प्रयोग भी प्रतीक रूप मे किया है। इन ऋतुओं में वर्षा, बसन्त, ग्रीष्म, शरद, हेमन्त और शिशिर आदि का यथास्थान उल्लेख मिलता

है। निराला ने रचना में अपनी रुचि को विशेष महत्व दिया है। वर्षा और बसन्त उनकी रुचि के अनुकूल हैं। इसीलिए इनपर उन्होने अधिक रचनायें की है। निराला ने ऋतु गीतो से संवेदना के मूक क्षणो को मुखर किया गया है। उनमें ऋतु-वर्णन के स्थान पर मनोभावो को व्यक्त करने की प्रवृत्ति प्रमुख है। ऋतु चक्र होता है जो निश्चित कालान्तर के साथ चक्कर काटा करता है। इन ऋतुओं के आगमन के साथ ऐसा ज्ञात होता है कि वे उनसे एकतानता का अनुभव करते है। इनके ऋतु केवल आलम्बन और उद्दीपन के साधन नही हैं, वे तो कुछ और है। निराला ने कुछ ऋतुओ के माध्यम से अपने को खोजा, समझा और पाया है। जो ऋतु उनकी इस क्रिया मे अधिक सहायक होते है, उनके साथ वे निकटता का अनुभव करते है। ग्रीष्म ऋतु निराला की प्रकृति के प्रतिकूल है। उन्होने 'ज्येष्ठ'[६०] मे इसका चित्राकन किया है। आरम्भ मे ही उन्होने इसकी क्रूरता और कर्कशता को ज्येष्ठ कहा है। उसके बाद वे 'सृष्टि भर के व्याकुल आह्वान' 'सृष्टि भर क शक्ति अवसान' 'लपट लू की है या शूल-करोगे बिद्ध' जैसे प्रयोगो से उसके सही स्वरूप को सामने रखते है। उसे लोगो मे भीति जगाने वाला और उनको निष्ठुर पीड़न से भर देने वाला कहा है। उनकी दृष्टि उसके तेजपुंज स्वरूप की ओर भी गई है। इस स्वरूप को वे तपस्या की ज्योति मानते है। पर यह ज्योति साधक नही बाधक है। वह साकार प्रलय की परिचायक है। वह जगत को दग्ध कर देने वाली है। उसे देखकर मायामय स्वरूप काँप उठता है। दिन भर प्रचण्ड आतप के कारण लोग काम नही कर पाते है। शाम को जीवन मे सक्रियता फैलती है अतएव उस काल को निराला ने रजोगुण प्रधान माना है। अन्त मे वे ज्येष्ठ को बज्र कठोर और देवव्रत की संज्ञा देते है। वह प्रेम से लोगो को नही झुका पाता है। वह तो अपने कठोर आतप से लोगो को घुटने टेकने के लिए बाध्य करता है। स्पष्ट है कि ग्रीष्म निराला के लिए जलन, अति कठोर असह्य अनुशासन और सहज जीवन और प्रचण्ड आतप का प्रतीक है। इस जलन से मुक्ति का कार्य वर्षा को सपादित करना पड़ता है। लेकिन निराला इसी सन्दर्भ म इस इस तथ्य का संकेत भी कर देते है कि ग्रीष्म ही वर्षा का कारण भी है। जो ग्रीष्म के आतप को नही झेल सकता वह वर्षा का सुख नहीं भोग सकता।

उन्होने पतझड़ पर भी कवितायें लिखी है। यह ऋतु निराला के लिए अपने अवसाद, ऊर्जा के क्षरण और दैन्य के साथ ही रिक्तता की अभिव्यक्ति का प्रमुख साधन है। 'ठूंठ' कविता पर इसके पूर्व विचार किया जा चुका है। वहाँ 'ठूँठ' जीवन-प्रतीक है जो कवि की अभिषप्त नियति का परिचायक बन जाता है। निराला ने एक अन्य कविता मे भी लिखा है।

'आम की यह डाल जो सूखी दिखी
कह रही है-'अब यहाँ पिक या शिखी
आते नही पंक्ति मै वह हूँ लिखा

नही जिसका अर्थ—
जीवन दह गया है।'[११]

ठूंठ भी प्रतीक है। आम की डाल भी प्रतीक है। इन दोनो के माध्यम से निराला ने अपने जीवन की रिक्तता, अवसाद तथा इनसे उत्पन्न मानसिकता का स्पष्ट उल्लेख किया है। निराला अपने को ठूंठ समझने लगे है, सूखी आम की डाल मानने लगे है। वे अब सूखी आम की डाल की तरह ही एक पंक्ति है जिसका अर्थ लिखा ही नही गया है। अतएव उसे समझा नही जा सकता। निराला ने 'आराधना' मे इसे मुखर अभिव्यक्ति प्रदान की है—

'दुखता रहता है अब जीवन,
पतझड़ का जैसा वन उपवन।
झर-झर कर जितने पत्र नवल
कर गए रिक्त तनु का तरुदल,
है चिह्न शेष केवल संबल
जिनसे लहराया था कानन
डालियाँ बहुत सी सूख गईं,
उनकी न पत्रता हुई नई,
आधे से ज्यादा घटा विटप
बीज को चला है ज्यो क्षण-क्षण।
यह वायु बसन्ती आई है
कोयल कुछ क्षण कुछ गाई है,
स्वर मे क्या भरी बुढ़ाई है,
दोनो ढलते जाते उन्मन।'[१२]

इस कविता मे 'ठूंठ' और 'स्नेह निर्झर बह गया है' मे प्रयुक्त प्रतीक तो आये है, उनके अतिरिक्त कुछ अन्य प्रतीकों का प्रयोग किया गया है। पहली बात तो यह है कि वृक्ष को जीवन का प्रतीक माना गया है और उसके क्रमशः क्षरण की क्रिया पर भी प्रकाश डाला गया है। 'बीज को चला है ज्यो क्षण-क्षण' द्वारा निराला ने उस क्रिया को विशेष रूप से मूर्तिमान कर दिया है। यहाँ बासन्ती वायु भी है, कोयल भी है, पर वे कवि को प्रभावित नही कर पाती हैं। 'स्वर मे क्या भरी बुढ़ाई है। दोनों ढलते जाते उन्मन।' कोयल के स्वरूप में भी बुढापा आ गया है। उसमे उन्मत्त करने की शक्ति नही रह गई है। 'ठूठ' पर वृद्ध पक्षी बैठा है, संभवत. वह गिद्ध ही रहा होगा, यहाँ कोयल तो है, पर वह भी वृद्ध। प्रायः पतझड़ के साथ नवनिर्माण का प्रतीक भी जुड़ा रहता है। पत्ते गिरते हैं, वृक्ष पत्र-विहीन बन जाता है। लेकिन थोड़े समय बाद वह नई कोपलों से पुनः भर उठता है। उसमे नए फल लगते है। इस

तरह पतझड़ विकास का परिचायक भी सिद्ध होता है। निराला की दृष्टि उधर भी गई है। 'गीतिका' का अधोलिखित गीत द्रष्टव्य है—

'रूखी री यह डाल, वसन बासन्ती लेगी।
देख खड़ी करती तप अपलक
हीरक सी समीर माला जप
शैल-सुता अपर्ण अशना
पल्लव वसना बनेगी
वसन बासन्ती लेगी।
हार गले पहना फूलों का,
ऋतुपति सकल सुकृत कूलों का,
स्नेह, सरस भर देगा उर सर
स्मर हर को वरेगी।
वसन बासन्ती लेगी
मधुव्रत मे रत वधू मधुर फल
देगी जग को स्वाद-तोष-दल
गरलामृत शिव आशुतोष-बल
विश्व सकल नेगी,
वसन बासन्ती लेगी।'

निराला 'रूखी' और 'सूखी' के भेद से परिचित है। पल्लव-विहीन डाल रूखी है और उसके पल्लवित होने की संभावना भी बनी है। 'लेगी' भविष्यकाल की क्रिया है पतझड़ मे जो डाल सूख गई है, बसन्त में वह हरी भरी हो उठेगी। सूखी डाल की तुलना तपोरत अपर्णा पार्वती से की गई है। जिस तरह तप के पूर्ण होने पर अपर्णा 'पल्लव वसना' बनेगी, ऋतुपति के सुकृत के पुष्पों से बने हारों से सुशोभित हो उठेगी, सरस स्नेह से उसका हृदय भर उठेगा और वह काम रिपु-शंकर को वर स्वरूप प्राप्त करेगी, उसी तरह डाल भी बसन्त आने पर हरी भरी और पुष्पित हो उठेगी। इस तरह वह बसन्त मे नवयौवन प्राप्त करके, फलों से लदकर सबके स्वाद और संतोष का साधन बनेगी। जिस प्रकार गरल को अमृत मे परिणत कर देने वाले और शीघ्र ही प्रसन्न होने वाले शिव से सभी लोग नेग-शुभ कार्यों के अवसर पर दान-चाहते हैं, उसी प्रकार फल से लदी डाल से भी सब लोग दान चाहते हैं। इस कविता में रूखी, शैलसुता, अपर्ण अशना ऋतुपति, स्मर-हर, मधुव्रत और नेगी शब्दो का प्रतीक रूप में प्रयोग हुआ है। समूची कविता मे तपोरत पार्वती और पतझड़ की सूखी डाल को लेकर रूपक बांधा गया है। तप का विकास और उपलब्धि शंकर के रूप में होने वाली है और रूखी डाल का विकास पल्लव-वसना बन कर स्वाद-तोष-दल प्रदान करने में। निराला ने इस

कविता से विकास चक्र को द्योतित किया है। हर विकास परिवर्तन के गर्भ से उत्पन्न होता है : ऐसे परिवर्तन के गर्भ से जिसमे विकास की सम्भावनायें निहित होती हैं। 'रूखी' शब्द में ये संभावनायें हैं, 'पर 'सूखी' में नही। इस तरह पतझड़ का प्रतीक अवसाद, रचनात्मक ऊर्जा के क्षरण, रिक्तता और दैन्य के साथ ही यथास्थान नवनिर्माण और नव विकास का परिचायक भी है।

शिशिर ऋतु को लेकर निराला ने रचना के पहले और दूसरे काल मे कविता नही लिखी है। 'आराधना' मे एक गीत मिलता है, 'ओम पडो शरद आई'। इसके बाद 'गीत गुंज' मे तीन कवितायें है ? (१) शुभ्र शरद आई अंबर पर (२) शरद की शुभ्र गन्ध फैली और (३) रूपक के रथ रूप तुम्हारा। ये तीनों कवितायें 'साध्य काकली' मे भी संग्रहीत हैं। इसमे दूसरी कविता कुछ संशोधित और परिवर्द्धित रूप में छपी है। इन्हे देखने से ऐसा ज्ञात होता है कि शरद के चित्रण मे निराला ने विशेष रुचि नही ली है। उन्हे इस ऋतु में शुभ्र गन्ध और ज्योत्स्ना का प्रसरित होना, बादलो का छंट जाना, झरनो और नदियो का सिमट पर कगार मे बहने लगना और कटाई बोवाई होना ही आकर्षित कर पाया है। प्रतीको की दृष्टि से तीसरी कविता, रूपक के रथ रूप तुम्हारा विशेष महत्वपूर्ण है। इसमे रथ, विभावरी, तारा, कारा और चमेली का प्रतीक रूप मे प्रयोग किया गया है। इस ऋतु के माध्यम से वे किसी भी नए प्रतीक का सृजन नही कर पाए है। हेमन्त ऋतु पर कोई स्वतंत्र रचना नही मिलती है। शिशिर ऋतु पर 'गीतिका' मे 'बह चली अब अलि शिशिर समीर' और 'साध्य काकली' में 'शीत की गहरी विभावरी' कविता मिलती है। पहली कविता मे शिशिर की प्रचण्डता पर प्रकाश डाला गया है। नील-कमल-कलियो के थर-थर कापने और अधीर होकर देखने के साथ ही, कामिनी के विरह-परी सी खडी होने और रात्रि के समाप्त हो जाने का चित्र निराला ने प्रस्तुत किया है। कविता मे शृंगार की भावना मुखर है पर किसी कलात्मक प्रतीक की योजना नही हो पाई है। दूसरी कविता मे भी शृंगार को ही विशेष महत्व मिला है,

'काँपे तन तरुणी तरुणो के
प्रातः खुले अधर अरुणो के
पुष्ट प्राण पलते ढक-ढक कर
कृष्ण-नगर-नगरी।'[१३]

कविता में उच्चवर्ग के कार्य-व्यापार का चित्रण है—कृष्ण नगर नगरी का चित्रण। अरुणो के अधर रात भर बन्द हैं, प्रातः काल खुलते है। उसका कारण भी यहीं दिया हुआ है। पुष्ट प्राण ढंक कर पल रहे है। शाम को क्रीडा करने के बाद ये लोग 'विद्युत-कण्डी' और 'छड़' तापते है। 'नये पत्ते' मे ठण्डक अधिक होने के कारण लोग कौड़ा ताप रहे हैं। 'कौड़े' और 'विद्युत कण्डी' दोनों के साक्षात्कार

की क्षमता निराला को ही प्राप्त है। अन्य लोगों ने उस जीवन को बिना जिए उसे पा लेना चाहा है। अत. वहाँ वह बनावटी हो गया है।

प्रेरणा के अध्याय में हमने बसन्त और वर्षा ऋतुओं का उल्लेख किया है। अतएव यहाँ केवल उनकी प्रतीक-व्यंजना ही विवेच्य है। निराला के लिए बसन्त सुख, वैभव, ऐश्वर्य, विकास, उल्लास, मादकता और रास-रंग का ऋतु है। इसमें उनकी रुचि विशेष रमी है। उसे देखते ही उनका मन आनंद विह्वल होकर नाच उठता है। वर्षा के साथ भी उन्होंने एकतानता का अनुभव किया है। इसके माध्यम से उन्होंने जीवन के ताण्डव और लास्य को व्यक्त किया है। कवि ने बसन्त से अपने राग को रंजित किया है, पर वर्षा का उसने जीवन के अधिक गहनस्तर पर अनुभव किया है। कहीं वह इसकी ध्वनि के साथ अपनी कविता की ध्वनि और लय को नियोजित करना चाहता है तो कहीं अपने में निहित उल्लास को प्रकट करना चाहता है। वर्षा कवि के लिए उल्लास, विकास, उर्वरता, प्रचण्ड आतप से मुक्ति और जीवनी शक्ति की परिचायक है। यह ऋतु उनके लिए ताण्डव और लास्य दोनों की अभिव्यक्ति का माध्यम है। वर्षा का सम्बन्ध बादल से है। निराला ने बादल को विद्रोह का प्रतीक भी बनाया है। इस तरह वर्षा सृजन के साथ ही विध्वंस की प्रतीक बन जाती है। निराला का सारा जीवन परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों से आच्छन्न था। वह इतना विशाल था कि उसमें सृजन और विध्वंस के तत्व निरन्तर क्रीड़ा किया करते थे। रचना के धरातल पर वे इन्हें समन्वित भी करने में सक्षम थे। निराला ने प्रकृति में भी इस द्वन्द्व को देखा था। विध्वंस की नींव पर ही नव-निर्माण का महल बनता है, वे इससे भली भाँति परिचित थे। इसीलिए वे केवल शब्द से विद्रोही नहीं थे। वर्षा के प्रतीकों के माध्यम से इसकी मुखर अभिव्यक्ति मिली है। 'परिमल' की 'जलद' कविता में निराला ने बादल को जीवन दाता कहा है। इसके प्रीति का प्याला अमृत से भरा हुआ है। वह नव घन, नवमन, नवतन और नव वन का निर्माता है। इसी पुस्तक में 'गीत' कविता में निराला ने इस नव शब्द को स्पष्ट कर दिया है। 'पावस के घन' के घिरने और उसके बरसने से उत्पन्न प्रभाव को कवि ने बड़े ही मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया है। 'वारिद वदना'[१४] कविता में इस प्रेरणा को और स्पष्ट शब्दों में मुखर किया गया है। अधोलिखित कविता में बादल को सृजन की प्रेरणा के प्रतीक रूप में ग्रहण किया गया है—

बादल गरजो।
घेर-घेर घोर गगन धाराधर ओ।
ललित-ललित काले घुंघराले
बाल-कल्पना के-से पाले
विद्युत् छवि उर में कवि, नव जीवन-वाले
वज्र छिपा, नूतन कविता

फिर भर दो।
बादल गरजो।[६५]

कवि यहाँ बादल से नूतन कविता को भरने का आह्वान कर रहा है। बादल राग (६) मे यह विप्लव का प्रतीक बन गया है। 'गीत गुंज' ('बादल रे जी तड़पे') मे निराला का अवसाद और उनके मन की व्यथा ही उसके माध्यम से प्रकट हुई है। इस तरह केवल एक प्रतीक को भिन्न-भिन्न मनोदशाओ की प्रतीक अभिव्यक्ति का माध्यम बनाने मे निराला विशेष पटु है।

कमल का संबंध प्रकृति से है। यह मूलत: निष्कलुष सौन्दर्य का प्रतीक है। लेकिन निराला ने इसका प्रयोग नये सन्दर्भ मे भी किया हे। 'तुम और मै' रचना मे सरसिज की मुस्कान को माया से जोड़कर, रवि की प्रखर किरणो से उसे पीड़ित और प्रसन्न होते दिखाकर निराला ने उस घिसे-पिटे प्रतीक का मौलिक उपयोग किया है। उनकी रचनाओ मे जहाँ मुँदे हुए कमलों का उल्लेख है, वहाँ भी वे रहस्यवादी रूढि की विरोधी दिशा मे चलते हुए दिखाई देते है। इनमे 'तुलसीदास' का 'निश्चल-प्राण शतदल विशाल' अत्यन्त प्रभावशाला है। सरोज स्मृति मे कमल का मुंदना काफी नही है, निराला ने उसकी सारी पंखुडियाँ नोचकर फेक दी है: 'हो भ्रष्ट शीत के से शतदल'। भाव सघनता के साथ बिम्ब के प्रयोग मे भी परिवर्तन हुआ है। दुख और आवेग की पराकाष्ठा मुँदे हुए कमल से व्यक्त नही हो सकती।[६६] निराला ने इसके अतिरिक्त बज्र, भूधर और सिन्धु का भी प्रतीक रूप मे प्रयोग किया है। बज्र विध्वंस का प्रतीक है, भूधर अडिग आस्था, विशालता और ऊँचाई का। सिन्धु अनन्त व्यापकता के परिचायक के रूप मे ग्रहण किया गया है। कमल के अतिरिक्त, जूही, शेफाली, हरसिगार, चमेली, बेला आदि का प्रतीक रूप मे प्रयोग किया गया है।

निराला काव्य मे दर्शन और साधना के प्रतीको का प्रयोग भी मिलता है। 'गीतिका' मे 'स्पर्श से लाज लगी' कविता मे 'कण्ठ लगी उरगी' का उल्लेख मिलता है। वैसे मनोविज्ञान में उरग को काम का प्रतीक माना जाता है। निराला के 'कण्ठ लगी उरगी' की परिणति भी उसी अर्थ मे होती है। शिव सर्प को ही गले मे नही लपेटते, प्रसन्न मुख पार्वती भी उनके गले मे लिपटती है। पार्वती को जिस अनुभूति का अभिज्ञान होता है, उसी अभिज्ञान को निराला भी मूर्तिमान करना चाहते है। निराला काव्य मे ऐसे अनेक प्रतीक मिलते है। सोम, अमृत और विष इसके उदाहरण है। शिव मे गरल भी है अमृत भी, वे गरल को अमृत भी बना सकते हैं। इसीलिए निराला 'गरलामृत शिव आशुतोष बल विश्व सकल नगी' के प्रयोग द्वारा अपने मनोभाव को व्यक्त करते है। सोम को निराला ने कई अर्थो द्वारा द्योतित किया है। कही वे 'रचनामृत सोम' का प्रयोग करते हैं तो कही कामरस के अर्थ मे उसका उपयोग करते हैं। उनके लिए शृंगार मूक-रति भोग नही है, वह तो सृजन

का गुप्त रहस्य है। उसको पीने से तीसरा नेत्र खुल जाता है। रति-वर्णन को उन्होंने इसीलिए सदैव उदात्त भूमिका पर प्रतिष्ठित किया है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है;

ऊर्जित, भास्वर
पुलकित शत शत व्याकुल कर भर
चूमता रसा को बार-बार चुंबित दिनकर
क्षोभ से, लोभ से, ममता से,
उत्कण्ठा से, प्रणय के नयन की समता से
सर्वस्व दान
देकर, लेकर, सर्वस्व प्रिया का सुकृत मान।
दान मे ग्रीष्म,
भीष्म से भीष्म बढ़ रहा ताप
प्रस्वेद, कंप,
ज्यो-ज्यो सुख उर में और चाप-
और सुख झम्प;
निश्वास सघन
पृथ्वी की-बहती लू, निर्जीवन
जड़-चेतन।[६७]

इस कविता में सभी प्राकृतिक प्रतीकों का प्रयोग किया गया है। प्रमुख प्रतीक सूर्य और पृथ्वी है। वे प्रेमी-प्रेमिका की पृष्ठभूमि मे प्रस्तुत किये गये है। दिनकर द्वारा विचुंबित होकर पृथ्वी धन्य हो गई है। दोनों मे एक दूसरे के प्रति तुल्य राग है। प्रणय जनित संचारियो का कवि ने कलात्मक निरूपण किया है। लेकिन कवि इस लौकिक कार्य-व्यापार को प्रकारान्तर मे अलौकिक बना देता है। सूर्य और पृथ्वी के इस आदान-प्रदान से जड-चेतन सभी स्तब्ध हैं। निराला ने इसमे पूर्ण रति द्वारा तृतीय नेत्र के खुलने की बात की है। अब वे उस सम्पूर्ण क्रिया को ब्रह्मानंद सहोदर भी बना दे रहे हैं। 'शेफालिका' मे इसका स्पष्ट उल्लेख मिलता है—

'मूक आह्वान भरे लालसी कपोलों के
व्याकुल विकास पर
झरते है शिशिर से चुंबन गगन के।
जागती प्रिया के नक्षत्र-दीप कक्ष मे
वक्ष पर संतरण, आशा आकाश है,
पार करना चाहता
सुरभिमय समीर लोक,
शोक-दुख-जर्जर इस नश्वर संसार को
क्षुद्र सीमा;

पहुँच कर प्राण छाए
अमर विराम के
सप्तम सोपान पर ।[६८]

'सप्तम सोपान' के दार्शनिक स्वरूप को स्पष्ट करते हुए निराला ने 'पंचवटी प्रसंग' मे लिखा है—

'अस्तु भाई हैं वे सब प्रकृति के गुण ।
सच है, तब प्रकृति उसे सर्वशक्ति देती है
अष्ट सिद्धियाँ, वह
सर्वशक्तिमान होता
इसे भी जब छोडता वह,
पार करता रेखा जब समष्टि अहंकार को—
चढता है सप्तम सोपान पर
प्रलय तभी होता है,
मिलता वह अपने सच्चिदानंद रूप से ।[६८]

इस स्थल पर निराला ने सप्तम सोपान की दार्शनिक व्याख्या की है। समष्टि अहंकार को पार करने पर ही सप्तम सोपान पर पहुँचा जा सकता है। उसी के बाद प्रलय होता है। जिस सोपान को प्राप्त करने के लिए साधक को अनेक रहस्यमय स्वरूपो को पार करना पड़ता है, उसी स्थल पर प्रेमी युगल अपने निष्कलुष, निष्कपट और उल्लासपूर्ण रति-रंग द्वारा पहुँच सकते है। निराला ने 'पंचवटी प्रसंग' मे ही मन बुद्धि, चित्त और अहंकार के लय को प्रलय कहा है। वे सृष्टि को भी रचयिता की इच्छा का परिणाम मानते है, भक्ति, ज्ञान और योग को एक बताते है, और भ्रम के पार जाने की बात करते है। रति पर, उनकी दृष्टि से, ये सभी बातें लागू होती हैं। वह प्रलय की स्थिति को पहुँचे या न पहुंचे, लय की स्थिति को अवश्य पहुँचती है। इस तरह निराला जीवन की क्रिया विशेष को भी एक उदात्त स्वरूप प्रदान करते है।

निराला ने जीवन को दार्शनिक दृष्टि से कम देखना चाहा है। पर उनपर रामकृष्ण परमहंस और तुलसीदास का प्रभाव निरन्तर बना रहा है। उन्होंने अद्वैत पर अनेक बार विचार किया है और माया और ब्रह्म तथा शक्ति पर अपना विचार व्यक्त किया है। 'माया' निराला के लिए ठगिनी नही है, वह सृष्टि तत्व को समझने का प्रमुख माध्यम है। वह ब्रह्म को सिसृक्ष बनाने का प्रमुख साधन है। सिसृक्षा की स्थिति मे महामाया ब्रह्म की सहयोगिनी रहती है, पर आत्मस्थलीनता की स्थिति मे वह अव्यक्त रूप मे उसी मे लीन रहती है। सृष्टि का सारा प्रसार शक्ति की सक्रियता का ही परिणाम है। इसलिए जो व्यक्त है, वह उसके मायामय स्वरूप का ही प्रसार

है। लेकिन जो अव्यक्त है, वह भी उससे अलग नहीं है। ब्रह्म स्वतः में सक्रिय नहीं होता, उसे सक्रियता प्रदान करने का कार्यशक्ति करती है। इसलिए व्यक्ताव्यक्त सब उसी के मायामय स्वरूप का अंग है। निराला कहीं-कहीं शक्ति को अंधकार के तुल्य भी मानते है। वे 'तम के पार' की बात करते है। साधना मे तम की कई अवस्थायें आती है। एक अन्तिम अवस्था भी आती है, जहाँ अहं का पर्दा फटता है और इदम् मे साधक को अन्तर्दृष्टि मिलती है। यह पर्दा अन्धकारपूर्ण और काला होता है। भौतिक अन्धकार आकाश में छाया रहता है, पर मन का मायामय अन्धकार चित्ताकाश में परिव्याप्त पाया जाता है। इसी पर विजय प्राप्त करना साधक का प्रमुख उद्देश्य है। साधक स्थित प्रज्ञ स्थिति को प्राप्त करना चाहता है। 'अहं ब्रह्मास्मि' की स्थिति तक पहुँचना चाहता है, वह 'केवल मैं' के ज्ञान का साक्षात्कार करना चाहता है। इसके लिए उसे प्रयत्नशील होना पड़ता है। निराला ने शून्य और महाशून्य का संकेत भी किया है। उनकी दृष्टि में प्रलय के पूर्व भी शून्य है और प्रलय के बाद भी शून्य है। एक प्रलयसृष्टि का होता है और दूसरा मन, चित्त, बुद्धि, अहंकार का होता है। दोनो प्रलयों के पहले और बाद में शून्य की स्थिति का सम्बन्ध तुरियातीत स्थिति से है। इसके बाद महाशून्य की स्थिति का भी उल्लेख मिलता है। निराला ने अहं की अनेक बार चर्चा की है। उन्होंने लिखा है, यंत्रकार के जिस 'हम' में तैयार करने की शक्ति है, उसके उसी 'हम' की भौतिक शक्ति यंत्र शक्ति में काम कर रही है, क्योंकि हम के पंच तत्वों से अलग कोई छठा तत्व यंत्र में नहीं लगा है। इसका सीधा अर्थ यह है कि अहं से ही यंत्र बनता है, वह उसी से चालित होता है और उसी की परितुष्टि को अपना अंतिम लक्ष्य भी मानता है। यह अहं केन्द्रित कार्य-व्यापार व्यक्ति को स्वार्थ-केन्द्रित बना देता है। निराला सात्विक अहं को बुरा नही मानते, पर तामसिक अहं के विरोधी हैं, क्योंकि उसी से रावण पैदा होता है, उन्होंने इससे ऊपर उठने का प्रयत्न किया है। वे उस शक्ति के केन्द्र तक पहुँचने के लिए प्रयत्नशील पाए गए हैं, जो जड़-चेतन का सूत्रधार है। वहाँ पहुँचने पर उन्हें यह ज्ञान भी हुआ है कि प्रकृति ही गुणों से आबद्ध नही है, बल्कि देवता भी इन्हीं से बँधे हुए हैं। महाकाली अपनी तामसी वृत्ति से अन्धकार सम्राट रावण को निरन्तर प्रोत्साहन दे रही है। निराला इससे संकेत प्राप्त करते हैं। वे गुणातीत स्थिति को प्राप्त करना चाहते हैं। इसी को उन्होंने अद्वैत की संज्ञा दी है। निराला के मन के मरे होने का संकेत भी किया है। जो मन अपनी सक्रिय चेतना और आस्था को त्यागकर अपने मूल शक्तिस्रोत से कटकर कार्य करने का नाटक करता है, वह मरा हुआ है। निराला सक्रियता को सचेतन-शक्ति-संयुक्त देखना चाहते हैं। वे इसे द्वन्द्व से उठाकर द्वन्द्वातीत धरातल प्रदान करना चाहते हैं। वे 'केवल मै केवल मैं' की स्थिति लाना चाहते है। निराला ने प्रकृति को शक्ति का पर्याय माना है। उनकी रचनाओं में इस शक्ति के अनेक रूप मिलते हैं, महाकाली, महादेवी और महासरस्वती के रूप

इनमें प्रमुख हैं। 'राम की शक्ति पूजा' के अन्त में जिस देवी का रूप आया है, वह महाकालासीन देवी है। उन्ही की उपासना से रावण का बध संभव भी था। निराला ने इसके अतिरिक्त माया के अनेक स्वरूपों का उल्लेख किया है। कही वे 'मायापुरी' को 'ज्योत्स्नामयी' देखते है, 'तो कही माया हो गई भली' का संकेत करते है। इस बात का संकेत किया जा चुका है कि ब्रह्म की सिसृक्षा का मूलाधार शक्ति है। इसलिए कही-कही वे इसके अनन्त व्यापक स्वरूप का गुणगान करते हुए भी दिखाई देते है। वे 'तुलसीदास' मे 'नील वसना' शारदा को 'सृष्टि रसना' की संज्ञा देते है। इसी अद्वैत दृष्टि से वे पंचतत्वों का विवेचन भी करते हैं। एक प्रमुख तत्व है जो, उनके अनुसार, पंचशः विभक्त हुआ है। इसीलिए ये इन्हे परिवर्तित होकर दूसरे तत्व मे बदलते हुए भी चित्रित करते है। निराला काव्य मे 'आकाश बदल कर बना मही' का संकेत अनेक स्थलो पर किया गया है। ये तत्व उनकी कविता मे महत्वपूर्ण भूमिका निभाते है। पृथ्वी तत्व ही उनकी दृष्टि में प्रमुख है, क्योकि सीता की उत्पत्ति उसी से हो सकती है। पूरी सृष्टि की रचना का आधार वही है। उसे घेरने वाले दो अन्य तत्व हैं : जल और आकाश। समुद्र जल का ही रूप है। ये तत्व स्वतः सक्रिय होने में अक्षम हैं। इनकी सक्रियता का आधार शक्ति तत्व है। शक्ति रावण के साथ है इसलिए सभी तत्व विरोधी स्थिति को प्राप्त हो गये है। अचला और धीरवान पृथ्वी राक्षसो से पददलित होकर डगमगा रही है, चारु पवन स्तब्ध है, विशाल अंबुधि गरज रहा है, आकाश अन्धकार उगल रहा है, शक्ति का अनन्त स्रोत अग्नि भी अशक्त होकर घने अंधेरे में केवल एक मशाल के रूप मे अपने अनस्तित्व का परिचय दे रही है। निराला ने तामसी शक्ति के समक्ष सात्विक शक्ति का स्वरूप भी दिग्दर्शित किया है। सभी लोग डिग गये है। केवल हनुमान को प्रबोध है। वे जब अपने समूचे सात्विक अस्तित्व के साथ सक्रिय होते हैं तो उनचास पवन बहने लगते है, आकाश काँप उठता है, समुद्र मे विशाल लहरें उठने लगती हैं और उनका तेज चतुर्दिक विकीर्ण होकर अन्धकार पर हावी हो जाता है। पृथ्वी को इससे मुक्ति का सन्देश मिलता है। अतएव वह प्रसन्न हो उठती है। तत्वों को विभक्त मानना उचित नही है। वे तो असद् की सक्रियता के समय असद् के साथ हो जाते है, सद् की सक्रियता के समय सद् के साथ। विभाजन सद् और असद् का है। इन्ही मे अद्वैत स्थापित होने पर रावण पर विजय हो सकती है। राम भी शक्ति का वरण करते हैं, वह असद् का पक्ष छोड़कर सद् के समर्थक राम के बदन मे लीन हो जाती है। इससे असद् अस्तित्वहीन बन जाता है। अतएव वह जीत लिया जाता है। निराला काव्य मे पंचतत्वों की सक्रियता है। बसन्त और वर्षा में इनका स्वरूप कुछ और होता है पर शिशिर और ग्रीष्म मे कुछ और।

निराला काव्य मे 'श्यामा' का आह्वान भी किया गया है। 'परिमल' की

'आवाहन' कविता, श्यामा के इस स्वरूप को प्रस्तुत करती है। कवि श्यामा के विध्वंसक रूप द्वारा नव-निर्माण की आकांक्षा करता है। इस कविता में महिषासुर-मर्दिनी के रूप का निर्वचन है। वह असुर मर्दिनी है। मुण्ड की मालाये धारण करती है। युद्ध के समय-भेरी बजाती है। एक हाथ मे खड्ग रहता है और दूसरे हाथ में खप्पर। इसके बाद का वर्णन निराला के ही शब्दो मे देखिए—

'अट्टहास-उल्लास नृत्य का होगा जब आनंद,
विश्व की इस वीणा के टूटेंगे सब तार,
बन्द हो जायेंगे ये सारे कोमल छन्द
सिंधु-राग का होगा तब आलाप
उत्ताल तरंग भंग कह देंगे,
माँ, मृदंग के सुस्वर क्रिया-कलाप,
और देखूंगा देते ताल
कर-तल-पल्लव-दल से निर्जन वन के सभी तमाल,
निर्झर के झर-झर स्वर मे तू सरिगम मुझे सुना माँ --
एक बार बस और नाच तू श्यामा।'

ऊपर की पंक्तियों मे विध्वंस का चित्र है और नीचे की पंक्तियों में नव-निर्माण का। इस प्रकार 'श्यामा' का आह्वान विध्वंसपूर्ण नव-निर्माण का प्रतीक है। विनाश के साथ ही नव-निर्माण का स्वर निराला को विशेष प्रिय है। इसी को उन्होंने 'उद्बोधन' नामक कविता मे भी व्यक्त किया है। वे विकास की रुद्धधारा को 'शिखर निर्झर झरे' मे बदलना चाहते है। निराला का कवि केवल कला का कवि नही है। वह केवल शब्द-अर्थ का कवि नही है। वह स्वर के आरोह-अवरोह, घात-प्रतिघात और मन्द-मधुर स्वरूप से गगन को भी आन्दोलित कर देने वाला है। वह लोगों के कानो मे नया संगीत भरने वाला है। उसके हृदय मे विद्युत-छबि छिपी हुई है जो नए जीवन का आलोक भर सकती है। 'गीतिका' मे ऐसे स्थलों की भरमार है। उदाहरण के लिए कुछ स्थल लिए जा सकते है,

(१) विश्व की ही रानी प्राचीन
आज रानी बन गई नवीन।[७२]

(२) फूटो फिर से तुम
रुद्ध कण्ठ साम गान।[७३]

(३) बुझे तृष्णाशा-विषानल झरे भाषा अमृत-निर्झर।
उमड़ प्राणों से गहनतर छा गगन लें अवनि के स्वर।[७४]

रानी, सामगान और अविनश्वर के गगन तक छा लेने की बात द्रष्टव्य है। निराला काव्य में दर्शन और जीवन दोनों धरातलों पर इन प्रतीकों की योजना

मिलती है। 'परिमल' को 'जागरण' कविता में कुछ अन्य दार्शनिक प्रतीको को अभिव्यक्ति मिली है।

निराला की रचना मे साधना के प्रतीकों का प्रचुर उल्लेख है। 'सप्तम सोपान' पर हम पूर्व पृष्ठों मे विचार कर चुके हैं। 'जागरण' कविता में सृष्टि के विकास के रूप का प्रतीकात्मक निर्वचन मिलता है। उसमे कवि ने एक स्थान पर लिखा है;

'टूट गए सीमा बंध—
छूट गया जड पिण्ड—
ग्रहण देशकाल का
निर्बीज हुआ मे
पाया स्वरूप निज
मुक्ति कूप से हुई
नीडस्थ पक्षी की
तम विभावरी गई।'[७५]

वैसे तो कविता मे कई प्रतीको का समावेश किया गया है, पर 'मैं पाया स्वरूप निज' को रेखाकित करना चाहता हूँ। अपने स्वरूप को पा लेना निश्चित अर्थ का वाहक है। उसका तात्पर्य है आत्म साक्षात्कार। निराला मे भक्ति ज्ञान और योग की त्रिवेणी का दर्शन होता है। उन्होने इन्हे एक माना भी है। भक्ति रहित ज्ञान रू .. होता, और ज्ञान रहित भक्ति अंधी। ज्ञानी की शब्दावली मे अपने स्वरूप को प्राप्त कर लेने का तात्पर्य है 'अहंब्रह्मास्मि' की स्थिति को पहुँच जाना। भक्त अपने स्वरूप की बात नही करता। वह तो भगवान के स्वरूप की बात करता है। वह द्वैत बनाये रखकर उनकी रूप-माधुरी का पान किया करता है। योगी आत्म-साक्षात्कार की बात करता है। उसके लिए आत्मा ही परम सत्य है। इस तरह निराला की यह पंक्ति, 'पाया स्वरूप निज' कई अर्थो की वाहक बन जाती है। अपनी प्रपत्ति मे निराला भक्त है, और भक्ति की ही उनमे प्रमुखता भी है, पर ऐसे स्थलों पर वे योगियो के निकट भी पहुँच जाते है। 'राम की शक्ति पूजा' मे साधनात्मक शब्दावली और उसकी क्रिया को कवि ने ग्रहण किया है। अभीष्ट है 'शक्ति की मौलिक कल्पना' और उसका स्वरूप निर्देश। भारत मे यौगिक और तात्रिक पद्धति मे साधना के विविध रूपो का उल्लेख मिलता है। निराला ने इस कविता मे उसका भरपूर प्रयोग किया है। इस तथ्य के पुनरावृत्ति की आवश्यकता नही है कि प्रकाश और अन्धकार को साधना में सत् और तम का परिचायक माना गया है। कविता के आरम्भ से ही जिस गहन अन्धकार का हमे साक्षात्कार करना पड़ता है वह तम की भयंकर स्थिति का परिचायक है। डॉ० नगेन्द्र के शब्दों मे,

'राम की शक्ति पूजा' के मूल अर्थ (वाक्यार्थ या ध्वन्यार्थ) का विवेचन तीन स्तरों पर किया जा सकता है। व्यक्तिविशेष–कवि निराला-की चेतना के स्तर पर कविता का ध्वन्यार्थ है : अपने युग की विषम परिस्थतियों के विरुद्ध कवि की प्रतिभा का संघर्ष और विजय अथवा विजय का विश्वास। इसका साधारणीकृत रूप है : जीवन के बाधा-विघ्नों के विरुद्ध अपराजेय मानव मन का संघर्ष और अन्त में विजय। समष्टि चेतना के स्तर पर कविता का भावार्थ है : दुर्दमनीय विदेशी शासन के बढ़ते हुए अन्याय और आतंक के प्रति प्रबुद्ध राष्ट्र-चेतना का संघर्ष और विजय की कामना या विश्वास। सार्वभौम चेतना के स्तर पर इसका अर्थ है : प्रकृति-प्राण की भौतिक शक्ति के विरुद्ध मानव आत्मा की चिन्मय शक्ति का संघर्ष और विजय। राम की शक्ति पूजा के अर्थ–विधान में ये तीनों ही विचार निहित हैं और इसका प्रमाण यह है कि कविता में बार-बार प्रकारान्तर से इनको अभिव्यक्ति मिलती है:—

व्यक्ति चेतना —धिक जीवन जो पाता ही आया विरोध
(किन्तु) वह रहा एक मन और राम का जो न थका।

समष्टि चेतना —अन्याय जिधर है उधर शक्ति.....।
—शक्ति की करो मौलिक कल्पना करो पूजन।

दार्शनिक चेतना तुम वरो विजय संयत प्राणों से प्राणों पर

आप देखें कि उपर्युक्त शब्द-चित्र का मूल-अर्थ के साथ अन्तरंग सम्बन्ध है और उसके सन्दर्भ में इसका काव्यार्थ और भी निखर आता है। अतः सम्पूर्ण वृत्त को स्वीकार किये बिना, केवल शब्द-विधान के चमत्कार के आधार पर इसका आस्वादन पूर्ण नहीं हो सकता।[७६] 'राम की शक्ति पूजा' में अन्धकार का संबंध इन तीनों स्तरों से है, व्यष्टिस्तर पर निराला उससे आक्रान्त हैं, समष्टि स्तर सम्पूर्ण राष्ट्र उससे आक्रान्त है और दार्शनिक स्तर पर हमारी आत्मा उससे बुरी तरह आच्छन्न है। राम-रावण का युद्ध भी तीनों धरातलों पर क्रियाशील है। व्यक्ति समाज और चेतना तीनों धरातलों पर वह ज्ञान का अज्ञान से संघर्ष है। साधना के धरातल पर मशाल उसी आत्मा की प्रतीक है जो तिमिराच्छन्न अज्ञान की स्थिति में भी अपने मन्द प्रकाश को निरन्तर बिखेरती रहती है। राघवेन्द्र का संशयग्रस्त होना, 'रावण-जय-भय' से उद्विग्न हो उठना : हार-हार कर मन को बार-बार असमर्थ मानना, साधक का पुनः-पुनः दुर्दमनीय अज्ञान के पर्दों को भेदकर ज्ञान के क्षेत्र में पदार्पण न कर सकने की विवशता का परिचायक है। साधना भी समर है जहाँ व्यक्ति अपनी समूची सात्विक वृत्तियों को समेट कर अपने ही अन्दर निहित शत्रुओं से संघर्ष के लिए बद्ध-परिकर होता है। इस संघर्ष को ही साधक देवासुर-संग्राम मानता है। कभी-कभी उसकी अन्तस्थ शक्ति, अपने स्वर्गीय ज्योतिःप्रपात, अपने तुरीय कंपन से उसे प्रेरणा भी प्रदान करती है, लेकिन इसके अज्ञान और अन्धकार के द्वारा बंदी बना लिए जाने पर, वह प्रेरणा भी क्षीण हो जाती है। देवी की वह 'भीमा

मूर्ति' जो तमोगुण रावण (अज्ञान) द्वारा पूजित और साधित है, उसकी तमोगुणी इच्छाओं की पूर्ति का साधन होने के कारण सम्पूर्ण सृष्टि को आच्छादित कर लेती है। साधक की आस्था और विश्वास के अस्त्र उसी मे लीन होते जाते हैं। इस स्थिति में भी 'सच्चिानंद रूप, विश्राम-धाम' को प्राप्त ज्ञान-स्वरूप हनुमान न तो पराजित होते हैं और न निराश। उनका प्रबोध बना रहता है। महाकाश समष्टि में आकाश के उच्चस्तरो का परिचायक होता है, पर साधना मे ब्रह्माण्डी-चेतना क्षेत्र के उस स्वरूप का प्रतीक है जहाँ शिव-शक्ति का संयोग होता है और साधक पूर्णता को प्राप्त करता है। लेकिन इस स्थिति तक पहुँचने के पूर्व उसे कम प्रयत्न नहीं करना पड़ता। उसे अनेक बार 'निष्फल होते लक्ष्य पर क्षिप्र वार पर वार' की अनुभूति से गुजरना पड़ता है। इससे मुक्ति के एकमात्र साधन है, 'वरो विजय संयत प्राणो से प्राणों पर' और 'शक्ति की करो मौलिक कल्पना'। जामवन्त 'हे पुरुष सिंह तुम भी यह शक्ति करो धारण' का परामर्श देते है। राम को 'जनरंजन-चरण-कमलतल, धन्य सिंह गर्जित' का संकेत मिलता है। वे कह उठने हैं, 'यह मेरा प्रतीक, मातः, समझा इंगित।' राम का मन ज्योही साधना की ओर उन्मुख होता है उनमे महाभाव का अभ्युदय होता है। उसी महाभाव मे वे परिधिस्थ चेतना को अतिक्रमित करके उस केन्द्रीय चेतना तक (मकरन्द बिन्दु) पहुँचते हैं जो शिव और शक्ति की युगनद्धावस्था की लीला भूमि है। इसके बाद चक्रभेदन के प्रतीक सामने आते है। 'पुरश्चरण' शब्द भी दो अर्थों का वाहक है। •एक तो मारण, मोहन या उच्चाटन की क्रिया को क्रमशः पूरा करने को पुरश्चरण कहते है, दूसरे साधना के द्वारा मन से मुक्त होकर चेतना के सर्वोच्च धरातल पर पहुँचने को भी इसी संज्ञा से अभिहित किया जाता है। श्री राम, रावण के बध के लिए महाकालासीन देवी की उपासना कर रहे हैं। अतएव निराला ने 'पुरश्चरण' शब्द का प्रयोग किया है। लेकिन साधना में 'मरजीवा' की स्थिति के लिए भी इसका उपयोग किया जाता है। त्रिकुटी मे स्थित आज्ञा चक्र द्विदल होता है अतएव इसकी उपमा निराला ने देवी के दो कमलवत चरणों से दी है। सहस्रार तक पहुँचने के लिए उन्होने 'कर गया अतिक्रम ब्रह्मा-हरि-शंकर का पद' का प्रयोग किया है। इसमे अनेक व्यंजनायें निहित हैं। सबसे प्रमुख तथ्य यह है कि त्रिकुटी तक के क्षेत्र को पिण्डी शरीर की संज्ञा दी जाती है। इसमे ब्रह्म ग्रन्थि, विष्णु ग्रन्थि और रुद्र ग्रन्थि (नाभि, हृदय, त्रिकुटी) के स्थान है। इन ग्रन्थियों मे यथाक्रम उन देवताओ का वास भी माना गया है। त्रिकुटी से लेकर सहस्रार तक की साधना को हम ब्रह्माण्डी शरीर की साधना मान सकते हैं। इसी को ध्यान में रखकर निराला ने उपर्युक्त सूत्र वाक्य का प्रयोग किया है। सहस्रार के बाद ब्रह्मरंध्र तक पहुँचने-साधना की चरम परिणति होने-के मार्ग में पुनः बाधा आती है। इससे मुक्ति का साधन पूर्ण आत्मसमर्पण है। राम को इसे संपादित करते ही महाकालासीन देवी का अवतरण होता है। साधना पूर्ण हो जाती है। अज्ञान का

अन्त हो जाता है। इस विवेचन से यह सर्वथा सिद्ध हो जाता है कि निराला को साधना के प्रतीकों के प्रयोग में अप्रतिम सफलता मिली है।

निराला मूलतः जीवन के कवि है, सचेतन कवि। उन्हे इतना अवसर नही मिला है कि वे अन्य कवियों की तरह 'एलीगरी' लिखे और पात्रों के माध्यम से बुझौवल बुझायें। मिथकीय तत्वों का आश्रय भी उन्हे कम लेना पड़ा है। पौराणिक आख्यान भी शायद अन्य लोगों की तुलना बहुत विरल है। 'राम की शक्ति पूजा' मे मिथकीय तत्व है, पर उस रूप मे नही जिस रूप मे अन्यत्र मिलते है। समूची रचना काल की दृष्टि से सीमित अवधि को घेर पाती है। पूरी रचना का देश भी सीमित है। कार्य-व्यापार सानुपर्वत से लेकर लका के रणक्षेत्र तक फैले है। फिर भी उसकी रचना इतनी उदात्त है कि उससे देशातीतता और कालातीतता की व्यंजना मिलती है। प्राय अधिकाश पात्र प्रतीक है, और समूचा कार्य-व्यापार प्रतीकात्मक है। निराला काव्य मे पूर्व-प्रयुक्त सभी प्रतीक किसी न किसी रूप 'मे राम की शक्ति पूजा' मे एकत्रित हो गए है। इस कविता मे युद्ध, पराजय–बोध, निराशा, प्रकाश, अन्धकार, पंचतत्व, पंचतन्मात्रा के प्रतीक आए जाते है। भौगोलिक दृष्टि से चित्रफलक छोटा है, पर उसकी कर्मा साधना के भूगोल से पूरा हो जाता है। राम-रावण का युद्ध ऐतिहासिक सास्कृतिक होने के बावजूद अन्य अर्थों की व्यंजना मे भी पूर्ण समर्थ है। पूरी कविता मे देवी के कई रूपो का उल्लेख मिलता है। इसके साथ ही उसमे साधना के कई प्रतीकों का सफल प्रयोग किया गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि इस रचना मे मिथक की कुछ विशेषताये पाई जाती है।

साराश यह है कि निराला काव्य मे जीवन के प्रतीकों और जीवनेतर प्रतीकों का प्रयोग मिलता है। इन प्रतीको मे कुछ तो परम्परित और अर्द्ध-परंपरित प्रतीक हैं, पर कुछ को उन्होंने नया अर्थ-सन्दर्भ भी प्रदान किया है। प्रतीको के प्रयोग से उन्हें अभिव्यक्ति में सहायता मिली है। अधिकांश प्रतीको के साथ उनका मनोराग संलग्न है। उनकी कविताओ मे एक ही स्थान पर अनेक प्रतीको का प्रयोग किया गया है, एक ही प्रतीक का अनेक सन्दर्भों मे प्रयोग मिलता है और अन्ततोगत्वा सारी रचना स्वयं एक प्रतीक के रूप मे हमारे समक्ष उपस्थित होती है। इन प्रतीको मे अर्थ के कई स्तर क्रियाशील पाए जाते है, अतएव उन्हे समझने के लिए सुबुद्ध और प्रतिमा-संपन्न पाठक की अपेक्षा होती है। केवल सुबुद्ध या प्रतिमा संपन्न होना ही पर्याप्त नही है, निराला के प्रतीक की 'व्यक्ताव्यक्त' (अर्द्ध स्पष्ट और अर्द्ध गोप्य) स्थिति से भी परिचित होना आवश्यक है, उनकी अनुभूति की अन्त.दीप्ति और उसकी अभिव्यक्ति को क्रिया से अवगत होना भी आवश्यक है। उनके अधिकाश प्रतीको को समझने के लिए केवल उस कविता का अध्ययन अपेक्षित नही है, कुछ अन्य तथ्यो की अपेक्षा भी होती है। उनके प्रतीक अभिव्यक्ति का माध्यम होने के कारण एक ओर अपने सृजन की परम्परा का निर्माण करते है, पर अर्थ के अनेक स्तरो को

द्योतित करने के कारण दूसरी ओर अभिव्ययंजना के धरातल पर पूर्ण स्वच्छन्द भी दिखाई देते है। इसके पूर्व प्राय: यह स्वीकार किया जाता रहा है कि काव्य-प्रतीक रहस्यमय भावना की अभिव्यक्ति के साधन हैं। वेदो, उपनिषदों और संतों की परम्परा मे इसी तथ्य की पुष्टि भी हुई ह। लेकिन छायावादियो मे निराला काव्य में दर्शन और रहस्य का आवरण तुलनात्मक दृष्टि से विरल है। उनके प्रतीकों को समझने के लिए सन्दर्भो के साथ ही कवि के जीवन-दर्शन को समझना विशेष महत्वपूर्ण हे। उनके साहित्य मे भी व्यक्तिगत उच्छ्वास के प्रतीको का दर्शन होता है, पर ये सदैव किसी न किसी जीवनानुभूति से अनुप्राणित होते हैं। इसीलिए कहीं न कही निराला परम्परित प्रतीको का प्रयोग भी नए अर्थ-सन्दर्भ मे करने मे पूर्ण समर्थ ह। उन्होने सार्वभौम प्रतीको, परम्परागत प्रतीको, व्यक्तिगत अभिलाषा सूचक प्रतीको देशगत प्रतीको, सादृश्य-साधर्म्य तथा विरोधमूलक प्रतीको, जीवन के प्रतीकों तथा जीवनेतर प्रतीको की अभिव्यक्ति मे पूर्ण लाघव का परिचय दिया है। इस तरह उनका काव्य प्रतीको के प्रयोग की दृष्टि से पर्याप्त समृद्ध है।

●

अष्टम अध्याय

विधायक-कल्पना और काव्य-बिंब

इसके पूर्व के अध्यायों में हमने निराला के भाव-पक्ष और कला-पक्ष पर विचार किया है। इन दोनों पक्षो का संबंध विधायक कल्पना से होता है। अतएव इनके पूर्ण स्पष्टीकरण के लिए हमें उनके विधायक स्वरूप के व्यावहारिक-सैद्धान्तिक पक्ष को समझ लेना आवश्यक है। हमे जीवन मे हर कार्य को पूर्णता के साथ संपादित करने के लिए शक्ति की अपेक्षा होती है। विश्व के सारे कार्य-व्यापारो के मूल मे हमारी भौतिक, मानसिक और आत्मिक शक्तियो का सक्रिय सहयोग रहता है। कुछ कार्य-व्यापार भौतिक-शक्ति–वाष्प, विद्युत–से संपादित होते है, कुछ मानसिक शक्ति-मनः संकल्प–से। इनके परे भी एक जगत् है जहाँ प्रवेश करने के लिए 'कबीर' की घर फूंक मस्ती की आवश्यकता होती है 'जो घर फूके आपना सो होय हमारे साथ' की। इस तीसरी चौहद्दी के पथिक कम है, लेकिन वे है। रचनाकार को इन तीनो क्षेत्रों की अपेक्षा होती है। रचना का सारा कार्य व्यापार प्रच्छन्न होता है, अतएव हम उसके फल को चखकर संतुष्ट हो जाया करते है। लेकिन बहुत समय मे हम इस तथ्य से परिचित रहे है कि इस फल का उद्‌भव किसी न किसी कार्य-कारण-शृंखला का परिणाम है, ऐसे कार्य-कारण-शृंखला का जिसके मूल मे निश्चित शक्ति क्रियाशील पाई जाती है। इसी अभिज्ञान के कारण प्रायः हर देश मे उस अन्तर्निहित शक्ति और क्षमता को समझाने का प्रयत्न हुआ है। यह प्रयत्न अब भी गतिशील है। आज के मनोविज्ञान और समाज विज्ञान मे इसे पुनः नये सिरे मे समझने का प्रयत्न किया जा रहा है। फिर भी अभी ऐसी स्थिति नही आई है कि इस पर 'इदमित्थम' कुछ कहा जा सके।

भारतीय विचारको ने आरम्भ मे प्रतिभा के विवेचन के द्वारा इसके महत्वपूर्ण पक्ष को उद्‌घाटित करना चाहा था। इसके मूल स्वरूप के उल्लेख के पूर्व हमे वैदिक दृष्टि से कुछ महत्वपूर्ण तथ्यो को समझ लेना अपेक्षित है। यहाँ की 'पुर' और 'पुरुष' की कल्पना विशेष महत्वपूर्ण है। आठचक्रो और नव द्वारो की देवपुरी है, (अयोध्या)[1], जिसमे आत्मा नामक पुरुष निवास करता है।[2] इसी से मिलते-जुलते स्वरूप का उल्लेख 'ऋग्वेद'[3] मे भी है। वहाँ इसे 'अमृत लोक' कहा गया है। 'अथर्ववेद' के अयोध्या मे हिरण्य लोक की कल्पना की गई है, इसी को स्वर्ग या ब्रह्मपुरी की संज्ञा भी दी गई है। यहाँ ज्योति की अजस्रधार क्रियाशील पाई जाती है। ऋग्वेद के 'अमृत लोक' मे भी ये विशेषताये विद्यमान होती है। इन्ही लोकों को आनन्दमय कोष की संज्ञा दी गई है। आनंदमय कोष से प्रवाहित होने वाला आनंद ही विज्ञानमय कोष में मूर्धातत्व मे परिणत होकर हृदय (अयोध्या) का विषय बनता है। इसके बाद प्राणमय, मनोमय और अन्नमय कोषों का रूप निर्मित होता है। इन पंचकोषो की प्रकृति के अनुसार आत्मा भी त्रिविध रूप मे हमारे समक्ष उपस्थित

होता है। इन त्रिविध स्वरूपो को सम्राज, स्वराज और विराज की संज्ञा दी गई है। इनका क्रमशः परमानन्द, आत्मानन्द और विविधानन्द से संबंध होता है। 'राजदीप्तौ' से निष्पन्न उक्त तीनो नामो का अर्थ क्रमशः (१) संपूर्ण अथवा सम्यक रूप से प्रकाशित, (२) स्वरूप से प्रकाशित तथा (३) विविध रूप से प्रकाशित प्रतीक होता है। ऊपर जिसे हिरण्यकोश, ब्रह्मपुरी या आनंदमय कहा गया है, 'बृहदारण्यक' उपनिषद् मे वही सम्राज है। इसी को आत्मा का परमानंद, परमलोक, परमगति तथा परम संपदा भी कहा गया है। जिसे ऊपर देवकोश या विज्ञानमय पुरुष कहा गया है वही इस प्रसग मे स्वराज है। इसी प्रकार मनोमय को केवल आनन्द कहा गया है।'[४] मनोमय का कार्य-क्षेत्र पर्याप्त विशद् और व्यापक होता है। इसी के अन्तर्गत प्राणमय के प्रियम् तथा अन्नमय के सुखम् आनन्द पाए जाते है।[५] इस प्रकार आनन्दमय से लेकर अन्नमय कोश तक परमानन्द, आत्मानन्द, आनन्द, प्रियम् और सुखम् की पंच भूमिकाओं का दर्शन होता है। परमानन्द नामक जो आत्म तत्व अपने परम चैतन्य और प्रकाशपूर्ण स्वरूप मे विलसता है, वही क्रमशः नीचे के कोशो मे आने पर आवरणाच्छन्न होता जाता है। अत. उसकी सहज दीप्ति ढंकती चली जाती है। रसशास्त्र मे जिस मधुमती भूमिका का उल्लेख किया गया है और जिसे सविकल्प समाधि के तुल्य बतलाया गया है, उसका क्षेत्र विज्ञानमय कोष होता है। हमने पूर्व अध्यायो मे तृतीय नेत्र खुलने, हस्तामलकवत् दृश्य कार्य व्यापारो के अवलोकन की क्षमता प्राप्त करने और सृजन के स्वयं प्रकाशपूर्ण तथा अन्त.दीप्तिपूर्ण होने की क्रियाओ का उल्लेख किया है। लेकिन इसके साथ ही मनोमय जगत् के कार्य-व्यापारो को भी उचित महत्व दिया गया है।

इस पृष्ठभूमि का भारतीय चिन्तन के साथ अक्षुण्ण सम्बन्ध रहा है। कवि, मनीषी तथा परिभू का सम्बन्ध क्रमशः स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरो मे स्थापित किया गया है। 'व्यक्तीकरण' का आरम्भ विज्ञानमय कोश से स्थापित किया गया है। इस कोश की अभिव्यक्ति सूक्ष्मतम है जो मनोमय और प्राणमय में उत्तरोत्तर स्थूलतम होकर इद्रियों का विषय बन जाती है[६]।' वाक को माया का रूप माना गया है। इसकी सूक्ष्म तथा स्थूल अभिव्यक्ति को चेतना के विविध स्तरो पर उद्घाटित करने का प्रयत्न किया गया है। पौरस्त्य विचारकों के प्रतिभा के विवेचन का संबंध किसी न किसी रूप मे उपर्युक्त मान्यताओं से प्रभावित पाया गया है। भारतीय चिन्तन मे काव्य-हेतु के सन्दर्भ मे व्युत्पत्ति, अभ्यास और प्रतिभा का विवेचन मिलता है। व्युत्पत्ति का सम्बन्ध भी प्रतिभा से होता है, अतएव प्रतिभा के विवेचन को विशेष रूप से महत्व प्रदान किया गया है। सबसे प्रमुख तथ्य यह है कि प्रतिभा को रचना शक्ति के रूप मे ग्रहण किया गया है। इस रूप मे गृहीत होने के कारण इसका उन दार्शनिक संप्रदायों से सहज ही संबन्ध स्थापित हो गया है जो उस काल में विशेष रूप से प्रचलित थे।

व्युत्पत्ति की दृष्टि से (प्रति+भा–भावे अङ्) इसका अर्थ बुद्धि या व्युत्पन्न बुद्धि होता है। अभिनवगुप्त के गरु भट्टतौत ने इन्ही तथ्यों को ध्यान मे रखकर इसकी परिभाषा भी दी थी, 'प्रतिभा नवनवोन्मेष-शालिनी 'प्रज्ञामता'।[७] अभिनवगुप्त ने स्वयं प्रतिभा को शक्ति का पर्याय कहा था[८] और इसे व्युत्पत्ति और अभ्यास से महत्वपूर्ण भूमिका प्रदान की थी। पण्डितराज जगन्नाथ ने भी 'तस्य च कारण कविगता केवला प्रतिभा[१०]' द्वारा केवल इसी की विशिष्टता से हमे परिचित कराना चाहा था। महिमभट्ट ने प्रतिभा को भगवान शंकर के तृतीय नेत्र के सदृश माना था जिसमे त्रिकाल और त्रिलोक के भावों का साक्षात्कार कराने की शक्ति पाई जाती है[११]। इससे स्वत: सिद्ध हो जाता है कि अधिकाश विवेचक प्रतिभा को रचना-शक्ति के रूप मे ग्रहण करते है।

शक्ति का उद्देश्य रचना-कार्य को संपादित करना अथवा उसमे सहायक होना है। अतएव इस सन्दर्भ मे इस तथ्य पर विचार कर लेना आवश्यक है कि वह इस कार्य को किस रूप मे संपादित करती है और उसमे सृजन में कौन सी सहायता प्राप्त होती है। अभिनवगुप्त ने इस दृष्टि से प्रतिभा पर विचार किया है। उनकी दृष्टि मे यह अनन्यापेक्षितभाव से विश्वात्मक तत्व को प्रतिबिंबित करने मे सक्षम है। इसीलिए इसे अनुत्तरा भी कहा जाता है[१२]। इस सन्दर्भ मे 'अनन्यापेक्षित भाव' का विशेष महत्व है। इसका तात्पर्य यह है कि इसको किसी अन्य की अपेक्षा नही होती है। इससे कई तथ्य सामने आते है। इसका संकेत करते हुए उन्होंने लिखा भी है, 'इस स्वातंत्र्य के कारण ही कवि काव्य मे गुण-दोष को तत्काल समझ पाते है और उनमे विभेद करते है; अन्यथा न दोष दोष है, और न गुण गुण। इस प्रकृति-मधुर-स्वातंत्र्य रूप शक्ति के कारण ही कुछ महान् कवियो द्वारा की गई काव्य नियमो की अवहलना भी सुभग-भाव की जनक बन जाती है[१३]।' अनन्यापेक्षित और स्वातंत्र्य प्राय: पर्याय है। इनका काव्यशास्त्रीय और दार्शनिक स्वरूप उन्हे अधिक प्रिय रहा है। यह सर्वविदित है कि अभिनवगुप्त शैव मतावलंबी विचारक थे। शैवमत की दो शाखायें थी, (१) क्रम सिद्धान्त और (२) कुल सिद्धान्त। 'कम-सिद्धान्त' का प्रमुख ग्रंथ 'महार्थ मंजरी है। इसमे सृष्टि के पाँच तत्वों को मान्यता दी गई है। वे पाँच तत्व सृजन, पालन, संहार, अनाख्या और भासा है। इनमें 'भासा' को प्रतिभा, चित्शक्ति और स्वातंत्र्य का पर्याय माना गया है। यह तथ्य अधोलिखित श्लोक से पूर्णता से स्पष्ट होता है:—

भासा च नामा प्रतिभा महती सर्वगर्भिणी
स्वस्वभाव शिवैकात्मशिकात्मक चिन्मयी।
यस्यां हि भित्ति भूतायां मातृमेयात्मकं जगत
प्रतिबिंबतयाभाति नगरादिव दर्पणे।

स्वातंत्र्य रूपा सा काचिच्चिच्छक्तिः परमेष्ठिनः ।
तन्मयो भगवान देवो गुरुर्गुरुमयी स चा ।[१४]

उपर्युक्त उद्धरण में सर्वप्रथम तो प्रतिभा की प्रकृति का निरूपण किया गया है। भासा ही प्रतिभा है। वह महती, सर्वगर्भिणी, शिवैकात्मदेशिका और चिन्मय है। यहाँ तक तो अभिनवगुप्त उसके दार्शनिक पक्ष का उद्घाटन करते हैं। इसी सन्दर्भ मे वे इसको स्वतंत्र भी कहते हैं। लेकिन इसी के पश्चात् वे इसके गुण पर भी प्रकाश डालते है। उनकी दृष्टि मे जैसे दर्पण मे नगर आदि प्रतिबिंबित होते है. उसी प्रकार प्रतिभा मे सपूर्ण विश्व प्रतिबिंबित होता है। ये पक्तियाँ महिमट्ट की उक्ति 'भावांस्त्रैलोक्यवर्तिनः' की स्मृति दिलाती है। इसमे स्पष्ट हो जाता है कि अभिनवगुप्त के अनुसार 'भासा' संपूर्ण सृष्टि के सौन्दर्य की जनक है। यह सर्वशक्तिमान्, बहुसमावेशक, सर्वभुक् और सर्वप्रतिबिंब क्षमा मानी गई है। इसके द्वारा प्रतिबिंबित होने वाले जगत् की अलग सत्ता नही होती। यह अहं और इदं स मुक्त होती है। इसे प्रकाश और विमर्शमय माना गया है। यह कमल की तरह प्रस्फुटित और संकुचित होती रहती है[१५]।

कुल सिद्धान्त मे कौलिकी शक्ति को 'परा' की संज्ञा दी गई है। 'परा' का अर्थ है अलौकिक। 'परा' शब्द का संबंध यौगिक शब्दावली में परमनाद से भी होता है। प्रतिभा अपने दार्शनिक स्वरूप मे परम काव्य की परिचायक थी ही। इन्ही दोनो की विशेषताओ के संश्लेषण से पराप्रतिभा की धारणा का अवतरण हुआ। कुल सिद्धन्त के शांभवोपाय के लिए इसकी अपेक्षा थी। शैव प्रत्यभिज्ञा दर्शन की आत्मस्थलीनता और सिसृक्षा की मान्यता से भी इसके महत्वपूर्ण स्वरूप पर प्रकाश पडता है। इससे यह निर्विवाद रूप से स्पष्ट हो जाता है कि प्रतिभा प्रकाश-स्वभाव-संयुक्त-रचना-शक्ति है। हेमचन्द्र की प्रतिभा की मान्यता मे अभिनवगुप्त की प्रतिध्वनि तो मिलती है लेकिन उसका दार्शनिक पक्ष विशेष रूप से उभड़ कर हमारे समक्ष उपस्थित हो जाता है। इस अध्याय के आरम्भ मे ही हमने कोशों की मान्यता प्रस्तुत की है और अयोध्यापुरी में रहने वाली आत्मा का स्वरूप भी सामने रखा है। वहाँ इस तथ्य पर प्रकाश भी डाला गया हैं कि आत्मा अधःगमन की स्थिति मे मलावरणों से आच्छन्न होता जाता है। अतएव उसकी सहज दीप्ति उससे ढँक जाती है। इन आवरणों के छिन्न-भिन्न होने पर वह सहज दीप्ति स्वयमेव क्रियाशील हो उठती है। हेमचन्द्र की दृष्टि मे सहजशक्ति का उद्भासन प्रतिभा कहलाती है। इस दृष्टि से प्रतिभा आत्मदीप्ति की पर्याय भी बन जाती है। यह परम्परा पर्याप्त व्यापक रही है। अभिनवगुप्त के पूर्व भामह, वामन और आनंदवर्धन ने इस पर विचार किया है। दण्डी ने प्रतिभा के साथ ही व्युत्पत्ति और अभ्यास को भी महत्व दिया है। आनंदवर्धन ने अलोक सामान्य को अभिव्यक्त करने को ही इसका प्रमुख गुण माना है। उन्होने इसे कवि और सहृदय दोनों के लिये आवश्यक बतलाया है। कवि इसके द्वारा सृजन

करता है और सहृदय काव्यास्वादन। इसमें वर्णनीय वस्तु के नूतन उल्लेख की क्षमता होती है। यह रचना के लिए उपलब्ध सामग्री को नवीन और अद्भुत सूत्रो मे संग्रथित करती है। इसके द्वारा काव्य मे विविध अर्थ नियोजित होते है और प्राचीन परम्परित विषय-वस्तु अभिनव अर्थो से संयुक्त हो उठती हे। आनंदवर्धन के अनुसार यह अर्थव्यंजना और ध्वनि वैविध्य को मुखापेक्षी होती है।

राजशेखर के प्रतिभा-विवेचन से हमे कुछ महत्वपूर्ण सूत्र उपलब्ध होते है। इन्होने आरम्भ मे ही उसके कार्य का उल्लेख किया है। उनके अनुसार प्रतिभा शब्द-ग्राम, अर्थ-समूह, अलंकारतंत्र तथा काव्योपजीव्यो को अन्तरात्मा मे प्रतिभासित करती है। प्रतिभाविहीन व्यक्ति दृश्य वस्तुओं का बोध भी नही प्राप्त कर सकता है, पर प्रतिभा संपन्न व्यक्ति दृश्य ही नही अपितु अदृश्य का बोध भी प्राप्त कर लेता है[१७]। वह त्रिकालज्ञ बन जाता है। इन्होने बुद्धि के तीन स्वरूपो— स्मृति, मति और प्रज्ञा— का उल्लेख किया है। स्मृति भूत के अनुभूत विषयो का आलोडन करके हमारे समक्ष प्रस्तुत करती है, मति वर्तमान के और प्रज्ञा भविष्य के। प्रज्ञा को प्रतिभा का पर्याय माना गया है। इसे ऐसी अन्तर्दृष्टि की संज्ञा दी गई है जो आगत, अनागत और भविष्यत् का अवगाहन करने मे पूर्ण समर्थ होती है। आनंदवर्धन ने इसे अलक्ष सामान्य की अभिव्यक्ति का माध्यम कहा था। इन्होने इसे 'नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा' की संज्ञा दी थी। अभिनवगुप्त ने भी रसावेश के कारण उत्पन्न सौन्दर्य और काव्यनिर्माण क्षमता के अन्तःसम्बन्ध का सूत्र रूप मे उल्लेख किया था। राजशेखर ने स्पष्ट रूप से प्रज्ञा की निर्मलता और लौकिक विचारो के साधारणीकरण की क्षमता के मध्य अभेद को स्वीकृति प्रदानकी थी। इस पर तो प्रायः सभी लोगो ने प्रकाश डाला था कि प्रतिभा मे जगत् को प्रतिबिंबित करने की क्षमता होती हे। पर राजशेखर ने उसका और स्पष्टीकरण किया। उनके अनुसार प्रतिभा के सहयोग मे लौकिक वस्तुये कवि के अन्तर्जगत में विभाव बन जाती है और लौकिक अनुभवो से उत्पन्न चित्तवृत्तियाँ भाव का रूप ग्रहण करती है। प्रतिभा द्वारा रूपान्तरित ये विभाव और भाव काव्य-सृजन को शक्ति प्रदान करते हैं। इससे स्पष्ट है कि प्रतिभा लौकिक स्वरूपो को काव्य के धरातल पर अलौकिक बनाती है। आचार्य कुन्तक ने 'अपूर्वता' और 'नूतनता' की जो व्याख्या वक्रोक्तिजीवित[१८] की वृत्ति में दी है उसमे कुछ स्पष्ट निर्देश मिलते है, जो रचना के लिये सहायक माने जाते हैं :—

(१) लोक का अतिक्रमण और प्रसिद्ध व्यवहार की अवहेलना करके ऐसे पदार्थ का निर्माण, जो अभूतपूर्व हो और प्रथम बार उल्लिखित हो नूतन कहलाता है।

(२ वर्ण्यमान पदार्थ ता किसी न किसी रूप मे पूर्व प्रस्तुत रहता है, अतएव इसकी निश्चित सत्ता होती है। कवि या कलाकार इसका पुनर्निर्माण नही करता। वह तो सत्ता मात्र मे प्रतीत होने वाली भावना मे कुछ ऐसी विशेषता उत्पन्न कर देता है कि वह अभूतपूर्व और अलक्ष सामान्य ज्ञात होने लगती हे और अपने इस चमत्कार से सामाजिक के हृदय को आप्लावित कर देती है।

(३) जिस विशेषोन्मुख कलात्मक परिवेश में कलाकृति प्रस्तुत की जाती है, वह पूर्ववर्ती परिवेश से भिन्न और स्पृहणीय होता है, अतएव वस्तु का वास्तविक रूप आच्छादित हो जाता है। इसके परिणामस्वरूप वर्ण्य एक विशिष्ट सौन्दर्य का परिवाहक बन जाता है।

(४) वर्ण्य-वस्तु मे लौकिक स्वरूप के स्थान पर एक अलौकिक स्वरूप का आरोप कर दिया जाता है जो अलोकसामान्य और विशेष होता है.

राजशेखर और कुन्तक की मान्यताओं को एक दूसरी का पूरक माना जा सकता है। राजशेखर ने प्रतिभा को दो भागों में विभक्त किया है। ऐसा करते समय उनके समक्ष रचना और आस्वादन की दोनों क्रियायें विद्यमान रही है। उनकी दृष्टि में कारयित्री प्रतिभा सृजन में सहायक होती है और भावयित्री प्रतिभा आस्वादन मे। कारयित्री प्रतिभा तीन प्रकार की होती है, (१) सहजा, (२) आहार्या और (३) औपदेशिकी। पूर्वजन्म से प्राप्त होने वाली प्रतिभा को सहजा-स्वाभाविकी की संज्ञा दी जाती है और इस जन्म के संस्कार तथा काव्य और शास्त्र से प्राप्त प्रतिभा को आहार्या कहा जाता है। मंत्र-तन्त्र, देवता-गुरु और उपदेश तथा वरदान ने प्राप्त प्रतिभा को औपदेशिकी माना जाता है। सहजा जन्मजात होती है, अतएव उसके सामान्य संस्कार कवि मे पाये जाते हैं। आहार्या अभ्यास प्रधान और श्रमसाध्य होती है। उन्होने प्रतिभा के इस उपर्युक्त विवेचन को ध्यान में रख कर तीन प्रकार के कवियों की कल्पना की थी। इन्हे सारस्वत, (२) आभ्यासिक और (३) औपदेशिक कहा जाता है। जिन कवियों की कवित्वशक्ति जन्मान्तरीय संस्कारों से उद्‌बुद्ध होती है उन सहज बुद्धिमान कवियों को सारस्वत कहा जाता है। जिस कवि की प्रतिभा इस जन्म के संस्कार से उद्‌भासित होती है उस आहार्यबुद्धि कवि को आभ्यासिक माना जाता है। मंदबुद्धि होने पर भी मंत्र, तंत्र, उपदेश अथवा अनुष्ठान से जिसकी वाक्य-रचना कवित्व का रूप प्राप्त करती है उसे औपदेशिक कहा जाता है। सारस्वत कवि की रचना स्वयंचालित और अन्तर्दृष्टि तीव्र होती है।[१९]

भावयित्री प्रतिभा भी कई प्रकार की मानी गई है। जैन महाकवि मंगल ने इसे अरोचकी और सतृणभ्यवहारी दो भागों में विभक्त किया है। यायावर राजशेखर ने मत्सरी और तत्वाभिनिवेशी नामक दो अन्य प्रकारो का उल्लेख किया है। वामन के अनुयायियों ने विवेकी और अविवेकी प्रतिभा को उल्लेख्य माना है। अरोचकी भावको को अच्छी से अच्छी रचना पसन्द नहीं आती। सतृणभ्यवहारी भावक अच्छी बुरी रचना में भेद नहीं कर पाते हैं और सबको सुन कर वाह-वाह की रट लगाने लगते है। मत्सरी भावक ईर्ष्या से ग्रस्त होकर किसी भी रचना का तिरस्कार करने के लिए उद्यत हो जाते है। तत्वाभिनिवेषी भावक मे गुण-दोष की परख होती है। राजशेखर ने व्युत्पत्ति और अभ्यास को भी महत्व दिया है:—इनके मत को अधोलिखित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है :—

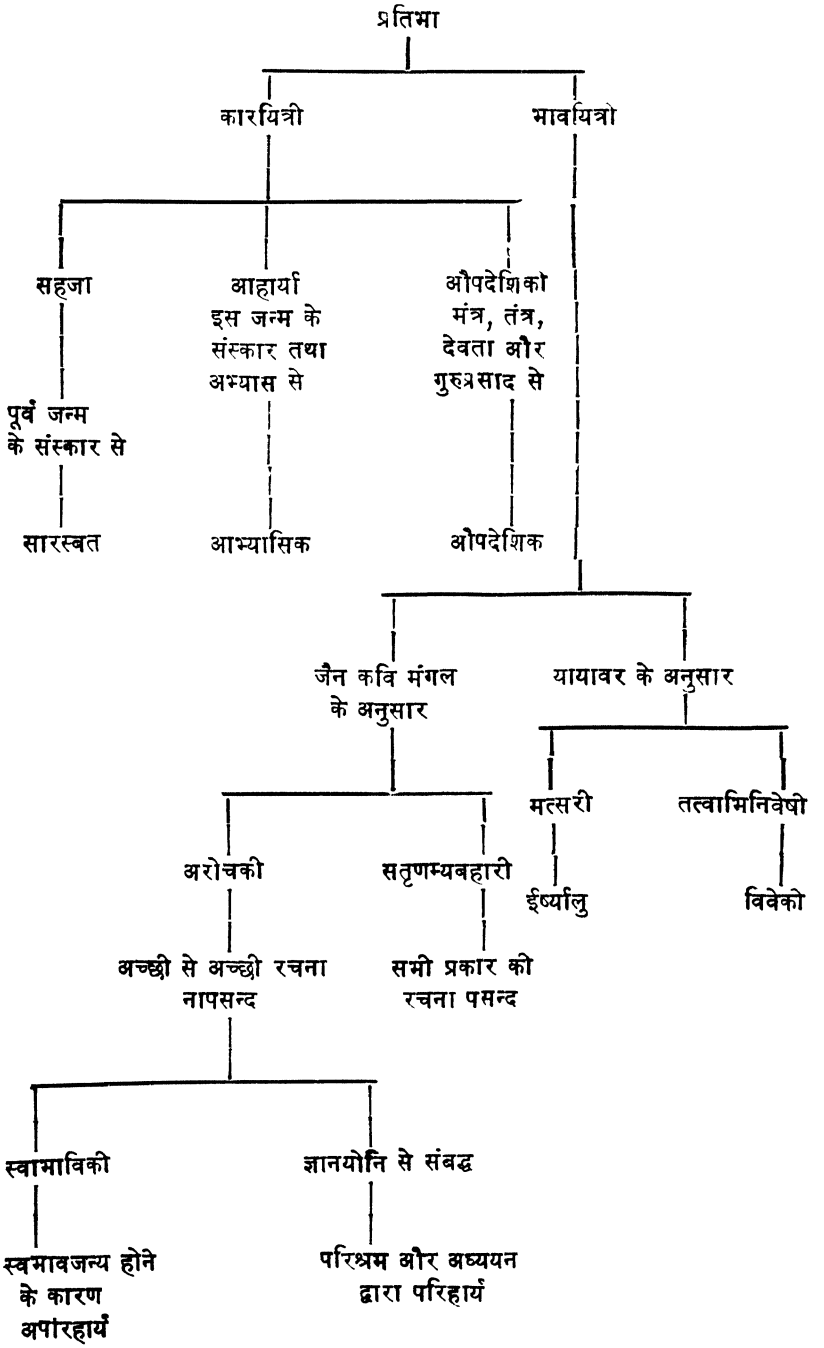
प्रतिभा
कारयित्री
भावयित्री
सहजा
आहार्या
इस जन्म के
संस्कार तथा
अभ्यास से
औपदेशिकी
मंत्र, तंत्र,
देवता और
गुरुप्रसाद से
पूर्व जन्म
के संस्कार से
सारस्वत
आभ्यासिक
औपदेशिक
जैन कवि मंगल
के अनुसार
यायावर के अनुसार
मत्सरी
तत्वाभिनिवेषी
अरोचकी
सतृणभ्यवहारी
ईर्ष्यालु
विवेकी
अच्छी से अच्छी रचना
नापसन्द
सभी प्रकार की
रचना पसन्द
स्वाभाविकी
ज्ञानयोनि से संबद्ध
स्वभावजन्य होने
के कारण
अपरिहार्य
परिश्रम और अध्ययन
द्वारा परिहार्य

प्रतिभा के इस उपर्युक्त विवेचन से हमें अधोलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं:—

(१) यह प्रमुख-रचना-शक्ति है, प्रकाश-स्वभाव-संयुक्त रचना शक्ति।

(२) यह अनन्यापेक्षित भाव से विश्वात्मक तत्व को प्रतिबिम्बित करती है। (अभिनवगुप्त)।

(३) यह भाषा और चित्शक्ति की पर्याय है। (वही)

(४) यह मलावरणो के छिन्न-भिन्न होने के पश्चात् सहज आत्मदीप्ति की पर्याय है। (हेमचन्द्र)

(५) यह शब्दग्राम, अर्थसमूह, अलंकार तन्त्र तथा अन्यान्य काव्योपजीव्यो को अन्तरात्मा मे प्रतिभासित करती है। (राजशेखर)

(६) इसमे 'नूतन उल्लेख-लोकातिक्रान्त निर्मिति' की क्षमता होती हे।

(७) यह 'नूतन' और 'अपूर्व' रचना प्रदान करने मे सक्षम है।

(८) प्रज्ञा के निर्मल होने पर कवि इसके माध्यम से लौकिक विषयो को साधारणीकृत रूप मे ग्रहण करने मे समर्थ होता है।

पश्चात्य साहित्य मे रचना-शक्ति के रूप मे प्रतिभा (जीनियस) की मान्यता बहुत समय तक प्रचलित रही है। आरम्भ मे दैवी प्रेरणा के सन्दर्भ मे इसका विवेचन किया गया है। अतएव व्युत्पत्ति और अभ्यास को वह महत्व नही प्राप्त हो सका है जो प्राप्त होना चाहिए था। दैवी प्रेरणा के सिद्धान्त की अधोलिखित प्रमुख मान्यताये थी:—

(१) सृजन मे सृजक को पूर्व इच्छाओ का कोई सहयोग नही रहता।

(२) वह स्वतः स्फूर्त होता है।

(३) सृजन की स्थिति घनीभूत उत्तेजना की स्थिति होती है। इसे आनन्दानुभूति का पर्याय माना जा सकता है। इसमें उत्तेजना के आरम्भ मे घनीभूत वेदना की विशेषताये उपस्थित रहती है, पर अभिव्यक्ति के पश्चात कलाकार उनसे मुक्ति का अनुभव करता है।

(४) पूर्ण हो जाने पर कलाकृति स्वयं कलाकार के लिए अपरिचित-सी ज्ञात होने लगती है। उसे ऐसा लगता है मानो वह किसी अन्य व्यक्ति की रचना हो।

१८ वी शताब्दी मे डूयूरर ने अनुभव किया था कि प्रतिभा विधायक कल्पना है जो सम्मूर्तन का कार्य करती है। यह यथार्थ मे समृद्ध और स्वतःस्फूर्त रचना-शक्ति हे जो अभिनव रचना प्रदान करने मे सक्षम होती है[२०]। देकार्त ने पहली बार कवि-कौशल को प्रकृति-प्रदत्त-प्रतिभा और कौशल से संबद्ध किया। 'हॉब्स' ने दैवी प्रेरणा के सिद्धान्त का विरोध करते हुए स्पष्ट रूप से इस तथ्य को प्रतिपादित किया कि प्रतिभा मे विधायक कल्पना और निर्णय संबंधी विशेषतायें पाई जाती हैं। विधायक

कल्पना हमें सादृश्य से परिचित कराती है और निर्णय असादृश्य से। इसमे मानस की सभी क्रियाये निहित रहती है[२१]। अलेक्जेण्डर गेरार्ड ने रचना को समझाने का महत्वपूर्ण सूत्र प्रदान किया है। उनका कहना है, 'जब कभी किसी अन्य प्रकार के चिन्तन मे तल्लीन प्रतिभा के समक्ष चिन्तन का विचक्षण स्वरूप आकस्मिक रूप से प्रस्तुत हो जाता है तो विधायक कल्पना क्षिप्र गति से उसकी ओर उन्मुख होती है। इस गति से उसकी भावशबलता प्ररोचित होकर और उद्‌बुद्ध हो उठती है। जब तक विषय की मोहकता मन पर पूर्ण अधिकार करके उसे आनंदमग्न नहीं बना देती, तब तक विधायक कल्पना की गतिशीलता तीव्र से तीव्रतर और तीव्रतम बनती जाती है। इस स्थिति मे मन प्रतिभा की दीप्ति से विशेष रूप से प्रदीप्त होता रहता है। यह दीप्ति उसे आनंदमग्न बनाने मे सहायक होती है[२२]।' गेरार्ड के इस उद्धरण से सृजन की मनोवैज्ञानिक क्रिया पर प्रकाश पड़ता है और कल्पना तथा सृजन के अन्तःसंबंध के विषय मे स्पष्ट सूत्र उभड़ कर सामने आते हैं। रचनाकार के समक्ष परम्परित नियमो का जाल बिछा होता है। प्रतिभा का प्रमुख कार्य यह है कि वह उसे परंपरा से मुक्त करके प्रयोग द्वारा रचना को अभिनव उन्मेष प्रदान करने की शक्ति से सम्पन्न करे। प्रमुख विचारक एडिसन इस तथ्य से परिचित रहे है। उन्होने 'नेचुरल जीनियस' और 'आर्टफुल जीनियस' की बात उठाई है। उन्होने हमे इनके विभेद से भी परिचित कराया है। रचनाकार नैसर्गिक प्रतिभा के माध्यम से ऐसी कृतियो की अवतारणा करता है जो उसके काल के समाज के लिये आनंदप्रद होने के साथ भविष्य को विस्मय-विमुग्ध करने की क्षमता से अलंकृत पाई पाती है। इस तरह के कवि 'सारस्वत' होते हैं। दूसरी कोटि मे वे कवि आते है जो व्युत्पत्ति और अभ्यास के बल पर रचना करते है। इन्हे हम 'आभ्यासिक' का संज्ञा दे सकते है।[२३] 'एडिसन' के बाद युंग ने 'इन्फैन्टाइन जानियस' और 'मेच्योर जीनियस' की बात उठाई। प्रथम प्रकार की प्रतिभा को लालन-पालन, भरण-पोषण, शिक्षा-दीक्षा और अभ्यास की अपेक्षा होती है, पर दूसरे प्रकार को प्रतिभा प्रकृति की गोद से पूर्ण विकसित और परिपक्व रूप मे अवतरित होती है। इसमे मानसिक शक्ति और ज्ञान की प्रचुरता रहती है। यंग ने स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया था कि पाण्डित्य उधार लिया ज्ञान और प्रतिभा नैसर्गिक और स्वतःस्फूर्त अभिज्ञान होती है।[२४] प्रतिभा-संपन्न रचनाकार का मानस उर्वर और आकर्षक होता है।[२५] इसे मौलिक और स्थायी उद्‌भावनाओ का आगार माना जा सकता है।[२६] एडिसन और युंग दोनो के विवेचन मे ऐसे सूत्र निहित थे जो जर्मनी मे 'वेजीटेबुल ग्रोथ ऑव जीनियस' के जन्मदाता सिद्ध हुए।[२७] उस समय वहाँ लीबनिज़ की मान्यताओं का युग था। उनकी मान्यताओं मे दर्शन और वनस्पतिशास्त्र का अद्‌भुत संयोग पाया गया था। उन्होने शक्ति के अणुओ के सामुदायिक विकास की कल्पना की थी और यथार्थ को प्रत्यक्ष ज्ञान से भिन्न सजीव और सावयव ज्ञान की संज्ञा दी थी। उन्होने इस ज्ञान को भी शक्ति के अणुओं का

पुंज माना था। इन शक्ति के अणुओं में भूत, भविष्यत् और वर्तमान को प्रतिच्छायित करने की अद्भुत क्षमता थी। अतएव ये संसृति के सजीव और स्थायी दर्पण माने गए थे। मानव की स्थिति सामान्य कोटि के अन्य जीवों से भिन्न थी। उसकी आत्मा मे संसृति के अवबोध स्पष्ट होकर आत्मबोध के रूप में भासित होते थे। लीबनिज ने अवचेतनीय विकास को प्रतिपादित किया था। उसकी दृष्टि मे मनुष्य की आत्मा मे अस्पष्ट और अज्ञात रूप से अनन्त अवबोध क्रियाशील रहते हैं, जो उसके परिवर्तन के परिचायक होते है। व्यक्ति इनके स्पष्टबोध से अवगत नहीं हो पाता है। लीबनिज ने मानव आत्मा में पूर्व-स्थापित एकता (preestablished harmony) की कल्पना भी की थी। उनकी दृढ़ धारणा थी कि शक्ति के अणुओं की आन्तरिक गतिशीलता के माध्यम से व्यक्ति वाह्य गतिविधि से परिचित होता रहता है। लीबनिज ने इस तथ्य को भी स्वीकार किया था कि अवचेतन के अस्पष्ट बोध निरन्तर विकसित होते रहते है। विकास की निश्चित अवस्था में उन्हे ग्रहण किया जा सकता है। इस विकास की तुलना मिट्टी में पड़े हुये बीज के विकास से की गई थी[२८]। लीबनिज के इस विचार से सुल्जर विशेष रूप से प्रभावित हुए। फिर भी उन्होंने पूर्ववर्ती ज्ञान को अपनी दृष्टि से ग्रहण किया। इनके अनुसार हर ज्ञान प्रच्छन्न रूप से मन में विद्यमान रहता है। वाह्य परिस्थितियो के सह सम्बन्ध से वह इतना स्पष्ट हो जाता है कि उसे चेतना के धरातल पर ग्रहण किया जा सकता है। इस प्रकार किसी भी विचार को सर्वथा नवीन नही माना जा सकता है। दैनिक जीवन मे इस बात के प्रभूत उदाहरण मिलते है कि किसी नाम या विचार को जब हम स्मृति में लाना चाहते है तो वह सरलता से नही आ सकता है। कभी-कभी पुनर्स्मरण के प्रयास में वह भूल भी जाता है। पर कालान्तर मे वह अनाहूत रूप मे मानस में कौधने लगता है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि इस बीच के काल मे विचार प्रच्छन्न रूप से विकसित हुआ और परिपक्व और प्रौढ़ होकर हमारे समक्ष उपस्थित हो गया[२९]।

हर्डर ने पूर्ववर्ती सिद्धान्तों के स्थान पर नया सिद्धान्त प्रतिपादित किया। उन्होंने इस क्रम मे पौधे के विकसित होने—उसके उगने, अपने को नियन्त्रित करने, वातावरण से पोषक तत्व ग्रहण करने, आत्मनिर्भर जीवन व्यतीत करने और अन्ततोगत्वा विनष्ट हो जाने के स्वरूप का उल्लेख किया था। उन्होंने प्रकृति को सावयव संघटना और मनुष्य को उस संघटन का अभिन्न अंग माना था। प्रकृति की ही तरह मनुष्य मे भी विचार, अनुभूति और इच्छाशक्ति के समन्वय के कारण उसके जीवन से वे ही शक्तियाँ और क्रियायें अभिव्यक्त होती थीं जो बाह्य प्रकृति में पाई जाती थी[३०]। हर्डर ने अन्य लोगों की तरह पौधे को मानसिक पक्ष का नहीं अपितु उस प्राकृतिक क्रिया का प्रतीक माना था जो अपने आदर्श स्वरूप में सामयिक प्रकृति से प्रादुर्भूत होता है।

प्रतिभा पर विचार करने वाले आलोचकों में दार्शनिक और लालित्यबोधीय

विचारक काण्ट, हीगेल, शापेन आवर और शेलिंग का स्थान भी महत्वपूर्ण था। काण्ट रचनात्मक प्रतिभा (Creative Genius) पर विचार किया है। उन्होंने सभी कलाओं को प्रतिभा-प्रसूत माना और रचना के लिए प्रतिभा और प्रकृति के सामंजस्य को आवश्यक बतलाया है। उन्होने प्रतिभा को ऐसी नैसर्गिक दक्षता माना है जिसके माध्यम से प्रकृति कला को नियमबद्ध करती है। काण्ट ने स्पष्ट रूप से इस तथ्य को प्रतिपादित किया है कि प्रकृति के अभाव मे प्रतिभा सोद्देश्य कलाकृति नही उत्पन्न कर सकती है। प्रतिभा की कुछ निजी विशेषतायें हैं। सृजन के समय वह न तो उद्देश्य से परिचित रहती है और न सृजन-प्रक्रिया से। इतना अवश्य देखा जाता है कि संसृति के क्रिया-कलाप मशीनी ढंग से क्रियाशील रहते हैं। अतएव यह कार्य-कारण-शृंखला से सन्नियमित होती है, पर यह शृंखला भी स्वतः मे बहुत स्पष्ट नहीं होती है। इसे स्पष्ट बनाने के लिए कारणो को प्रकृति के उद्देश्य के रूप मे निरूपित करना पड़ता है। प्रकृति की संघटना सदैव अन्तर्स्थ और अज्ञात रूप से उद्देश्य पूर्ण होती है। इसमे अपने को स्वयं संघटित करने की विशेषता पाई जाती है। यह मूल रूप में प्रभावोत्पादक और सर्जक होती है। यह अन्तः से बाह्य की ओर गमन करती है और इसके अवयव और आकार मे माध्यम और उद्देश्य जैसी एकता पाई जाती है। 'क्रिटिक आफ जजमेन्ट' म काण्ट ने अभिरुचि और प्रतिभा पर प्रकाश डाला है। उन्होंने लिखा है कि कल्पना के नियम के आग्रह के सन्दर्भ मे अभिरुचि कला के उपादानों का मूल्यांकन करती है, इस स्थिति मे कल्पना सर्जनात्मक प्रतिभा की उत्पादक होती है। कलात्मक प्रतिभा को दो तत्वो की अपेक्षा होती है, (१) प्रत्यय और (२) विशिष्ट घटक। प्रत्यय को सरलता से अभिव्यक्त करना कठिन है, फिर भी इतना स्पष्टता से कहा जा सकता है कि जब विधायक कल्पना प्रत्यय को ग्रहण करती है तो बिम्ब का निर्माण होता है। प्रतिभोद्भूत कला सुन्दर और आकर्षक होती है। इसमे नियम का सहयोग होता है, फिर भी इसे केवल उसी का मुखापेक्षी नही माना जा सकता। यह बहुधा अव्यक्त और अनिश्चित नियमों की निर्मात्री होती है।

हीगेल ने सृजन मे सहायक तीन प्रमुख उपस्कारक तत्वों पर विचार किया है, (१) कल्पना, (२) प्रतिभा और (३) प्रेरणा। प्रतिभा को वे ऐसी निर्माणक क्रिया मानते है जिसके माध्यम से कलाकार आवश्यक वैचारिक तथ्य को ऐसा यथार्थ कलेवर प्रदान करता है जो उसकी निर्माण-क्षमता का परिचायक होता है। यह आत्मा का गुण है और इसे प्रज्ञा से भिन्न माना गया है। प्रतिभा सम्पन्न रचनाकार मे प्रतिभा और प्रज्ञा अन्योन्याश्रित रूप में पाई जाती है। प्रतिभा को हीगेल ने ऐसे विधायक कौशल की संज्ञा दी है जो कलात्मक मनः सृष्टि को भौतिक माध्यम से प्रकट करने का प्रमुख साधन है। हीगेल कलात्मक क्षमता को प्रतिभोद्भूत मानते हैं। शॉपेन आवर के अनुसार प्रतिभा कलाकार की ऐसी शक्ति है जो परमभाव को समझने में सहायक हो सकती है। प्रतिभा और विधायक कल्पना एक दूसरे के पूरक हैं।

प्रतिभा मन की वस्तुनिष्ठ प्रवृत्ति होती है जो इच्छा शक्ति की ओर उन्मुख रहती है। विशुद्ध अवबोध की दशा मे यह प्रवृत्ति निरन्तर बनी रहती है। प्रतिभा अवबोध से तादात्म्य स्थापित करके ऐसे ज्ञान की गवेषणा करती है जो इच्छा शक्ति के लिए सहायक सिद्ध होता है। इसके उपजीव्य शाश्वत सत्य होते है। इन तथ्यो के साक्षात्कार के लिए विधायक कल्पना की अपेक्षा होती है। अगर कल्पना सक्रिय रूप में प्रतिभा के कार्यक्षेत्र का विस्तार नही करती तो यह पर्याप्त सीमित रह जाता है[११]। शेलिंग सर्वातिशायी आदर्शवादी थे। उन्होने स्पष्ट रूप से घोषित किया था कि ज्ञान अपने सिद्धान्त की ओर उन्मुख होकर ही पूर्णता प्राप्त करता है। इन्होने दैवी प्रेरणा की व्याख्या करते हुए कहा था, यह सिद्धान्त कम से कम इस बात का प्रतीक है कि कलाकार अनिच्छित रूप से कला-सृजन की ओर उन्मुख होता है। चिन्तन की अवस्था मे कृति का वैचारिक और भावात्मक पक्ष अनन्त सामजस्य के रूप मे उपस्थित होता है। इस सामंजस्य को प्रकृति का अनुग्रह माना जाता है। कलाकार के व्यक्तित्व में चेतन और अचेतन मे आन्तरिक द्वन्द्व बना रहता है। यह आन्तरिक द्वन्द्व सृजन का जन्मदाता होता है। कलाकार अपने अन्दर निहित विधायक कल्पना के अद्भुत तत्व द्वारा इन द्वन्द्वो को ही समन्वित नही करता, अपितु सृजन को भी महत्वपूर्ण स्वरूप प्रदान करता है। यह परम्परा निरन्तर विकसित होती रही है। इनमे ज्यो पाल रिचो का स्थान महत्वपूर्ण है[१२]। उनकी धारणा है कि प्रतिभा मे मनुष्य की सभी शक्तियो का सामंजस्य पाया जाता है। इसमे चेतन का सहयोग तो रहता ही है, पर सबसे सशक्त तत्व अचेतन है। अवचेतन नैसर्गिक शक्ति है और यह महान कलाकारों मे सहज रूप से विद्यमान रहती है। मनुष्य अपनी प्रज्ञा द्वारा इसके रहस्य का उद्घाटन नही कर पाता। इन विचार धाराओ का विकास स्वच्छन्द धारा के कवियो मे हुआ था। प्रमुख विचारक कार्लाइल के चिन्तन मे समूची जर्मन परम्परा एक बार पुनः प्रतिच्छायित हुई थी। उन्होने स्पष्ट रूप से लिखा था, 'दृश्य चेतन की पृष्ठभूमि मे रहस्यमय अवचेतन का व्यापक प्रसार-क्षेत्र प्रस्तुत रहता है। जीवन-वृक्ष की शाखाये प्रशाखायें इसमे प्रसरित रहती है। इस क्षेत्र को 'डेथ और नाइट' के क्षेत्र की संज्ञा दी जाती है। इसी क्षेत्र के रहस्यमय प्रसार में कलात्मक सर्जन का कार्य संपादित होता है। अवचेतन ही सृजन का प्रतीक है। इससे एक तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि संसृति और जीवन का अधिकाश स्वरूप रहस्या-वेष्ठित होता है[१३]।

इधर कुछ मनोवैज्ञानिकों ने प्रतिभा को विश्लेषित करने का प्रयत्न किया है। बाब कॉक की दृष्टि मे प्रतिभा ऐसी उदात्त मानसिक शक्ति है जो व्यावसायिक शिक्षण से मुक्त सहज मानसिक सम्मान मे संयुक्त पाई जाती है।[१४] एच० ए० एलिस के अनुसार प्रतिभा मे अनेक सहगामी परिस्थितियो का संयोग होता है।[१५] डब्लू लैंज आइशबाम की दृष्टि मे प्रतिभा न तो कोई पूर्ण वस्तु है और न कोई एक

प्रतिष्ठित आदर्श। .....। इससे भिन्न रूप मे प्रतिभा यथार्थ मे मूल्यांकन, मूल्याभिधान या मूल्यानुभूति है।[३६] इन परिभाषाओ से कुछ महत्वपूर्ण तथ्य उपलब्ध होते है। प्रतिभा शिक्षण-संयुक्त-मानसिक-शक्ति है जो अनेक सहगामी परिस्थितियो के संयोग से उत्पन्न होती है। इसे यथार्थ मे मूल्य का जनक माना जा सकता है। मनोवैज्ञानिकों ने इन विशेषताओ के साथ ही उसके निर्माणक स्वरूप पर भी विचार किया है। ब्रेन की मान्यता है कि इसका संबंध वंश-परंपरा, वातावरण और प्रमस्तिष्क की रचना से होता है। स्नायु-संस्थानो की बनावट मे भेद से भी प्रतिभा में भेद हो जाता है। किसी भी प्रतिभा संपन्न व्यक्ति मे कोशाणुओ की संख्या अधिक नही होती है। केवल प्रमस्तिष्क मे पाए जाने वाले कोशाणुओं की कार्यकारी-सघटना (Schema) सक्रिय और जटिल रूप मे व्यवस्थित होती है। प्रतिभा संपन्न व्यक्ति मे सामान्य व्यक्ति की तुलना मे अचेतन-क्षमता अधिक होती है। मानस मे अचानक कौध होती है और वह उसे ग्रहण करने के लिए विवश हो जाता है। प्रेरणा का तात्पर्य इसी स्मृति से होता है। जिसमे आवश्यक आकडो को बनाए रखने की क्षमता होती है। उसमे भाव-संवेगो के उन अनुषंगपूर्ण स्वरूपो को स्थायित्व प्रदान करने की क्षमता होती है जिनके माध्यम से आकडे परस्पर संबद्ध होते है और जिनके द्वारा अभिनव और सार्थक संयोग उपलब्ध होता है।[३७] कलाकारो के मानस मे उपस्थित घनीभूत संवेदना इस तथ्य का संकेत करती है कि उनके प्रमस्तिष्क का आधारभूत-संघटन-पूर्ण विकसित विचार होना चाहिए।

मनोवैज्ञानिक इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि हर महान् व्यक्ति सर्जक होता है। अतएव उसे केवल अपने काल की आवश्यकता की पूर्ति का साधन नहीं माना जा सकता है। वह केवल युगीन चेतना का प्रवक्ता नही होता, वह तो वातावरण का सृजन करता है। महान् रचनाकार किसी न किसी समस्या पर अपना ध्यान केन्द्रित रखता है। वह इच्छा के वशीभूत होकर सृजन नही करता, आवश्यकता के वशीभूत होकर सृजन करता है।[३८] सर्जनात्मक दीप्ति का आविर्भाव वस्तुगत और आत्मगत तथा प्रज्ञा और उसके अचेतन उपस्तरो में संयोग का परिचायक होता है।..... भूत विशुद्ध भूत के रूप मे मृतक और निष्क्रिय होता है। महान् व्यक्ति इससे रूप और चलचित्र का सकेत ग्रहण करता है। इन्ही के माध्यम से वह वर्तमान में अधिक महत्वपूर्ण ढग से सक्रिय हो सकता है।

प्रतिभा और मानसिक योग्यता (Genius and Talent) को लेकर कई तरह के विवाद उठाए गए है। यथार्थ में इन दोनों में भिन्नता होती है। प्रतिभा सृजन मे सहायक होती है और मानसिक क्षमता उसका सुधार करती है। प्रतिभा प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करती है और मानसिक क्षमता उसका विश्लेषण और गवेषणा करती है। प्रतिभा 'एस्पायर' करती है और उसका उद्देश्य सृजन होता है, मानसिक क्षमता महत्वाकांक्षा से प्रेरित होती है और उसका उद्देश्य शक्ति प्राप्त करना होता है।

प्रतिभासंपन्न व्यक्ति अपरिचित क्षेत्र मे अजनबी जैसे होता है। वहाँ वह अल्पकाल के लिए ठहरता है। मानसिक क्षमता संपन्न व्यक्ति के लिए पृथ्वी स्वर्ग होती है और सामाजिक सन्तुलन सहज और द्वन्द्वरहित विश्राम स्थल। प्रतिभा संपन्न रचनाकार के पास मानसिक क्षमता होती है। इसी के माध्यम से वह अपने सृजन को स्थायित्व प्रदान करता है।[२८] कुछ मनोवैज्ञानिको ने प्रतिभा को समाजशास्त्रीय कार्य व्यापार (Sociological phenomenan) और मानसिक क्षमता को अन्त.करण से उत्पन्न विशिष्टता की संज्ञा दी है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हमे प्रतिभा सबंधी अधालिखित निष्कर्ष प्राप्त होते है:—

(१) आरंभ मे प्रतिभा को दैवी प्रेरणा के संबंध मे विवेचित और विश्लेषित किया गया और इसे स्वत:स्फूर्त स्वतंत्र, मानसिक उत्तेजना म मुक्ति प्रदान करने वाली शक्ति माना गया।

(२) बाद मे दैवी प्रेरणा के सिद्धान्त को अमान्य घोषित किया गया और प्रतिभा को कल्पना का पर्याय मान कर उसे सम्मूर्तन के शक्ति की संज्ञा दी गई। इस क्रिया मे प्रतिभा भाव-प्ररोचन और मानसिक दीप्ति का प्रमुख साधन थी।

(३) प्रतिभा का प्रमुख कार्य रचनाकार को परंपरा से मुक्त करके प्रयोग सक्षम बनाना था।

(४) इसे कलात्मक प्रतिभा और नैसर्गिक प्रतिभा नामक दो वर्गो मे विभक्त किया गया। नैसर्गिक प्रतिभासंपन्न रचनाकार के मानस को उर्वर और नवोन्मेष-सक्षम कहा गया।

(५) प्रतिभा के अवचेतनीय विकास की वनस्पतिशास्त्रीय व्याख्या की गई।

(६) दार्शनिक-लालित्यबोधीय विचारको के अनुसार प्रतिभा ऐसी नैसर्गिक क्षमता है जिसके माध्यम से प्रकृति कला को नियमबद्ध करता है। (काण्ट)। यह आत्मा का गुण है। जिसे प्रज्ञा से भिन्न माना जाता है। प्रतिभा कलात्मक मन.सृष्टि का भौतिक माध्यम से व्यक्त करने का प्रमुख साधन है। (हीगेल)कल्पना सक्रिय रूपो मे प्रतिभा के कार्यक्षेत्र का विस्तार करती है।

(७) मनोवैज्ञानिको की दृष्टि मे प्रतिभा शिक्षण से मुक्त उदात्त मानसिक शक्ति है जो सहगामी परिस्थितियो के संयोग म उत्पन्न होती है। यह मूल्य की जनक होती है।

(८) प्रतिभा और मानसिक क्षमता मे भेद होता है।

विधायक कल्पना और रचना का सम्बन्ध स्वतः सिद्ध है। इसकी मान्यताओं के सैद्धान्तिक और ऐतिहासिक विकासक्रम पर बहुत कुछ लिखा जा चुका है। अतएव यहाँ हम केवल उन विशेषताओ पर संक्षेप मे विचार करेंगे जिनके कारण कल्पना रचना मे विशेष रूप से सहायक होती है। यह प्रश्न कम जटिल नही है। इसीलिए इसपर अभी तक विशेष रूप से विचार भी नही किया गया है। इसे समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम स्पष्टता से इस तथ्य को निरूपित कर ले कि कल्पना क्या है? इस प्रश्न के उत्तर स्वरूप हम कह सकते है कि यह मानसी शक्ति है। पुनः प्रश्न उठता है कि इसका रचना के लिए क्या उपयोग है? इसका उत्तर यह है कि इसके द्वारा रचनाकार नूतन सृजन और अभिनव रूप व्यापार मे मे सक्षम होता है। मानसी शक्ति के रूप मे यह अप्रत्यक्ष और अप्रस्तुत वस्तुओ को हमारी प्रज्ञा के सक्षम प्रस्तुत करती है। पुनः उन अनुभूति तथा बोध संवितो को सजीव कलात्मक कलेवर प्रदान करती है। इससे सिद्ध होता है कि पूर्व अनुभूतियों की योजना से अपूर्व अनुभूति की उद्भावना का कार्य संपादित करने वाली प्रमुख रचनशक्ति को कल्पना कहा जाता है। मनोवैज्ञानिको ने इन्द्रिय-बोध की दृष्टि से इसके छः भेदो का उल्लेख किया है; (१) दृष्टि कल्पना, (२) ध्वनि कल्पना, (३) स्पर्श कल्पना, (४) घ्राण कल्पना, (५) क्रिया-कल्पना और (६) रस कल्पना। उन्होने रचनात्मक शक्ति को ध्यान मे रखकर इसे तीन प्रमुख वर्गों मे विभक्त किया है, (१) निष्क्रिय तथा सक्रिय कल्पना, (२) धारणात्मक तथा तथा रचनात्मक कल्पना और (३) बौद्धिक तथा व्यावहारिक कल्पना। उनके विवेचन को हम अधालिखित रूप मे प्रस्तुत कर सकते हैं — (पृष्ठ ४०८-९ पर देखे)

मनोवैज्ञानिको की दृष्टि कल्पना और मौलिकता के अन्तःसबंध के निरूपण की ओर भी गई है और उन्होने इन दोनो को अन्योन्याश्रित सिद्ध किया है। रिबॉट ने विधायक कल्पना और कल्पना के भेद से हमे परिचित कराया है। उनकी दृष्टि में कल्पना केवल पुरातन को प्रतिनिधि होती है जबकि विधायक कल्पना अभिनव श्लेषण की। विधायक कल्पना का प्रमुख उद्भव स्रोत बिंबो की उस सहज वृत्ति मे निहित होता है जो अपने को कार्य-रूप मे परिणत कर सकत है। हर प्रकार की कल्पना में स्नायुसंस्थान के गतिवाहा स्वरूपो का सहयोग होता है। हर कल्पना का एक बौद्धिक पक्ष होता है। इसमें संयोजन (Association) और वियोजन (Dissoc iation) की दो पूरक क्रियाओ का दर्शन होता है। संयोजन में मानसिक स्थितियाँ इस प्रकार संयुक्त हो जाती है कि वे एक दूसरे को प्रेरित करने में समर्थ होती हैं। वियोजन की क्रिया संक्षिप्तीकरण की क्रिया होती है [४०]। इसमे सूक्ष्म वर्णन के लिए आग्रह नहीं पाया जाता। रचनाकार निष्क्रिय मनोदशा में उपलब्ध बिंबो को विरूपीकृत और सरलीकृत करता रहता है। हर विधायक कल्पना का भावात्मक पक्ष होता है। इसका रचनाकार के अचेतन से सम्बन्ध पाया जाता है। हर रचना में समन्वय

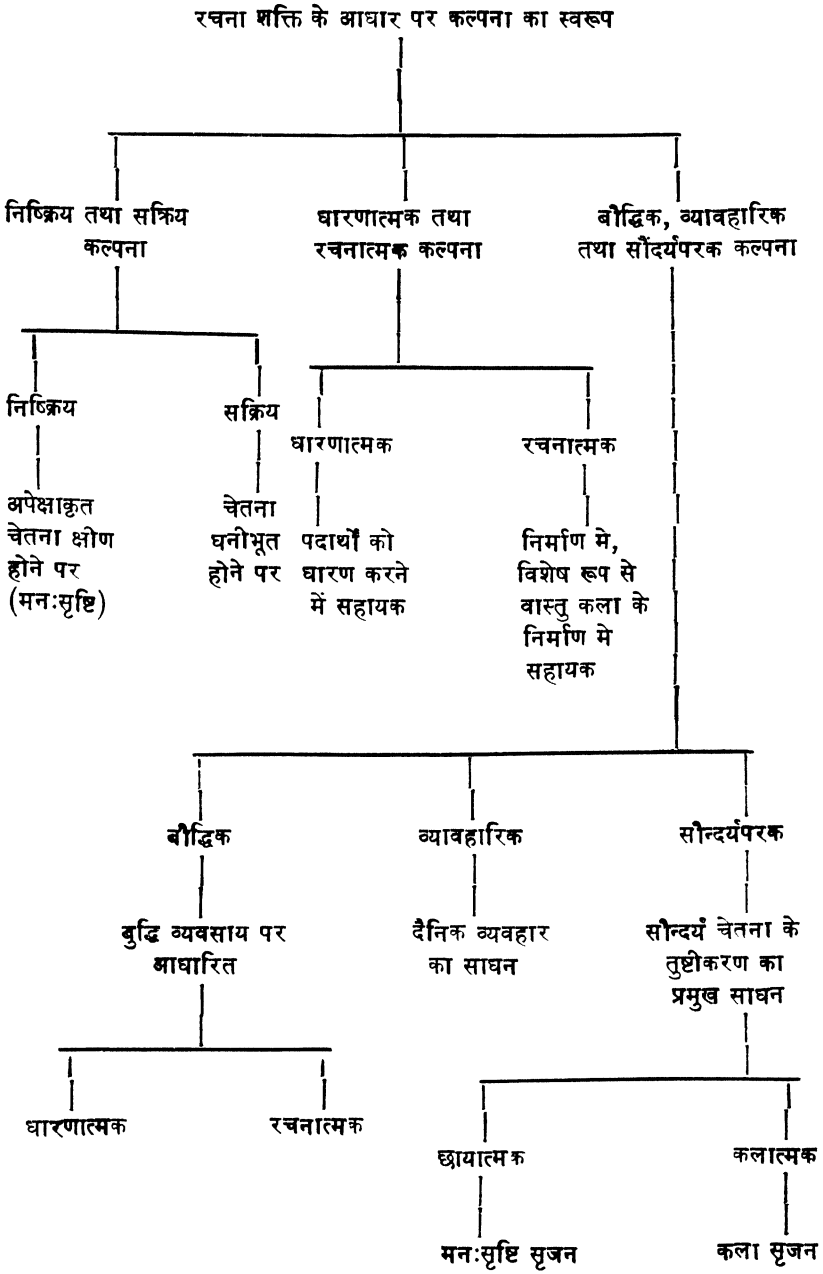

मनोवैज्ञानिकों ने कल्पना की उपक्रिया को भी पाँच भागों में विभक्त किया है :—

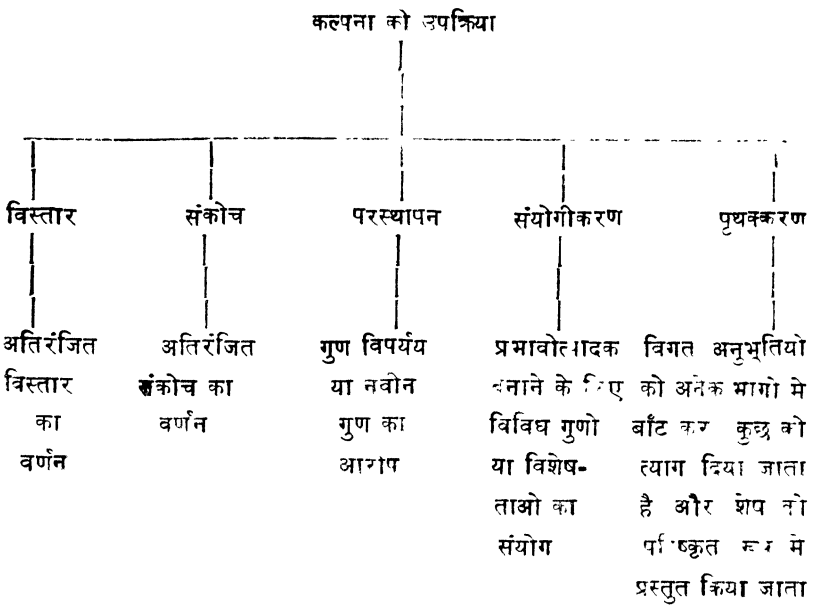

(पृष्ठ ४०७ के आगे)

का सिद्धान्त क्रियाशील रहता है[४१]। इस दृष्टि से विधायक कल्पना को विविध ऐन्द्रिय प्रभावों को रचना मे ढालने की ऐसी शक्ति माना जा सकता है जिससे उसमे लालित्यबोधीय गुण उत्पन्न हो सके[४२]। डी० स्वार्ट्ज ने भी कल्पना को उपर्युक्त रूप मे ही परिभाषित करते हुए उसमे एक अन्य विशेषता को जोड दिया है। उनका कहना है, कल्पना को हम मौलिक रूप से इन्द्रियो द्वारा उत्पन्न मानसिक बिबो को चेतना के स्तर पर ले आने की क्रियाशील शक्ति की संज्ञा दे सकते है। इस क्रिया के संपादन के समय इन्द्रियो को अपने पूर्व प्रभाव ग्रहण की स्थिति मे जाना आवश्यक नही होता[४३]। कल्पना के विवेचन और परिभाषा की दृष्टि मे मनोवैज्ञानिको ने फान्तसी का भी उल्लेख किया है और इसका सम्बन्ध अयथार्थ अथवा काल्पनिक अनुभूति के रूपायन से स्थापित किया है।

मनोवैज्ञानिको के अतिरिक्त जीव वैज्ञनिको ने भी कल्पना पर विचार किया है। इनकी दृष्टि मे कल्पना मस्तिष्क की क्रिया है। मानसिक अनुभूति की कई सतहे हुआ करती हैं जिन्हे हम ऐन्द्रिय अवबोध, मानसिक बिब, स्मृति और मनोविभ्रम के नाम से सूचित कर सकते है। कल्पना उन्ही की सर्वोपरि सतह पर विद्यमान रहती है। उसका सम्बन्ध प्रमस्तिष्क बल्कुट से होता है। प्रमस्तिष्क बल्कुट विशिष्ट ढंग से निर्मित होता है। इसमें अनन्त चेता-कोश पाये जाते हैं जो अन्योन्याश्रित और अन्तर्निहित क्रिया के प्ररोचक हुआ करते हैं। कुछ विचारक इनमें से कुछ चेताकोशो को स्वतन्त्र भी मानते हैं। ऐसा विश्वास किया जाता है कि ये स्वतन्त्र चेताकोश चेतालोमीय

तन्तुओ के द्वारा अन्य कोशो से प्रभावित होते रहते है और इन्हे सूक्ष्म तन्तुओ के माध्यम से संप्रेषित भी करते जाते है। इन कोशो मे पारस्परिक संगति और सामाजिकता रहती है। अत इनमे प्रेरणा के लयात्मक तरंगो का प्रतिध्वनन चलता रहता है। मस्तिष्क-बल्कुट के अन्तर्गत पडने वाला एक चेताकोश केवल समीपी चेताकोश को ही अपनी प्रेरणा से तरंगायित नही करता अपितु प्रमस्तिष्क-बाह्यक के अन्तर्गत पडने वाले अन्य चेताकोशों को भी वह समानरूप से प्रभावित करता है। इस प्रकार कोई हल्की से हल्की प्रेरणा समस्त मस्तिष्क को आन्दोलित कर देती है। इससे यह सिद्ध होता है कि साधारण ऐन्द्रिय अनुभूति ही कल्पना की उपजीव्य होती है। इससे पूर्व हमने इस तथ्य का संकेत भी किया था कि संवेदनवहा नाडियो के द्वारा विविध संवदन प्रमस्तिष्क के क्षेत्रो को प्रेषित होते और उसके कोषो मे अंकित होते रहते है। समान मानसिक दशा की उपस्थिति मे उनमे विस्फोट होता है। इसी क्रिया से पुन. चित्तवृत्ति का निर्माण होता है जो रचना का केन्द्र बिन्दु मानी जाती है। आर० डब्लू० गेरार्ड ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है। वे स्पष्ट रूप से स्वीकार करते है कि कल्पना मे क्रियाशील स्नायु-संस्थानीय 'मैकेनिज्म' अभी पूर्ण स्पष्ट नही है। फिर भी अबतक उपलब्ध सामग्री के आधार पर कहा जा सकता है कि विधायक कल्पना मन की ऐसी क्रिया है जो अभिनव-अन्तर्दृष्टि उत्पन्न करती है। यह अन्तर्दृष्टि रचनाकार को वैचारिक दीप्ति के रूप मे उपलब्ध होती है[४४] यह पूर्ण निर्मित होता है। जब दामिमय विचार महत्वपूर्ण होता है, तब बुद्धि और तर्क का उपयोग किया जाता है। कल्पना सर्वोत्कृष्ट के अभ्युदय और उपलब्धि के लिए उत्तरदायी होती है और बुद्धि सर्वोत्कृष्ट के जय के लिए उत्तरदायी।[४५] कल्पना को निर्मिति अचानक चेतना मे प्रवेश करती है। इसके पूर्व यह अचेतन स्तर पर क्रियाशील पाई जाती है। गेरार्ड ने कल्पना के स्वरूप पर भी प्रकाश डाला है। उनकी दृष्टि मे कल्पना ग्राहक-क्रिया और आभव्यंजक-क्रिया के मध्य के महत्वपूर्ण क्षेत्र मे क्रियारत पाई जाती है।[४६] द्वितीय अध्याय मे हमने रचना के स्तरो का उल्लेख किया है और 'ट्रान्सिलमिनल माइण्ड' और 'थ्रेशोल्ड' माइण्ड' को रचना का क्षेत्र माना है। संभवत: गेरार्ड का महत्वपूर्ण अज्ञात क्षेत्र उसी की ओर संकेत करता है। गेरार्ड ने भी अप्रत्याशित रचनात्मक कौंध का उल्लेख किया है। इसके स्वरूप का द्वितीय अध्याय मे वैज्ञानिक विवेचन किया गया है। इसी सन्दर्भ में काशाणुओ के तनाव-सुलझाव-तनाव पर भी प्रकाश डाला गया है और इस क्रिया को गतिमूलक माना गया है। इस तनाव के कई रूप होते है। आन्तरिक या आत्म-शासित क्षेत्र के तनाव से ही सर्जनात्मक कौंध क्रियाशील होती है। साहचर्य के द्वारा भाव-खण्ड आपस मे मिल कर नए भाव का निर्माण करते है। इसी स्थिति मे कल्पना विशेष रूप से सक्रिय पाई जाती है।

सृजन की जितनी भी परिभाषायें द्वितीय अध्याय में दी गई हैं उनसे उसकी नवनवोन्मेष-प्रदाता-क्षमता विशेष रूप से मुखर हुई है। वैज्ञानिक इस क्षमता से

भलीभाँति परिचित हैं। वे परिवेश और घटनाओं के कार्य-कारण-शृंखला से मुक्त सृजन के अवचेतन पक्ष को भी स्वीकार करते है। सावयव विकास के सिद्धान्त द्वारा उनके चिन्तन के इसी पक्ष को उद्घाटित किया गया है। वैज्ञानिक इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि मानव विकास और क्षरण की क्रियाओ के बीच क्रियाशील पाया जाता है। उनके समक्ष इसके दो स्वरूप उपस्थित होते हैं; (१) शारीरिक विकास और (२) मानसिक विकास। शारीरिक विकास शरीर विज्ञान का विषय है और मानसिक विकास शरीर के अन्दर स्थान ग्रहण करने वाली मानसिक क्रिया का। 'ह्वाइट' महोदय ने इन दोनो स्वरूपों को भिन्न माना है।[७७] उनकी दृष्टि मे शरीर वैज्ञानिक क्रिया का कार्यक्षेत्र स्थायी और विश्वजनीन जीव म पाई जाने वाली रासायनिक क्रिया होता है, पर मानसिक क्रिया के कार्य-क्षेत्र की इकाई विगत अनुभूतियो के अवशेष होते है जिन्हे हम प्रमस्तिष्क-वल्कुट की संघटना से संबन्धित नमनीय रिकार्ड की संज्ञा दे सकते है। पूर्ववर्ती विवेचन मे हमने चेता-कोशो का उल्लेख किया है। वस्तुतः इन चेताकोशो का कल्पना से गहन संबन्ध होता है। भौतिक-संघटना निश्चित पद्धति मे ढली निर्माण की क्रिया होती है, पर मस्तिष्क ऐसी संघटना की निर्माणक क्रिया का परिचायक होता है जो व्यक्ति की अनुभूति के विशिष्ट पक्ष को चित्रित करती है। जिस प्रकार सावयव संघटना से सूक्ष्म तंतु आपस मे सश्लेषित हो उठते है, उसी प्रकार मस्तिष्क की क्रिया भी अपने क्षेत्र मे सश्लेषित होती है। इस क्रिया की आन्तरिक विशेषता होती है। यह गत्वर, धारावाहिक और अपने अन्तर्निहित 'लॉजिक' से बँधी होती है। कल्पना का सम्बन्ध इसी मानसिक क्रिया से होता है। रचना मे प्रायः इन सभी क्रियाओ का सहयोग होता है। मनोविज्ञान मे मानसिक क्रिया को सीखने, सामान्यीकरण और प्रतीकीकरण करने, प्रज्ञ, बुद्धि, अन्तर्दृष्टि, अवधान, अभिरुचि और प्रत्याशा आदि के द्वारा स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है, पर इनमे सभी प्रकार के विचारो का समावेश नही हो सका है। इससे यह तथ्य अवश्य स्पष्ट हुआ है कि सभी प्रकार के निर्माणक विचारो मे एक नये सम्बन्ध की योजना होती है। इसी सम्बन्ध के कारण ये नये सम्बन्ध के सूचक बन जाते है। इससे यह तथ्य सरलता से स्पष्ट हो जाता है कि प्रमस्तिष्क की प्रमुख विशेषता वह अन्तर्निहित आत्म व्यवस्था है जिसके माध्यम से अव्यवस्थित स्वयमेव व्यवस्थित हो उठता है। प्रमस्तिष्क क्रियाओ से प्रभावित ही नही होता, उन्हे अंकित भी करता जाता है। इस प्रकार वह अपने मे ही निहित रेकार्डों का नमनीय सामंजस्य सिद्ध होता है। सृजन मे यह विशेषता विशेष रूप से विद्यमान होती है। इस दृष्टि से सृजन-क्रिया मे समंजीकरण, पुनर्निरूपण और विधि-निषेध का भाव पाया जाता है। चूँकि यही विशेषतायें प्रमस्तिष्क मे भी पाई जाती हैं, अतएव एक दृष्टि से दोनो समान सिद्ध होते हैं। प्रमस्तिष्क मूलत कालगत और देशगत प्रवृत्तियो के आधार पर समन्वित होता है।

कालगत प्रवृत्ति भावना प्रवण, सशक्त और क्रियामय होती है और देशगत प्रवृत्ति संघटनात्मक और बोधमय। ये प्रवृत्तियाँ परस्पर पूरक और एक ही क्रिया के दो रूपो को प्रकट करती हैं : प्रमस्तिष्क एकीकरण मे पटु होता है। इस स्थिति मे इसकी क्रिया में पाया जाने वाला अंश शेष प्रकृति का प्रतीक बन जाता है। यही क्रिया प्रकृति में भी पाई जाती है। 'ह्वाइट' ने इससे यह निष्कर्ष प्राप्त किया है कि प्रमस्तिष्क का निर्माणात्मक पक्ष शेष प्रकृति के अपने सदृश निर्माणात्मक पक्ष का अनुकरण होता है। फिर भी यह कहना ठीक नही है कि प्रमस्तिष्क प्रकृति का प्रतीक है। हम केवल यही कह सकते है कि प्रमस्तिष्क की क्रियायें अपने को इस रूप मे बदलती रहती है कि वे अन्य क्रियाओ की परिचायक बन जाती है। प्रमस्तिष्क अनागत के विषय मे भविष्यवाणी कर सकता है। इसमे अवचेतन स्वरूप भी क्रियाशील पाया जाता है, पर जब वह नए सामंजस्य मे व्यवस्थित हो जाता है तो सब कुछ सचेतन धरातल पर प्रतिष्ठित होता दृष्टिगोचर होता है। सृजन अवचेतन क्रियाओ से भी प्रभावित होता है। चेतन और अचेतन प्रमस्तिष्को मे घात-प्रतिघात चलता रहता है, अतएव इसके परिणामस्वरूप उपलब्ध सामग्री महत्वपूर्ण होती है। साराश यह कि प्रमस्तिष्क की तीन विशेषताये होती है—(१) एकीकरण, (२) परिष्करण (३) सरलीकरण।

आलोचकों और सौदर्यशास्त्रियो ने कल्पना पर गंभीरता से विचार किया है। लेकिन उनमे बहुत कम लोगों ने कल्पना के रचनात्मक पक्ष और उसकी क्रियाशीलता को उद्घाटित करने का प्रयत्न किया है। विभिन्न विचारकों की दृष्टि मे कल्पना क्या है, इस पर पर्याप्त सामग्री उपलब्ध होती है, पर कल्पना किस तरह रचना मे सहायक होती है, इस पर बहुत कम लिखा गया है। कल्पना की शक्ति से परिचित होना भिन्न बात है और कल्पना की रचनात्मक सक्रियता और उसके विकास के स्तरो से परिचित होना भिन्न बात है। अब तक इस पर बहुत कुछ लिखा जा चुका है, अतएव हम केवल इस तथ्य को उद्घाटित करने का प्रयत्न करेंगे कि कल्पना रचना मे किस तरह सहायक होती है। मैथ्यू आर्नल्ड ने लिखा है, प्रतिभा मूलतः शक्ति का कार्य-व्यापार है और कविता प्रतिभा का। अतएव ऐसे राष्ट्र मे जिसकी चेतना शक्ति से मण्डित है, महान् कविता की रचना की संभावनायें अधिक होती हैं।[४८] वर्ड्सवर्थ ने स्वयं इसके महत्व को स्वीकार किया था। उन्होने शेक्स्पीयर की तरह शक्ति-प्रदत्त उस नेत्र की कल्पना की थी जो संसृति के कार्य-व्यापार मे अन्तर्दृष्टि प्रदान कर सकता था।[४९] वर्ड्सवर्थ ने सृजन-शक्ति को इन्द्रियों की शक्ति का ऋणी माना है।[५०]

वस्तुतः कल्पना और चिन्तन का अन्तःसंबंध विशेष महत्वपूर्ण है। इसे समझने के लिए चिन्तन को समझ लेना आवश्यक है। इसे हम दो प्रकार का मान सकते है, (१) यथार्थाश्रित चिन्तन और (२) स्वयं प्रेरित चिन्तन। मैक्कैलर ने इन दोनों के भेद का स्पष्ट निरूपण किया है। अपने तार्किक, यथार्थवादी और ईर्ष्या-

मुक्त स्वरूप मे यथार्थाश्रित चिन्तन की प्रमुख विशेषता प्रकृतिस्थता और जाग्रत सचेतनता होती है। क्रॉशे विलियम्स ने इनकी विशेषताओ का उल्लेख करते हुए लिखा है कि इस तरह का चिन्तन निश्चित उद्देश्य से प्रेरित अतएव उसके अनुकूल होता है। इसके द्वारा हमे वस्तु जगत्, उसके कार्य-व्यापार और कार्य-कारण का स्पष्ट ज्ञान होता है, अतएव, हमे उसके अनुकूल कार्य करने म सुविधा होती है। इससे भिन्न रूप में स्वयं प्रेरित (autistic) चिन्तन सुषुप्ति और सम्मोहनिद्राजनित होता है। यह केवल विचार के अनुषंगो पर आधारित पाया जाता है। इसमे तार्किक अन्तःसंबंधो का अभाव होता है। इस तरह का चिन्तन यथास्थान फान्तसी के हस्तक्षेप का विषय बन जाया करता है'।[५१] इस दूसरे तरह के चिन्तन के विषय मे लोग एकमत नही हैं। लेकिन इसका सूत्रपात पहले ही हो गया था। अभ्युदय-कालीन चिन्तन में ही आत्मा के निम्न प्रकार के कार्यों को उसके उच्च प्रकार के कार्य मे संलग्न करने का कार्य संपादित करने की प्रमुख शक्ति कल्पना को माना गया था। शेक्सपीयर के 'मिड समर नाइट्सड्रीम' के पाँचवें दृश्य मे इसकी कलात्मक भूमिका का निर्देश कर दिया गया था।[५२] लेकिन इस भूमिका का संबंध विधायक कल्पना से कम और फान्तसी से अधिक था। ब्लैक ने सर्वप्रथम कल्पना के विधायक स्वरूप को परखा। 'ब्लैक' ने सृष्टि को स्रष्टा के मानस मे प्रस्तुत विचार और कला को कलाकार के मानस मे प्रस्तुत बिंब के रूप मे ग्रहण किया। इस दृष्टि मे कलाकार की क्रिया सहज बोध की पर्याय बन गई। ब्लैक ने स्मृति को प्रेरणा म निम्न कोटि का माना है और प्रेरणा को विधायक कल्पना का सहयोगी बतलाया है। वड्र्सवर्थ ने कल्पना पर विचार किया है, उसे समझने के लिए हमे उसकी 'द प्रिल्यूड' को समझना पड़ेगा, जो यथार्थ मे 'पोएटिक आटोबायोग्राफी' है और इसमे कवि ने अपने मानस के विकास को चित्रित किया है। अब्राम्स ने 'मानस' के रूपको के परिवर्तन (Changing metaphors of mind) पर विचार करते हुए महत्वपूर्ण तथ्य का उद्घाटन किया है। उन्होने अनुकरण से अभिव्यक्ति की ओर के सहज प्रयाण को दर्पण से दीप की ओर के प्रत्यावर्तन की संज्ञा दी है।[५३] इससे मानस और प्रकृति के अन्तःसंबंध के नये भाव-कोण पर प्रकाश पड़ता है। हम सभी इस तथ्य से परिचित है कि आन्तरिक मानसिक स्वरूप और उसके आरोह-अवरोह को चित्रित करने के लिए हमे देश-काल के प्रतीको का उपयोग करना पड़ता है। स्वच्छन्द धारा के कवियों ने इसमे पटुता प्रदर्शित की है। कोलरिज के शब्दो मे वड्र्सवर्थ ने मनुष्य को मनुष्य के रूप मे चित्रित किया है। उसने पंचतन्मात्राओं और बाह्य प्रकृति के सन्दर्भ मे उसके स्वरूप पर प्रकाश डाला है। पर ऐसा करते समय वड्र्सवर्थ ने इन्द्रियो के बोध से मन के विकास के स्थान पर मन से इन्द्रिय-बोध के विकास को चित्रित किया है।[५४] 'प्रील्यूड' की यह सबसे बड़ी विशेषता है। इन कवियो ने आत्मा को दीपक, प्रकाशपुंज, झरना या वीणा के रूप मे ग्रहण

किया है और मानस को जीवन का संप्रेषक माना है। वड्सवर्थ या कोलरिज की महत्ता इस तथ्य के प्रतिपादन मे नही निहित है कि उन्होने प्रकृति को सजीव-सावयव-संघटना की संज्ञा दी है, अपितु इस बात मे निहित है कि उन्होंने प्रकृति को पुरुष की आत्म-चेतना के सन्दर्भ मे विवेचित किया है। उन्होंने इस तथ्य का अनुभव किया कि ऐन्द्रिय चेतना के माध्यम से ही मन सृजन का कार्य संपादित करता है। इस स्थिति मे अद्वैत की भूमिका होती है, जड़-चेतन का भेद मिट जाता है और एक रहस्यमय समाधि का अनुभव होता है।[५२-ब]

'प्रील्यूड मे कवि ने अपने मानसिक विकास को चित्रित किया है। विकास स्तरों में होता है। एक ओर इसके द्वारा कवि ने अपने बचपन से लेकर प्रौढावस्था तक का चित्रण किया है तो दूसरी ओर अपनी चेतना के विकासक्रम को उद्घाटित किया है। इस चेतना के विकास के द्वारा ही कवि-कर्म के विकास पर प्रकाश पडता है। इस पुस्तक के सन्दर्भ मे कवि ने अपने ही सूत्र 'रीकलेक्टेड इन ट्रान्क्विलिटी' को चरितार्थ किया है। कवि को अपने ही मन के गह्वरों से कल्पना के रूपायित होने अथवा क्रियाशील होने का अभिज्ञान हुआ है। कल्पना के प्रबुद्ध होने पर वह अपनी आत्म शक्ति की अन्तर्दृष्टि से परिचित होता है। वह कुछ काल के लिए ऐन्द्रिय बोध के ऊपर उठ जाता है। वह स्वयं अनुभव करने लगता है कि उसका जीवन अनन्त शक्ति से संयुक्त है। उसकी यह आशा सारवान है और वह कभी क्षीण नही हो सकती है[५३-ब]। वह अपने मौलिक अस्तित्व को सर्वथा भूल जाता है। इसकी अभिव्यक्ति अधोलिखित पंक्तियो मे विशेष रूप से हुई है:—

' By such Communion I was early taught
That what we see of forms and image,
Which float along our minds and what we feel
Of active, of recognisable thought
Prospectiveness, intelligence or will
Not only is not worthy to be deemed
Our being, to beprized as what we are.
But is the very littleness of life.
Which is in all things, from that unity
In which all being live with God, are lost
In God nature, in one mighty whole
As undistinguishable as cloudless each
At noon is from the childless west when all
The hemisphere is one cerulean blue'[54] B

वड्र्सवर्थ ने इन पंक्तियो को छपने के समय रचना मे निकाल दिया था। ये यथार्थ मे उसके बोध के आन्तरिक और बाह्य स्वरूप की विशेष रूप मे उद्घाटक है। पूरी रचना मे कवि ने प्रतिभा, शक्ति, रचना और अनन्तता पर बार-बार विचार किया है। इस पुनरावृत्ति का कारण भी स्पष्ट है। उसका प्रमुख उद्देश्य अपनी आन्तर-प्रक्रिया को स्पष्ट करना है। ये शब्द उसके स्पष्टीकरण मे विशेष रूप से सहायक होते है, अतएव वह उनका प्रयोग करता है। वड्र्सवर्थ ने कल्पना-जनित-आह्लाद का अनेक बार अनुभव किया था। उसने कल्पना को मानस के गह्वर से उद्बुद्ध होने वाली अद्भुत शक्ति की संज्ञा दी थी। उसे रचनात्मक संघर्ष का ज्ञान भी था।[५५] उसने मन के उस गह्वर का उल्लेख भी किया है जिसमे संघर्ष करते-करते व्यक्ति अपने मे ही खो जाता है। उसकी दृष्टि मे यह बिन्दु हर व्यक्ति की आत्मा मे निहित है। यहाँ पहुँचने पर वह सर्वथा एकाकी हो जाता है। वड्र्सवर्थ को स्मृति के क्षेत्र मे कल्पना की सक्रियता की अनुभूति हुई थी। इसी के माध्यम से उसने अपने को पाना भी चाहा था, पर वह आत्मगवेषण की क्रिया सदैव आत्मविगलन मे परिणत हो गई। वड्र्सवर्थ ने अपने को खोजते-खोजते उस परमतत्व का प्रकाश उपलब्ध कर लिया, जो सबके लिए दुर्लभ है। 'प्रील्यूड' मे प्रयुक्त अनेक रूपक इसका संकेत करते है। वड्र्सवर्थ के लिए उसका उद्देश्य सदैव स्पष्ट था। इसीलिए कल्पनाजनित-कार्य-व्यापार उसके लिए वृहत्तर सत्य का परिचायक बन गया।

वड्र्सवर्थ और कोलरिज मे कल्पना की मान्यता पर सहमति न थी। कोलरिज ने स्वयं इसपर प्रकाश डालते हुए लिखा था, 'उनका दृष्टिकोण कल्पना और ललित कल्पना के उस स्वरूप को चित्रित करना था जो कविता से प्राप्त होता है, पर मेरा उद्देश्य काल्पनिक चिन्तन में निहित मौलिक चिन्तन की गवेषणा करना था। वस्तु सत्य यह है कि वड्र्सवर्थ की कविता डिस्क्रिप्टिव स्केचेज़' को पढते ही कोलरिज मंत्रमुग्ध होकर कह पड़ा था कि इसमे कवि-मानस अपने पूर्ण विकास-क्रम की क्रिया मे दृष्टिगोचर होता है।[५६] यहा वक्तव्य कालान्तर मे कल्पना की क्रियाशीलता को समझने का साधन सिद्ध हुआ। इसमे यह ज्ञात होता है कि कोलरिज अपने मानस की सक्रियता और सूक्ष्मता से पूर्णतः परिचित था। इसी के परिणाम-स्वरूप सौन्दर्य सम्बन्धी दार्शनिक सिद्धान्त कल्पना सम्बन्धी दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त के रूप मे प्रस्तुत हो सका।[५७] कोलरिज का कल्पना का विवेचन आरम्भ मे दार्शनिक मान्यताओ से मुक्त था। 'बायोग्राफिया लिटरेरिया' के द्वादश अध्याय मे उसने कल्पना के दार्शनिक पक्ष का उद्घाटन किया था। अगर तेरहवें अध्याय को वह लिख सका होता, तो, उसमे कल्पना के काव्य-सृजन-पक्ष को अवश्य उद्घाटित करता। बारहवे अध्याय के अन्त मे इसका संकेत कर दिया गया था। कोलरिज कल्पना के दार्शनिक निरूपण और मनोवैज्ञानिक निरूपण के भेद से परिचित था।[५८] कोलरिज ने यह भली प्रकार समझ लिया था कि व्यक्ति मे कोई न

कोई अन्तर्निहित क्षमता होती है जिससे काव्य विचारों का संग्रह न होकर एक अविस्मरणीय अखण्डता का परिचायक बन जाता है। प्रकृति के स्थायी और सुन्दर तत्वों का निरूपित करनेवाली इस काव्य-शक्ति को 'शेपिंग स्पिरिट ऑव इमैजिनेशन', 'ए युनिफाइङ्ग क्रिएटिव फैकल्टी', 'द ब्युटीफुल ऐंड ब्युटी मेकिंग पावर' की संज्ञा दी गई थी। कोलरिज ने कल्पना के लिए 'कोएडुनेटिंग पावर' और 'एसेम्प्लास्टिक पावर' का भी प्रयोग किया है। 'कोएडुनेटिंग पावर' ऐसी शक्ति है जो जो वस्तुओं को पिघलाकर सायुक्त कर देती है। कवि प्रतिभा यह कार्य सम्पादित करती है जब कि ललित कल्पना उन्हें इस रूप में प्रस्तुत कर देती है जिसमें तारतम्य तो होता है, पर उनका रूप नहीं बदलता है। 'एसेम्प्लास्टिक पावर' ऐसी शक्ति की द्योतक है जिसमें दबाव से मोडकर वस्तुओं को इच्छित स्वरूप प्रदान किया जाता है, कल्पना इस कार्य को विशेष कौशल से सम्पादित करती है। कल्पना के विभेद का उल्लेख करते हुए कोलरिज ने लिखा था, 'मैं कल्पना को या तो मौलिक कल्पना मानता हूँ या उत्तरजात। मौलिक कल्पना मानव-अवबोध का प्रमुख माध्यम और शक्ति है। इसे अनन्त में निरन्तर गतिशील 'मैं हूँ' की ससीम मस्तिष्क में पुनरावृत्ति भी माना जाता है। उत्तरजात कल्पना मौलिक कल्पना की प्रतिध्वनि और सचेतन इच्छा की सहगामी होती है। कार्य की दृष्टि से यह उसके सदृश होती है, पर सक्रियता और परिणाम की दृष्टि से उससे भिन्न मानी जाती है। यह विघटन, प्रसरण और विकीर्णन के आधार पर पुनर्सृजन की ओर उन्मुख होती है। जहाँ यह क्रिया पूर्ण सम्भव नहीं होती, वहाँ भी हर सम्भव स्थिति में यह मूर्तीकरण और संगति के लिए प्रयत्नशील रहती है।[५८] उन्होंने विधायक कल्पना और ललित-कल्पना के भेद से भी हमें परिचित कराया है, वे ललित कल्पना को देशकाल की व्यवस्था से मुक्त स्मृति के स्वरूप की संज्ञा देते हैं। यह इच्छाशक्ति की आनुभविक क्रिया से सायुक्त होती है और उसी से परिष्कृत होती रहती है। इसे हम चुनाव शब्द के द्वारा व्यक्त कर सकते हैं। सामान्य स्मृति के साथ रचनाशील होने के लिए यह आवश्यक है कि अनुषंग के सिद्धान्त के आधार पर 'रेडीमेड' सामग्री उपलब्ध हो सके।[५९] कोलरिज के इस उपर्युक्त विवेचन में मौलिक कल्पना और उत्तरजात कल्पना को लेकर बड़ा विवाद हुआ है।[६१] प्रो० एप्पलयार्ड दार्शनिक और काव्यात्मक कल्पना को क्रमशः 'प्राइमरी' और सेकेण्डरी' इमेजिनेशन की संज्ञा देते हैं।[६२] ओवेन बारफील्ड ने प्रत्यक्ष प्रकृति को ही मौलिक कल्पना की अभिव्यक्ति कहा है। इस प्रकृति में उत्पादन और विकास की क्रिया निहित होती है। बारफील्ड ने चिन्तन की क्रिया और आत्म-चेतनता और कल्पना की क्रिया में विशेष अन्तर नहीं माना है। उन्होंने 'बायोग्राफिया लिटरेरिया' से जलप्रवाह के विरुद्ध क्रियाशील होकर, उससे संघर्ष करके या उस संघर्ष से थोड़े समय के लिए शक्ति अर्जित करने के लिए बच कर पुनः अग्रसर होने वाली छोटी मछली के उदाहरण को प्रस्तुत किया है।

कोलरिज ने इन्हीं दोनों क्रियाओं को सक्रिय और निष्क्रिय क्रिया की संज्ञा दी है। इन दोनों के मूल में एक मध्यस्थ शक्ति की कल्पना की गई है जो उन दोनों की सक्रियता का कारण होती है। इसी को दार्शनिक दृष्टि से विधायक कल्पना की संज्ञा दी गई है। लेकिन कोलरिज ने यह भी स्वीकार किया है कि सामान्य जीवन और रचना मे इसका स्वरूप दार्शनिक कल्पना से उत्कृष्ट होना है।

कविता में उसके विभिन्न स्तरों को रूपायित करने और समूची रचना में संबंध स्थापन का कार्य कल्पना द्वारा संपादित होता है। कल्पना की दृष्टि से इसी को अनेकता में एकता की संज्ञा दी जाती है। विधायक कल्पना का प्रमुख कार्य सम्मूर्तन होता है। रचनाकार के मानस में उपस्थित और सम्मूर्तन में सहायक शक्ति को प्रतिभा की संज्ञा दी जाती है। कोलरिज ने शेक्स्पीयर को प्रतिभा का आदर्श माना था और उसे मानवीकृत प्रकृति की संज्ञा (Nature humanised) दी थी। कोलरिज कल्पना के अचेतन स्वरूप से परिचित था। उसकी दृष्टि में कला का प्रमुख उद्देश्य अमूर्त को मूर्त, मूर्त को अमूर्त, प्रकृति को विचार और विचार को प्रकृति मे परिणत करना था। उसकी दृष्टि में शरीर निरन्तर मानस के रूप में बदलने के लिए तत्पर रहता है।[६३] उत्तरजात कल्पना मौलिक कल्पना से उत्पन्न होती है और उसी की प्रतिध्वनि मानी जाती है। मेरी दृष्टि में मौलिक कल्पना समष्टि प्रतिभा को परिचायक है जो आद्याशक्ति के रूप में अणु-परमाणु को आन्दोलित करती रहती है। उसी का अंश व्यष्टि मे भी उपस्थित रहता है जो रचना में सहायक होता है। इसी को उत्तरजात कल्पना कहा जा सकता है। इसे पूरी तरह समझने के लिए दूसरे अध्याय मे निरूपित तथ्यो पर विचार करना आवश्यक है।

कोलरिज ने ही सर्वप्रथम ललित कल्पना के स्वरूप पर भी गंभीरता से विचार किया है। उसके पूर्व भी इस पर विचार किया गया था पर इसका वैज्ञानिक निरूपण न हो सका था। कोलरिज ने ही इस तथ्य पर प्रकाश डाला कि ललित कल्पना तर्क निरपेक्ष भाव से कलाकार को अस्पष्ट और रहस्यमय स्वरूपों मे सम्बन्ध स्थापित करने की शक्ति प्रदान करती है। ललित कल्पना परस्पर विरोधी वस्तुओं को संयोजित करती है। इसमे चुनाव और इच्छाशक्ति की प्रधानता होती है। कोलरिज ने ही इस तथ्य को भी उद्घाटित किया कि जिस प्रकार प्रतिभा में आन्तरिक क्षमता पूरक रूप मे उपस्थित होती है, उसी प्रकार कल्पना में ललित कल्पना। सारांश यह कि उच्च बौद्धिक शक्तियाँ संवादी निम्न शक्तियों के सहयोग से ही क्रियाशील होती हैं।[६४] इससे यह सिद्ध होता है कि ललित कल्पना भी कल्पना की सहायक होती है। इस सन्दर्भ में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि इसकी क्या विशेषता है और यह विधायक कल्पना से किस रूप में भिन्न है? सर्वप्रथम हम ललित कल्पना की विशेषताओं पर विचार करते हैं। इन्हें हम अधोलिखित रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं :—

(१) इसमे एक ही बिंब की प्रमुखता होती है। उसी बिंब से अन्य बिंब सृजित होते है :

(२) यह स्मृति-प्राण होती है, अतएव इसमें वस्तुबोध विद्यमान पाया जाता है।

(३) इसके बिंब फैंसी द्वारा नियोजित बिंबों की तरह 'डायग्राम नहीं होते।

(४) इसके क्रियाशील होते ही बोध रचना मे ढलने लगते हैं।

विधायक कल्पना और ललित कल्पना में भेद (गुणात्मक) होता है। कल्पना-बिंब, स्वतःस्फूर्त और स्वतः प्रेरित होते है। उनकी अपनी निजी विशिष्टता होती है, पर ललित कल्पना द्वारा निर्मित बिंब, स्थिर, चाकचक्यपूर्ण और कुतूहलवर्द्धक होते है। कल्पना मे भावना और स्मृति का संयोग होता है, पर ललित कल्पना मे स्मृति की प्रधानता होती है। कल्पना के बिंबों मे रंजकता और औदात्य का गुण पाया जाता है पर ललित-कल्पना के बिंब मे केवल रंजकता का भाव। कल्पना मे बोध और प्रतिबोध दोनो निहित होता है, पर ललित कल्पना मे केवल बोध पाया जाता है। कोलरिज ने ललित-कल्पना को अनुषंग पर आधारित स्मृति का रूप माना है जो देश-काल-नियंत्रण-निरपेक्ष भाव से इच्छाशक्ति और चुनाव की भावना से प्रयोजित होती है। इसमे खण्ड दृष्टि और वैयक्तिक रुचि की प्रधानता होती है। इसी आधार पर यह असदृश और असमान बिंबो का संयोजित करती है। इसका संयोजन संग्रह-प्रधान होता है, कल्पना की तरह संश्लेषण प्रधान नहीं। इसमे स्मृति के उपादानो का वैविध्य विशेष रूप से द्रष्टव्य है।

विधायक कल्पना और ललित कल्पना के भेद की ओर अन्य विचारकों की दृष्टि भी गई है। ली हण्ट के अनुसार विधायक कल्पना का संबंध दुखान्त नाटक से होता है और ललित कल्पना का सुखान्त नाटक से। सर लेस्ली स्टीफेन की दृष्टि मे विधायक कल्पना अन्तर्निहित सत्य के गहन स्वरूप पर आधारित होती है जबकि ललित कल्पना कृत्रिम सादृश्य पर। हरबर्ट रीड ने इनके सादृश्य-असादृश्य को मनोविज्ञान के आधार पर निरूपित किया है। उनका कहना है, 'ललित कल्पना बहिर्मुखी अनुभूति है और विधायक कल्पना अन्तर्मुखी अनुभूति। अगर अनुभूति के बहिर्मुखी अनुगमन की स्थिति मे मानव चिन्तनशील होता है तो ललित कल्पना प्राप्त होती है। जब अनुभूति अन्तर्मुखी होती है तो इस दशा में चिन्तन से विधायक कल्पना की उपलब्धि होती है।[१५] इस निष्पत्ति का प्रमुख आधार युंग की मान्यता है। इसकी क्रिया को अधोलिखित रूप मे प्रस्तुत किया गया है:—

	बहिर्मुखी चिन्तन	अन्तर्मुखी चिन्तन
चिन्तन	संप्रकाशन	वर्णनात्मकता
(Thinking)	(Exposition)	(Narrative)

	बहिर्मुखी चिन्तन	अन्तर्मुखी चिन्तन
अनुभूति	प्रभाववाद	अभिव्यंजनावाद
(Feeling)	(Impressionism)	(Expressionism)
सहजज्ञान	वाग्मिता	एकीकरण
(Intuition)	(Eloquence)	(Unity)

इस दृष्टि से आर०डब्लू० एमर्सन का विवेचन विशेष महत्वपूर्ण है। उनका कहना है, 'विधायक कल्पना केन्द्रीय है और ललित कल्पना कृत्रिम। प्रथम स्वतः स्फूर्त और स्वतः प्रेरित होती है और द्वितीय सकल्पपूर्ण। विधायक कल्पना विचार और उपादान के यथार्थ स्वरूप को प्रस्तुत करती है, पर ललित कल्पना उनके साथ खिलवाड़ करती है, जैसे बच्चे गुड़ियो के साथ खिलवाड़ करते हैं। कल्पना हमें व्यापक चित्र-फलक प्रदान करके विचार को उदात्त बनाती है, पर ललित कल्पना केवल मनोरंजन करती है। विधायक कल्पना सावयव वर्गीकरण पर आधारित होती है, पर ललित कल्पना आकस्मिक सादृश्य पर। यह बेकार लोगों का मनोरंजन तो कर सकती है पर महान् मनोभाव और कार्य का सुझाव नही प्रस्तुत कर सकती। विधायक कल्पना प्रेरणाप्रद होती है, पर ललित कल्पना संग्राहक। प्रथम का संबंध विन्यास से होता है, पर द्वितीय का रंग से। सारांश यह कि विधायक कल्पना बिम्ब से सम्बद्ध होती है और ललित कल्पना चित्रण से।[६६]

आधुनिक विचारक आइ० ए० रिचर्ड्स ने कोलरिज की कल्पना का विवेचन करते हुए इसके कई महत्वपूर्ण पक्षो का उद्घाटन किया है। उन्होंने कल्पना शब्द के प्रयोग के छः भिन्न अर्थ-सन्दर्भों का उल्लेख किया है; (१) सजीव बिंबो और सामान्यतः चाक्षुष बिंबो के उत्पादक के रूप में कल्पना का प्रायः प्रयोग होता है। (२) जो लोग रूपक या उपमा का प्रयोग करते है और जब उनकी ये आलंकारिक अभिव्यक्तियाँ असामान्य होती हैं तो हम कहते है कि वे कल्पनाशील हैं। इस क्रिया का संबंध अलंकरण से होता है। (३) दूसरे व्यक्तियों की भावात्मक मनःस्थिति के सहानुभूतिपूर्ण पुनरुत्पादन को कल्पना का कार्य माना जाता है। (४) अभिनव आविष्कार या साधारणतः असंबद्ध तत्वो को एकसाथ मिलने का कार्य कल्पना द्वारा संपादित होता है। (५) सामान्यतः मौलिक रूप से भिन्न समझी जाने वाली वस्तुओं के जिस योग्य संबंध के उदाहरण वैज्ञानिक कल्पना में देखे जा सकते हैं, वे भी कल्पना का एक अर्थ संकेतित करते हैं। निश्चित ढंग से निश्चित उद्देश्य की सिद्धि के लिए अनुभूतियों की व्यवस्था करने में इसका दर्शन होता है। कलाओं की प्राविधिक सफलतायें इस प्रकार की कल्पना के उदाहरण हैं।[६७] रिचर्ड्स के विवेचन की सबसे बड़ी कमी यही रही है कि उन्होंने उसके रचनात्मक पक्ष पर प्रकाश नहीं डाला है।

पूर्व पृष्ठों में हमने प्रतिभा, जीनियस, टैलेन्ट और विधायक कल्पना पर विचार किया है। भारतीय साहित्य मे सृजन की परिकल्पना भारतीय मान्यताओं से पूर्णत: प्रभावित है, अतएव उसके विवेचन में जिस मूलभूत चेतना का दर्शन होता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। प्रतिभा और कल्पना के सर्वातिशायी स्वरूप की दार्शनिक मान्यता से पाश्चात्य चिन्तन भी प्रभावित हुआ है। अतएव भारतीय प्रतिभा और कल्पना का विवेचन इसका अपवाद नही है। लेकिन गंभीरता से विचार करने पर यही ज्ञात होता है कि इन दोनों विवेचनों मे उतना ही अन्तर है जितना कि भारतीय और पाश्चात्य दर्शन मे। अतएव कुछ उभयनिष्ठ तत्वों को ध्यान मे रख कर दोनों को समान घोषित करना बहुत उचित नही है। हमे यह नही भूलना चाहिए कि दोनों की मूलभूत चेतना मे भेद है लेकिन कार्य में समानता। दोनों ही देशों के लोग इसके नवनवोन्मेष से परिचित हैं। वे इसकी सम्मूर्तन की क्रिया के प्रति सचेष्ट पाये गये हैं। वे इसके अचेतन स्वरूप से भी निर्विवाद रूप से अवगत हैं और इसे शक्ति का स्रोत मानते है। लेकिन शक्ति के स्वरूप के विषय मे उनमे मतभेद है। पाश्चात्य प्रभाव से आज प्रतिभा और कल्पना जिस सन्दर्भ मे प्रतिष्ठित है वह अभेद का परिचायक है, पर इनमें साम्य और वैषम्य, (दोनों) है। प्रमुख समस्या प्रतिभा, मानसिक क्षमता और कल्पना के अर्थ-सन्दर्भ से जुड़ी हुई है। ये ऐसी शक्तियाँ है जो सबमे समान रूप मे नही पाई जाती है। जो प्रतिभा-संपन्न हैं उनमे ये अवश्य उपस्थित रहती है। मेरी दृष्टि मे प्रतिभा समष्टि शक्ति का व्यष्टिगत स्वरूप है। यही मानसिक क्षमता की जननी मानी जाती है। विधायक कल्पना, रचना मे प्रयुक्त बिंब विधायक सम्मूर्तन की क्षमता है जो मानसिक क्षमता, दक्षता और प्रतिभा से उपकृत होकर अपना कार्य सम्पादित करती है। इस प्रकार रचना की दृष्टि से ये तीनो एक दूसरे की पूरक है।

काव्य, बिंब और कल्पना का सम्बन्ध अनिवार्य हो नही अविच्छिन्न है। अतएव इसी सन्दर्भ में इस पर विचार कर लेना प्रासंगिक है। मनोविज्ञान मे इस पर दो दृष्टियों से विचार किया गया है—(१) ऐन्द्रिय या वस्तुगत और (२) मानसिक या भावगत। जब हम किसी वस्तु को देखते है, सुनते या स्पर्श करते है तो संवेदनवहा नाड़ियों से ये प्रभाव मस्तिष्क तक प्रेषित हो जाते हैं। मस्तिष्क इन्हें सुनियोजित, व्यवस्थित और अंकित कर लेता है। समान परिस्थतियों मे जब वे पुनर्गृहीत होते हैं तो पंचतन्मात्राओं का रचना से सम्बन्ध स्थापित होता है। बिंब मानसिक चित्र या मानसिक बिंब के रूप में हमारे समक्ष प्रस्तुत होते हैं। इस स्थिति मे इनमें अतीत बोध के साथ ही वर्तमान बोध के आवश्यक तत्वों का समन्वय भी पाया जाता है। अतएव इन्हें पूर्वबोध का यथार्थ चित्र या उसकी प्रतिकृति नहीं माना जा सकता। मनुष्य के व्यक्तित्व का दो स्वरूप होता है। वह अन्तर्मुखी या बहिर्मुखी होता है। प्रथम मे प्रत्यक्ष ज्ञान गौण और चिन्तन प्रधान काल्पनिक पक्ष प्रमुख होता है और

द्वितीय में प्रत्यक्ष ज्ञान प्रमुख और चिन्तन प्रधान कालानिक पक्ष गौण होता है। प्रथम प्रकार के बिंब मे यथार्थ का पुट होता है, पर कल्पना का चित्रफलक व्यापक और प्रशस्त पाया जाता है, द्वितीय मे कल्पना का स्वरूप क्षीण और यथार्थ का पुट गहरा होता है। इससे बिंबो के दो स्वरूप हमारे समक्ष प्रस्तुत होते हैं—(१) कल्पना प्रधान और (२) यथार्थ ज्ञानाश्रित। इस द्वितीय स्वरूप से सर्जक मुक्त नही हो सकता है, फिर भी अर्न्तमुखी प्रवृत्ति बिंब-सृजन मे विशेष सहायक होती है। सन्दर्भ मे दिये गये चित्र के द्वारा हम इस तथ्य को स्पष्टता के से हृदयंगम कर सकते है।[१८] सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि केवल उद्दीपन से ही बिंब नहीं बन जाते। जब तक उनकी थ्रेशोल्ड वेल्यू (Threshold value) नहीं होगी तबतक वे गृहीत नही हो सकते। ज्ञानेन्द्रियो के उद्दीप्त होने और उद्दीपक में अवसीमा मूल्य पाये जाने पर ही वे सूचनायें 'अफरेण्ट फाइबर्स' के द्वारा केन्द्रीय स्नायु संस्थान को प्रेषित हो सकती है। इस स्थिति मे 'न्यूरोन' स्वत 'पोलराइजेशन, 'डीपोलराइजेशन' और 'रीपोलराइजेशन' की क्रिया से गुजरता है। इसी से स्नायु संस्थानीय प्रवाह को गति प्राप्त होती है। यह क्रिया एक न्यूरोन से दूसरे न्यूरोन के बीच चलती रहती है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि ग्राहक अवयव (Receptor organ) के द्वारा ही सूचनायें स्वयंचालित स्नायु संथानों के द्वारा केन्द्रीय स्नायु संस्थान को प्रेषित की जाती है। एलेन पेविओ (Allanpaivio) ने मवोविज्ञान के क्षेत्र में बिंब विवाद पर गम्भीरता से विचार किया है। उन्होने इस तथ्य पर प्रकाश डाला है कि शताब्दियों तक शब्दों को वस्तुओ का बिम्ब माना गया है। विलियम जेम्स और टिचनर ने भी इन्हें प्ररोचित ऐन्द्रिय बिम्बो का प्रतिबिम्ब माना था। इस प्रकार बिम्ब और स्मृति के सम्बन्ध पर कई तरह से विचार होता रहा। १९१३ मे वाट्सन की मान्यताओं से इस पर प्रश्न चिह्न लगा। वाट्सन ने मानसिक बिम्बों को 'गोस्ट इमेजेज' की संज्ञा दी थी और इन बिम्बो को यथार्थ बिम्ब नही माना था। बिम्ब का महत्व घटने के कारण साहित्य मे शब्दार्थ को समझने की नई पद्धति का आविर्भाव हुआ।[१९] डीजे (Deese) ने इसको स्पष्ट करते हुए लिखा था, आधुनिक प्रयोगवादी मनोविज्ञान में भाषावैज्ञानिक अनुषंगो को महत्व दिया जाने लगा है। इसका कारण स्पष्ट है। प्रयोगकर्ताओ को इससे प्रयोगशाला मे अध्ययन के लिए नई और नियंत्रित सामग्री प्राप्त हुई है। वह प्रातिबोधिक बिम्बो के अतिरिक्त अस्तित्व के प्रति अन्यमनस्क हो गया है। वह उनके यथार्थ और महत्व को स्वीकार या अस्वीकार किये बिना यह अनुभव करने लगा है कि आनुभाविक अध्ययन की दृष्टि से बिम्बो पर कुछ कह पाना कठिन कार्य है। इसीलिए मनोविज्ञान मे अनुषंग सिद्धान्त पुनः प्रतिष्ठित हो गया है।[२०] इन अनुषंगों के अध्ययन के द्वारा मानव के विचार की प्रकृति को समझने का प्रयत्न किया जा रहा है। कुछ मनोवैज्ञानिकों ने (आर० डब्लू० ब्राउन) बिम्ब और

स्मृति के अन्त: सम्बन्ध पर शंका प्रकट की है। उनका कहना है कि बिम्ब और स्मृति मे कोई सम्बन्ध नही होता है, क्योकि बिम्ब यथार्थ का वाहक नहीं होता है। पर वे यह भूल जाते है कि हर स्मृति भी किसी न किसी रूप मे अपूर्ण होती है। इधर मनोविज्ञान मे बिम्ब के प्रति पुन. आग्रह दिखाई पडने लगा है, पर इन पर व्यवहारवादी मनोविज्ञान का वैचारिक जामा चढा हुआ है। ल्यूबा ने बिम्ब को नियंत्रित संवेदन और स्किन्नर ने नियंत्रित अवलोकन की सज्ञा दी है।[७१] साहित्य में बिम्ब का विवेचन अब गौण हो गया है। मनोविज्ञान मे तो वह पुन: प्रतिष्ठित हुआ है, देखना है कि साहित्य मे उसकी क्या गति होती है? मनोविज्ञान के आधार पर बिम्ब का वर्गीकरण किया गया है। आलोचक प्रवर डॉ० नगेन्द्र के अनुसार उसे अधोलिखित रूप मे प्रस्तुत किया जा सकता है—

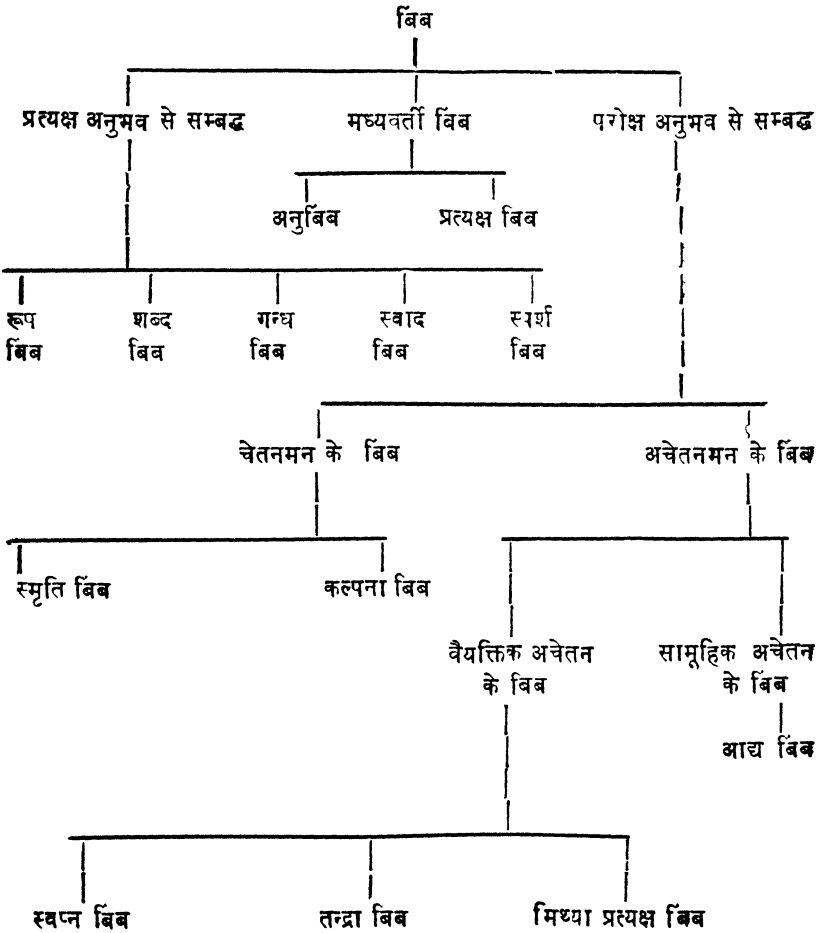

मनोवैज्ञानिकों में युंग और फ्रायड की मान्मताओं पर इसके पूर्व पर्याप्त विचार किया जा चुका है। युंग ने मूलादर्शात्मक बिम्ब को उल्लेख्य माना है[७२] और इसका सम्बन्ध जातीय और आनुवंशिक विशेषता मे स्थापित किया है। मूलादर्श अतीत धर्मी होते हुए भी वर्तमान के सांस्कृतिक उत्थान को महत्व देता है। अतएव यह समाज की मूल्यवान धरोहर सिद्ध होता है। युंग के पश्चात् मनोविज्ञान विकास की लम्बी दूरी तै कर चुका है। बीच मे बिंब विवेचन की कई स्थितियां भी आई हैं जिनका उपर्युक्त अंश मे उल्लेख किया जा चुका है। अतएव इस सन्दर्भ मे मै केवल प्रमुख विचारक सार्त्र का उल्लेख करना चाहूँगा। वे 'फेनोमेनोलाजिस्ट' रहे है और उन्होंने बिंब पर गम्भीरता से विचार किया है।[७३] सार्त्र के शब्दो मे सचेतन अवबोध की स्थिति मे द्रष्टा बाह्य उपादानो को बिंब के रूप मे ग्रहण करता है। उस बिंब की अभिव्यक्ति के समय उसे सहज आत्मज्ञान की उपलब्धि होती है। सार्त्र ने दृश्य को स्वत: मे अस्तित्वमय माना है पर उस अस्तित्व के अभिज्ञान को प्रतिबोध का मुखापेक्षी बतलाया है। सार्त्र सचेतनता को विशेष महत्वपूर्ण मानते हैं। उन्ही के शब्दो मे 'उसी अस्तित्व को सहज और स्वत:प्रेरित माना जा सकता है जो अपना निर्णायक होता है और अस्तित्व को बनाए रखता है। जो भी अस्तित्वमय है उसकी अपनी निजी विशेषता होती है जो उसे उस रूप मे बनाए रखती है। अतएव यथार्थ के सचेतन स्वरूप को ही स्वत: स्फूर्त की संज्ञा दी जा सकती है। इसका मूल कारण यह है कि अस्तित्वमय होना और अस्तित्व के प्रति सचेतन होना समान है।[७४] सार्त्र बिंब को व्यापक समष्टि चेतना का विषय नही मानते। वे इसे चेतन घटना के सन्दर्भ मे आत्मनिर्भर उपादान की सज्ञा देते हैं। वे प्रमुख रूप से दो बातो पर विचार करते हैं, (१) ज्ञान की स्थिति मे बिंब किस प्रकार कार्य करते हैं और (२) किस प्रकार बिंब बोध से भिन्न है। वे द्रष्टा और दृश्य मे परिमाणात्मक अन्तर के पक्षपाती हैं। वे स्पष्ट रूप से स्वीकार करते है कि संसृति के क्रियाकलाप को चेतना के माध्यम से प्रकट करना चेतना की सघटना का एक स्वरूप है और बोध के माध्यम से प्रकट करना दूसरा स्वरूप। दोनो क्रियाएँ ऐच्छिक है, फिर भी उनकी क्रियाशीलता मे भेद है। इस प्रकार द्रष्टा और दृश्य तथा बिंब और प्रत्यक्ष मे प्रकार का भेद होता है, मात्रा का नही।

सार्त्र ने एलायन और हसरल का उल्लेख भी किया है। एलायन व्यवहारवादी है, अतएव वे बिंब को अस्वीकार करते हैं। हसरल के पूर्व ब्रन्शविगलालैण्ड ने लिखा था, 'हम सभी इस बात पर विश्वास करने के लिए बाध्य हैं कि मानस एक बड़े मकड़े की तरह वस्तुओ को अपनी ओर आकर्षित करता है। इन्हे वह अपने मुख के श्वेत लार से ढंकता है और पुन: धीरे-धीरे निगल कर उनको सार मे परिणत कर देता है।[७५]' हसरल इस मान्यता के विरोधी थे। इसका प्रमुख कारण यह था कि वे ज्ञान के द्विविध स्वरूप को महत्व प्रदान करते थे; (१) ज्ञान से संबद्ध उपादान

और (२) उपादान का ज्ञान प्राप्त करने वाली चेतना। वे ज्ञान के हर उपादान को चेतना से भिन्न मानते थे। वे बिंब की उत्पत्ति को चेतना नहीं अपितु अचेतन सघटना से संबद्ध करते थे। उन्होंने सचेतन सघटना के ज्ञान को ही बिंब-विश्लेषण का प्रमुख माध्यम माना था। इस दृष्टि से बिंब उस घटना या क्रिया का परिचायक बन गया था, जिसमे विशिष्ट मानसिक परिवर्तन एक 'ट्रान्सेन्डेन्ट ऑब्जेक्ट' से संबद्ध होता है। सार्त्र ने बिंब-विधान में संपूर्ण परिवेशीय विशेषता के साथ गृहीत उपादान के महत्व को स्वीकार किया था। सार्त्र की तकनीक 'फेनोमेनॉलाजिकल' तकनीक थी। वे बिंब के सन्दर्भ में कल्पनोन्मुख सचेतनता के रुख (The attitude of imagining consciousness) को विशेष महत्व प्रदान करते थे। उन्होंने बिंब रचना के सन्दर्भ मे 'स्पान्टेनेइटी' को विशेष रूप से उल्लेख्य माना था।

अब तक बिंब संबन्धी अन्य दृष्टियाँ भी स्पष्ट होकर सामने आ चुकी थी। सुसन के लैंजर ने प्रतीक पर महत्वपूर्ण ढंग से विचार किया है। वे कलाकृति को अनुभूति का ऐसा बिंब मानती है जो उसे हमारे बोध के लिए सूत्रबद्ध करती है।[७६] वे पुनः लिखती है, 'हर कला—बिंब बाह्य जगत् के सरलीकृत और शुद्धीकृत पक्ष को द्योतित करता है जिसे रचनाकार अपने आभ्यन्तरिक जगत् के नियमों के अनुसार इसलिए रचता है कि वह उसकी प्रकृति से हमे परिचित करा सके। जब सृष्टि के वस्तुगत स्वरूप हमारे समक्ष क्रमशः उपस्थित किए जाते है तो कला का उद्‌भव होता है। हर स्वरूप अपने यथार्थ के रूप का बिम्ब होता है और उससे अनुभूति का महत्वपूर्ण पक्ष उद्‌घाटित किया जाता है।[७७] रसेल ब्रेन ने 'सेन्सडाटुम थिअरी' के आधार पर कई महत्वपूर्ण तथ्य प्रस्तुत किया है। कलाकृति अपना चिन्तन करने वाले व्यक्ति मे अनुभूति और देखने वाले व्यक्ति में सौन्दर्य-बोध जागृत करती है।.....भौतिक उपादान के रूप में कलाकृति और अनुभूति उत्पन्न करने वाली कलाकृति में भेद होता है। बोध के जगत मे यह सत्य नही है.....यहाँ बोध को उसके मूर्त स्वरूप मे निहित किया जा सकता है..... .....अपने प्रातिबोधिक जगत मे कला का निर्माण करनेवाला कलाकार उसे अपनी अनुभूति से रचता है, जिसमे उसके ऐन्द्रिय बोध निहित होते हैं। इस आधार पर यह समझना त्रुटिपूर्ण है कि कलाकृति के आस्वादन मे संलग्न अनुभूति उसी रूप में भावगत है जिस रूप मे उसमें काम आने वाले इन्द्रिय-प्रदत्त आँकड़े। कलाकार भौतिक उपादान को परिष्कृत करता है और उसे इस रूप मे ढालता है कि वह उसकी प्रातिबोधिक अनुभूति को प्रकट कर सके।[७८] कोलिंगवुड ने भी लिखा है कि कलाकार ऐसा व्यक्ति है जो अपने को और भाव-आवेग को जानता है।..... उसकी भाषा उसका जगत होती है। वह उसके माध्यम से जो कुछ व्यक्त करता है, उसका सम्बन्ध उससे होता है। उसका आत्मज्ञान ही उसकी कल्पना-प्रधान रचनात्मक मनःसृष्टि का आधार होता है।[७९] संभवतः इन उपर्युक्त उद्धरणों में उसी तथ्य का

विशेष रूप से उल्लेख किया गया है जो इसके पूर्व बहुत विवादास्पद माना जाता रहा है। प्रश्न है अनुभूति का कला में किस प्रकार निरूपण किया जाता है? कहना न होगा कि इन्द्रिय बोध कला का प्रमुख आधार होता है। इसका सम्बन्ध प्रमस्तिष्क से होता है। एक निश्चित मनोदशा में जो आँकड़े प्रमस्तिष्क को प्रेषित किये जाते हैं वे उसके अनन्त कोशाणुओं में अंकित रहते है। उनके परिग्रहण की स्थिति का पूर्व-पृष्ठों में उल्लेख किया जा चुका है। अनुभूति के अध्याय मे भी उसके अन्तर्निहित निर्देश की बात उठाई गई है। बिंब-सृजन का उनसे घनिष्ट सबध होता है। बिंब के सन्दर्भ मे अनुभूति के स्थान पर अनुभूति के अनुषंग का उल्लेख करना विशेष समीचीन है। इस दृष्टि से सहमत होने पर हम कह सकते है कि कलाकृति ऐसा अनुभूति-बिंब है जिनमे उसके अनेक अनुभव कलात्मक ढंग से निहित रहते हैं। कला-बिंब और अन्य बिंबो मे मूलभूत भेद होता है। यह भेद सन्दर्भ पर आश्रित पाया जाता है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि विश्व के भौतिक स्वरूप और प्रातिबोधिक स्वरूप मे भेद होता है। प्रथम का अस्तित्व वैज्ञानिक दृष्टि से प्रमाणित हो सकता है, उसकी सुनिश्चित रूप-रेखा और मान्यता होती है, पर द्वितीय वैयक्तिक होता है। इसका सम्बन्ध रचनाकार के शारीरिक मानसिक बनावट, परिवेश और भौतिक परिप्रेक्ष्य से होता है। इसे प्रातिबोधिक स्वरूप का प्रतीक-निरूपण माना जा सकता है, इसका लालित्यबोधीय और काल्पनिक आधार होता है। बिंब भौतिक और प्रातिबोधिक दोनों स्वरूपों से संबद्ध होते है, पर प्रथम स्वरूप मे प्रत्यय और विश्लेषण की प्रधानता होती है और द्वितीय मे कल्पना और संश्लेषण की। प्रथम स्वरूप अकलात्मक होता है और द्वितीय कलात्मक। कला के लिए लालित्यबोधीय सन्दर्भ आवश्यक होता है। इसमे यथार्थ चित्रण के स्थान पर कल्पना-प्रवण-विचार की प्रधानता होती है और यही विचार अपने मूल स्वरूप मे बिंबों का जनक होता है। बिंब अपनी विशेषता की दृष्टि मे पूर्ण होते है। इस पूर्णता के मूल में हमे उस समन्वित बिंब संघटना का दर्शन होता है जिसमे इसके सभी तत्व और दृश्य सुनियोजित रहते हैं। कल्पना पर आश्रित बोध संसृति के रहस्य को समझने का प्रमुख आधार होता है। इसी के माध्यम से कलाकार अपनी कला-कृति को संश्लेषित करता है। कला के आलेख्य या निरूप्य स्वरूप मे दृश्य-स्वरूप अपनी विकासोन्मुख अवस्था मे पाया जाता है। कला-निर्माण की क्रिया मे कलाकार बिंब ही नही प्रदान करता, अपितु उनके माध्यम से अपनी अनुभूति की विशेषता को भी प्रस्तुत करता है। इससे यह स्पष्टता से ज्ञात होता है कि बिंब-सृजन से संबद्ध लालित्यबोधीय परिस्थिति उसी समय उत्पन्न होती है जब मानस मे सवेदन और प्रभाव के नैरन्तर्य मे किसी प्रकार की बाधा उत्पन्न हो जाती है और उसे ऐसी सामग्री का चयन करना पड़ता है जो कुछ समय के लिए उसकी गति से विछिन्न रहती है। ऐसी स्थिति में चुनी हुई सामग्री के स्थिर संघटन के तथ्यान्वेषण में तल्लीन रहने के

कारण नेत्र भी दृश्य-परिवर्तन को सूक्ष्मता से नहीं ग्रहण कर पाता है। इस सन्दर्भ में कलाकार यथार्थ का उतना ही उपयोग करता है जितना कि निरूप्य कल्पना प्रधान कलेवर मे सरलता से गृहीत हो पाता है। प्रकृति का उपयोग करने के लिए वह सर्वथा स्वतंत्र है। कला-कृति कला के बिंब-वैविध्य को प्रस्तुत करती है। इसमे यह तथ्य सरलता से ज्ञात हो जाता है कि कलाकार ने निश्चित बिंबो का चुनाव करके अपनी इच्छानुसार उन्हे निश्चित महत्व प्रदान किया है। यह न भूलना चाहिए कि चित्र का आस्वादन प्रकृति के यथार्थ चित्र के आस्वादन से भिन्न होता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि कलाकार की यह क्रिया अंशतः चेतन और अंशतः अचेतन होती है। वह इसी के आधार पर बिंब का निर्माण करता है और उसके माध्यम से अपनी अन्तर्दृष्टि को प्रस्तुत करता है। आरंभ मे दर्शक को कलाकार की कला-संघटना को स्वीकार करके अपने बोध के बिंबो का निर्माण करना पड़ता है। इससे यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि बिंब-सृजन की क्रिया मे कलाकार अंशतः दृश्य तथा यथार्थ सत्य से भिन्न किसी अन्य तथ्य को प्रस्तुत करना चाहता है। इसके लिए वह परिवेश को संश्लेषित और विश्लेषित करता है। बिंब-निरूपण दृश्य पटल को भेद कर अदृश्य सूक्ष्मता को ग्रहण करने का प्रमुख साधन है। कला-बिंब, प्रभाव-बिंब के सदृश होता है और इन दोनों की क्रियाओ मे साम्य पाया जाता है।

हमने चतुर्थ अध्याय मे अनुभूति की दीप्तिमयता का उल्लेख किया है और इस तथ्य पर प्रकाश डाला है कि इस स्थिति मे सामान्य से सामान्य उपादान भी रचना की दृष्टि से महत्वपूर्ण बन जाता है। यह संवेगात्मक प्रतीक के रूप मे हमारे समक्ष प्रस्तुत होता है। बिंब और अनुभूति के घटको का अन्तःसम्बन्ध भी कम महत्वपूर्ण नही होता है। इस पर पहले भी पर्याप्त लिखा जा चुका है। यहाँ इस पर संक्षिप्त विचार-विमर्श अपेक्षित है। अनुभूति के तीन आयाम होते है, (१) दृश्य जगत के विविध आयाम और घटना, (२) इसकी संवेगात्मक प्रतिक्रिया या प्रभावोत्पादक शक्तियो से इनका संबंध और (३) स्वतंत्र अनुभूति का विषयीगत स्वरूप। कला-बिंब इन आयामो से सदैव संबद्ध पाया जाता है। प्रकृति को यथातथ्य रूप मे चित्रित करने वाला बिंब प्रकृति के उपादान का प्रतीक बन जाता है। पर इस प्रकार के बिंब को कला-बिंब नही कहा जाता है। द्वितीय स्थिति मे भी बिंब उपादान का प्रतीक तो होता है, पर उपादान मात्र अवलोकन का विषय न होकर अनुभूति का विषय बन गया रहता है और वह उसी से परिष्कृत और सुनियोजित भी होता है। इस स्तर पर पाई जाने वाली प्रतीक-पद्धति दुहरी होती है। इसका कारण यह है कि बिंब उपादान का प्रतीक तो होता ही है, उस अनुभूति का प्रतीक भी होता है जिसको वह रूपायित करता है। इस प्रकार के बिंबो की निजी विशेषता होती है। ये बिंब उपादान या घटना से उत्पन्न विविध बिंबों में से चुने जाते हैं और इन पर अनुभूति की विशेषता का रंग चढ़ा होता है। इसीलिए ये बिंब व्याकृष्ट या विरूपीकृत

होते है। बिंबो की दृष्टि से अनुभूति का तृतीय स्तर विशेष रूप से जटिल और उलझनपूर्ण होता है, क्योंकि इस स्तर पर विषयीगत अनुभूतियों को ऐन्द्रिय उपादानो के द्वारा प्रक्षेपित करना पडता है। इस स्थिति मे कलाकार नियमानुशासित अभिव्यंजक बिंबों (expressive formula images)[८१] का आश्रय ग्रहण करता है जो विशेष रूप से संगीत, स्थापत्य और काव्य आदि मे पाये जाते है। कभी-कभी चित्रोपम बिंबों की रचना भी की जाती है जो उपादान के प्रतीक ही नही अपितु अभिव्यंजक सूत्र-बिंब होते है[८२]।

इस तथ्य की पुनरावृत्ति की आवश्यकता नही कि काव्य-बिंब अन्य कला-बिंबो से विशिष्ट होता है। इसका प्रमुख कारण यह होता है कि इसमें शब्दो की ध्वनि के माध्यम से विविध प्रकार के दृश्य और श्रुत बिंबो को उद्‌बुद्ध करने की क्षमता होती है। काव्य मे बिंब के माध्यम से चिन्तन की प्रवृत्ति पाई जाती है। इसमे कवि बिंब-निरूपक-भाषा, उसके संघटन, अनुषंग और भास्वरता का ध्यान रखता है। शब्द मूर्त से अमूर्त तक चक्कर काटते रहते है। इनमे ऐन्द्रिय बोध की चित्रोपमता के साथ ही उसकी अद्‌भुत सूक्ष्मता और रहस्य-मय गोपनीयता का मणि काचन योग होना होता है। भाषा श्लेष प्रधान होती है और वह मूलत: उस मानसिक क्रिया की परिचायक मानी जाती है जो मूर्त-सन्दर्भ या ऐन्द्रिय बिंब के माध्यम से अमूर्त को मूर्त, अप्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष अथवा निराश्रित को आश्रित आधार प्रदान करती है। इसके दो छोर होते है, एक छोर पर विशिष्ट अवबोध पाए जाते है और दूसरे पर सूक्ष्म सामान्यीकृत विचार। इसके एक छोर पर बिंब पाया जाता है और दूसरे छोर पर ऐसे सामान्य विचार रहते है जिनसे विशिष्ट बिंब ध्वनित होता रहता है।[८३] सारांश यह कि[८४] कविता विभिन्न बोधो का अन्तर्ग्रथन होती है। यह शब्दो से सम्बद्ध विविध बिंबो के माध्यम से अभिव्यक्त की जाती है, अतएव सामान्य मानस की तुलना मे अधिक गहन, सुकोमल और पूर्ण मानस को प्रस्तुत करती है।

बिंब के सन्दर्भ में स्मृति की चर्चा की जाती है। हर सुख-दुखात्मक घटना जिसे देखने से हम प्रभावित हुए है, हमारी स्मृति का विषय होती है। रचना और स्मृति का संबन्ध होता है। सघन अनुभूति की स्थिति मे यही संवेदनशीलता स्मृति को प्ररोचित करके उसे कल्पना के माध्यम से बिंब-सृजन की ओर उन्मुख करती है। बिंब सृजन-सक्षम-कल्पना भी दुहरी होती है। पहली स्थिति में इसका सम्बन्ध प्रातिबोधिक अनुभूति से होता है जो स्मृति मे पड़े हुए निष्क्रिय बिंबो को अचेतन रूप से संश्लेषित करती है। इसके पश्चात् दूसरी स्थिति का आविर्भाव होता है। यह स्थिति इन संश्लेषित स्मृति बिंबों को कला के रूप मे ढालती है। अनुभूति की स्थिति मे स्मृति बिंबो को बनाए ही नही रहती अपितु उन्हे समन्वित भी करती है। इस समन्वय के कारण अन्त: सामजस्य उत्पन्न होता है जिसकी क्रिया कुछ स्वतंत्र होती है।

बिंब-सृजन को केवल तकनीकी ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती, इससे कलाकार का बोध भी रूपायित होता है। प्रच्छन्न और रहस्यमय कल्पना पर आश्रित बिंब अस्पष्ट और उलझनपूर्ण होते है। उनका यह स्वरूप कला-कृति मे प्रयोग के समय भी बना रहता है। प्रच्छन्न कल्पना का स्वरूप चाहे जितना सशक्त हो उसमें सामंजस्य स्थापित करने की क्षमता कम होती है। इसीलिए कलाकृति मे यह असामंजस्य अशक्त होता है और उसमें अनपेक्षित हस्तक्षेप होता रहता है। इस हस्तक्षेप को काव्याकुर (Poetic germ) कहा जाता है। इसकी अपनी विशेषता होती है। यह प्रातिबोधिक अनुभूति मे प्रस्तुत रहता है पर अज्ञात कारणों से चेतना के स्तर पर नही आ पाता है। यह अस्पष्ट दृश्य-बिंब, ध्वनि, शब्द समूह या अनुभूति आदि किसी भी स्वरूप मे उपस्थित रहता है। कभी-कभी यह अकारण ही दिखाई पडने लगता है या अभीप्सित स्मृति क्रिया मे अवतरित हो जाता है। यह काव्याकुर महत्वपूर्ण कार्य संपादित करता है। इसमे विशिष्ट शक्ति होती है। यह स्मृति के बिंब को गतिशील बनाता है और प्रच्छन्न कल्पना को इस हद तक प्ररोचित करता है कि निदर्शनात्मक घटना उत्पन्न होकर अभिव्यक्त हो सके।

जार्ज ह्वैली ने इस महत्वपूर्ण पक्ष पर भी विचार किया है कि विधायक कल्पना अन्तःसंबंधो के स्थापन मे किस तरह सफल होती है ? इसके स्पष्टीकरण के लिए वे रसायन विज्ञान और मशीन विज्ञान से उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। उन्होंने लिखा है कि कल्पना को समझने के लिए उत्प्रेरक का उदाहरण विशेष सहायक हो सकता है। काव्य-बीज मानस मे उस क्रिया से भिन्न कोई क्रिया नही उत्पन्न करता जो उसके उद्भव के पूर्व प्रच्छन्न रूप से चल रही थी। यह तो केवल प्रच्छन्न कल्पना के एकीकरण और एकत्रीकरण की क्रिया को तीव्र और घनीभूत बना देता है। जब उत्प्रेरक और भाव-प्रवण बीज दिखाई पड़ता है तो स्मृति बिंबों मे गतिशीलता आ जाती है, क्योंकि भावावेश की प्रमुख विशेषता सृजन नही अपितु क्रिया की गतिशीलता है। काव्य-उत्प्रेरक विस्फोटक नही होता। यह न तो स्वयं चालित होता है और न पूर्व ज्ञात। इसकी क्रिया एक क्षण में पूरी हो सकती है यह संपूर्ण जीवन के महत्वपूर्ण पक्ष तक प्रसरित पाई जाती है।[८६] ह्वैली ने इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए क्वैण्टम सिद्धान्त का आश्रय ग्रहण किया है। उन्होने इस सन्दर्भ में पुनः लिखा है, 'अगर हम एक को सौर-मण्डल का आदर्श रूप मान लें तो हमे ऐसा ज्ञात होगा कि इस संपूर्ण योजना के मूल में ऐसा केन्द्र है जिसके चतुर्दिक अण्डाकार कक्षा में भूमण्डलीय विद्युत-अणु चक्कर काटा करते है। जब परमाणु अपनी तटस्थ स्थिति मे होता है तो विद्युत-अणु की कक्षा शक्ति संघटना के निकट और उसके साथ अविरोधी संबंध बनाए रखती है। जब परमाणु अन्य स्रोतों से प्राप्त अतिरिक्त शक्ति को ग्रहण कर लेता है तो विद्युत अणु कक्षा से दूर हट कर नई कक्षा की स्थापना कर लेते हैं और बाह्य चुंबकीय क्षेत्र के संदर्भ में परमाणु को निष्क्रिय बना देते हैं। क्वैण्टम सिद्धान्त में

इस बात पर बल दिया गया है कि इस परिवर्तन की स्थिति में विद्युत-अणु मंथर गति से बाहर न आकर छलाग लगाकर बाहर आते है और अपने को बाह्य कक्षा में स्थिर कर लेते है।[८७] इस क्रिया से ऐसा ज्ञात होता है मानो, वह बाह्य कक्षा ही उस मार्ग की शृंखला है जिस पर विद्युत-अणु गमन करते हैं। परमाणु उतनी ही मात्रा मे शक्ति को आकर्षित कर सकता है जितनी मात्रा उसकी संघटना द्वारा पूर्व-निश्चित होती है। इसी मात्रा के मूल्य को क्वैण्टम कहा जाता है। यह भिन्न-भिन्न परमाणुओं के अनुसार भिन्न-भिन्न होती है। इस सिद्धान्त में प्रमुख विचारणीय बात यह है कि इसमें कुछ ऐसे प्रभाव दिखाई पड़ते है जिनका क्रमिक विकास या ह्रास निश्चित छलाग का विषय होता है। अगर हम यह मान लें कि कवि की चेतनता परमाणु और संविलोन शक्ति (Absorbed energy) काव्य-बीज है तो यह बीज उस 'क्वैण्टम' के विचार को प्रकट करता है जो कवि द्वारा अन्तर्भुक्त कर लिया गया है और ऐसी उपयुक्त वस्तु सिद्ध होता है जो उपयुक्त समय पर निश्चित शक्ति के साथ प्रकट हो सकती है। चूंकि कवि अपनी वैयक्तिकता में अद्भुत होता है अतएव उसे संबद्ध क्वैण्टम विचार से भी उद्भूत माना जा सकता है। यह विचार निरन्तर परिवर्तनशील संवेदना का परिचायक होता है। जब एक बार क्वैण्टम-बीज अन्तर्भुक्त हो जाता है तो व्यापक परिवर्तन घटित होते है। कवि का व्यक्तित्व और सावयव संघटना बदल जाती है और वे अपने को पुनः इस रूप मे व्यवस्थित करती है जो क्वैण्टम के विचार को समाहित कर सके। विद्युत-अणुओं का अपनी बाह्य कक्षा को ओर गतिशील होना इसी निदर्शनात्मक घटना के सदृश माना जा सकता है। काव्यानुभूति की स्थिति मे इस घटना का निर्माण विलंब का विषय हो सकता है, पर यह मंथर गति से विकसित नही होती। क्वैण्टम शक्ति के विकीर्ण होने की स्थिति मे विद्युत-अणुओं का आन्तरिक प्रयाण प्रतीक-अभिव्यक्ति के सदृश होता है। यही प्रतीक-अभिव्यक्ति काव्य की पूर्णता की परिचायक होती है। इस चक्र के अन्त मे कवि और परमाणु दोनो तटस्थावस्था की आर लौट आते हैं। जार्ज ह्वैली ने इस महत्वपूर्ण तथ्य का संकेत भी किया है कि काव्याकुर के नवोन्मेष की स्थिति में काव्य-सृजन कल्पना से विकसित होकर प्रतीक रूप मे अभिव्यक्त होता है। इस स्तर पर एक मध्यस्थ क्रिया का आविर्भाव होता है। इस द्वन्द्वात्मक पद्धति को सैमुएल अलेक्जेण्डर के शब्दों मे असंभोग जनन (Parthenogenesis) उत्पत्ति से भिन्न संभोग-जनन (Bi-sexual) उत्पत्ति के सदृश माना जा सकता है। इस स्थिति मे कलाकार को दुहरी क्रिया प्रदर्शित करनी पड़ती है। उसे एक ओर तो बिंबों का मूर्तरूप मे निर्माण करना पड़ता है और पुनः इस सम्मूर्तन के बाद उनका विश्लेषण करना पड़ता है।[८०] इसी तथ्य को डब्लू० बी० यीट्स[८१] और लुई मैकनीस[८२] भी प्रतिपादित करते हैं। ये उपर्युक्त स्थितियाँ कलाकार के उस आन्तरिक-संघर्ष की परिचायक हैं जिनके माध्यम से वह अनुभूतियों को एक निश्चित

स्वरूप प्रदान करता है। उसकी इस क्रिया को पुनर्गवेषणा की संज्ञा दी जा सकती है।[८३]

फ्रैंक कर्मोड अपने बिंब संबंधी विवेचन का आरंभ विन्धम लेविस के इस सूत्र-वाक्य के साथ करते है कि बिंब काव्य का प्रमुख रंजक उपादान है और जो कवि इसका सफलतापूर्वक प्रयोग करता है वह अपनी विशेषता के कारण अन्य कवियों से भिन्न सिद्ध होता है[८४]। उनकी दृष्टि में बिंबोन्नयन की क्षमता से अलंकृत कलाकार को इसका महँगा मूल्य चुकाना पडता है। यह मूल्य हीरे-जवाहरात या सोने-चादी से नही चुकाया जाता। यह तो वस्तुतः आन्तरिक मंथन और उद्वेलन द्वारा चुकाया जाता है[८५]। इसी मान्यता को ध्यान में रखकर उन्होंने बिंब को प्रमथित कर देने वाले पुरस्कार का परिणाम कहा है। कर्मोड यह स्वीकार करते हैं कि बिंब को समग्रता, मूर्तता और अखण्डता के साथ अभिव्यक्त करना सरल नही है। बिंब-सृजक सदैव द्रष्टा की पृष्ठभूमि मे प्रस्तुत रहता है और उसे एकान्त और तटस्थता की आवश्यकता होती है। उसकी अन्तर्दृष्टि चिन्तन के द्वन्द्व को सुलझाने का कार्य करती है। विरोधी तत्वो का यही सुलझाव या समन्वय 'रोमाण्टिक इमेज' का उपजीव्य होता है। उन्होंने प्रतिभा और विधायक कलाओ के सन्दर्भ मे साहित्य के बिंबो पर विचार किया है। उनका कहना है, मूर्तिकला कुछ क्षणों के ध्यान के केन्द्रीकरण का प्रतिफलन होती है। चित्रपट पर बनाए गए बिंब मे विकास और परिवर्तन को प्रस्तुत करने वाले नैसर्गिक तत्व का अभाव पाया जाता है। अगर वे मृत्यु के विषय मे नही जानते तो जीवन की गतिविधि से भी अपरिचित रहते हैं। इसका प्रमुख कारण यह है कि जीवन और मृत्यु के प्रति वे ही व्यक्ति अधिक संवेदनशील होते है जिन्हे काल-क्रम प्रभावित कर सकता है और जिनका केवल भूत ही नही भविष्य भी होता है। दृश्य कलाओ की प्रमुख समस्या गति होती है। इसे केवल साहित्य ही चित्रित कर सकता है। साहित्य आकार को केवल गतिशील और आत्मा को निरन्तर क्रियाशील रूप मे निरूपित करता है[८७]। कर्मोड के अनुसार बिंब में बौद्धिक तत्व का अभाव पाया जाता है। जिस प्रकार नर्तक का नृत्य के साथ संबंध होता है उसी प्रकार बिंब का विचार के साथ। बिंब में सावयव विकास पाया जाता है।

सेसिल डे० लेविस के बिंब संबंधी विचारों को साहित्य में विशेष मान्यता मिली है। उनकी दृष्टि मे काव्य-बिंब की निम्नांकित बिशेषतायें होती है —

(१) यह शब्द चित्र है।
(२) इसमे ऐन्द्रिय विशेषतायें विद्यमान रहती हैं।
(३) यह आलंकारिक होता है।
(४) इसके परिवेश मे स्पष्ट या अस्पष्ट रूप से भाव-संवेग विद्यमान रहते हैं।
(५) यह दर्शक में भी भाव संवेग उत्पन्न करने में सक्षम होता है।

लेविस महोदय ने इन विशेषताओं को ध्यान मे रखते हुए बिंब के कुछ महत्वपूर्ण पक्षो का उद्‌घाटन किया है। उनकी दृष्टि मे कवि के सृजन में उपादान और उन उपादानो से सम्बद्ध मनोवेग, अथवा तथ्य और अनुभूति के अन्तःस्वर निहित रहते है। जब उपादान और उनसे सम्बद्ध मनोवेग का अभिन्न सम्बद्ध होता है तो इससे ऐसे बिंब का आविर्भाव होता है जिसमें दोनों की सदृशता विद्यमान रहती है। यह क्रिया अभिनव रहस्योद्‌घाटन के सदृश होती है। सृजन-क्रिया की गतिशीलता बाह्य और आभ्यन्तरिक अवबोध की सीमा निर्धारित करती है। कवि के बोध और सामान्य व्यक्ति के बोध मे अन्तर होता है। सामान्य व्यक्ति अपने पूर्वग्रहो से मुक्त नही होता और वह सभी उपादानो को उनके यथार्थ स्वरूप में देखता है। कवि भी वस्तुओ को उनके यथार्थ स्वरूप मे देखता है, पर उसका मस्तिष्क कुछ इस प्रकार शिक्षित होता है कि वह अपनी केन्द्रीभूत मानसिकता मे दृश्य-जगत से आवश्यक सामग्री का चयन कर सकता है। काव्य के लिए नवीन-भाव-सूत्र और अलंकार की आवश्यकता होती है। जब कभी इस प्रकार के अभिनव सूत्रो का संगुंफन होता है और इससे लालित्यबोधीय भाव प्ररोचित होते है तो बिंब की उपस्थिति आवश्यक हो जाती है। यीट्‌स ने स्वीकार भी किया है कि विवेक का प्रथम आविर्भाव बिंब के ही माध्यम से हुआ है। काव्य दृश्य रूप से कृत्रिम अवश्य होता है पर बिम्ब सघटना के माध्यम से हम विश्व के जिस स्वरूप मे अवगत होते है, वह विशेष महत्वपूर्ण होता है। बिंब रूप के माध्यम से संसृति का रहस्योद्‌घाटन करता है। काव्य-बिंब मे यह अभिज्ञान भी निहित पाया जाता है कि संसृति की संघटना सजीव है।

लेविस की मान्यता है कि हर बिंब उपादान की पुनर्गवेषणा ही नही करता अपितु वह उसको अनुभूति के सन्दर्भ को भी प्रस्तुत करता है। इस प्रकार जो भी उपादान प्रस्तुत रहता है उसका परिवेश से संबंध होता है। यह संबंध बिंब का प्रमुख उपस्कारक भी होता है। इस दृष्टि से रूपक को संपूर्ण संसृति का सहज-ज्ञान माना जा सकता है। रूपक की तरह बिंब को भी मानव के अनन्त प्रसार का परिचायक माना जा सकता है। इस दृष्टि से काव्य-बिंब को मानव-मस्तिष्क के साथ ही हर सजीव वस्तु का परिचायक कहा जा सकता है।

एच० कूंब्स[६८] ने अपने विवेचन के आरंभ मे ही उत्कृष्ट और निकृष्ट बिंबों का उल्लेख किया है। उनके अनुसार निकृष्ट बिंब कलाकार के मौलिक ज्ञान के अभाव का द्योतक है। इसमें सौष्ठव और कल्पना-प्रवण-बोध का अभाव होता है। उत्कृष्ट बिंब भौतिक और वैविध्यपूर्ण होता है। इसका प्रयोग सघनता, स्पष्टता और भावशबलता के लिए किया जाता है। यह हमे कलाकार के विषय-बोध से ही अवगत नहीं कराता अपितु उसकी सूक्ष्म पकड़ को पूर्णता, विविधता, आग्रह और संक्षिप्तता के साथ प्रस्तुत करता है। इसका विषय-विस्तार काल्पनिक नहीं होता। इसमे अनुभूति की

सच्चाई पाई जाती है। इसीलिए इसमें उपादान और कला का पूर्वापर संबंध जीवन से निकटता का अभिज्ञान पैदा करता है। इसका स्थानीय महत्व भी होता है, पर यह अन्य महत्वपूर्ण विचारानुभूतियो और चित्तवृत्तियो को उद्‌बुद्ध करने में समर्थ होता है। इस क्रिया से समूची कृति उद्‌भासित हो उठती है।

कूंब्स ने बिंब को 'फिगर ऑव स्पीच' का पर्याय माना है। उनकी दृष्टि मे यह दो प्रकार का होता है, (१) संहृति प्रधान बिंब (Concise image) या व्यंजक बिंब (Subjective image) और स्वतंत्र व्यंजना प्रधान बिंब (Lose image) या प्रसृत बिंब (Diffused Image)। प्रथम प्रकार के बिंब में उत्प्रेक्षा संबलित-संहृति, संक्षिप्तता और कसावट होती है। इसके सीमित आयाम मे अधिक से अधिक व्यंजना निहित पाई जाती है। यह प्रसंग-गर्भित और अध्याहार प्रधान होता है। अतएव इसमे सागरूपक और मालोपमा का केन्द्रगामी प्रसार पाया जाता है। इस तरह के उत्कृष्ट बिंब के लिए विधायक कल्पना की अपेक्षा होती है।

विनियोग की दृष्टि से विधायक कल्पना के भिन्न-भिन्न स्वरूपो से भिन्न-भिन्न प्रकार के बिम्बों का अवतरण होता है। ये बिम्ब तीन प्रकार के होते हैं—

(१) प्राथमिक बिंब (Primary Images)

(२) उत्तरजात या विकसित बिंब (Secondary Image)

(३) व्युत्पन्न बिंब (Tertiary Image)

प्राथमिक बिंब कवि के काव्य जगत के यथार्थ उपादानो की प्रतिच्छाया होते है। इन्ही से उत्तरजात बिंब विकसित होते है। ये उत्तरजात बिंब प्राथमिक बिंब के उपादानो की प्रतिच्छाया होते है। प्राथमिक बिंब को यथार्थ के प्रतिबिंबो के रूप मे देखा जा सकता है। उत्तरजात बिंब को तभी विश्लेषित और विवेचित किया जा सकता है, जब हम उसे प्राथमिक बिंब या यथार्थ के सन्दर्भ में विवेचित करे। इन बिंबो के समुचित मूल्याकन के लिए व्युत्पन्न बिंबो की अपेक्षा होती है। इस स्तर तक बिंबो से बिंबों को उत्पन्न होने अथवा यथार्थ से यथार्थ के प्रतिच्छायित होने के कारण बिंब मूल भावो से इतने अलग हो जाते हैं कि उन्हे यथार्थ से संबद्ध कर पाना कठिन हो जाता है।

कलाकार यथार्थ संसृति के उपादानों के अवलोकन से अपनी जीवनानुभूति को समृद्ध बनाता है। अनुभूति और उसके परिवेश को संघटित करने के लिए प्राथमिक बिंबों का प्रयोग किया जाता है। कला के विकास में इन्हीं प्राथमिक बिंबों को परिवर्द्धित और संवर्द्धित किया जाता है, अथवा यों कहा जाय कि इन्हीं को तोड़ा-जोड़ा जाता है और इसी सन्दर्भ में अन्य बिंबों का निर्माण किया जाता है। इस क्रिया में दूसरे बिंब के अवतरण के समय प्रथम बिंब का आदि स्वरूप तिरोहित हो जाता है। इस स्तर पर बिंब का सन्दर्भ तो

यथार्थ होता है, पर इसके प्राथमिक स्वरूप से कुछ भिन्न हो जाता है। आरंभिक स्तर पर उपमा और रूपक के रूप मे पाया जाने वाला स्वरूप ही उत्तरजात बिंब मे प्रतीक के रूप मे परिणत हो जाता है। यह क्रिया ऐसी होती है जिसमे कलाकार अपनी क्रमबद्ध जागतिक अनुभूति को साकेतिक चित्रण द्वारा अभिव्यक्त करता है और उसे अपनी प्रकृति के अनुसार विकसित होने देता है। इस क्रिया से बिंब मूर्त रूप में अभिव्यक्त हो जाता है। इसे बिंब-परिवर्तन की क्रिया माना जाता है। इसी परिवर्तन के परिणामस्वरूप प्राथमिक बिंब से उत्तरजात बिंब और उत्तरजात बिंब से व्युत्पन्न बिंब पैदा होते है। बिंब की इन विशेषताओ को ध्यान मे रखते हुए इस क्रिया को क्रमश. आत्माभिव्यक्ति, आत्म-विकास और आत्मोपलब्धि की क्रिया माना जाता है। इसे उपमा से प्रतीक, या ललित कल्पना से विधायक कल्पना और पूर्ण कल्पना तक का प्रत्यावर्तन कहा जा सकता है[१००]। बिंब के विभाजन पर अन्य दृष्टि से भी विचार किया गया है। कुछ लोग इसके तीन, पाच या सात रूप मानते है —

(१) प्रतीक, रूपक, उपमा।

(२) प्रतीक, रूपात्मक, लाक्षणिक, रूपक और उपमा।

(३) प्रतीक, रूपकात्मक, लाक्षणिक, रूपक, उपमा, प्रतिलेख, संकेत।

बिंबो के वर्गीकरण के ऐन्द्रिय स्वरूपो का इसके पूर्व उल्लेख किया जा चुका है। राबर्ट स्केल्टन[१०१] ने इन्हे दस प्रकार का माना है, (१) भावानयन प्रधान बिंब (२) तुरन्त उत्पन्न होने वाले बिंब, (३) सरल बिंब, (४) बिखरे बिंब, (५) भावानीत बिंब, (६) संश्लिष्ट बिंब, (७) जटिल बिंब, (८) संश्लिष्ट भावानीत बिंब, (९) जटिल भावानीत बिंब, (१०) भावानीत संश्लिष्ट और भावानीत जटिल बिंब। विषय वस्तु के आधार पर भी बिंबो को, आदिम, पौराणिक, निजन्धरी आदि कई भागो मे विभक्त किया गया है। इसके अतिरिक्त उसको सज्जात्मक, छायात्मक, घनात्मक, मिश्रित, उदात्त, नादात्मक, अमूर्त, प्रतीकात्मक आदि[१०२] कई भागो मे विभक्त किया गया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि इनके वर्गीकरण के विषय मे कोई निश्चित मान्यता नही प्रस्तुत की जा सकी है।

बिंब के क्षेत्र और संघटन का प्रश्न भी पर्याप्त विवादास्पद है। पूर्व पृष्ठो मे इन दोनो पक्षो पर पर्याप्त लिखा जा चुका है। अतएव यहाँ उसका पुनराख्यान नही, अपितु स्पष्टीकरण ही अपेक्षित है। यह कहने की आवश्यकता नही कि बिंब सावयव विकास का परिचायक होता है। उसकी दो प्रमुख विशेषताये होती है, नवीनता और भावानयन की क्षमता। यह कलात्मक होता है, अतएव दर्शक और पाठक इसके साथ सरलता से तादात्म्य स्थापित कर सकते हैं। बिंब कल्पना-प्रसूत होता है और कल्पना सहानुभूति से अनुप्राणित मानी जाती है। इसी सहानुभूति से रचनाकार जीवन और जगत के कार्य-व्यापर मे अन्तर्दृष्टि प्राप्त करता है। इसी अध्याय मे कल्पना के विवेचन के सन्दर्भ मे हमने विचार-सन्दर्भित क्षेत्रों के आपस में मिलने, प्रमस्तिष्क मे

अंकित अनुभूतियों के समान रूप से तीव्र मनः स्थिति उत्पन्न होने पर विस्फोट करके सहज वृत्ति के रूप मे बदलने, चेतन और अचेतन प्रमस्तिष्क मे घात-प्रतिघात की स्थिति चलने और उसके अभिनव संश्लेषण में बदलने और अवसीमा मानस या अवसोमान्तर मानस मे दीप्ति के घटित होने पर बिंबो के स्वयंचालित रूप में प्रस्तुत होने की क्रियाओ पर प्रकाश डाला है। द्वितीय स्तर मे रचना के स्तरों का उल्लेख किया गया है और दीप्तिमय स्थिति में अवसीमा मानस मे होने वाली कौंध को रचना का प्रमुख आधार बनाया गया है। बिंब-रचना का संबंध इन उपर्युक्त तथ्यों मे अवश्य होता है। अधिकांश आलोचकों ने बिंब के स्वतः स्फूर्त पक्ष को भी उद्घाटित किया है। इससे यह सत्य सरलता से स्पष्ट हो जाता है कि बिंब का प्रमुख आधार अनुभूति होती है। रचना के, तत्परता और पुनर्पोषण के धरातलो पर अनुभूति के अस्पष्ट स्वरूपों और कल्पना के अस्पष्ट स्वरूपों मे घात-प्रतिघात चलता रहता है। इसी के परिणामस्वरूप अनुभूति-संवित परिपक्व होकर मानस मे कौधने लगता है। यह कौंध भाव-विचार-प्रधान होती है और किसी न किसी निश्चित बिंब के रूप मे क्रियाशील पाई जाती है। इस बिंब के चतुर्दिक जो प्रभामंडल होता है उसमे अन्य प्रक्षेपों मे अपने अनुरूप सामग्री ग्रहण करने की क्षमता होती है। कुछ मनोवैज्ञानिक तो इस तथ्य को स्वीकार करते है कि संलग्न प्रक्षेपों से उसके अनुरूप सामग्री आकृष्ट चली आती है। इस तरह एक कौंधपूर्ण बिंब अपने प्रसार मे अनेक बिंबो का आधार बनता है और रचना क्रमशः विकसित होने लगती है। यही बिंब की स्वस्फूर्तता का रहस्य है। पुनः संवर्धन, परिवर्धन और परिष्कार की स्थिति मे रचना उत्तरोत्तर घटता-छँटता है। इस तरह रचना संपादित होता है। इस उपर्युक्त विवेचन से बिंब की स्वतः स्फूर्तता का रहस्य स्वयमेव स्पष्ट हो जाता है। हम निराला पर इस दृष्टि से बाद मे विचार करेंगे। यहाँ हम अज्ञेय के विचारो के माध्यम से अपने तथ्य को स्पष्ट करना चाहेंगे। उन्होने लिखा है, कविता एक घटना है। घटना है तो उसमे एक कथानक है, घटित का क्रम है और क्रम की संघटना का रूप-रचना के लिए और रचना के रूप के लिए अत्यन्त महत्व है। क्या हुआ मात्र नही, कैसे, किस क्रम से हुआ, इसका गहरा प्रभाव कविता के समग्र आस्वाद्य पर पड़ता है और इतना ही क्यों, 'होना' केवल एक कथानक तक सीमित नही है। रचना भी घटना है, संप्रेषण भी घटना है और आस्वाद भी घटना है। तीनो की संयुक्त संरचना, उसका नियमन, रचना-प्रक्रिया मे ही तीनों का सूक्ष्म बोध और निष्पादन.....।[१०१] उन्होंने पुनः लिखा है, प्रतिभा विषय संप्रेषण नही करती, उसका अर्थ संप्रेषित करती है—और वह अर्थ साधारण होना चाहिए। प्रतिभा वस्तु को संप्रेष्य नही बनाती, अनुभव को संप्रेषित करती है और वह अनुभव अद्वितीय होना चाहिए। अनुभव की अद्वितीयता और अर्थ की साधारणता...प्रतिभा के ये दो इष्ट है। या कहा जाये कि इन दो ध्येयों का योग ही उसका इष्ट है। जिस प्रक्रिया से यह योग सिद्ध होता है, वही रचना-

प्रक्रिया है और सब प्रक्रियाये यंत्र की है और उसके प्रति अधिक सजगता भी उनकी यांत्रिकता को कम नही करती, हमारी यात्रिकता को भले बढ़ा दे।[१०४] आत्मने-पद[१०५] में 'थिर हो गई पत्ती' के प्रसंग में भी उन्होंने रचना-प्रक्रिया पर प्रकाश डाला है। पहले उद्धरण मे रचना की घटना, संप्रेषण की घटना और आस्वादन की घटना—तीनों के सूक्ष्म बोध के निष्पादन का प्रश्न उठाया गया है। दूसरे उद्धरण में अनुभव की अद्वितीयता और अर्थ को साधारणता के संयोग की बात की गई है। उन उद्धरणों का संबंध उनकी 'असाध्य वीणा' से भी है। वीणा इसलिए असाध्य है कि चेतना के जिन उदात्त-स्तरों का स्वर उसमे निहित है उस तक किसी की पहुँच नहीं हो पाती है। चेतना का स्तर अधोलिखित पंक्तियों से द्रष्टव्य है:—

'किन्तु सुना है
वज्रकीर्ति ने मंत्रपूत जिस
अतिप्राचीन किरीटी-तरु से इसे गढा था—
.....
और सुना है-उसकी जड जा पहुँची थी पाताल लोक,
उसकी गंध-प्रवण शीतलता से फण टिका नागवासुकि सोता था।
.....
वीणा पूरी हुई, साथ साधना, साथ ही जीवन-लीला।'[१०६]

वज्रकीर्ति की संपूर्ण नाद-साधना का तप पूत प्रभाव वीणा के रूप मे पुंजीभूत हुआ था। उसके बजने की आवश्यक शर्त थी नाद को महानाद और महानाद को महाबिन्दु मे परिणत करके महाशून्य की उस गहन स्थिति का अभिज्ञान जिसमे व्यष्टि समष्टि का अंग बन जाता है और उसके लिए कोई रहस्य जानना शेष नही रह जाता है। अज्ञेय ने उस स्थिति का संकेत भी किया है,

'श्रेय नही कुछ मेरा,
मै तो डूब गया था स्वय शून्य मे
वीणा के माध्यम से अपने को मैंने
सब कुछ को सौंप दिया था—
सुना आपने जो वह मेरा नही,
न वीणा का था·
वह तो सब कुछ की तथता थी
महाशून्य वह महामौन
अविभाज्य, अनाप्त, अद्रवित, अप्रमेय
जो शब्द हीन सब मे गाता है।[१०६]

मेरा उद्देश्य इस कविता की व्याख्या करना नही है। मैं तो इसके माध्यम से रचना-शील-मानस की कुछ विशेषताओं को निष्कर्ष रूप मे प्रस्तुत करना चाहता हूँ। पहली

बात है रचना के भावो को उद्दीप्त करने के लिए ही उच्चमानसिकता की अपेक्षा नही होती है, उनको हृदयंगम करने के लिए भी वह आवश्यक होती है। दूसरी बात यह है कि अपेक्षित मानसिक दशा के प्रस्तुत होने पर रचना स्वयमेव सिद्धि की ओर अग्रसर हो जाती है। तीसरी बात यह है कि उस मानसिकता में व्यक्ति को निर्वैयक्तिक होना आवश्यक है। बिंब-संघटन और उसको रचना को समझने की दृष्टि से ये उद्धरण विशेष महत्वपूर्ण है।

बिंब और विचार-चित्र मे भेद होता है। विचार-चित्र में प्रत्यक्ष घटित होने वाली घटनाओ का आश्रय प्रमुख होता है, पर बिंब में यह अस्पष्ट होता है। कुछ आलोचकों के अनुसार उत्पादक कल्पना विचार-चित्र के सृजन का कारण होती है पर पुनरात्पादक कल्पना बिंब का। विचार-चित्र सामान्य होते है, बिंब विशेष। बिंब-विधान, सादृश्य और तुलना पर आधारित होता है। इसके माध्यम से प्रायः विरोधी और अमूर्त वस्तुओ को कलात्मक कलेवर प्रदान किया जाता है। बिंब-रचना मे विधायक-कल्पना सदैव क्रियशील पाई जाती है। यह संश्लेषण सक्षम होती है। इसीलिए बिंब मे विशेष गुण उत्पन्न होते है। बिंब के कारण साहित्य मे भी दृश्य कला की विशेषताये पैदा हो जाती है। कविता मे चित्रोपमता पैदा हो जाती है। बिंब की सबसे बड़ी विशेषता उसकी संक्रमणशालता है। इसी कारण बिंब भाव-राशि के उद्बोधन मे सफल होते है। बिंब रचना मूलतः पुनर्निर्माण की क्रिया की परिचायक होती है। हर बिंब की अपनी निजी विशेषता, निश्चित सन्दर्भ और निश्चित अनुषंग होता है। वह सदैव किसी न किसी केन्द्रीय भाव का परिचायक होता है और अपने साथ ही कुछ अन्य सहयोगी भावो को भी अभिव्यक्ति प्रदान करता है। बिंब-संघटन मे यथार्थ को उसी अंश तक मान्यता दी जाती है जिस अंश तक वह उसके कलेवर मे खप सकता है। इसके माध्यम से प्रकृति के चित्रो का स्वतंत्र उपयोग संभव होता है पर कलाकार इसे अपने विशिष्ट दृष्टिकोण का वाहक बनाता है। वह इसके द्वारा दृश्य सत्य या यथार्थ से भिन्न अनुभूतिजन्य सत्य को अभिव्यक्त करता है। इसकी रचना मे रचनाकार के तकनीकी कौशल का सहयोग होता है। तात्पर्य यह कि इसके माध्यम से रचनाकार के वैयक्तिक बोध को परखा जा सकता है।

बिंब-रचना मे कई बातो का सहयोग होता है। स्मृति अनुभूति को रंजित करती है, सजीव बनाती है और अधिक वैभवपूर्ण ढंग से अभिव्यक्ति को क्षमता प्रदान करती है। सृजन मे इसके अतिरिक्त मनः सृष्टि और संकल्प का भी अप्रतिम योगदान होता है। संकल्प प्रच्छन्न रूप से मनः सृष्टि का साधक होता है। हर मन सृष्टि मे इच्छा-शक्तिप्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप मे क्रियाशील पाई जाती है। इन सब का सामंजस्य बिंब-रचना का प्रमुख हेतु होता है। व्यक्ति का व्यक्तित्व रहस्यमय होता है। इसका निर्माण प्रच्छन्न और अन्तर्निहित शक्तियो के आधार पर होता है। अतएव इसमे व्यक्ति के उदात्त अनुदात्त, अच्छे-बुरे, संकल्प-विकल्पमय, वैयक्तिक-निर्वैयक्तिक घात-प्रतिघातों

का कार्य-व्यापार चलता रहता है। इन्ही के माध्यम से रचनाकार के व्यक्तित्व का निर्माण होता है। भाव-संवेग वैयक्तिक होता है पर अनुभूति निर्वैयक्तिक। संवेग में अनुभूति की ऐसी जटिल संघटना पाई जाती है जो व्यक्तित्व को संरक्षित और परिपोषित करती है। संवेग अन्तर्मुखी होता है। इस स्थिति मे व्यक्ति बाह्य संसृति के कार्य-व्यापारो से कटकर अन्तः स्वरूप की ओर उन्मुख रहता है। यह बोध को सीमित करने का प्रमुख साधन माना जा सकता है। इसे व्यक्ति के मानसिक स्वरूप का प्रतिरूप कहा जा सकता है। अनुभूति मूल्यप्राण होती है, पर संवेग अस्पष्ट, विशृंखल और सशक्त भावप्रधान। इस दृष्टि से ड्वैवी का यह कहना है कि रचनात्मक अनुभूति दुर्दमी होती है, सर्वथा उचित है। इसमे किसी बात की अनुभूति (feeling of Something) को किसी बात के लिए अनुभूति (feeling for Something) मे परिणत करना पडता है। इस परिणति को बाँधने का कार्य संबंध द्वारा सम्पादित होता है अनुभूति, मूल्यबोध स्वरूप है जो यथार्थ के घटनामय स्वरूप से उद्बुद्ध होती है। इसीलिए इसमे निर्णय और निर्माण निहित पाए जाते है। अनुभूति में सहानुभूति का भाव भी सदैव क्रियाशील रहता है। इसी सहानुभूति के कारण रचनाकार दृश्य-अदृश्य, परोक्ष-अपरोक्ष तथा प्रस्तुत और अप्रस्तुत का अवगाहन करके रचना के उपजीव्य को उपलब्ध करता है। भावावेग की तीव्रता मे अनुभूति का रंग निखरता और संवरता है, वह स्थायित्व प्राप्त करती है। विशुद्ध अनुभूति की बात समझ के बाहर है। पहले तो कोई अनुभूति शुद्ध हो नही सकती और अगर होती भी है तो उसमे स्थायित्व नही होता है। अनुभूति यथार्थाश्रित होकर ही मूल्य-विधायक बनती है। यथार्थ संबंध और सन्दर्भ पर आश्रित होता है। अतएव अनुभूति बिंबो का भी अपना सम्बन्ध और सन्दर्भ होता है। लेकिन इन्हे केवल भौतिक आधार पर समझना कठिन है। बिंब को समझने का सूत्र रचनाकार की प्रातिबोधिक अनुभूति मे निहित होता है। अनुभूति को समझने के लिए केवल कुछ देखना आवश्यक नही होता, उसका अनुभव करना आवश्यक होता है। अनुभव से रचनाकार की अन्त-र्दृष्टि खरी, परिष्कृत और सचेतन बनती है। स्मृति भी विधायक कल्पना की प्रेरक होती है। इस प्रेरणा से ये अनुभव संश्लेषित होकर रचना में ढलते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि जिस रचनाकार का अनुभव क्षेत्र व्यापक, कल्पना प्रखर, प्रतिभा तेजोद्दीप्त और मानसिक क्षमता प्रौढ होती है, वही महत्वपूर्ण बिम्बों की रचना मे सक्षम होता है।

सारांश यह कि—

(१) बिम्ब-रचना विधायक कल्पना का विषय है।

(२) मनोविज्ञान में इसे मानसिक पुनर्सृजन, स्मृति, भूत की संवेदना और प्रातिबोधिक अनुभूति का पर्याय माना गया है। इस निकाय के

विचारक ऐन्द्रिय अनुभूति और भावगत स्वरूप को विशेष महत्व प्रदान करते हैं।

(३) मूलादर्शात्मक बिम्ब आनुवंशिक, जातीय और सास्कृतिक तत्वों से निर्मित होते है। इसमे अतीतधर्मिता के साथ ही वर्तमानधर्मिता का गुण पाया जाता है।

(४) सार्त्र ने बिम्ब-रचना की दृष्टि से चेतन-घटना के आत्म निर्भर उपादान को विशेष महत्व प्रदान किया है।

(५) बिम्ब अनुभूति से संबद्ध होता है। यह रचनाकार के बोध के साथ ही पाठक के बोध को सुनिश्चित स्वरूप प्रदान करता है। इसी तथ्य को ध्यान मे रखकर कलाकृति को अनुभूति का बिम्ब कहा गया है। अनुभूति के बिम्ब की कुछ विशेषतायें होती है। इसमे प्रेरक और दिशा निर्देशक तत्व विद्यमान रहता है। बिम्बानुभूति उपादान या विचार से जुड़ी होती है।

(६) कला के बिम्ब अन्य जीवन बिम्बो से कई अर्थो मे विशिष्ट होते है। सामान्य बिम्ब भौतिक स्वरूपों मे संबद्ध होते है, पर कलाबिम्ब प्रातिबोधिक स्वरूपो से। प्रथम मे प्रत्यय और विश्लेषण की प्रधानता होती है, पर द्वितीय मे कल्पना-प्रधान-सश्लेषण की। प्रथम आलोचनात्मक होता है, पर द्वितीय कलात्मक।

(७) बिबोत्पादक लालित्यबोधीय विशेषता संवेदन और प्रभाव के सातत्य में व्यवधान प्रस्तुत होने से उत्पन्न होता है।

(८) बिम्ब के माध्यम से रचनाकार की अन्तर्दृष्टि रूपायित होती है।

(९) बिम्ब-निर्माण की क्रिया स्वत. मे इस तथ्य की परिचायक होती है कि इसके माध्यम से रचनाकार दृश्य तथा यथार्थ सत्य से भिन्न किसी अन्य तथ्य को निरूपित करना चाहता है।

(१०) कला-बिम्ब कुछ अर्थो मे प्रभाव-बिम्ब के सदृश होते हुए भी विशेषताओं की दृष्टि से उससे विशिष्ट होता है।

(११) बिब और अनुभूति के घटको का सम्बन्ध विशेष महत्वपूर्ण होता है।

(१२) काव्य-बिब मे ध्वनि के माध्यम से अन्य कई तरह के श्रौत और दृश्य बिम्बों को प्ररोचित करने की क्षमता होती है।

(१३) स्मृति बिब की सहायक होती है। यह बिम्बो को सगठित और संश्लेषित करती है।

(१४) बिब कला का प्रमुख रंजक उपादान होता है।

(१५) बिबो में बौद्धिक तत्व विरल होता है।

(१६) यह ऐन्द्रिय विशेषताओं से युक्त शब्द-चित्र है। इसमे आलंकारिकता पाई जाती है। इसके परिवेश मे मानव के भावावेग विद्यमान रहते है। बिंब सहृदय मे भी भाव-संवेग उत्पन्न करता है।

(१७) हर बिंब उपादान की पुनर्गवेषणा का माध्यम होता है। इसके द्वारा हम रचनाकार की अनुभूति के सन्दर्भों से परिचित होते है।

(१८) उत्कृष्ट बिंब रचनाकार की अनुभूति और उसके मौलिक ज्ञान के परिचायक होते है। इसके प्रयोग से रचना मे सघनता, स्पष्टता और भावशबलता उत्पन्न होती है और रचनाकार का विषयबोध और उसकी ग्राहकता मूर्तिमान होकर हमारे समक्ष प्रस्तुत हो जाती है।

(१९) बिंबों में मौलिक बिंब, विकसित बिंब और व्युत्पन्न बिंब विशेष महत्व-पूर्ण होते है।

(२०) बिंब असीम को ससीम रूप प्रदान करने के प्रमुख साधन हैं।

(२१) इनकी रचना सावयव विकास की द्योतक होती है।

(२२) इसकी रचना स्वतःप्रेरित होती है।

(२३) इसकी रचना मे रचनाकार के सचेतन-अचेतन स्वरूपो का सहयोग होता है।

(२४) इसकी रचना मे कल्पना की अतिशयता या क्षीणता बाधक होती है।

(२५) डॉ० नगेन्द्र ने चेतना के स्वरूप के आधार पर बिंब-निर्माण की क्रिया को चित्रित किया है।

(२६) इसकी रचना मे रचनाकार के आत्मगत और वस्तुगत दोनों स्वरूप क्रियाशील पाये जाते हैं।

(२७) बिंब विचारचित्र से भिन्न होता है।

(२८) इसमे सादृश्य और तुलना को विशेष महत्व दिया गया है।

(२९) बिंब-निर्माण पुनर्निर्माण का परिचायक होता है।

(३०) बिंब-रचना मे अनुभूति और संवेग का विशेष महत्व होता है। पर इनके विभेद को समझना आवश्यक है।

निराला प्रतिभा संपन्न रचनाकार थे। इसका उन्हे स्वयं ज्ञान था और उनकी रचनाओ से उनके पाठको को भी उसका पूर्ण परिचय प्राप्त हुआ था। इस तथ्य का सकेत किया जा चुका है कि निरन्तर साधनारत रहने, या एक धार बनाकर चित्तवृत्तियों को रचना की ओर उन्मुख करने के कारण उनकी प्रतिभा का पूर्ण रचनात्मक विकास भी हुआ था। सतत प्रयोगशील रहने से अभ्यास की शक्ति भी उन्हें प्राप्त थी। तात्पर्य यह कि प्रतिभा, मानसिक क्षमता, व्युत्पत्ति और अभ्यास की दृष्टि से उनका समूचा व्यक्तित्व भरा-पूरा और निखरा था। आचार्य नंद दुलारे वाजपेयी ने 'प्रसाद' के विषय मे लिखा था, "बड़े जीवन-चक्रों को हाथ मे लेना,

पेचीदा भावधाराओ और सांस्कृतिक परिवर्तन के फलस्वरूप उठी हुई जटिल समस्याओं का निरूपण करना; व्यक्ति, देश और जाति के जीवन के वृहद्-छाया- आलोकों को उद्घाटित कर सकना, साराश यह कि जीवन के गहरे और बहुमुखी घात-प्रतिघातो और विस्तृत जीवन-दशाओ मे पद-पद पर आने वाले उद्वेलनो को चित्रित करना, उन्हे सम्हालना और अपनी कला मे उन सबको सजीव करना"[१०७] उनके काव्य रचना की प्रमुख विशेषता थी। उनकी यह उक्ति निराला पर भी सर्वतोभावेन चरितार्थ होती है। जीवन मे रहते सभी लोग हैं, वे उसके सुख-दुःख को भोगते और अपनी तरह से उसे दूसरो को सुनाते भी है। लेकिन केवल अनुभूति को ग्रहण करने से वे न तो रचनाकार बन जाते है और न कलाकार। ऐसा क्यों होता है? इसीलिए न कि उनमे सुख-दुखात्मक अनुभूति को भोगने की क्षमता तो है, पर उसे पुनर्रचित कर सकने की क्षमता नही है। अनुभूति की पुनर्रचना ही रचना को नवोन्मेष प्रदान करती है और रचनाकार को यथार्थ रूप मे रचनाकार के रूप मे प्रतिष्ठित करती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने महत्वपूर्ण तथ्य की ओर संकेत किया है। उनका कहना है, कल्पना और व्यक्तित्व की पाश्चात्य समीक्षा के क्षेत्र मे इतनी मुनादी हुई है कि काव्य के अन्य सब पक्षो से दृष्टि हट कर इन्ही पर जा जमी है। कल्पना काव्य का बोध पक्ष है। कल्पना मे आई हुई रूप-व्यापार-योजना का कवि या श्रोता को अन्तः-साक्षात्कार या बोध होता है। पर इस बोध पक्ष के अतिरिक्त काव्य का भाव-पक्ष भी है। कल्पना को रूपयोजना के लिए प्रेरित करने वाले और कल्पना मे आई हुई वस्तुओं मे श्रोता या पाठक को रमाने वाले रति, करुणा, क्रोध, उत्साह, आश्चर्य आदि भाव या मनोविकार होते है, इसी से भारतीय दृष्टि ने भाव को प्रधानता दी और रस के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की। पर पश्चिम मे कल्पना-कल्पना की पुकार मे समीक्षको का ध्यान भाव-पक्ष से हट गया और बोध पक्ष पर भिड़ गया।[१०८] स्पष्ट है कि शुक्ल जी की दृष्टि मे भाव को छोड़कर सम्पूर्ण रचना-विधान कल्पना के आश्रित होता है। वे विधान के लिए विधायक कल्पना को और विभावन के लिए ग्राहक कल्पना को अपेक्षित मानते है। उनकी धारणा है कि कवि अपनी भावुकता की तुष्टि के लिए ही कल्पना के रूप-विधान मे प्रवृत्त होता है। इससे भिन्न पर उच्चस्थिति की ओर भी उनकी दृष्टि गई है। उन्ही के शब्दों मे, जब भाव की उमंग ही कल्पना को प्रेरित करती है, तब कवि का मूल गुण भावुकता अर्थात् अनुभूति की तीव्रता है। कल्पना उसकी सहयोगिनी है, पर ऐसी सहयोगिनी है, जिसके बिना कवि अपनी अनुभूति को दूसरे तक पहुँचा ही नही सकता है। अनुभूति को दूसरे तक पहुँचाना ही कवि-कर्म है। अतः हम कह सकते हैं कि कवि के लिए कल्पना और भावुकता दोनो अनिवार्य हैं। भावक जब कल्पना संपन्न और भाषा पर अधिकार रखने वाला होता है, तभी कवि होता है।[१०९] शुक्ल जी ने भारतीय दृष्टि से वासना और कल्पना के सहकारी स्वरूप पर प्रकाश डाला है। इस सहकारिता से भावों के विषय प्रत्यक्ष

होते है और उनकी अभिव्यक्ति मे सरलता होती है। अतएव सच्चे काव्य में प्रत्यक्षीकरण के लिए उन दोनों का संयोग आवश्यक है।[११०] शुक्ल जी ने कल्पना के कर्म-क्षेत्र को इसका आधार खड़ा करने वाले विभावन-व्यापार से सम्बद्ध करके देखा है।[१११] इन्होने प्रत्यक्ष रूप-विधान, स्मृत रूप-विधान और कल्पित रूप-विधान के अन्तर्गत इसके विविध पक्षो पर पर्याप्त प्रकाश डाला है।[११२] इससे यह सिद्ध होता है कि शुक्ल जी ने स्वयं प्रतिभा के महत्व को स्वीकारा था और वे उसके रचनाधर्मी स्वरूप से भली प्रकार परिचित थे। यह भिन्न बात है कि वे भाव को महत्व देने के कारण कल्पना को रचना-विधान से सलग्न करना अधिक महत्वपूर्ण समझते है।

इस तथ्य का संकेत किया जा चुका है कि कल्पना 'रोमाण्टिक' साहित्य की मेरुदण्ड है। अंग्रेजी के ही नही हिन्दी के कवियों ने भी उस पर विचार किया है। हिन्दी मे प्रसाद कल्पना के महत्व से परिचित थे तो महादेवी अनुभूति के महत्व को स्वीकार करती थी। निराला ने कल्पना को उस रूप मे नही स्वीकार किया था जिस रूप मे प्रसाद ने स्वीकार किया था। इन्होने रचना क्षेत्र मे अनुभूति-पक्ष और कल्पना पक्ष मे समन्वय स्थापित किया था। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने उनके इस स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए लिखा है, निराला की कल्पनाये उनके भावो की सहचरी है। वे सुशीला स्त्रियो की भाँति पति के पीछे-पीछे चलती है। इसीलिए उनका काव्य, पुरुष काव्य है। उनके चित्रो मे रंगीनी उतनी नही जितना प्रकाश है। अथवा यो कहे कि रंगो के प्रदर्शन के लिए रग है।[११३] शुक्ल जी ने भी भाव की उमंग से क्रियाशील अन्तर्भुक्त कल्पना के स्वरूप पर प्रकाश डाला है। वस्तुतः अनुभूति पक्ष और अभिव्यक्ति पक्ष की बात कल्पना को समझने मे सहायक होती है। शुक्ल जी जब कल्पना को रचना के बोध पक्ष से संलग्न करके देखते है तो वे बहुत अनुचित कार्य नही करते। हमने भी अनुभूति की पुनर्रचना को नवोन्मेष का जनक माना है। अनुभूति पक्ष ही शुक्ल जी का भावपक्ष है। कल्पना का प्रमुख सहयोग अभिव्यक्ति मे होना है, क्योकि, वही सम्मूर्तन का कार्य संपादित करती है। लेकिन रचनाशील होने के कारण उसके मानस की बनावट-बुनावट भी कुछ सामान्य व्यक्ति से भिन्न होती है। उसके देखने, सुनने, अनुभव करने और प्रभावित होने का ढंग विशिष्ट होता है। अनुभूति के अध्याय मे हमने इस पर प्रकाश डाला है। इससे भी महत्वपूर्ण तथ्य होता है अनुभूति मे निहित अभिव्यक्ति का निर्देश। इस तरह कल्पना पर विचार करते समय कई तथ्य हमारे समक्ष उपस्थित होते है.—

(१) कवि की अनुभूति, रचना का जीवन-सर्वस्व होती है। उसी से उसके भाव-पक्ष का निर्माण होता है, पर वह भाव-पक्ष सदैव कल्पना विरहित नही होता है।

(२) अनुभूति की उमंग या तीव्रता की स्थिति मे कल्पना अनुभूति की सहयोगिनी होती है पर यह अनुभूति के निर्देशो के अनुसार कार्य

करती है। इस तरह की रचनायें स्वत: स्फूर्त रूप मे प्रकट और विकसित होती है।

(३) अनुभूति के अशक्त होने पर कल्पना का रचनात्मक उत्तरदायित्व विशेष रूप से बढ जाता है। उसे रचना के आल-बाल को एकत्रित करना और रचना को अग्रसर करना पडता है।

हमने रचना के स्तरो का उल्लेख भी किया है। तत्परता और पुनपोषण की स्थिति मे भी कल्पना के महत्व को स्वीकार करना अपेक्षित ही नही आवश्यक है। पर दीप्तिमय बोध की स्थिति मे जो कुछ भी रचनाकार द्वारा गृहीत होता है वह पूर्ण प्रौढ़ और सहज ही अभिव्यक्ति सक्षम होता है। उसके वेग को समाप्त होने पर ही कल्पना की सक्रियता प्रकट रूप मे सामने आती है। सशोधन और परिवर्द्धन की स्थिति मे कल्पना पुन: सहयोगिनि भूमिका अदा करती है। इस प्रकार कल्पना के कई रूप हमारे समक्ष उपस्थित होते है, (१) रचनात्मक शक्ति के रूप मे कल्पना (२) मध्यस्थ शक्ति के रूप मे कल्पना, और (३) परिष्करण शक्ति के रूप मे कल्पना। कार्य संपादन की दृष्टि से इसकी पाँच क्रियायें विशेष रूप से उल्लेखनीय मानी जाती है। इन्हे दो भागो मे मे विभक्त किया जा सकता है; (१) संघटन तथा सश्लेषण, और (३) स्थानान्तरण (Displacement)। वाजपेयी जी ने स्वच्छन्द धारा के कवि के तीव्र-भावावेश-प्रधान-रचनात्मक मनोभूमि को ध्यान मे रखकर निराला के 'गीतिका' पर अपना मत व्यक्त किया है। निराला ने स्वयं भी कल्पना पर प्रकाश डाला है। उन्ही के शब्दो मे 'कविता प्रिय-मनुष्य, कल्पना प्रिय हो जाता है। उससे काम नही होता। ललित-कल्पना मनुष्य को कर्म के कठोर-क्षेत्र पर उतरते भय दिखाती है। कविता की सुकुमार भावना लोगो को सौन्दर्योपासक बना देती है। इसमे जाति के कर्म जीवन के शिथिल होने की संभावना है[११४]। इससे दो बाते स्पष्ट होती है, (१) रचनाशील कवि कल्पनाप्रिय होता है और (२) अति कल्पना प्रिय व्यक्ति सुकुमार भावनाओ मे तो रुचि लेता है, पर वह जाति के कर्म जीवन से पराङ्मुख हो जाता है। इसके आधार पर यह कहना अनुचित न होगा कि निराला ने कपोल कल्पना के महत्व को अस्वीकार किया है। उनकी कविताओ मे कल्पना शब्द का प्रयोग एकाधिक स्थानो पर किया गया है.—

(१) अमर कल्पना मे स्वच्छन्द विहार (परिमल, पृ० ११८

(२) मन्द पवन के झोके से लहराये काले बाल
कवियो के मृदुल-कल्पना के से जाल। (वही, पृ० ११७)

(३) यह संसार भारु दृग संकुल
ललित कल्पना गति अभिराम (अनामिका, पृ० ५१)

(४) बता तो सही, किन्तु वह कौन घेरने वाली
बाहु-बल्लियो से मुझको है कल्पनालता। (वही, पृ० २६)

(५) कल्पना के कानन की रानी
आओ आओ मृदु पद मेरे
मानस की कुसुमित वाणी । (गीतिका, पृ० २६)

इन पंक्तियो से निराला की कल्पना संबंधी अवधारणाओ का किंचित् अभिज्ञान होता है । निराला की कविता भी कल्पना के कानन की रानी है जो मंथर गति से पाँव रखते हुए उनके पास पहुँचकर उन्हे आह्लादित करती है । वह अपने कोमल क्रिया-कलाप से उन्हें घेरती है । उसके मृदुल जाल उनके चतुर्दिक बिखरे दिखाई देते हैं और वे उसमे स्वच्छन्द विचरण करनेवाली अनुभूतियो से भी वे परिचित होते हैं, किन्तु वे ललित कल्पना की अभिराम-गति को उसी रूप मे महत्व नही प्रदान कर पाते जिस रूप मे वह उनके समक्ष उपस्थित होती है । इसका प्रमुख कारण यह है कि अति कल्पना, फान्तसी कपोल-कल्पित और यथार्थ-विहीन अठखेलियो से उनका परिचय करा सकती है, पर वह जीवन के कठोर धर्म के योग्य उन्हे नही बना सकती है । इसीलिए अन्य छायावादी कवियो की तुलना मे निराला की कविताओ मे इसके कार्य-व्यापार कम दिखाई पड़ते है ।

कल्पना और स्मृति के अन्तःसम्बन्ध की ओर प्राय. अधिकाश लोगो की दृष्टि गई है । हर स्वच्छन्दतावादी साहित्य मे अतीत के प्रति विशेष मोह पाया जाता है । कवि अपने अतीत के प्रति भी विशेष अनुरक्त होता है । अतएव उसकी रचनाओ मे स्मृति के अनेक रूप देखने को मिलते है । कवि पन्त की इस स्थापना से मै सहमत हूँ कि छायावाद मुख्यत प्रेरणा का काव्य रहा और इसीलिए वह कल्पना-प्रधान भी रहा । कल्पना का पलायन से भिन्न उच्च अर्थ मे प्रयोग छायावादी काव्य मे ही हो सका है ।[११५] निराला-काव्य इसका अपवाद नही है । प्रेरणा के रूप मे स्मृति का उल्लेख उनकी स्मृति' कविता मे मिलता है । आरम्भ की कुछ पक्तियाँ द्रष्टव्य है;

जटिल जीवन नद मे तिर-तिर
डूब जाती हो तुम चुप चाप
सतत द्रुत गति मयि अयि फिर-फिर
उमड़ करती हो प्रेमालाप ।
सुप्त मेरे अतीत के गान
सुना, प्रिय हर लेती हो ध्यान ?[११६]

स्मृति की सबसे बडी विशेषता यह है कि कभी भूत मे भोगी हुई सुख-दुःख-मय प्रतीतियाँ उसके माध्यम से वर्तमान मे सरलता से मानस-प्रत्यक्ष और प्रेरणा का विषय बन जाती है । छायावादी कवि मे व्यक्तित्व की प्रधानता होती है, उसकी रचना मे उसका निजी संसार विशेष रूप से सक्रिय होकर उपस्थित होता है, अतएव स्मृति इन पूर्व-भुक्त जीवन-छवियो को सश्लेषित करके निश्चित संरचना मे ढलने

योग्य बनाती है। वर्ड्सवर्थ ने 'इमोशन रिकलेक्टेड इन ट्रान्क्विलिटी' की बात की थी। शान्ति के क्षणों में गृहीत इन भाव संवेगों के स्फुरण मे स्मृत-प्राण कल्पना का विशेष सहयोग होता है। निराला की उपर्युक्त पंक्तियों मे स्मृति मानवीकृत रूप मे उपस्थित की गई है। स्मृति का स्फुरित होना, स्फुरित होकर तिरोहित हो जाना, पुनः स्फुरित होकर मूर्त रूप ग्रहण करना तथा कवि के प्रेरणस्रोत के रूप मे क्रियाशील होकर उसके अतीत के तारों को झंकृत करके उसको विस्मय-विमुग्ध बना देना आदि ऐसे कार्य है जिनका निराला ने कलात्मक ढंग से उल्लेख किया है। स्मृति के द्वारा कवि का भूत उसके वर्तमान मे मूर्तिमान हो उठता है। कभी वह अतीत का गुणगान करता है तो कभी वर्तमान मे अतीत की प्रेरणा को खो जाने पर पश्चात्ताप भी करता है। निराला ने भी लिखा है—

'आज निद्रित अतीत मे बन्द
ताल वह, गति वह, लय वह छन्द।'[११७]

\+ + +

तिमिर ही तिमिर रहा कर पार
लक्ष-वक्ष स्थार्गलित द्वार।[११८]

निराला ने स्मृति को कई विशेषणों से अभिहित किया है। उदाहरण के लिए 'उष्मा सी द्विदल', 'फिरती मगल', 'जगत-उर की गत अभिलाषा', 'शिथिल तंत्री की सोई तान', 'चलते दिन की मुँदती छवि', 'बंधे जीवन की बन माया', 'दुख-सुख के स्वर की काया,' आदि को लिया जा सकता है। स्मृति छायावादियों के लिए अदृश्य सुख पर पश्चात्ताप का साधन है। फिर भी वे उसकी रचनात्मक क्षमता से पूर्ण-रूपेण परिचित है। हृदय मे इसके कौधते ही पूर्वानुभूति मे संचित मंगल प्रभात मूर्तिमान हो उठता है, उसकी सुप्त अभिलाषाये करवट बदलने लगती है और 'विस्मृति की मृत भाषा', पुनः सजीव हो उठती है। कवि वर्तमान के सन्दर्भ मे भूत को विश्लेषित करते हुए कह पड़ता है —

'छिपी जो छवि छिप जाने दो,
खोलते हुए तुम्हे क्यो चाव ?
दुखद वह झलक न आने दो,
हमे खेने भी तो दो नाव।
हुए क्रमशः दुर्बल ये हाथ
दूसरे और न कोई साथ[११९]

लेकिन उस पर कवि का कोई वश तो है नहीं। वह निरन्तर क्रियाशील बनी रहती है। परवश कवि को उसकी प्रेरणा की रचनात्मक धार को झेलना पडता है।

वह स्वतः उस अनुभूति से गुजरता है। निराला के ही शब्दों मे स्मृति-प्रेरणा के इस रचनात्मक स्वरूप को देखा जा सकता है।

रश्मि से दिनकर की सुन्दर
अन्ध-वारिद-उर मे तुम आप
तूलिका से अपनी रच कर
खोल देती हो हर्षित चाप,
उगा नव आशा का का संसार
चकित छिप जाती हो उस पार !
पवन मे छिप तुम प्रतिपल
पल्लवो मे भर मृदुल हिलोर,
चूम कलियो के मुद्रित दल
पत्र-छिद्रो मे गा निशि-भोर
विश्व के अन्तस्तल में चाह
जगा देती हो तडित प्रवाह।[१२०]

निराला ने 'यमुना के प्रति' कविता मे, 'अधिक प्रिया-सी जगा रही है उस अतीत के नीरवगान'[१२१], 'बादल राग' (३) मे 'स्मृति के गृह मे रखकर अपनी सुधि के सज्जित तार'[१२२], 'यहो' कविता म, 'यमुना की कलध्वनि, आज भी सुनाती है विगत गुहा गाथा'[१२३], जैसे स्थलो पर भी स्मृति, रचना मे किस तरह सहायक होती है, इस पर प्रकाश डाला है। उनके उपयुक्त अंशो मे स्मृति के स्वरूप, उसकी प्रेरक क्षमता और कल्पना तथा स्मृति के अन्तःसम्बन्ध पर समुचित प्रकाश पडता है। निराला इस तथ्य से अवगत है कि स्मृति की कौध से निष्क्रिय मानस मे एक सक्रियता, गतिशीलता और सोद्देश्यता का आविर्भाव होता है। उसमे प्रकृति के प्रति एक स्पंदनशील नूतन अभिलाषा का सूत्रपात होता है। वे ऐसा अनुभव करते है कि उनकी 'सुधि से सज्जित तार' उसी के घर मे रखे हुए है। स्मृति का स्वरूप भी दुहरा होता है। एक ओर तो इनमे अनुभूतियो के संश्लेषित, परिष्कृत और प्रौढ स्वरूप निहित होते हैं, अतएव यह अतीतोन्मुखी होती है—दूसरी ओर यह वर्तमान सन्दर्भो से भी जुडी होती है, अतएव इसे वर्तमानोन्मुखी भी माना जाता है। स्मृति की कौध की स्थिति मे रचनाकार अतिरिक्त भावमय संवेदनशीलता मे उसके चतुर्दिक अनुभूति के प्रभामण्डल का निर्माण करता जाता है। इस प्रभामण्डल के निर्माण मे कल्पना का विशेष सहयोग होता है। स्मृति को रचनात्मक कल्पना से श्लेषित होने पर ही वह रचना मे ढलने योग्य बन पाती है। हमने प्रायः जिन तथ्यों का अनुभव किया है, वे हमारे स्मृति मे सुरक्षित रहते है। कल्पना संवरणशील क्रिया होती है। वह पूर्वानुभूति को यथातथ्य रूप में चित्रित करने के स्थान पर उसके आवश्यक तथ्यों को श्लेषित रूप मे प्रस्तुत करती है। हम

इस तथ्य का संकेत कर चुके है कि हर अनुभूति को पुनर्पोषण का विषय बनना पडता है। इसी पुनर्पोषण की क्रिया से विचारो मे प्रौढता और स्पष्टता आती है। इस तरह स्मृतिजन्य-अनुभूति को भी रचना मे ढलते समय दो स्तरों से गुजरना पडता है, (१) पुनर्पोषण का स्तर और (२) रचना का स्तर। उपर्युक्त अंशो पर विचार करने से इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि स्मृति मे कल्पना की कुछ विशेषतायें विद्यमान रहती हैं। इसमें घुलाने, रवे के रूप में परिणत करने और मूर्तिमान बनाने की शक्ति होती है। निराला ने स्मृति को जिन विशेषणों से अभिहित किया है उनसे स्पष्ट है कि यह अनुभूति-बिंबो को संग्रहित करती है, समय पर क्रियाशील बनाती है और उन्हे संयुक्त करके अभिनव रूप मे प्रस्तुत करती है। अब इस तथ्य को स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि हर दृश्य, श्रुत और अनुभूत वस्तु जो प्रभावोत्पादक होती है स्मृति का विषय बन जाती है। लेकिन इस प्रभावोत्पादकता मे गुणात्मक और परिमाणात्मक भेद होता है। वह व्यक्ति की मानसिक रुझान और अभिरुचि द्वारा नियंत्रित और निर्देशित होती रहती है। जिस अनुभव से रचनाकार अधिक आन्दोलित हुआ है वह एक विशिष्ट रूप मे संग्रहीत है और जब वह स्मृति के रूप मे कौंधता है तो उसकी विशिष्ट संघटना भी उसके माध्यम से रूपायित होती है। अनुभूति के अध्याय मे इसी को अन्तर्निहित निर्देश की संज्ञा दी गई है। रचनाकार का इस निर्देश को ग्रहण करना आवश्यक होता है। कुछ अनुभूतियाँ स्वयंचालित रूप मे अभिव्यक्त होती हैं। भावावेग-गलित-संपक्त-अनुभूतियो की कौंध की स्थिति मे अनेक प्रच्छन्न अनुभूतियाँ अनायास ही उसके प्रभामण्डल द्वारा गृहीत होकर उसका अंग बनती रहती है। कभी-कभी चित्त की शान्तावस्था मे भी वैचारिक कौंध होती है और स्मृति के क्रियाशील होते ही उसके अनुषंग उसके साथ जुडने लगते है और कल्पना की क्रियाशीलता से उसका सँवरा और निखरा रूप हमारे समक्ष प्रस्तुत हो जाता है। जिस रचनाकार मे यथार्थ को ग्रहण करने की अन्तर्दृष्टि नही होती, जिसकी संवेदना अशक्त होती है, या जिसमे तत्वाभिनिवेषी दृष्टि का अभाव होता है, वह इस स्मृति का उपयोग नही कर सकता। कविता की रचना को प्रायः तकनीकी उपलब्धि का परिणाम माना जाता है। पर निराला को केवल इतना ही ग्राह्य नही है। वे तो उसकी चरम परिणति की बात करते हैं। वह चरम परिणति क्या है? क्या उसे केवल अनुभूति के प्रति तकनीकी प्रतिचेष्टा की संज्ञा दी जा सकती है? नही यथार्थ इससे सर्वथा भिन्न है। रचना यथार्थ में कवि के आनुभाविक-सचेतन-अभियान का कीर्तिमान होती है जिसमे उसकी अनुभूति, स्मृति और कल्पना उपयुक्त रचनात्मक भूमिका का निर्वाह करती है। निराला ने रचना को इसी अर्थ मे ग्रहण भी किया है। वे केवल स्मृतिप्रधान और सर्जनात्मक क्षमता के भेद से भलीभाँति परिचित है। 'स्मृति' कविता के आरंभ मे उन्होंने उसके

पुनरुत्पादक और प्रतिरूप विषयक स्वरूप को उद्घाटित किया है, पर अन्त मे उनकी दृष्टि स्मृति के उस स्वरूप की ओर भी गई है जो कल्पना द्वारा नियोजित होने पर अभिनव-सवेदना की जनक बन जाती है। निराला ने भी स्मृति का प्रयोग जहाँ भी किया है, वहाँ वह इसी दूसरे अर्थ की परिचायक है। उदाहरण के लिए 'राम की शक्ति पूजा' का 'याद आया उपवन विदेह का' या 'तुलसीदास' का 'भारत का सम्यक देशकाल खिचता जैसे तमशेषजाल' जैसे स्थलो को लिया जा सकता है। यहाँ स्मृति उनकी अन्त दीप्ति के रंग से रंगकर सर्वथा अभिनव स्वरूप ग्रहण कर चुकी है। इधर मनोविज्ञान के क्षेत्र मे स्मृति का महत्व बढने के कारण उसकी ओर लोगो की दृष्टि गई है। इससे विधायक-कल्पना का महत्व कुछ कम हुआ है। मानस को समझने और समझाने के कुछ ऐसे सूत्र भी सामने आए हैं, (उदाहरण के लिए इसी अध्याय के रचनात्मक शक्ति की वैज्ञानिक व्याख्या को लिया जा सकता है) जिनसे कल्पना के प्राचीन स्वरूप पर प्रश्नचिह्न लगा है। लेकिन जबतक उसका निराकरण नही हो जाता तबतक निश्चित रूप मे कुछ कहा पाना कठिन है।

स्मृति का उल्लेख करने के पूर्व ही हमने कल्पना और नवोन्मेष का उल्लेख किया था। प्रमुख प्रश्न यह है कि कल्पना किस तरह नवोन्मेष का कार्य संपादित करती है? यह प्रश्न कम जटिल नही है। प्रायः सभी लोग स्वीकार करते हैं कि रचना का सम्बन्ध अनुभूति से होता है। कल्पना अनुभूति के रूपायन का कार्य संपादित करती है। निराला अनुभूति की कलात्मक अभिव्यक्ति को इस क्रिया से परिचित हैं। उदाहरण के लिए उनकी 'वर्ण-चमत्कार' कविता को मै उद्धृत करना चाहूँगा—

वर्ण-चमत्कार ;
एक एक शब्द बँधा ध्वनिमय साकार।
पद-पद बह चली भावधारा,
निर्मल कल-कल मे बँध गया विश्वसारा,
खुली मुक्ति बंधन मे बँधी फिर अपार—
वर्ण-चमत्कार।
शत-शत-रंग खिला, मिला प्राण,
गूंजे गगनांगन मे वे अगण्य गान,
दिखी रूप की छवि झंकृत कर स्वर-तार।
वर्ण-चमत्कार।[१२४]

निराला ने इस कविता मे शब्दों को साकार रूप में अभिव्यक्ति की संरचना से संग्रथित माना है। भाव के प्रवाह का निर्देश स्पष्ट है। उस प्रवाह से कवि ही तन्मय नही है, अपितु उसे उसी मे जगत का सारा कार्य-व्यापार तिरोहित होता

दिखाई देना है। स्वच्छन्दभाव रचना के बन्धन को स्वीकार कर चुके है। वे अब बहुरंगी स्मृतियो को जागृत करने मे पूर्ण समर्थ है। वर्ण-चमत्कार के द्वारा ही कवि की अनुभूति को चार चाँद लगा है। उनके समन्वित प्रभाव से कवि का ही नही श्रोता के हृदय का तार भी झंकृत हो उठा है। स्पष्ट है कि इस पद में रचना के द्वारा नवोन्मेष का स्पष्ट उल्लेख है। कवि उससे पूर्ण परिचित है। ऐसा क्यो और कैसे होता है? इसको समझने के लिए हम निराला की एक छोटी-सी कविता को उद्धृत करते है—

'जब तूँ रचना मे हँस दी,
तूल-तूल के फूल खिले,
पल्लव डोले-चिड़िया चहकी।'[१२५]

यहाँ तो प्रेरणा का उल्लेख स्पष्ट है। लेकिन अनुभूति को कलात्मक अभिव्यक्ति प्रदान करने मे भी कल्पना का सहयोग होता है। कवि की एक कविता है—

'स्नेह निर्झर बह गया है।
रेत ज्यो तन रह गया है।
आम की यह डाल जो सूखी दिखी,
कह रही है, 'अब यहाँ पिक या शिखी
नही आते, पंक्ति मै हूं वह लिखी
नही जिसका अर्थ—
जीवन दह गया है।'
दिये है मैने जगत को फूल-फल
किया है अपनी प्रभा से चकित-चल;
पर अनश्वर था सकल पल्लवित पल-
ठाट जीवन का वही
जो ढह गया है।
अब नही आती पुलिन पर प्रियतमा,
श्याम तृण पर बैठने को निरुपमा।
बह रही है हृदय पर केवल अमा।
मै अलक्षित हूँ यही
कवि कह गया।'[१२६]

अनुभूति का स्वरूप स्पष्ट है। कवि के जीवन से स्नेह समाप्त हो गया है। स्नेह की उपस्थिति मे जो भी भोग्य-सुखद-स्वरूप उसे सहज ही उपलब्ध थे, वे एक-एक करके उसका साथ छोड़ गए हैं। उसकी यह अनुभूति कल्पना में बँधती है। जीवन को उसने देखा है। कल्पना उनसे सामग्री एकत्रित करती है, बिंबों का चयन

करती है और अनुभूति को एक संघटना में पिरो कर अभिव्यति सक्षम बना देती है। रचना मे अलंकरण की जो प्रवृत्ति है, वह कल्पना के कारण पैदा हुई है। उसका समूचा विभाव-पक्ष कल्पना द्वारा संजोया गया है। पूरी कविता में दो-तीन बिबों का बड़ा सफल प्रयोग हुआ है। इनमें सूखी डाली और पंक्ति के बिंबविशेष रूप से सार्थक है। इन बिंबों का अपना अनुषंग और सन्दर्भ है। जिसमें ये अर्थ को समेट कर पहले केन्द्रित करते है फिर उसको प्रेषित करते हैं। अर्थ-संकोच और अर्थ-विस्तार की यह क्रिया साहित्य के लिये विशेष महत्वपूर्ण है। कविता एक 'स्टेटमेण्ट' के साथ शुरू हुई है और उसी के विकास मे कवि अनुभूति और कल्पना का प्रयोग करता है। शुक्ल जी जिसे भावपक्ष कहते है, वह अनुभूति का ही पर्याय है। कविता का वक्तव्य है, 'स्नेह निर्झर बह गया है।' यह वक्तव्य कवि अपने लिए देता है, लेकिन रचना के माध्यम से व्यक्त हो जाने के बाद वह संप्रेष्य होने के कारण अन्य लोगों को धरोहर बन जाता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि रचनाकार को अपनी निजता, भोग, अनुभूति और जीवन-बोध अभिव्यक्ति में अव्यक्त स्थिति से व्यक्त स्थिति या व्यक्ताव्यक्त स्थिति की ओर उन्मुख होता है। पूर्ण व्यक्त स्थिति तो वह है, जिसमे उसका वक्तव्य स्पष्ट होकर हमारे सामने उपस्थित हो जाता है, लेकिन व्यक्ताव्यक्त स्थिति वह है, जिसमे कवि की रचना का कुछ अंश स्पष्ट और कुछ अस्पष्ट होता है। जो वक्तव्य का अंश है, वह तो स्पष्ट रहता है, लेकिन रचना के माध्यम से जहाँ वह वक्तव्य को अतिक्रमित करता है, उसके परे जाकर कुछ कहने का प्रयत्न करता है, वहाँ वह पूरा स्पष्ट नही होता है। वह तो समूची कविता की संरचनात्मक संघटना से वैसे ही छन-छनकर बिखरता रहता है, जैसे किसी स्वस्थ और सर्वांग सुन्दरी रमणी के शरीर से उसका सौदर्य्य। शब्द-बंध, पदविन्यास, अभिप्राय, सन्दर्भ, उद्देश्य आदि के विश्लेषण से हम उस तक केवल आंशिक रूप मे पहुँच सकते हैं। उसका साक्षात्कार करने के लिए तो हमे व्यंजना का सहारा लेना पड़ता है। उदाहरण के लिए 'आम की यह डाल जो सूखी दिखी' अथवा 'पंक्ति मैं हूँ वह लिखा नही जिसका अर्थ' को लिया जा सकता है। पहले हमारी दृष्टि आम की सूखी डाल और पंक्ति की ओर जाती है। फिर हम उन अनुषंगों और सन्दर्भों पर विचार करते हैं, जो इनके साथ या तो संबद्ध हैं या जिनके सन्दर्भ मे इनका प्रयोग किया गया है। उन अनुषंगो और सन्दर्भों में ये शब्द अपने अभिधेयार्थ से ऊपर उठकर लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ से जुड़ जाते हैं। 'सरफेस मीनिंग' क्रमशः तिरोहित होकर हमे 'डेप्थ मीनिंग' की ओर प्रेरित कर देती है। संदर्भ-संयुक्त-पद भी अपने एकार्थ को छोडकर अनेकार्थ का परिचय देने लगते हैं। इस तरह कविता की समूची संरचना से हमें एक निश्चित व्यंजना प्राप्त होती है। इसके पूर्व कुछ दशक पूर्व अन्वय करके अर्थ करने की प्रथा थी। उससे काव्यात्मक संघटना तो गद्यात्मक संघटना मे बदल जाती थी, लेकिन उसके द्वारा

केवल लगभग अर्थ तक पहुँचने में कुछ सहायता मिल जाती थी। इससे कई बातें स्पष्ट होती हैं पहली बात यह है कि गद्य और पद्य की भाषिक-संरचना भिन्न होती है और दूसरी बात यह है कि अन्वय या 'पैराफ्रेज़' के द्वारा केवल सतही अर्थ तक पहुँचा जा सकता है। फिर कविता की भाषिक-संरचना के द्वारा उसके अर्थ तक पहुँचने का कौन सा साधन है? इस प्रश्न के उत्तर के लिए हमें अनुषंग, सन्दर्भ बिंब, प्रतीक, उद्देश्य और प्रयुक्त शब्दों की प्रकृति और स्वरूप का अध्ययन आवश्यक हो जाता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन सबका सम्बन्ध कवि-कल्पना से होता है। प्रतीक के साथ ही कुछ अन्य विशेषताओं पर दृष्टिपात किया जा चुका है। कविता में सादृश्य-असादृश्य का उपयोग ही अभिनव संश्लेषण का कारण बनता है। निराला की इस कविता में इसका प्रयोग मिलता है। 'सूखी डाल' नीरस और सूखे जीवन की परिचायक है और 'पंक्ति' उस रहस्यमय व्यंजना की जो अव्यक्त होते हुए भी किसी व्यक्त स्वरूप से अधिक मर्मस्पर्शी और अर्थगर्भी है। अभिव्यक्ति के लिए जिन शब्दों का प्रयोग हुआ है उनका अपना अर्थ-सन्दर्भ है। उदाहरण के लिए निर्झर रेत, सूखी, पिक, शिखी, पंक्ति, दह गया, फूल-फल, चकित-चल, पल्लवित-पल, जीवन का ठाट, ढह गया, पुलिन, प्रियतमा, निरुपमा, अमा, अलक्षित आदि को लिया जा सकता है। शब्द स्वयं में महत्वपूर्ण नहीं होते। उनकी व्यंजना सन्दर्भों में ही प्रस्फुटित होती है। इन सन्दर्भों का संबन्ध अनुभूति की विशेषता से होता है, और वे उसकी अभिव्यक्ति के वाहक भी होते हैं. लेकिन इनके आल-बाल को संवारने और सजाने में कल्पना का निश्चित रूप से महत्वपूर्ण योगदान होता है। उचित सन्दर्भों में जड़े हुए शब्द किसी स्वर्णकार के द्वारा सोने के आभूषण में जड़े हुए मोती जैसे स्वतः दीप्तिमान बन जाते हैं। पुलिन, प्रियतमा, निरुपमा, पिक, शिखी, निर्झर, अन्य कविताओं में अनुभूति के सन्दर्भों के अनुसार सुखात्मक-दुखात्मक रूप ग्रहण करते रहते हैं। अतएव कल्पना की क्रियाशीलता के साथ ही रचनाकार को मानसिक रुझान भी महत्वपूर्ण सिद्ध होती है। अब हम साहचर्य या अनुषंग के प्रश्न को लेते हैं। स्नेह रूपी सोते के बह जाने के बाद रेत रूपी तन शेष रह गया है। यहाँ निर्झर को रेखांकित करने से सारी समस्या सुलझ जाती है। वैसे अनुषंगों का संबंध अनुभूति की गतिशील अभिव्यक्ति की ओर उन्मुख विशेषताओं से है, लेकिन इनका निर्धारण शब्द के सन्दर्भ के अनुसार होता है। निर्झर की प्रमुख विशेषता प्रवाहित होना है। लेकिन यहां वह प्रवाहित हो चुका है। उसकी तलहटी में रेत की राशि रहती है। जल से नम होने पर वह रेत आपस में मिली रहती है। जल के बह जाने पर जब वह सूख जाती है तो उसके कण अलग-अलग हो जाते हैं। वैसे ही जीवन से स्नेह के स्रोत को सूख जाने के बाद यह शरीर विच्छिन्न कोषाणु-पिण्ड रह जाता है। इसी तरह कविता में आम की डाल और पंक्ति को अनुषंग रूप में विवेचित किया जा सकता

है। प्राय: सिद्धान्त रूप में यह कहा जाता है कि कल्पना विरोधों के समाहार का प्रमुख साधन होती है। इस कविता में भी विरोध है। स्नेह-निर्झर के सूखने का कोई कारण नही है। निर्झर शाश्वत प्रवाह का परिचायक है, लेकिन उसका सूखना क्षणभंगुरता का द्योतक बन गया है। निर्झर की तरह ही समष्टि प्रेम इस जगत के उद्भव और विकास का कारण है, लेकिन निराला की व्यष्टि चेतना में उसके अवशेष नहीं रह गए हैं। निराला ने उसे सुखाने का प्रयत्न नही किया है, लेकिन वह सूख कर किसी हरे वृक्ष मे सूखी एकाकी डाली जैसा बन गया हे। इस तरह कविता की संरचना से एक विरोध उभड़ता है; शाश्वत हरेपन से सूखेपन का विरोध, अथवा अजस्र प्रेम-प्रवाह से प्रेम के अनस्तित्व में परिणत हो जाने का विरोध। निराला ने अन्य स्थानों पर पराजयबोध को जीवन के उल्लास में परिणत करने का प्रयत्न किया है। लेकिन यहाँ शाश्वतता ही क्षणभंगुरता के समक्ष नतमस्तक है। इस अवसादमय क्षणभंगुरता का चटकीलापन उनके आत्मोपलब्धि की स्वीकृति से और बढ जाता है। परिणाम यह होता है कि क्षणभंगुरता ही प्रमुख हो उठती है। कविता में प्रतीको और बिबो का प्रयोग भी किया गया है। इस प्रकार भाव-पक्ष को छोड़ कर सन्दर्भ सादृश्य, विरोधो के समाहार, प्रतीक और बिंब सभी दृष्टियो से पूरी कविता की रचना के लिए कवि विधायक-कल्पना का ऋणी है।

हमने विधायक कल्पना के विवेचन के समय इनके दो स्वरूपों का उल्लेख किया है; (१) भावतीव्रता की स्थिति मे उसके सहयोगी स्वरूप और (२) भाव की सामान्य स्थिति मे उसके रचनात्मक स्वरूप। वैसे तो रचना की आरंभिक स्थिति भाव-तीव्रता की स्थिति होती है, इसीलिए कुछ रचनायें स्वयंचालित रूप मे रची भी जाती हैं। एक ही कविता मे अनुभूति की सशक्तता और अशक्तता को व्यक्त करने के अनेक स्थल होते हैं। इसका स्पष्ट निरूपण चतुर्थ अध्याय मे किया जा चुका है। वहाँ पर दीप्तमानस, स्वयं प्रकाशपूर्ण मानस और अधिमानस अनुभूति के स्वरूपो का उल्लेख भी किया गया है। इस सन्दर्भ में यही कहना अधिक उचित ज्ञात होता है कि अनुभूति की उदात्त-अनुदात्त स्थिति के अनुरूप कल्पना का स्वरूप भी उदात्त-अनुदात्त बनता रहता है। रचना-प्रक्रिया के स्तरों के अध्ययन से स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि तत्परता तथा भाव के पुनर्पोषण और परिवर्द्धन के स्तर पर कल्पना का कार्य व्यापार प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप मे क्रियाशील रहता है, पर अन्त:दीप्ति के स्तर पर वह प्राय: उसी में अन्तर्भुक्त होकर सृजन में सहायक सिद्ध होता है। आज के वैज्ञानिक युग मे इस तथ्य को स्वीकार करना थोड़ा कठिन है, लेकिन यथार्थ में उच्च मनो-भूमि में, अन्त:दीप्ति, स्वयंप्रकाशपूर्ण मानस और अधिमानस की रचना की स्थिति मे रचनाकार केवल एक माध्यम और द्रष्टा होता है। उसमे जो कुछ भी घटित होता है, वह उसका आलेखक मात्र होता है। 'ब्रेन माइण्ड' अन्त:संबध मे इसी स्थिति को हमने अवसीमोत्तर मानस और अवसीमा के कार्य-व्यापार से संबद्ध करके देखा है।

रचना के समय जो अन्तःदीप्ति होती है, विभिन्न विचार-सन्दर्भन-क्षेत्र आकर्षण से मिलकर जिस रूप में अवसीमा मानस में तिरते हैं, या समान मनःस्थितियों के उपस्थित होने पर जिस प्रकार प्रमस्तिष्क के कोषाणुओं में विस्फोट होने से चितवृत्ति और सहजवृत्ति का निर्माण होता है, उसे देखने से ऐसा ज्ञात होता है कि इस स्तर पर उपलब्ध होने वाली सामग्री कार्य-कारण से संबद्ध होते हुए स्वयंचालित रूप में रचना में ढलने में समर्थ होती है। हर महान् कलाकार को इसका अनुभव होता है। लेकिन कुछ बिरले ही इसको समझ सकने में सफल हो सके हैं। इसी के परिणाम स्वरूप बहुत समय तक दैवी प्रेरणा का सिद्धान्त प्रचलित रहा है। निराला ने भी रचना के सन्दर्भ में उसका एकाधिक बार उल्लेख किया है। दैवी-प्रेरणा व्यक्ति को मिलती है या नहीं, इस पर तो प्रामाणिक रूप से वे ही लिख सकते है जिन्हें उसे प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। पर रचना की स्थिति में रचनाकार अपनी रचनात्मक मानसिकता के अनुसार कभी-कभी स्वयं विधाता की पृष्ठभूमि में अवश्य पहुँच जाता है। इसीलिए कवि को मनीषी, परिभू और स्वयंभू कहा गया था। आज रचना के सन्दर्भ में इस साकेतिक अर्थ की सार्थकता को सिद्ध करने के प्रभूत उदाहरण उपस्थित हैं। अतएव इससे विमुख होने की आवश्यकता नहीं है। इस उदात्त मानसिकता में कल्पना इच्छाशक्ति का पर्याय बन जाती है।

हमने विगत पृष्ठों में रचनात्मक-कल्पना, मध्यस्थ कल्पना और परिष्कारक कल्पना का नामोल्लेख किया है। इसी उपर्युक्त विवेचन के सन्दर्भ में इनका स्पष्टीकरण कर लेना आवश्यक है। सृष्टि की सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धि मनुष्य है और मनुष्य की सर्वोत्तम रचनात्मक शक्ति कल्पना। इसी के माध्यम से यथार्थ जगत् अनुभूति का विषय बनता है और अनुभूति रचना में कलात्मक ढंग से ढलती है। कल्पना संश्लेषण प्रधान रचनात्मक शक्ति है। इसका संकेत पहले किया जा चुका है। इसकी क्रियाशीलता के समय रचनाकार रचनात्मक मनोभूमि में होता है। वह विविध तत्वों को एक समन्वित रूप प्रदान करता है। इस स्थिति में मध्यस्थ कल्पना शक्ति ज्ञात वस्तु जगत और अज्ञात भाव-जगत के बीच संबंधसूत्र का कार्य करती है। ऊपर 'स्नेह निर्झर बह गया है' कविता में, सन्दर्भ, अनुषंग, विरोधों का समाहार और विम्बानयन की प्रक्रिया पर विचार किया गया है। लेकिन रचना की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि कवि ने अभिव्यक्ति में क्रियाशील वस्तु जगत के अनुषंगों का प्रयोग इस कलात्मक ढंग से किया है कि उससे उपलब्ध भाषिक-संरचना अपर-अर्थ की व्यंजना में भी समर्थ है। सारी कविता निराला के जीवन की द्योतक बन जाती है। उसकी संरचना से अनायास ही उनका परवशता-बोध झलकता रहता है। जो भी अनुषंग या सन्दर्भ प्रत्यक्ष रूप से ग्रहण किये गये हैं वे एक निश्चित व्यंजना के वाहक ही नहीं बनते अपितु उसी में अपनी इयत्ता का लोप भी कर देते हैं। इस प्रत्यक्ष और

अप्रत्यक्ष के बीच संबंध स्थापन का कार्य मध्यस्थ कल्पना के द्वारा किया जाता है। स्वच्छन्द कवियो में यह अप्रत्यक्ष व्यंजना भौतिक जगत के भाव से लेकर भावातीत स्थिति तक प्रसरित पाई जाती है। अतएव इस मध्यस्थ कल्पना शक्ति द्वारा कवि ही नही पाठक भी यथार्थ से भिन्न यथार्थेतर, पर कुछ अर्थों मे अधिक विश्वसनीय जगत के साथ सम्बन्ध स्थापित करता है। निराला ने अनेक स्थलों पर परात्पर सत्ता के साथ सहसम्बन्ध की अनुभूति की है। उन्होंने प्रेरणा के रूप मे उसका निर्वचन और स्तवन भी किया है। इससे उनमे उस अव्यक्त सत्ता की रहस्यमय लीलाओं का अभिज्ञान अवतरित हुआ है। उन्हें बाह्य वस्तु जगत के अन्तराल में छिपी पर रहस्यमय ढंग से क्रियाशील सत्ता की झलक मिली है। इसके मूल में उनकी अंतर्दृष्टि, स्वयंप्रकाश और प्रातिभ अनुभूति विशेष रूप से क्रियाशील पाई गई है। हर स्वच्छन्दतावादी कवि की कल्पना प्रकारान्तर से इन विशेषताओं से उपकृत है। इसीलिए अनुभूति के विवेचन के सन्दर्भ में हमने निःसंशय भाव से उदात्त अनुभूति, स्वयंप्रकाश और अधिमानस अनुभूति का उल्लेख किया है। शेली ने बहुत पहले लिखा था, "पोएट्स आर हियरोफैण्ट्स ऑव अनअप्रीहेण्डेड इन्स्पिरेशन ; द मिरर्स ऑव जाइजेण्टिक शैडोज ह्विच फ्युचरिटी कास्ट्स अपान द प्रेजेण्ट ; ह्विच सिग टु बेट्टल, एण्ड फील नाट ह्वाट दे इन्स्पायर ; द इन्फ्लुएन्स ह्विच इज मूव्ड नाट, बट मूव्ज। पोएट्स आर द अनएकनालेज्ड लेजिस्लेटर्स ऑव द वर्ल्ड।"[१२७] सभी स्वच्छन्दतावादी इस उपर्युक्त मान्यता से प्रभावित रहे है। उनकी धारणा रही है कि प्रतिभा सपन्न कवि औदात्य की छाया (Phantoms of Sublimity) को देख सकता है। इसी विश्वास से उनको मध्यस्थ कल्पना की मान्यता को सशक्त आधार मिला है। निराला को भी 'तुम्ही गाती हो अपना गान। व्यर्थ मैं पाता हूँ सम्मान' जैसे अनेक स्थलो पर इसका अभिज्ञान हुआ है। निराला के लिए साहित्य ज्ञान का स्रोत नही अपितु ओज और शक्ति का स्रोत है। उन्होंने इसके माध्यम से सम्पूर्ण आर्यावर्त को अनुप्राणित करना चाहा है। यह तभी सम्भव हो सकता है जब साहित्य को कुछ संकीर्ण दायरों से मुक्त करके प्रशस्त पृष्ठभूमि पर प्रतिष्ठित किया जाय। कवि केवल कल्पना का मुखापेक्षी न हो, वह अन्तर्दृष्टि, मनःसृष्टि और उदात्त जीवन-बोध का चितेरा भी हो। निराला में ये विशेषतायें थी। उनकी महान् कवितायें मध्यस्थ कल्पना के इस स्वरूप से पूर्ण अलंकृत है।

कोलरिज ने विधायक कल्पना को परिष्कारक, संवर्द्धक और परिवर्द्धक शक्ति (Modifying power) और ललित कल्पना को 'अग्रीगेटिंग' शक्ति की संज्ञा दी थी। उपर्युक्त कविता 'स्नेह निर्झर बह गया है' में कल्पना के संश्लेषक और नवोन्मेषक शक्ति का उल्लेख किया गया है। अतएव इन कार्यों को संपादित करने वाली शक्ति को नवोन्मेषक या परिष्कारक कहना उचित ही है। निराला भी इससे पूर्ण परिचित रहे हैं। उदाहरण के लिए उनके 'वर्ण-चमत्कार', 'कविता' और

'प्रगल्भ प्रेम' को देखा जा सकता है। वर्ड्सवर्थ ने जिसे 'ह्विज़न एण्ड फैकल्टी डिवाइन' कहा था, उसी को कोलरिज ने आत्मशक्ति[१२८] के रूप में स्वीकृति प्रदान की थी। शेली ने इस परिष्कारक शक्ति का उल्लेख करते हुए लिखा था, कविता सब कुछ को सुन्दर बना देती है, यह परम सुन्दर के सौदर्य की श्रीवृद्धि करती है और यह उसे भी सुन्दर बना देती है, जो अति विकृत और विरूप है। इसमें परमानन्द और भय, दुःख और सुख शाश्वतता और क्षणभंगुरता का समन्वय पाया जाता है। यह असामंजस्यपूर्ण को सामंजस्यपूर्ण बनाती है। कवि जिसका स्पर्श करता है, उसे अपनी शक्ति मे बदल देना है। उसकी दीप्ति के अन्तर्गत जो कुछ बँधता है, वह कवि की अद्भुत सहानुभूति से उसकी चेतना की पुकार के रूप में बदल कर प्रस्तुत होता है।[१२९] निराला की अधोलिखित पंक्तियों से भी यही तथ्य झलकता है—

(अ) 'मेरे जीवन की तू प्रिये साधना
प्रस्तरमय जग में निर्झर-बन
उतरी रसाराधना।
.....
बहे हृदय में मेरे, प्रिय, नूतन आनन्द प्रवाह
सकल चेतना मेरी होए लुप्त
और जग जाये पहली चाह
लखूं तुझे ही चकित चतुर्दिक
अपनापन मैं भूलूं।'[१३०]

(ब) 'कितने वे भाव रस स्राव पुराने-नये
संसृति की सीमा के अपर पार जो गये
गढ़ा इन्हीं से यह तन,
दिया इन्हीं से जीवन
देखे हैं स्फुरित नयन इन्हीं से,
कवियों ने परम कान्ति
दी जग को परम शान्ति
की अपनी दूर भ्रान्ति इन्हीं से।[१३१]

(स) नीलिमा को रहे स्नेह से भर
जग कर नयी ज्योति उतरी धरा पर,
रग से भरी हैं, हरी हो उठी हर
तरु की तरुण तान शाखें :
परी नागरी की[१३२]

निराला-साहित्य में कल्पना के स्वरूप का अध्ययन अन्य छायावादियों की तुलना में अधिक महत्वपूर्ण है। निरन्तर संघर्षों को झेलने वाला कवि कहीं टूटता

है, मलता, बहता, या बिखरता है। ऐसी स्थिति में वह ललित-कल्पना के आवर्त से भी उलझता है। निराला ने बहुत समय तक संघर्ष करके अपने अपराजेय व्यक्तित्व को रचनात्मक कल्पना से सम्बद्ध किया था। उन्होंने फान्तसी के सपने कम देखे थे। लेकिन ये सपने जब एक बार उन पर हावी हुए तो उनके पैर भी फिसल उठे। उनकी कहानियों में कविताओं की तुलना में ये सपने अधिक मुखर हैं। यहाँ पर रचनाकार ने फान्तसी की दुनियाँ में नए भाववादी आदर्श को प्रतिष्ठा करके अपनी इच्छापूर्ति का उपक्रम रचने का प्रयत्न किया है। श्री राम विलास शर्मा ने इसका बड़ा मार्मिक वर्णन किया है। उन्होंने 'अर्थ' कहानी की व्याख्या की है। उन्हीं के शब्दों को लिया जाय, 'अर्थ कहानी में रामजी का चमत्कार अधिक है। युवक भक्त राम कुमार अर्थ-प्राप्ति के लिए चित्रकूट की यात्रा करता है और अन्त में वह सफल भी होता है। इस सफलता वाले अंश को छोड़ दें तो तीन चौथाई कहानी बहुत जोरदार है। धार्मिक आस्थाओं को लेकर भक्त के मन का द्वन्द्व, उसकी पत्नी का असीम प्यार, भैयाचारों के षड्यन्त्र, उनकी ठग विद्या, चित्रकूट में रात को पहाड़ की चढ़ाई, कहानी में व्यंग्य-मिश्रित करुणा की अंतर्धारा, कथा कहने वाले की निःसंग दृष्टि—यह सब कला का महान् चमत्कार है। सामाजिक वातावरण, प्राकृतिक परिवेश और मानसिक अन्तर्द्वन्द्व का जैसा सफल चित्रण निराला गद्य में हुआ है अन्यत्र दुर्लभ है। अन्त में इच्छापूर्ति के स्वप्न से कहानी में अन्तर्निहित व्यंग्य छिन्न-भिन्न हो जाता है [११३]। चित्रकूट प्रसंग निराला के मानस में कई बार निखरा है। 'तुलसीदास', 'नये पत्ते' की कविता 'स्फटिक-शिला' और उपर्युक्त कहानी में यह विविध सन्दर्भों में उपस्थित हुआ है। ऐसा लगता है कि निराला उसके माध्यम से कुछ खोजने और पाने का प्रयत्न कर रहे हैं। 'तुलसीदास' की आस्था के स्वर स्फटिक शिला की कविता के 'टोन' में भिन्न है और 'अर्थ' कहानी में सर्वथा भिन्न तो नहीं, पर स्थापत्य की व्यंजना के कारण अलग अवश्य ज्ञात होते हैं। गद्य और पद्य दोनों क्षेत्रों का कार्य-व्यापार विधायक कल्पना का मुखापेक्षी होता है। जहाँ कवि अपने स्वप्न को यथार्थ से जोड़ पाता है वहाँ उसकी व्यंजना कुछ और हो जाती है। लेकिन जहाँ पर यथार्थ से न जुड़ सकने के कारण केवल कतिपय स्वरूप में प्रस्तुत होता है, वहाँ वह कपोल कल्पना और इच्छापूर्ति का साधन बनकर रह जाती है। रचना-प्रक्रिया की राह चलकर 'अर्थ' कहानी के मूल्यांकन से रचनात्मक मानसिकता का बड़ा सटीक उद्घाटन होता है। अतएव इस रचना को केवल इच्छापूर्ति का साधन नहीं माना जा सकता। निराला में रचनात्मक मनोभूमि सदैव एक नहीं रही है। जीवन के जटिल बोधों के कारण वह कई रूपों में हमारे समक्ष प्रस्तुत हुई है। उनमें ललित कल्पना के चित्र हैं। उदाहरण के लिए अधोलिखित कविता द्रष्टव्य है—

'सोती हुई सरोज अंक पर
शरत् शिशिर दोनों बहनों के
सुख-विलास-पद-शिथिल अंग पर
पद्म पत्र पंखे झलते थे,
मिलती थी कर-परण समीरण धीरे-धीरे आती—
नींद उचट जाने के भय से थी कुछ-कुछ घबराती।[११४]

यह सारा चित्रित कार्य-व्यापार प्रत्यक्ष जोड़-तोड़ पर आधारित है। इसमें संश्लेषण का ही अभाव नहीं है, अपितु उस व्यंजना का अभाव भी प्रत्यक्ष द्रष्टव्य है, जो काव्य का उपजीव्य होती है। 'राम की शक्ति पूजा' और 'तुलसीदास' में पराजयबोध को विजय-बोध में बदलने की क्रिया को कुछ लोगों ने इच्छापूर्ति का प्रमुख साधन माना है। अपनी-अपनी दृष्टि है। उसके लिए किसी को भला-बुरा नहीं कहा जा सकता। लेकिन उनकी दृष्टि कल्पना के उस विधायक पक्ष की ओर नहीं जाती जो अनुभूति की ऊर्जा को अभिनव व्यंजना ही नहीं अपितु जीवन-दर्शन से मण्डित कर देती है। यही तो महाकवि की उपलब्धि है जो अपनी प्रेरणा में शताब्दियों तक चिर नवीन बनी रहती है। मै यह स्वीकार कर चुका हूँ कि निराला में हर स्वच्छन्दतावादी कवि की तरह फान्तसी के चित्र हैं, पर वे उनकी तुलना में बहुत कम हैं। इसका कारण है उनकी लोकबद्ध दृष्टि। उन्होंने स्वतः लोकधर्मी को कविताधर्मी स्वरूप प्रदान किया है। अतएव उनकी रचना से निश्चित उद्देश्य झलकता रहता है—ऐसा उद्देश्य जो भविष्य की निधि हो सकता है। फान्तसी की दृष्टि से अधोलिखित स्थल द्रष्टव्य है—

नव बसन्त करता था बन की सैर
जब किसी क्षीण-कटि तटिनी के तट पर
तरुणी ने रक्खे थे अपने पैर।
नहाने को सरि वह आई थी
साथ बसन्ती रंग की, चुनी हुई, साड़ी वह लाई थी
काँप रही थी वायु, प्रीति की प्रथम रात की
नवागता, पर प्रियतम-कर-पतिता सी
प्रेममयी पर नीरव अपरिचिता-सी
किरण बालिकायें, लहरों से
खेल रही थी अपने ही मन से, पहरों से।[११५]

स्पष्ट है कवि निराला में यहाँ रीतिकालीन शृंगार भावना तरंग मार रही है—बे-सिर-पैर की शृंगार भावना। उनकी कल्पनातिशयता दूर की कौड़ी लाने में तल्लीन है। तरुणी के पैर रखने से बसन्त आ गया है। क्षीण-कटि तरुणी ने भी

क्षीण-कटि-तटिनी के तट पर पैर रक्खा है। वायु काँप रही है। किरण-बालिकायें नृत्य कर रही हैं, उन्हें तरुणी का स्वागत जो करना है। पूरे उद्धृत अंश में फान्तसी विशेष रूप से क्रियाशील है। यहाँ पर निराला उर्दू शेरो-शायरी की क्या ग़ज़ब या वाह-वाह की पद्धति के अधिक निकट हैं। ऐसे अनेक स्थल उनमें पाए जा सकते हैं।

कल्पना के सिद्धान्त पक्ष का उल्लेख करते समय हमने उसकी कई उपक्रियाओं का उल्लेख किया है, इनमें विस्तार, संकोच, परस्थापन, संयोगीकरण और पृथक्करण प्रमुख हैं। इन पाँचों स्वरूपों को संघनन या संश्लेषण और स्थानान्तरण नामक दो उपविभागों में विभक्त किया जा सकता है। कुछ आलोचक इनको मनोविश्लेषण पर आधारित मानते हैं। मनोविश्लेषण के आधार पर इनकी व्याख्या की गई है, पर वह अपर्याप्त है। अगर हम यह स्वीकार करते हैं कि कल्पना रचनात्मक दृष्टि से संश्लेषणात्मक अभिनव-सम्बन्ध-स्थापन का कार्य करती है तो हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि वह क्रिया विस्तार और संकोच की क्रिया होगी। उसमें केन्द्रीय भाव को पल्लवित करने के लिए प्रतीक या बिंब रूप में कुछ तथ्यों को प्रस्तुत करना होगा। अलंकरण भी अभिव्यक्ति को संक्षिप्त पर मुखर बनाने के साधन होगे। इन विशेषताओं को कल्पना के प्रमुख कार्य बिंब निरूपण के द्वारा समझा जा सकता है। पूर्व अध्याय में हमने प्रतीक पर विचार किया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रतीक भी एक प्रकार का बिम्ब ही है। यूनानी भाषा की जिस क्रिया से अंग्रेजी शब्द 'सिम्बल' निष्पन्न हुआ है, उसका अर्थ होता है, साथ बाहर फेंकना (To throw together)। इस क्रिया में भी कल्पना की संश्लेषणात्मक शक्ति का विशेष सहयोग होता है। प्रतीक में बाह्य उपादान के माध्यम से आन्तरिक स्वप्निल पर अर्थपूर्ण मानसिकता को व्यक्त किया जाता है। इस दृष्टि से प्रतीकात्मक बिम्ब की बात सामने आती है। ये प्रतीकात्मक बिम्ब इलियट के शब्दों में कल्पना के तर्कशास्त्र के द्वारा निर्देशित होते हैं। इसका उल्लेख किया जा चुका है। निराला ने बिम्ब के लिए चित्र शब्द का प्रयोग किया है और बिम्ब-विधान को चित्र-विधान की संज्ञा दी है। उन्होने पंत की कविता 'कनक छाया मे जबकि सकाल' की व्याख्या करते हुए लिखा था, यहाँ शब्दों के साथ भाव और चित्र के समन्वय से कविता में उत्कृष्ट काव्य-गुण उत्पन्न हो गया है।[१३१] निराला ते शब्दो के साथ भाव और चित्र के समन्वय की बात की है। उनके इस सूत्र वाक्य को समझना आवश्यक है। इस दृष्टि से संध्या सुन्दरी का अंश द्रष्टव्य है—

'नूपुरों में भी रुनझुन-रुनझुन नहीं,
सिर्फ एक अव्यक्त शब्द सा चुप-चुप-चुप
है गूँज रहा सब कहीं—

.....

क्षिति में, जल में, नभ में, अनिल-अनल में
सिर्फ एक अव्यक्त शब्द सा 'चुप-चुप-चुप'
है गूँज रहा सब कहीं[१३७]।

उपर्युक्त कविता के माध्यम से कवि नीरवता का संकेत देना चाहता है इसके लिए अनुभूति की केन्द्रीय विशेषता उसके मन में क्रियाशील होती है। उसे व्यंजित करने के लिए कवि को 'चुप' शब्द मिल जाता है। लेकिन केवल यही सारे वातावरण मे प्रसरित शान्ति की भावना को चित्रित करने मे असमर्थ है। अतएव कवि को उसे सशक्त बनाने के लिए पुनरावृत्ति का आश्रय ग्रहण करना पड़ता है। इस पुनरावृत्ति के कारण 'चुप' शब्द अपेक्षित भाव को व्यक्त करने की सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है। पूरी कविता को पढते समय हमारी दृष्टि अनायास ही 'चुप, चुप, चुप' पर केन्द्रित हो जाती है। नीरवता की केन्द्रीय अनुभूति के साथ अन्य परिधिस्थ स्वरूप संलग्न है। वह शब्द अपनी अनुगूँज से क्षिति, जल, पावक, गगन और समीर को भर दे रहा है। उसका तत्वो पर एकाधिकार हो गया है। इसका ध्वन्यार्थ यह है कि प्रकृति मे सर्वत्र शान्ति विराजमान है। स्पष्ट है कि इस तरह के प्रयोग से कवि अनुभूति को संक्षिप्त अर्थगर्भी अभिव्यक्ति ही नही प्रदान करता है, अपितु, उसे व्यंजित करने के लिए उपलब्ध सामग्री का कलात्मक निरूपण भी करता है। यहाँ 'चुप-चुप-चुप' ही बिंब का कार्य करता है। उससे शान्ति का भाव उमडता है। इस तरह उपर्युक्त कविता से जो भी स्वरूप उमड़ कर हमारे समक्ष आता है उसमे शब्द, भाव और चित्र का समन्वय दिखाई देता है। इस सन्दर्भ मे एक और महत्वपूर्ण तथ्य हमारे समक्ष उपस्थित होता है। नीरवता अथवा शान्ति को मूर्तिमान करके संप्रेष्य बनाना सरल नही है। उसकी अनुभूति सबको होती है, पर उसे कलात्मक ढंग से अभिव्यक्त कर पाना सबके वश की बात नही है। निराला के शब्द-बिंब की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि उसके माध्यम से यह अमूर्त भाव व्यक्त ही नहीं अपितु कलात्मक ढंग से व्यक्त हुआ है। हमने अनुभूति की संघटना के अन्दर निहित उद्देश्य की बात की है। इसी के साथ अनुभूति के प्रभामण्डल का भी उल्लेख किया है। संघटना के निर्देश को ग्रहण करते ही केन्द्रीय विशेषता के चारों ओर जो प्रभामण्डल है उसको अभिव्यक्त करने वाले प्रौढ विचार रचना के समय मानस में अनायास ही तिरने लगते है। उन्हे हम काव्यबीज की संज्ञा दे सकते हैं। कल्पना सन्दर्भों और अनुषंगों को जुटाकर अभिव्यक्ति का कार्य संपादित करती है। बीज की सबसे बड़ी विशेषता यह होती है कि वह अपने को मिटा कर, गलापचा कर रचना रूपी वृक्ष का कारण बनता है। लेकिन उसके मिटने और शतशः विगलित होने से उसका अस्तित्व समाप्त नहीं हो पाता है अपितु वह और व्यापक बन कर हमारे समक्ष उपस्थित होता है, समूची भाषिक-संरचना से वह झांक-झांक कर आख मिचौनी करने लगता है। इससे रचना एक जीवन्त संघटना के रूप में हमारे समक्ष उपस्थित होती

है। इस उद्धृत अंश में 'चुप' शब्द अधिक जीवन्त और मुखर बन गया है। यही शब्द-बिंब की विशेषता भी तो है।

निराला ने शब्दो के अतिरिक्त वर्णों के कलात्मक प्रयोग द्वारा व्यंजना को चार चाद लगा दिया है। इस तरह के प्रयोग को वर्ण-बिंब की संज्ञा दी गई है। शब्द बिंब प्रचलित कोशगत अर्थ को ही सूचित करते है, पर वर्ण-बिंब अपनी समूची संघटना से अर्थ का द्योतन करते है। उदाहरण के लिए निराला के 'बादल राग' (१) को लिया जा सकता है :—

झूम-झूम मृदु गरज-गरज घन घोर !
राग अमर ! अम्बर मे भर निज रोर
झर झर झर निर्झर- गिरि सर मे
घर, मरु तरु-मर्मर सागर में
सरित-तडित-गति चकित पवन में
मन मे, विजन-गहन-कानन में
आनन-आनन मे रव घोर-कठोर[१२८]

बिंब-रचना के लिए ज्ञान, अनुभूति और स्मृति की अपेक्षा होती है। कवि को इनके स्वरूप से पूर्ण परिचित होना पडता है। उसके लिए जीवन की पुस्तक के साथ ही ज्ञान की पुस्तक को समझना और उसे पूर्णता से हृदयंगम करना आवश्यक होता है। किसी भी घटना या विचार को समझने के लिए उचित सन्दर्भ और अनुषंग की अपेक्षा होती है। अनुभूति की सटीकता, प्रौढता और सशक्तता बिंब-रचना की प्राण होती है। निराला मे ये विशेषतायें विद्यमान है। उन्होंने बादल के गरजने और बरसने को सूक्ष्मता से परखा है। वे क्रियाये उनकी अनुभूति का अंग बन चुकी है। वे उनके मानस मे स्थिर होकर प्रच्छन्न अनुषंगो मे संबद्ध हुई हैं। इसी लिए वे इतना सटीक चित्र प्रस्तुत कर सके है। निराला की सबसे बडी विशेषता यह है कि वे शब्द-संघटना के माध्यम से वस्तु या वस्तु की विशेषता का बोध कराने में पूर्ण समर्थ है। उनकी अनुभूति सशक्त है और कविता के हर शब्द उस ऊर्जस्वित प्रवाह से पूरी तरह रंगे है। इसीलिए वे अभीप्सित प्रभाव उत्पन्न कर सके हैं। ऊपर उद्धृत कविता म झ, म, र, त वर्णो की आवृत्ति देखने को मिलती है। यह आवृत्ति उनके बोध की संगीतमयता को व्यक्त करने मे पूर्ण सक्षम है। उद्धृत अंश स्वत: स्फूर्त रचनात्मक प्रवाह का परिचायायक है। एक अन्य उदाहरण द्रष्टव्य है:—

'अब स्मर के शर-केशर से झर
रँगती रज-रज पृथ्वी अंबर'[१२९]

बादल राग मे (१) बादल के गरजने और बरसने की क्रिया पर कवि की दृष्टि विशेष रूप से केन्द्रित है। अतएव वह उसो को मूर्तिमान भी करना चाहता

है। ध्वनि के आरोह-अवरोह, तालानुगति के सफल प्रयोग, शब्दों की पुनरावृत्ति और चिह्नों के प्रयोग से कवि उसे मूर्तिमान कर देता है। दूसरी कविता में भी बिंब को मूर्तिमान करने के लिए एकाधिक साधनों का प्रयोग किया गया है। पर दोनों बिंबों में भेद है। 'बादल-राग' में प्रयुक्त वर्णों और शब्दों से बादल के गरजने और बरसने की क्रिया का स्पष्ट बोध हो जाता है पर दूसरी कविता के बिंब को समझने के लिए निश्चित बौद्धिक स्तर की अपेक्षा है। केशर के झड़ने को तो लोगों ने देखा भी होगा, पर काम के बाण की बात तो अनुभवगम्य ही हो सकती है। कवि काम के प्रसार की तुलना केशर के झड़ने से करता है। जो कुछ भी झड़ता है उससे वातावरण पूर्ण हो जाता है, पृथ्वी और आकाश रंग उठते हैं। पहला बिंब वर्षा को मूर्त स्वरूप में प्रस्तुत करता है, कवि के शब्दों और वर्णों के प्रयोग से बादल और वर्षा संबंधी संवेदना मूर्तिमान हो उठती है, दूसरे के सन्दर्भ और अनुषंग व्यक्ताव्यक्त स्थिति में हैं, अतएव इन्हें समझने के लिए थोड़ा श्रम करना पड़ता है।

बिम्ब अनुभूति से सम्बन्धित होते हैं। अनुभूति के निर्माण में कवि का बाह्य-पक्ष विशेष रूप से सहायक होता है। अतएव बिम्ब में ऐन्द्रिय स्वरूप की विशेषतायें विद्यमान होती है। इस आधार पर उन्हें हम चाक्षुष, श्रावण, घ्राण और स्पर्श-बिम्बों में विभक्त कर सकते हैं। छायावादी कवियों में चाक्षुष और श्रावण बिम्बों की प्रधानता है। 'राम की शक्ति पूजा' बिम्बों में रचो गई रचना है। इसमें हर तरह के बिम्ब मिल जाते है। चाक्षुष बिम्ब का एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

'वानर वाहिनी खिन्न, लख निज-पति-चरण-चिह्न,
चल रही शिविर की ओर स्थविर-दल ज्यों विभिन्न;
प्रशमित है वातावरण, नमित-मुख सान्ध्य-कमल
लक्ष्मण चिन्तापल पीछे वानर-वीर सकल;
रघुनायक आगे अवनी पर नवनीत-चरण,
श्लथ गुण-धनु है, कटिबंधस्रस्त-तूणीर-धरण,
दृढ़ जटा मुकुट हो विपर्यस्त प्रतिलट से खुल
फैला पृष्ठ पर, बाहुओं पर, वक्ष पर विपुल
उतरा ज्यों दुर्गम पर्वत पर नैशान्धकार;
चमकती दूर तारायें ज्यों हों कहीं पार।'[०४०]

वानरवाहिनी ही अपने नायक राम की असफलता-जनित मनोदशा को नहीं देख रही है, स्वयं निराला के मानस-चक्षुओं के समक्ष भी वह बिंब उपस्थित है। इसीलिए उनकी कल्पना उसे साकार रूप प्रदान करने में समक्ष है। वानर-वाहिनी विभिन्न स्थविरों के दल के सदृश ज्ञात हो रही है। संध्या के कमल की तरह श्रीराम का मुख कुम्हलाया हुआ है। उनके धनुष की प्रत्यंचा और कटिबंध ढीले हैं।

जटा-मुकुट जो युद्धपूर्व और युद्धस्थिति मे कसकर बँधे हुए थे, वे खुलकर इधर-उधर बिखर गये हैं और वे उनकी पीठ और बाहुओं को ढँक रहे है। उन्हें देखने से ऐसा ज्ञात होता है कि दुर्गम पहाड़ पर रात्रि का अंधकार उतर आया है। पूरी उद्धृत कविता में एक नही अनेक बिम्ब हैं, पर उनके माध्यम से कवि वस्तु-स्थिति का चित्रण ही नहीं कर रहा है, अपितु एक सुनिश्चित वातावरण को भी निर्मित करता जा रहा है। इस वातावरण में ये बिंब विशेष रूप से विश्वसनीय और प्रभावोत्पादक बन गए हैं। संपूर्ण काव्यांश की बिंब-योजना किसी न किसी रूप में असफल राम की मनःस्थिति के चित्रण में विशेष रूप से सहायक है। 'नमित मुख' 'साध्य कमल', 'श्लथ धनुगुण', 'कटिबन्ध स्रस्त', 'दृढ़ जटा मुकुट हो विपर्यस्त' जैसे प्रयोग युद्धोपरांत राम के चित्र के सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्वरूपों को उद्घाटित करने में पूर्ण समर्थ है। समूचा रचना-विधान केन्द्रीय भावना को कलात्मक ढंग से अभिव्यक्त करने के प्रयास का द्योतक है। सभी बिंब अलग-अलग प्रभा बिखेरते हैं, पर वे अन्ततोगत्वा संघटना से समन्वित प्रभाव को ही सम्प्रेषित करते है। यहाँ अनुभूति का स्वरूप संक्षिप्त पर तेजोदीप्त है। उसके मानसिक आल-बाल को अभिव्यक्ति में संजोने के लिये कवि प्रातिभचयन-शक्ति, सामासिकता और उपचारकवक्रता का सहारा लेता है। कल्पना के द्वारा गृहीत अप्रस्तुत विधान परिचित और विशिष्ट सादृश्य तथा साधर्म्य पर आधारित है। चरण, नवनीत जैसे कोमल पर स्निग्ध है। मुख सान्ध्य-कमल जैसे नत है, धनुगुण ही श्लथ नहीं है, राम का सारा शरीर श्लथ है।

चाक्षुष बिंबों का सम्बन्ध यथास्थान रंगबोध से भी होता है। प्रतीक और अनुभूति के अध्याय में हमने इस पर विचार किया है। रंगों का सम्बन्ध चित्तवृत्तियों से होता है। श्वेत, काला, पीला, लाल, नीला रंग अपने अस्तित्व में मनुष्य के मनोभूमि को उद्घाटित करने का प्रमुख साधन है। निराला की कविता मे ज्योति और अंधकार का संघर्ष विशेष रूप से देखने को मिलता है। उन्होंने अपने जीवन में अन्धकार को ज्योति में परिवर्तित करने का प्रयत्न किया है। उनके आशा और निराशा के बिंबों का सम्बन्ध भी इन्हीं वर्णों से है। उनके अनुराग-विराग इन्हीं के माध्यम से व्यक्त हुए है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

मिली ज्योति छवि से तुम्हारी
ज्योति-छवि मेरी,
नीलिमा-ज्यों शून्य से
बंध कर मैं रह गई
डूब गए प्राणों में
पल्लव-लता-भार
बन-पुष्प-तरु-हार

सूर्य हीरकधरा प्रकृति नीलाबरा
सन्देश वाहक बलाहक विदेश के ।[१४१]

उद्घृत अंश मे प्रणय का चित्र है । निराला ने स्वीकार भी किया है, 'प्रणय के प्रलय में सीमा सब खो गई ।' यहाँ ज्योति-छवि से ज्योति छवि का मिलन चित्रित है । दोनो वैसे मिलते है जैसे नीलिमा आकाश से मिलती है । इस सम्मिलन या महामिलन मे अन्य सभी क्रियायें तिरोहित हो जाती है । इस दृष्टि से शूर्पणखा का अधोलिखित स्वगत कथत भी कम महत्वपूर्ण नही है:—

चाहता जी
नील-कमल-सरोवर पर
प्रेम-सुधा कौमुदी पी
खिल-खिल कर हंसती हुई
भाग्यवती कुमुदिनी-सी
साँवरे का अधर-मधुपान कर
सुख से बिताऊँ दिन[१४२]।

वर्ण-चमत्कार किस तरह उद्दीप्त मानसिकता के परिचायक ही नही बन सकते, अपितु वे उसी उद्दीप्त रूप में उसे संप्रेषित भी कर सकते हैं, इसका निराला को सूक्ष्म ज्ञान था । कुमुदिनी और कौमुदी का अविच्छिन्न सम्बन्ध होता है । दोनो मे वर्ण-साम्य है । श्वेत चाँदनी सरोवर के नील-जल पर प्रसरित है । उसी के वक्षस्थल पर कुमुदिनी भी खिलकर अपनी मुस्कान बिखेर रही है । वह कितनी भाग्यवान है कि निर्बन्ध भाव से अपने प्रिय का सामीप्य प्राप्त करके 'खिल-खिल कर हँसती हुई' जीवन व्यतीत करती है । शूर्पणखा मे इस लालसा का जगना स्वाभाविक है । लेकिन कुमुदिनी भी निश्छल है और कौमुदी भी निश्छल है । इसीलिए वे दोनों हिल-मिल कर खिल पाती है । शूर्पणखा मे इसका अभाव है । इसी लिए वह साँवरे का अधर पान कर सुख से बिताऊँ दिन' की लालसा को चरितार्थ नही कर पाती है । निराला की कल्पना प्रेम के इन चित्रों मे विशेष रूप से सक्रिय पाई गई है । उनकी 'अरुण पंख तरुण किरण' खड़ा होकर दरवाजा खोलती है । उनकी प्रिया के सहज रूप से रंगकर गान के निर्झर झरते हैं, और—

'कवियों की कल्पना तो
देखती है ये भौंएँ बालिका-सी खड़ी-
छुटते हैं जिनसे आदि रस के सम्मोहन-शर
वशीकरण-मारण-उच्चाटन भी कभी-कभी
हारे हैं सारे नेत्र नेत्रों को हेर-हेर
विश्व भर को मदोन्मत्त करने की मादकता
भरी है विधाता ने इन्हीं दोनों नेत्रो में[१४३]।

इतना ही नही, निराला की शारदा नीलवसना हैं, और वे स्वत: ज्योतिस्तरणा के चरणो पर रहकर तपस्या कर चुके हैं। सारांश यह कि निराला की यह रंगमयी चित्रशाला विविध है। इसमे जो भी चित्र उरेहे गए हैं वे उनकी मानसिक रुझान के पूर्ण परिचायक है।

श्रावण बिम्बों का नियोजन ध्वनि कल्पना का ज्वलन्त प्रमाण है। डॉ० रामविलास शर्मा के शब्दों मे, 'कला में मूर्तिविधान है, शब्दों का ध्वनिप्रवाह है, गठन और संरचना है। निराला काव्य में मूर्तिविधान किस प्रकार का है, यह उसी गोचर संसार की ग्रहण-प्रक्रिया पर निर्भर है। शब्दों का ध्वनिप्रवाह अपने मे 'गोचर अनुभव है; उसका नियन्त्रण, उसकी गति, उसकी गहराई उन्ही वृत्तियों के आश्रित है, जिनसे निराला का संसारबोध नियमित है। ये वृत्तियाँ निराला की कविताओं मे इन्द्रिय-बोध का ऐसा सूक्ष्म ताना-बाना रचती हैं कि उसे अलग करके उनके गठन और रचना-कौशल को समझा नही जा सकता। इसीलिए यह कहना उचित होगा कि कला और भाव-बोध की सीमायें यहाँ बहुत कुछ मिट जाती है।'[१४४] यह निर्विवाद सत्य है कि निराला का समग्र-सम्मूर्तन-विधान ध्वनि प्रवाह का मुखापेक्षी है। रवानी अथवा तालानुगति पर विचार करते समय हमने इसका स्पष्ट उल्लेख किया है। उनके श्रावण बिम्ब इन विशेषताओ से पूर्णरूप से मण्डित हैं। निराला वीणा-वादिनी से जो वर माँगते हैं वह स्पष्ट है—

'प्रिय स्वतन्त्र रव अमृत मन्त्र नव
भारत मे भर दे।'[१४५]

श्रावण बिम्ब दो प्रकार के होते है; (१) ध्वनि-बिम्ब और (२) नाद-बिम्ब। प्राय: यह स्वीकार किया जाता है कि ध्वनि बिम्बों की रचना संवेदना-प्राण होती है जब कि नाद-बिम्बों की रचना भावना और कल्पना-प्राण। ध्वनि बिम्ब का एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

'यही तो है जग का कम्पन
अचलता मे सुस्पन्दित प्राण
अहंकृति मे झंकृति जीवन।'[१४६]

जीवन की यह संक्षिप्त परिभाषा कम मुखर और सारगर्भी नहीं है। ध्वनि बिंब का उत्कृष्ट उदाहरण गीतिका के 'मौन रही हार' और अनामिका के 'बनबेला' कुंज कुंज कोयल बोली' प्रसंगों में भी हुआ है। 'बादल राग' और 'राम की शक्ति पूजा' में नाद बिंबों की प्रधानता है। अधोलिखित उदाहरण उसके प्रमाण है—

(अ) उथल पुथल कर हृदय—
मचा हलचल—

चल रे चल
मेरे पागल बादल !
धँसता दलदल
हंसता है नद खल्-खल्
बहता, कहता कुलकुल कलकल कलकल
देख देख नाचता हृदय
बहने को महा विकल-बेकल ।[१४७]

(ब) आज का तीक्ष्ण-शर-विधृत-क्षिप्रकर वेग-प्रखर
शतशैलसंवरणशील, नील नभ गर्जित स्वर
राक्षस विरूद्ध प्रत्यूह-क्रुद्ध कपि विषम हूह
विच्छुरित वहिन-राजीव-नयन-हत-लक्ष्य-वाण
लोहित-लोचन-रावण-मद-मोचन-महीमान ।[१४८]

नाद और ध्वनि में वैसे कोई विशेष अन्तर नहीं होता पर सूक्ष्म परीक्षण से एक बात स्पष्ट हो जाती है नाद कुछ पौरुष और ओज प्रधान होता है और ध्वनि कुछ कोमल और मोहक। नाद केवल महाकाव्य की ही विशेषता नहीं होता, उसका उपयोग छोटी कविताओं में भी किया जा सकता है। कल्पना की अठखेली दोनों मे पाई जाती है। कवि के अनुभूति-संवित् दोनों के माध्यम से व्यक्त होते हैं; पर एक के बिंब की प्रकृति ओज प्रधान होती है और दूसरे की कोमल।

घ्राण-बिम्बों का सम्बन्ध गन्धबोध से होता है। निराला-काव्य में इनका प्रयोग मिलता है। निराला ने 'बन-बेला' के गन्ध के सन्दर्भ में लिखा है, 'यहाँ कहाँ—वामालक चुंबित पुलक गन्ध।'[१४९] 'शेफालिका' में वे 'सुरभिमय समीर-लोक' की कल्पना करते हैं। 'जूही की कली' में मलयानिल को कली के प्रेमी के रूप में चित्रित किया गया है। 'सखि बसन्त आया' गीत में 'लता-मुकुल-हार-गन्ध-भार भर' का उल्लेख मिलता है। 'गीत गुंज में' 'भर गया जूही के गन्ध पवन' का अनुभव उन्हें होता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि निराला का गन्ध-बोध प्रखर था।

निराला-काव्य में स्पर्श-बिम्बों की प्रमुखता है। इसके पूर्व अध्याय में हमने उनकी प्रसिद्ध कविता 'स्पर्श से लाज लगी' की स्पष्ट व्याख्या की है। सन्दर्भोपयुक्त होने के कारण उसके एक अंश को उद्धृत करते हैं;

'स्पर्श से लाज लगी
अलक-पलक में छिपी छलक
उर से नव राग जगी।
चुंबन-चकित चतुर्दिक चंचल
हेर, फेर मुख, कर बहु सुख-छल

कमी हास, फिर त्रास, साँस बल
उर सरिता उमगी।'[१५०]

स्पर्श सुख चाक्षुष, श्राव्य और घ्राण बोधों से अधिक सशक्त और उन्मादक होता है। इसमें रचनाकार को प्रभावित करने की क्षमता अधिक होती है। आलंबन के प्रति आश्रय के निकटता के बोध के कारण इसमे विशिष्ट प्रकार की भावगहनता विद्यमान होती है। रचनाकार द्रष्टा ही नही भोक्ता भी होता है। शूर्पणखा के रूप का चित्र लीजिए --

'देख यह कपोत-कण्ठ
बाहुबल्ली कर-सरोज
उन्नत उरोज पीन-क्षीणकटि-
नितंबभार-चरण सुकुमार-
गति मंद-मंद
छूट जाता धैर्य ऋषि मुनियो का
देव भोगियो की तो बात ही निराली है[१५१]

वैसे इसे चाक्षुष-बिंब माना जाना चाहिए, लेकिन निराला उसे जिस उतार-चढाव मे देख-दिखा रहे हैं उसमे स्पर्श-बोध की भावना भी द्योतित होती है। राम विलास जी ने ठीक ही कहा है कि निराला स्वयं उसे देख रहे है, पर मूर्तिकार की दृष्टि से, चित्रकार की दृष्टि से नही। ऐन्द्रिय बिबो की यही विशेषता भी होती है। उनमे सदैव एकाधिक इन्द्रियो का सहयोग पाया जाता है। मनोविज्ञान के द्वारा भी अब यह पूर्णतया सिद्ध हो चुका है।

निराला-काव्य मे स्मृति-बिबो की संरचना विशेष कलात्मक और आकर्षक है। कल्पना के सन्दर्भ मे हमने स्मृति के स्वरूप पर गंभीरता से विचार किया है, अतएव यहां विशेष विस्तार मे जाने की अपेक्षा नही है। स्मृति की कौध अपने गुणात्मक और परिमाणात्मक विभेद से कई तरह की होती है। इसी के पूर्ण विकसित सहज उच्छलन को प्रातिभज्ञान, सहज-ज्ञान अथवा स्वयं-प्रकाश ज्ञान भी कहा जा सकता है। निराला की कविता मे इसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण 'राम की शक्तिपूजा' में मिलता है—

'ऐसे क्षण अंधकार घन मे जैसे विद्युत्
जागी पृथ्वी-कुमारिका-छवि-अच्युत
देखते हुए निष्पलक याद आया उपवन
विदेह का - प्रथम स्नेह का लतान्तराल मिलन
नयनों का - नयनो से गोपन-प्रिय संभाषण

पलकों का नव पलकों पर प्रथमोत्थान-पतन
कांपते हुए किसलय - झरते पराग समुदय
गाते खग-नव-जीवन-परिचय-तरु मलय-वलय
ज्योतिःप्रपात स्वर्गीय-ज्ञात छवि प्रथम स्वीय
जानकी-नयन-कमनीय-प्रथम कंपन तुरीय।'[१५२]

इसके विशिष्ट स्वरूपों का उद्घाटन पूर्ववर्ती प्रसंग में किया जा चुका है। उद्धृत अंश में एकाधिक बिंबों का प्रयोग किया गया है, पर वे भावना की दीप्ति से बँधकर कवि की केन्द्रीय अनुभूति को उद्भासित करते और उसे सशक्त बनाते हैं। पूरा अंश प्रयत्न-निरपेक्ष अभिव्यक्ति का परिचायक है। इसकी अपनी निजी संघटना और रवानी है। 'राम की शक्ति पूजा' में उदात्त स्वर की प्रधानता है, पर इस अंश की रचना प्रसाद-गुण-सम्पन्न शैली का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। प्रयुक्त बिंब अनुभूति की तरलता के वाहक हैं, इसलिए वे सरलता से या तो केन्द्रीय चेतना में मिल जाते हैं या उसके पक्ष विशेष को उद्घाटित करके अपनी इयत्ता समाप्त कर देते हैं। निराला-काव्य में अन्य कई स्थलों पर स्मृति-बिंबों का उपयोग मिलता है। उदाहरण के लिए अधोलिखित अंश विशेष रूप से द्रष्टव्य है—

'आज वह याद है वसन्त,
जब प्रथम दिगन्त-श्री
सुरभि-धरा के आकांक्षित हृदय की,
दान प्रथम हृदय को
था ग्रहण किया मैंने
अज्ञात भावना,
सुख मिलन का.....।'[१५३]

रचना में स्मृति सदैव महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करती है। उसमें स्वतः निर्माणक क्षमता होती है। अतएव जब यह कल्पना के साथ संबद्ध होती है तो लालित्यबोधीय गुण पैदा हो जाते हैं। कल्पना पर विचार करते समय चिन्तन की दो कोटियाँ निर्धारित की गई थीं, (१) यथार्थाश्रित और (२) स्वयं प्रेरित। ऐन्द्रिय बोध स्वतः में यथार्थाश्रित होता है। कल्पना के द्वारा जब ये ऐन्द्रिय-प्रभाव रचना में ढाले जाते हैं तो संश्लेषित होने के कारण संप्रेष्य बन जाते हैं। संप्रेष्य होने का निश्चित अर्थ होता है। रचना में ढलने के पूर्व हर अनुभूति की अपनी सचेतन सत्ता होती है। रचना में ढल जाने पर वह संश्लेषित, होने के कारण संवर्द्धित, परिवर्द्धित या संक्षिप्तीकृत रूप में हमारे समक्ष उपस्थित होती है। रचना-पूर्व अनुभूति और रचना में ढल कर अभिव्यक्त हुई अनुभूति में विशेषताओं के आधार पर कुछ उभयनिष्ठ तत्व प्रस्तुत रहते हैं। मेरी दृष्टि में अनुभूति

के प्रभामण्डल के साथ संयुक्त सामान्य विशेषतायें किंचित् संशोधन और परिवर्द्धन के साथ रचना में ढलती रहती हैं। पूर्व अध्यायों में हमने छलनो का उल्लेख किया है। जिस प्रकार छलनो से छन कर सारतत्व विजातीय या अनावश्यक तत्व से अलग हो जाता है, उसी प्रकार रचना के समय केन्द्रीय अनुभूति के अवसीमा या अवसीमेतर मानस मे उपस्थित होते ही आवश्यक सामग्री आकर्षित होकर, उससे संबद्ध होकर रचना-शक्ति के द्वारा रचना में ढाल दी जाती है और अनावश्यक सामग्री शेष रह जाती है। इस तरह ऐन्द्रिय-बिंब ऐन्द्रिय-अनुभूति के यथातथ्य निरूपण नही होते, वे रचनात्मक शक्ति द्वारा गृहीत अनुभूति के एकीकृत, परिष्कृत और सरलीकृत स्वरूप होते है। स्मृति की बात भिन्न है। स्मृति सदैव विचार या भाव-केन्द्रित होती है। अतएव उसके अपने अनुषंग और सन्दर्भ होते हैं। कल्पना के साथ रचना में संयुक्त होने के पश्चात् ये सन्दर्भ और अनुषंग रचना के सन्दर्भ और अनुषंग के अनुरूप ढलते जाते है। इस क्रिया को स्थानान्तरण की संज्ञा दी जाती है। इस तरह बिंब का रचना में संवर्द्धन, परिवर्द्धन, संशोधन, संक्षिप्तीकरण, पृक्तकरण और स्थानान्तरण में विशेष सहयोग होता है। ये सभी कार्य कल्पना द्वारा सपादित होते हैं। अतएव बिंब-सृजन और कल्पना का अविच्छिन्न संबंध स्वत: सिद्ध है।

बिम्ब - रचना की दृष्टि से कुछ अन्य महत्वपूर्ण सत्यो को हृदयंगम करना भी आवश्यक है। जीववैज्ञानिकों के अनुसार अनुभूति-संवित् प्रमस्तिष्क के कोषाणुओं मे केन्द्रित रहते हैं। रचनाशील मानसिकता की स्थिति मे इनमें विस्फोट होता है। उसके परिणामस्वरूप कोई प्रौढ़ विचार मानस मे कौंधने लगता है। मानस के इस स्वरूप को अवसीमा मानस की संज्ञा दी जाती है। इस मानस में बिंब-निर्माण की क्षमता होती है। जो विचार मानस में कौंधता है, उससे अन्तर्दृष्टि पैदा होती है। यही अन्तर्दृष्टि वैचारिक-दीप्ति के रूप में रचना में ढलती है। जीववैज्ञानिक इसी को बिंब-सृजन का मूल केन्द्र बिन्दु मानते हैं। वैज्ञानिकों की दृष्टि में रचना का कार्य प्रमस्तिष्क द्वारा संपादित होता है। प्रमस्तिष्क में वे सभी विशेषतायें होती है, जिन्हें रचना की दृष्टि से कल्पना का उपजोव्य माना गया है। यह सत्य है कि प्रमस्तिष्क के निश्चित क्षेत्र सहज ही बिंब-निर्माण-सक्षम हैं। इससे कल्पना के स्थान पर आज स्मृति पर विशेष ध्यान दिया जाने लगा है। अभी इस मत्य का निराकरण होना बाकी है, अतएव अन्तिम रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। अब तक इतना अवश्य स्पष्ट हो पाया है कि ऐन्द्रिय-बिंब किसी मानसिक रचनाशक्ति के द्वारा पंचतन्मात्राओं को प्रकृति के सन्दर्भ में निरूपित करने के परिणाम हैं। इनसे बोध के धरातल पर इन्द्रिय-बोध से मन के विकास पर और रचना के धरातल पर मन से इन्द्रिय बोध के धरातल पर प्रकाश पड़ता है। इस तरह ऐन्द्रिय-बिंब-सृजन में दर्पण और दीप के रचनात्मक रूपक का उचित समन्वय दृष्टिगोचर होता है।

उपर्युक्त अंशों में कल्पना की क्रियाशीलता के साथ ही हमने अमूर्त मनोभाव-परक बिंब, शब्द–बिंब, वर्णबिंब और ऐन्द्रिय-बिंबों का निरूपण किया है। इस निरूपण द्वारा रचनाशील शक्ति को उद्घाटित करने का प्रयत्न किया गया है। इन बिम्बों के अतिरिक्त अन्य कई बिम्ब निराला-काव्य में मिलते है। हम सर्वप्रथम प्रेम और शृंगार से सम्बन्धित यौन-बिंब का उल्लेख करते है। हर स्वच्छन्दतावादी कवि में प्रेम और शृंगार की अनुभूति प्रबल रही है। वे जीवन-रस को उसकी पूर्णता मे चखने के पक्षपाती रहे है। केवल वे अनुभूतियाँ जो अवसीमा मूल्य की आवश्यक शर्त को पूरी कर सकी है, बिम्ब के रूप मे रूपायित हुई है। जो प्रौढ़ विचार रचनात्मक मानसिकता की स्थिति मे मानस मे कौधते हैं, उनमे इस अवसीमा मूल्य की आवश्यक शर्त को पूरा करने की क्षमता होती है। इन्हे 'पैराडाइम्स' की संज्ञा दी जाती हैं। ये 'पैराडाइम्स' 'पैराडाइमेटिक ईवेन्ट' से सम्बन्ध रखते है, अतएव उनके द्वारा बिंब-सृजन मे विशेष सहायता मिलती है। निराला की कविताओ मे ये विशेषतायें विद्यमान हैं। उनको पूरी 'यमुना के प्रति' कविता मे प्रेम की विविध स्मृत निदर्शनात्मक मनोदशायें कौंधती रहती है। अधिकाश स्वच्छन्द कवियो मे प्रेम के ये स्वरूप या तो रहस्यमय बना दिए गए है या अन्य माध्यमो से व्यक्त हुए है। निराला में अन्य लोगों की तुलना में यह प्रवृत्ति कम है। उनको निदर्शनात्मक अनुभूति अभिव्यक्ति के सहज और स्पष्ट माध्यम को स्वीकार करके चली है। 'यमुना के प्रति' मे निराला ने रति का बडा स्पष्ट और संश्लिष्ट बिंब प्रस्तुत किया है—

'वह सहसा सजीव कंपन द्रुत
सुरभि-समीर, अधीर वितान,
वह सहसा स्तंभित वक्षस्थल,
टल मल पद प्रदीप निर्वाण,
गुप्त रहस्य-सृजन-अतिशयश्रम
वह क्रम-क्रम से संचित ज्ञान
स्खलित वसन-तनु सा तनु अमरण
नग्न, उदाम व्यथित-अभिमान।'[१५४]

कविता के बिंबों को समझने के लिए भाष्य अपेक्षित नहीं है। निराला ने यहाँ काम को नई संज्ञा दी है; 'गुप्त रहस्य सृजन अतिशय श्रम वह क्रम-क्रम से संचित ज्ञान।' ये पंक्तियां उसे मूर्तिमान करने में सक्षम है। 'पंचवटी प्रसंग' में इसी को उन्होंने 'आदि रस' की संज्ञा दी है। 'रेखा' और 'प्रेयसी' रचनाओ में भी मिलन के इस नवीन आयाम को उद्घाटित करने के लिए अभिनव बिंबों को ग्रहण किया गया है। 'राम की शक्ति पूजा' मे 'पलको का पलको पर प्रथम उत्थान पतन' में इसी भूमिका के निश्छल स्वरूप को चित्रित किया गया है। 'सरोज-स्मृति' में भी उनकी अन्तर्दृष्टि शृंगार के सर्वथा अभिनव बिंब के सृजन में सक्षम है—

'देखती मुझे तू हँसी मन्द
होठो मे बिजली फँसी स्पन्द
उर मे भर झूली छविसुन्दर
प्रिय की अशब्द शृंगार मुखर
तू खुली एक उच्छवास संग,
विश्वास स्तब्ध बँध अंग-अंग
नत नयनों मे आलोक उतर
काँपा अधरो पर थर-थर-थर
देखी मैने वह मूर्ति धाति
मेरे वसन्त की प्रथम गीति-
शृंगार रहा जो निराकार
रस कविता मे उच्छ्वसित धार
गाया स्वर्गीया प्रिया संग
भरना प्राणो मे राग रंग
रति-रूप प्राप्त कर रहा वही
आकाश बदल कर बना मही[१५५]।'

गीतिका के 'स्पर्श से लाजलगी' कविता मे तो यमुना के उद्धृत अंश की तरह रति का पूर्ण कलात्मक बिंब उभडता है। उन्होने 'प्रिय पथ पर चलती' में शृंगार करके प्रिय से मिलने को जाती हुई नायिका के बिम्ब को प्रस्तुत किया है तो 'प्रिय यामिनि जागी' कविता मे रति-रंग का सुख भोगने के पश्चात् नायिका के स्वरूप का चित्र उरेहा है। संभवत: प्रेम और शृंगार की दशाओ के इतने कलात्मक और प्रौढ बिंब अन्यत्र दुर्लभ है। 'सरोज-स्मृति' के प्रसंग से यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि निराला ने निदर्शनात्मक अनुभूतियों को ग्रहण किया है, कुछ तो अपनी ऊर्जा से स्वयं कविता मे ढल गई है, पर कुछ को यथास्थान उनमे निहित संकेतो को ग्रहण करके उनके आधार पर उन्होंने रचना में ढाला है। इस स्थिति मे वे तटस्थ द्रष्टा मात्र रहे है। निराला ने इस प्रसंग से संबंधित अनुभूतियो को बिना रहस्यवाद, प्रतीकात्मक या अन्यापदेशिक स्वरूप प्रदान किए जिस निश्छलता के साथ व्यक्त किया है, वह उनकी महान विशेषता है। हर कविता के साथ उन्होने प्रेम-शृंगार की अनुभूति के नए आयाम का उद्घाटन किया है। उनके इन बिंबो की अपनी व्यंजक क्षमता है। वे निश्चित मानसिकता को चित्रित करने के लिए कुछ कार्य-व्यापारो का आश्रय ग्रहण करते है। ये कार्यव्यापार इतने सटीक ढंग से प्रस्तुत किए गए है कि उनमे निश्चित बिंब की रचना होती है। निदर्शनात्मक अनुभूति को निदर्शनात्मक घटना के माध्यम से व्यक्त करने के कारण ये बिंब विशेष प्रभावोत्पादक और व्यंजक बन जाते हैं। 'पृथ्वी तनया कुमारिका-छवि', अच्युत, 'लतान्त-

राल मिलन', 'नयनो का नयनो से गोपन-प्रिय संभाषण', 'पलको का नव पलकों पर प्रथम उत्थान-पतन', 'सहसा स्तंभित वक्षस्थल:' 'टलमलपद प्रदीप निर्वाण'; 'गुप्त-रहस्य सृजन अतिशय श्रम', 'क्रम-क्रम से सचित ज्ञान', 'स्पर्श से लाज लगी'; 'उर से नव राग जगी'; 'उर सरिता उमर्गा'; 'कण्ठ लगी उरगी' जैसे प्रयोग निश्चित मानसिकता के साथ ही उससे संबद्ध प्रभाव और काय के चित्रण मे पूर्ण समर्थ है। इससे कवि की प्रतिभा का सहज ज्ञान होता हे। कुछ बिंब-विरोधी विचारक इसे केवल अलंकरण का साधन मानते है। बिंब अलंकरण का साधन होते है पर इनकी इयत्ता वही समाप्त नही हो जाती है। ये सोदाहरण व्याख्या और स्पष्टीकरण के साधन होते है। 'राम की शक्ति पूजा' के विवेच्य अंश को ही लिया जाय। युद्ध सीता के लिए हो रहा है। रावण से उन्हे मुक्त करना है। पर अभी तक रावण अपराजेय सिद्ध हो रहा है। राम की इसी निराशा-जनित-स्थिति मे उनके मानस मे पुष्पवाटिका मे सीतादर्शन की स्मृति कौधती है। इसे कवि 'याद आया उपवन विदेह का' क द्वारा व्यक्त कर देता है। इसी के बाद वह उस स्मृति की विशेषता के चित्रण करने मे जुट जाता है। वह प्रथम स्नेह का उपवन था। उसी की लताओ की ओट मे राम को सीता का और सीता को राम का प्रथम दर्शन हुआ था।

उस प्रथम दर्शन मे ही वे एक दूसरे के हो गये थे। इसी स्थिति के चित्रण के लिए 'नयनों से नयनो के गोपन' और 'पलको पर पलको के प्रथमोत्थान पतन' का प्रयोग किया गया है। इसी के बाद कवि की दृष्टि वातावरण चित्रण की ओर जाती है। इतने महान् लोगो के प्रेम के अनुरूप ही प्रकृति को भी व्यवहार करना है। उसके किसलय काप रहे हैं, पराग समुदय झर रहे है, खग नव-जीवन-परिचय के गीत गा रहे है। वृक्ष सुगन्धि बिखेर रहे है। ज्योति का स्वर्गीय प्रपात झर रहा है। इसी मे वे 'तुरीय-कंपन' का अनुभव कर रहे है। स्पष्ट हे कि इस कविता मे बिंबो की एक लड़ी प्रस्तुत है, पर वह कार्य-कारण से ही संबद्ध नही हे अपितु भाव-विकास का प्रमुख सोपान भी सिद्ध हो रही हे। विवेच्य अंश के आदि से अन्त तक उनका परस्पर आन्तरिक घात-प्रतिघात अर्थ के आयाम को विस्तृत करता जा रहा है। प्रयुक्त बिंब उस परिस्थिति विशेष मे अनुभूति को व्यंजित ही नही कर रहे है अपितु उसको सोदाहरण व्याख्यायित भी कर रहे है। बिंबो की राह चलकर इस अंश-विशेष के स्पष्टीकरण मे सहायता मिल रही है। निश्चित वक्तव्य के सन्दर्भ मे इन बिंबो से बौद्धिक और भाव-बोधपरक स्पष्टता का ज्ञान भी हो रहा है। इनसे कवि के भाव-बोध के स्पष्टीकरण मे ही सहायता नही मिली है, भावक की प्रज्ञा भी उसी के अनुसार परिष्कृत और संबर्द्धित होती गई है। इन बिंबो की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता है इनका कलात्मक अन्तर्ग्रथन। तरल अनुभूति के अभिव्यंजक ये बिंब परस्पर घात-प्रतिघात के द्वारा रचना के सन्दर्भ और उसके आयाम को विशद और व्यंजनापूर्ण बनाते है। इन विशेषताओं के कारण ये कवि की रचनात्मक-रुझान को भी उद्घाटित करते है।

कुछ बिंब विचारों के आरोप के प्रतिफलन होते हैं, पर कुछ से विचार वैसे ही विकसित होते हैं जैसे पुष्प से पराग। इस दूसरे तरह के बिंब को रचनात्मक बिंब की संज्ञा दी जाती है। 'राम की शक्ति पूजा' 'यमुना के प्रति' अथवा 'स्पर्श से लाज लगी' के अधिकांश बिंब रचनात्मक कोटि के हैं। ये बिंब स्वत: पूर्ण हैं। इनकी व्याख्या के लिए हमें इनके अन्त: संबंध और संघटना पर ध्यान देना आवश्यक है।

आज के मनोविज्ञान के प्रभाव से कुछ लोग फान्तसी को ही रचनाशक्ति का पर्याय मान बैठे हैं। फान्तसी की अपनी विशेषताये है और फान्तसी तथा ललित कल्पना के बिंबो का अधिकांश स्वच्छन्द धारा के कवियो ने प्रयोग भी किया है। रामविलास जी तो 'राम की शक्ति पूजा' के पूर्वार्द्ध को फान्तसी मानते है। सचाई यह है कि हर कवि सपना देखता है, उसमे मन:सृष्टि क्रियाशील पाई जाती है, आशायें-अभिलाषाये तरंगायिक होती रहती हैं। जब वे यथार्थ से कट कर निश्चित् जीवन-उद्देश्य की वाहक हुए बिना केवल इच्छापूर्ति या स्वप्नपूर्ति का साधन होती है तो उन्हे फान्तसी कहना निरापद है। निराला 'स्फटिक-शिला' मे सद्य:स्नाता को भीगी साड़ी में देखते हैं, उनकी भावना उद्वेलित हो उठती है :—

आख पड़ी युवती पर
आई थी जो नहा कर
गीली धोती सटी हुई भरी देह में, सुघर
उठे पुष्ट स्तन, दुष्ट मन को मरोड़ कर,
आयत दृगों का मुख खुला हुआ छोड़ कर।
बदन कही से नही काँपता।
कुछ भी संकोच नही ढाँपता।
वर्तुल उठे हुए उरोजों पर अडी थी निगाह
चोच जैसे जयन्त की, नही जैसे कोई चाह
देखने की मुझे और
भरे हैं दिव्य स्तन, है ये कितने कठोर।
मेरा मन काप उठा, याद आई जानकी
कहा, तुम राम को
कैसे दिए हैं दर्शन।[१५६]

पूरी कविता में यही अंश विशेष महत्वपूर्ण है। नहा कर आई हुई युवती का मांसल सौन्दर्य पूर्ण निखर उठा है। साडी शरीर से सट गई है। पुष्ट स्तन और अंग यष्टि प्रत्यक्ष दीख पड़ रही है। युवती में अंग-गोपन की प्रवृत्ति नहीं है। वह नि:संकोच है। निराला मंत्रमुग्ध होकर उसके सौन्दर्य को निरख रहे हैं। स्तन के बिंब तीन बार आए हैं। पहली स्थिति में निराला प्रकृतिस्थ हैं। वे उसको देखकर अपनी सौन्दर्य की जिजीविषा को तृप्त करना चाहते हैं। पर दूसरी स्थिति में जयन्त

के माध्यम से वे समूचे अर्थसन्दर्भ को स्थानान्तरित करके उसे नए सन्दर्भ में प्रतिष्ठित कर दे रहे हैं। उन्हे लगता है सीता ने राम को दर्शन दिया है। 'पंचवटी' में सीता रामके साथ हैं, 'राम की शक्ति पूजा' में राम के मन में पुष्प वाटिका-प्रसंग कौंधता है, पर यहाँ कवि इच्छापूर्ति के लिए रचना में प्रवृत्त होता है, पर सारे सन्दर्भ को सहज ढंग से स्थानान्तरित कर देताहै। एक ही बिंब के कई सन्दर्भों में प्रयोग से उसका अर्थ-विस्तार हुआ है। प्रेयसी की तरह निराला यहाँ शृंगार को 'शुचिदृष्टि मूक रस सृष्टि' की संज्ञा नही देते हैं। वे अब मन की दुष्टता से परिचित हैं, इसीलिए वे, 'उठे पुष्ट स्तन, दुष्ट मन को मरोड़ कर' की बात करते है। इस अभिज्ञान से ही उनमे सीता के रूप का उदय होता है। इस अंश को भी कुछ लोगों ने मनःसृष्टि और इच्छापूर्ति का परिचायक माना है। अन्तिम कविताओं में इच्छापूर्ति के स्वप्न मुखर हैं, वे कामना करते है, 'मेरा फूल न कुम्हला पाए।[१५७] इसी को बचाने के लिए वे आराधना भी करते है, पर अन्ततोगत्वा उनका मोहभंग होता है; उन्हें लगता है कि पंजर-पिंजर कर से अब प्रार्थना व्यर्थ है। 'आराधना' में वे मानव को बैल घोड़ा मानते है और तन मन के इस जोड़े पर खूब हँसते है। वे इसी कविता के अन्त में लिखते भी है,

'पक पक ऐसा फूटा है
जैसा सावन का फोडा है[१५८]।'

मिलान कीजिए उनके छायावादी काल के बिंबों से इस बिंब का। अन्तर स्वतः स्पष्ट हो जायगा। 'अर्चना' में निराला ने लिखा है:—

'मन्दिर मे वन्दी हैं वारण
चिघर रहे है वन में वारण
रोता है बालक निष्कारण
बिना सरण सारण मरणी है।
शत संहत आवर्त- विवर्तों
जल पछाड़ खाता है पर्तों
उठते है पहाड फिर गर्तों
धँसते है मारण रजनी है।
जीर्ण-शीर्ण होकर जीती है
जीवन मे रहकर रीती है
मन की पावनता पीती है
ऐसी यह अकाम सरणी है[१५९]।'

यही नहीं बल्कि;—

'ऊँट बैल का साथ हुआ है।
कुत्ता पकड़े हुए जुआ है

यह संसार सभी बदला है,
फिर भी नीर वही गदैला है,
जिससे सिंच कर ठण्डा हो तन,
उस चित जल का नही सुआ है।
रूखा हो कर ठिठुर गया है,
जीवन लकडी का लडका है;
खोले कोपल, फले फूल कर
तरु तरु वैसा नही कुआ है १६०।'

अन्त की कविताओ मे यथार्थ बोध की तह इतनी सघन और घनीभूत हो गई है। फिर भी उनके सपने संजोने की प्रवृत्ति भी रह-रहकर कौधती रहती है। उदाहरण के लिए 'अर्चना' के 'तिमिर दारण मिहिर दरसो', 'नव-तन कनक-किरण फूटी है', 'पैर उठे हवा चली, उर-उर की कली खिली', 'अनमिल-अनमिल मिलते प्राण, गीत तो खिलते' जैसी फान्तसी प्रधान रचनाओ को लिया जा सकता है। यही प्रवृत्ति बाद मे 'साध्य काकली' की 'ताक कमसिनवारि', 'वारि बन वारि', 'मारिनो वाली वारी वे वारो घना', 'धिक मनस्सब मान गरजे' आदि रचनाओ मे विकसित होती है, जहाँ वे कल्पना के धरातल पर केवल ध्वनि के साथ प्रयोग करते दिखाई देते हैं।

निराला-काव्य मे ऐतिहासिक, पौराणिक, सास्कृतिक और मूल्यादर्शात्मक बिंबो का प्रयोग भी हुआ है। ऐतिहासिक, सास्कृतिक और मूल्यादर्शात्मक बिंब एक दूसरे से मिलते-जुलते है। इनका उत्कृष्ट उदाहरण 'तुलसीदास', 'महाराज शिवा जी का पत्र' तथा 'जागो फिर एक बार' म स्पष्ट रूप मे देखा जा सकता है। 'तुलसीदास' के आरम्भ में सास्कृतिक अधःपतन और अन्त म सास्कृतिक उत्थान के बिंब पाए जाते हैं। 'पंचवटी प्रसंग', 'यमुना के प्रति' और 'राम की शक्ति पूजा' मे पौराणिक बिंबों का प्रयोग मिलता है। 'राम की शक्ति पूजा' मे तो चेतना के उतार-चढाव के अनुसार उदात्त बिंब, (आरंभ मे विशेष रूप से) प्रातिभ बिंब (याद आया उपवन विदेह का · और अधिमानस बिंब (हनुमान के उर्ध्वगमन) मिलते है। इस कविता में देवी के पौराणिक स्वरूप का उल्लेख भी है। कविता के अन्त मे साधना के प्रतीकात्मक बिंबों की भरमार है। अन्त मे राम का वर देने के लिए उपस्थित देवी का स्वरूप स्वतः प्रतीकात्मक बिंब का उत्कृष्ट उदाहरण है। 'तुलसीदास' मे 'देखा शारदा नील वसना' और 'प्राची उर मे पुष्कल रवि-देखा' उत्कृष्ट प्रतीकात्मक बिंब के उदाहरण है। 'राम की शक्ति पूजा' 'फिर सुना हुंम रहा अट्टहास रावण खल-खल' 'खिच गए दृगों मे सीता के राममय नयन' भी इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय हैं। 'सरोज-स्मृति' मे कवि ने 'ज्योतिस्तरणा के चरणो पर' या 'ज्यो भोगावती उठी अपार' के माध्यम से इसका सफल प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्त 'गीतिका' में इसके अनेक उदाहरण भरे पड़े हैं। इसी अध्याय मे 'स्नेह निर्झर बह गया' है, पर

विश्लेषणात्मक ढंग से विचार किया गया है। उसमे 'निर्झर' 'आम की सूखी डाल' और 'पंक्ति' परिवेश की दीप्ति से अलंकृत प्रतीकात्मक बिंब हैं।

निराला का काव्य साहित्य सरल और जटिल बिंबों की सजावट और मंजावट का अद्भुत उदाहरण पेश करता है। सरल बिंब इकहरे और अश्लिष्ट होते हैं पर जटिल बिंब दुहरे-तिहरे होते हुए भी सश्लिष्ट होते हैं। प्रथम कोटि के बिंब का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण निराला की 'भिक्षुक' कविता मे मिलता है—

वह आता
दो टूक कलेजे को करता पछताता
पथ पर आता
पेट-पीठ दोनों मिलकर है एक
चल रहा लकुटिया टेक
मुट्ठी भर दाने को—भूख मिटाने को
मुंह फटी पुरानी झोली का फैलाता।[१११]

यहाँ जो कुछ भी कहा जा रहा है, उससे एक भिक्षुक का चित्र उभरता है। इस चित्र को उभारने के लिए कवि ने इकहरे बिंब का सहारा लिया है। संश्लिष्ट बिंब का उदाहरण उनकी अधोलिखित पंक्तियो मे देखा जा सकता है—

'यह तेरी रणतरी
भरी आकांक्षाओ से
घन भेरी गर्जन से सजग सुप्त अंकुर
उर मे पृथ्वी के आशाओ से नव जीवन की
ऊँचा कर सिर ताक रहे हैं,
ऐ विप्लव के बादल !
फिर-फिर
बार-बार गर्जन वर्षण है मूसलाधार
हृदय थाम लेता संसार
सुन-सुन घोर वज्र हुंकार।
अशनि पात से शायित उन्नत शत-शत वीर,
क्षत-विक्षत हत अचल शरीर,
गगन-स्पर्शी स्पर्द्धा-धीर।
हँसते हैं पौधे लघु भार
शस्य अपार, हिल-हिल, खिल खिल,
हाथ हिलाते, तुझे बुलाते
विप्लव-रव से छोटे ही हैं शोभा पाते।'[११२]

इसका संकेत किया जा चुका है कि 'बादल राग' की छठी कविता में निराला ने क्रान्ति का आह्वान किया है। इस कविता मे कई बिंब है, पर वे आपस में गुँथे हुए हैं। आकांक्षाओं से भरी रणतरी का चित्र पहले आया है। लेकिन उसी के साथ बादल के गर्जन से पृथ्वी के उर में सुप्त पडे हुए अंकुरों को आशा भी संबद्ध है। बादल आते हैं, झूमते है, गरजते और बरसते है। वे विप्लव के बादल है। उनकी विभीषिका से संसार त्रस्त हो उठता है, लेकिन छोटे पौधे उसी को अपना पोषक मानकर प्रसन्न होते है, उसका आह्वान करते है। उद्धृत अंश के आरम्भ मे बादल पृथ्वी के उर मे सुप्त अंकुरो मे नव-आशा का संचार करता है, अन्त मे वह लघु पौधों के आह्वान का विषय बनता है। विप्लव-नव-निर्माण का जनक होता है। नव-निर्माण अचल धीर-हृदय मे पडी हुई सुप्त इच्छाओ के आधार पर ही स्थान ग्रहण करता है। इससे तिरस्कृत और बहिष्कृत लोगो का भाग्य लौट आता है। इससे स्पष्ट है कि उपर्युक्त अश मे एक केन्द्रीय बिंब के साथ कई बिंब संग्रथित हैं। इस तरह के बिंब को संश्लिष्ट बिंब कहा जाता है।

'राम की शक्ति पूजा' और 'बादल राग' मे निराला ने उदात्त और गतिशील बिंबों का सफल प्रयोग किया है। वे ओज के कवि है, अपराजेय व्यक्तित्व मे निहित ओज के कवि। वे मुमूर्ष राष्ट्र को अपने ओज से अनुप्राणित करना चाहते हैं। उनके लिए बादल विप्लव का बादल है। इसके लिए वे सास्कृतिक चेतना का आलोड़न करते है। इससे उपलब्ध नवनीत को वे कविता का विषय बनाते हैं। 'राम की शक्ति पूजा' और 'तुलसीदास' मे उदात्त बिंबो की प्रचुरता है। दोनो कविताओ का आरम्भ इसी तरह के बिंबो से होता है। इनके बिंब, क्रिया के सूचक हैं अतएव वे गतिशील है। 'बादल राग' मे भी गतिशील बिंबो की छटा देखने को मिलती है, 'झूम-झूम मृदु गरज-गरज घनघोर' जैसे अंश उसके उत्कृष्ट उदाहरण है। 'बनबेला' का अधोउद्धृत अंश इस दृष्टि से द्रष्टव्य है :—

झुक-झुक, तन-तन, फिर झूम-झूम हस-हस झकोर
चिर परिचित चितवन डाल सहज मुखड़ा मरोर
भर मुहुर्मुहुर, तन गंध, विकल बोली बेला— ।[१६१]

क्रियाओ और मुद्राओ का इतना सटीक वर्णन बिना सूक्ष्म निरीक्षण और तत्वाभिनिवेशी रचनात्मक दृष्टि के संभव नही है। निराला की 'राम की शक्ति पूजा' मे क्रिया और गति के साथ ही उसका प्रभाव भी मूर्तिमान होता गया है। इसमे विश्वसनीय वातावरण के चित्रण मे उन्हे अप्रतिम सहायता मिला है—

शत घूर्णावर्त, तरंग-भंग उठते पहाड़
जल-राशि-राशि-जल पर चढता खाता पछाड़
तोड़ता बंध-प्रतिसाध धरा हो स्फात वक्ष
दिग्विजय अर्थ प्रतिपल समर्थ बढ़ता समक्ष।

शत-वायु-वेग-बल, डुबा अतल मे देश-भाव
जलराशि विपुल मथ मिला अनिल मे महाराव।
बज्राग तेजघन बना पवन को महाकाश
पहुँचा एकादश रुद्र क्षुब्ध कर अट्टहास।[१६४]

उपर्युक्त अंश मे क्रिया है; गति, ओज और औदात्य है; इसके पूर्व भी समुद्र उमड़ा है, पर इस रूप मे नही जिस रूप मे यहाँ उमड़ रहा है। यहाँ सभी तत्व उस विभीषिका के विषय बन गए है। लहरें उठ रही है, जल-जल पर चढ कर पछाड खाकर गिर रहा है, वह सीमाहीन होकर पृथ्वी पर फैल रहा है। वायु भी इस स्थिति मे जल की सहायक है। ऐसा इसलिए हो रहा है कि राम की अर्चना के मूर्तिमान अक्षय शरीर हनुमान क्षुब्ध होकर उर्ध्वगगन के लिए तत्पर है। इस अंश की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि हनुमान के उर्ध्वगमन की स्थिति मे प्रकृति भी उन्ही के मनोवेग के अनुरूप क्रियाशील दिखाई गई है। हम यह भी कह सकते है कि प्रकृति के इन विशेष रूप से सक्रिय बिबो के माध्यम से कवि हनुमान के उर्ध्वगमन की विश्वसनीय पृष्ठभूमि तैयार करता है।

बिब की कुछ अन्य कोटियो का निराला-साहित्य मे प्रचुर प्रयोग मिलता है। इनमें छायात्मक, सज्जात्मक और घनात्मक बिब प्रमुख हैं। पूर्व पृष्ठों मे किसी सन्दर्भ मे हमने इस तथ्य का उल्लेख किया है कि बिब अलंकरण के माध्यम भी होते है। प्रायः काव्यशास्त्र मे अलंकार को भी काव्य के शोभा कर धर्म की संज्ञा दी गई है। इससे यह तथ्य स्वतः स्पष्ट हो जाता है कि इन बिबो मे अलंकार की विशेषतायें प्रस्तुत रहती है। छायावादी कविता बिब के नए प्रयोग की कविता है, फिर भी उसमे यथास्थान परंपरित उपमानो का प्रयोग भी मिलता है। निराला इससे सर्वथा मुक्त नही है। उनकी कविता मे भाव, मंजाव और सजाव की प्रवृत्ति पाई जाती है। अतएव कुछ बिबो के द्वारा वे उसे अलंकृत करने का प्रयास भी करते है। उदाहरण के लिए अधोलिखित अंश द्रष्टव्य है—

ये दीपक जिसके सूर्यचन्द
बँध रहा जहाँ दिग्वेश काल
सम्राट उसी स्पर्श से खिली
प्रणय के प्रियंगु की डाल-डाल।'[१६५]

अथवा

भेद कर पंक
निकलता कमल जो मानव का
वह निष्कलंक
हो कोई सर।'[१६६]

यहाँ स्पष्ट रूप से परंपरित उपमानो के प्रयोग के द्वारा कवि ने अपने कथ्य को अलंकृत और चमत्कृत करने का उपक्रम किया है। सूर्य चन्द्र दीपक हैं, प्रियंगु की डाल ही प्रेम की डाल है। कमल कीचड से ही निकलता है, लेकिन कीचड की पंकिलता उसका स्पर्श नही कर पाती है। वह निष्कलंक होता है। सूर्य, चन्द्र, प्रियंगु, पंक और कमल के द्वारा कवि ने संपूर्ण कविता के अर्थ को अलकृत और चमत्कृत किया है।

छायात्मक बिंब बहुत स्पष्ट नही होते। उनके पढने से भी पाठक के मानस मे कोई स्पष्ट चित्र नही बनता। ये मूलत: कवि की रहस्यवादी चेतना के परिचायक होते है। स्वच्छन्दधारा की कविता मे इन बिंबो का प्रचुर प्रयोग हुआ है। प्रसाद की बहुचर्चित कविता ले चल 'मुझे भुलावा देकर' इसका स्पष्ट उदाहरण मानी जाती है। निराला के 'तुलसीदास' से उदाहरण प्रस्तुत है—

'दूर, दूरतर, दूरतम शेष
कर रहा पार मन नभादेश
सजता सुवेश फिर-फिर सुवेश जीवन पर
छोडता रंग फिर फिर सँवार
उडती तरंग ऊपर अपार
संध्या ज्योति: ज्यों सुविस्तार अंबर पर।
उस मानस उर्ध्व देश में भी
ज्यो राहु ग्रस्त आभा रवि की
देखी कवि ने छवि छाया-सी, भरती सी—
भारत का सम्यक देशकाल
खिचता जैसे तम-शेष जाल
खीचती, वृहत से अन्तराल करती सी[१६७]।

इन उपर्युक्त पंक्तियों से कोइ स्पष्ट बिंब उभड़कर हमारे सामने नही आता; इसमे कवि ने उर्ध्वगामी मन के विस्तार के स्वरूप पर प्रकाश डाला है। उर्ध्वगमन तभी संभव होता है जब हम अपने संस्कारों से (अर्जित, प्रारब्ध और क्रियमाण) मुक्त हो सके। इन संस्कारो से मुक्त होने के लिए कवि को इनके उभाड की स्थिति में उन्हे देखना और भोगना पडता है। हर तरह के संस्कार के अपने रंग होते है। इसी लिए साधक को अन्तर्मन मे जो चित्रावली दिखाई पडती है वह बहुरंगी होती है। इस चित्रावली से साधक-मन भर उठता है—उसके अन्त-हीन क्रम मे वह उलझ जाता है। लेकिन इसी के बाद विवेक-नेत्र भी खुलते हैं। तुलसीदास के विवेक-नेत्र खुले भी हैं। वे उस उर्ध्वगमन मे भारत की दुर्दशा का चित्र देखते है। स्पष्ट है कि व्यंजना के धरातल पर कथ्य तो स्पष्ट हो जाता है, पर इसके बावजूद एक धूमिल

छाया-चित्र ही मानस के समक्ष उपस्थित हो पाता है। इस तरह के चित्रों की विशेषता निराला की 'स्वप्न-स्मृति' कविता के प्रथमांश में भली प्रकार निरूपित है—

'आँख लगी थी पल भर,
देखा, नेत्र छलछलाए दो
आए आगे किसी अजाने दूर देश से चलकर।
मौन भाषा थी उनकी किन्तु व्यक्त था भाव
एक अव्यक्त प्रभाव।[१६८]

मौन-भाषा के व्यक्त-भाव किन्तु अव्यक्त प्रभाव से निराला भलीभाँति परिचित थे। वे ज्यो 'पुकार मधि मौन' की स्थिति से अनेक बार गुजर चुके थे। यही विरोधाभास उनके छाया-बिंबो के सृजन का मूलकेन्द्र बिन्दु था।

घनात्मक बिंब अनुभूति प्रणवता को असाधारण कौशल से अभिव्यक्त करने के प्रमुख साधन होते है। हर कवि मे उद्दीपन की प्रकृति के अनुसार भावों की सशक्त या अशक्त अवतारणा होती है। अशक्त अवतारणा को वह सहज ही झेल लेता है, पर भावों की सशक्त अवतारणा को झेलना बडा दुष्कर कार्य है। वह सबके वश का नही होता। कलाकार जब उसे झेलता है तो उसकी रचना में उससे अनायास ही सघन बिंबों की अवतारणा होती है। बिंब प्रमुख रूप से अनुभूति की प्रकृति और रचनात्मक मानसिकता के परिचायक होते हैं। इसीलिए सघन-बिंब द्वारा अभिव्यक्त अनुभूति भी भाव शबल मनःस्थिति की परिचायक होती है। 'सरोज स्मृति' इसका ज्वलन्त प्रमाण है। कुछ स्थल द्रष्टव्य हैं,

(अ) 'अशब्द अधरों का सुना भाष
मैं कवि हूँ पाया है प्रकाश
मैं ने कुछ अहरह रह निर्भर
ज्योतिस्तरणा के चरणों पर [१६९]।

(ब) 'नैश स्वप्न ज्यो तू मन्द-मन्द
फूटी उषा जागरण छन्द
काँपी भर निज आलोक भार
काँपा बन काँपा दिक् प्रसार।
परिचय परिचय पर खिला सकल
नभ, पृथ्वी, द्रुम, कलि, किसलय दल।
क्या दृष्टि अतल की सिक्त की धार
ज्यों भोगावती उठी अपार [१७०]।

(स) तुझ पर शुभ पड़ा कलश का जल,
देखती मुझे तू हंसी मन्द

होठों मे बिजली फंसी स्पन्द,
उर मे भर झूली छवि सुन्दर
प्रिय की अशब्द शृंगार मुखर
तू खुली एक उच्छ्वास संग
विश्वास स्तब्ध बंध अंग-अंग,
नत-नयनो से आलोक उतर
कांपा अधरों पर थर-थर-थर ।[१७१]

वैसे उपर्युक्त अंशो मे प्रतीकात्मक बिंब के लक्षण भी पाये जाते है, पर इन्हें मेरी दृष्टि से सघन-बिंब मानना ही अधिक उचित और तर्कसंगत है। भावदीप्ति, सघनता, सहज कलात्मक अभिव्यक्ति कौशल इन उद्धृत अंशों की प्रमुख विशेषता है।

निराला-काव्य मे संवेदना-बिंब और मुक्त अनुषंग-बिंब का सफल प्रयोग हुआ है। संवेदना-बिंब के सफल प्रयोग को दृष्टि से 'दिल्ली' और 'यहो' कविता को लिया जा सकता है। अधोलिखित अंश इस दृष्टि से ध्यातव्य है—

'यमुना की ध्वनि मे
है गूंजती सुहाग गाथा
सुनता है अंधकार खड़ा चुप-चाप जहाँ,
आज वह फिरदौस
सुन सान है पड़ा ।
शाही दीवान-आम स्तब्ध है हो रहा,
दुपहर को पार्श्व मे, उठता है झिल्ली रव,
बोलते है स्यार रात यमुना कछार में,
लीन हो गया है रव
शाही अंगनाओं का
निस्तब्ध मीनार
मौन है मकबरे ।
भय मे आशा को जहा मिलते थे समाचार
टपक पड़ना था जहां आसुओ में सच्चा प्यार ।[१७२]

वैसे इस कविता मे सांस्कृतिक ऐतिहासिक संस्पर्श प्रमुख है। यमुना का संबंध सहज ही विगत रस-रंग से स्थापित हो जाता है। अतएव उसके माध्यम से कवि सुहाग-गाथा की अनुगूंज को चित्रित करता है। लेकिन उसको सुनने का कार्य अंधकार कर रहा है। एक समय जिस फिरदौस में चहल-पहल और रंगीनी का वातावरण छाया रहता था आज वह जन-रव-शून्य हो गया है। शाही दीवान भी स्तब्ध है। दोपहरी में वहां झिल्लियों की झंकार उठती है। रात में स्यार बोलते हैं। शाही

अंगनाओ का मीठा स्वर लुप्त हो गया है। मीनार और मकबरे मौन है। सब कुछ बदल गया है। पूरी कविता मे संवेदना के उतार-चढ़ाव का सफल चित्रण है। उसके दो पार्श्व विशेष रूप से उभाड़े गए है, अतीत का वैभवशाली स्वरूप और वर्तमान का वैभव-मुक्त स्वरूप तुलनात्मक दृष्टि मे प्रस्तुत किया गया है। इस तुलना के माध्यम से कवि अपने वक्तव्य को स्पष्ट करने मे पूर्ण समर्थ है। अन्तिम दो पंक्तियो में कवि की संवेदना पूर्णता के साथ मूर्तिमान हो उठी है। यमुना और फिरदौस के साथ जो अर्थ-सन्दर्भ जुड़ा हुआ है, उसको कलात्मक ढग से आधुनिक स्थिति के साथ संबद्ध कर दिया गया है। इससे अतीत-वैभव के परिपार्श्व मे वर्तमान वैभवहीनता का चित्र सहज ही चटकीला बन गया है। स्यार के बोलने और झिल्लीरव ने उसकी नीरवता और स्तब्धता को और उभाड दिया गया है। इसी के सन्दर्भ मे मकबरो का मौन और शाही मीनार का स्तब्ध होना, तथा शाही अंगनाओ के स्वर का लीन हो जाना विशेष अर्थ व्यंजक बन गया है। उद्धृत अंश की संघटना से निरूप्य संवेदना बडे ही कलात्मक ढंग से मुखर होती है।

हमने कल्पना के सैद्धान्तिक पक्ष के सन्दर्भ मे अनुपंग का उल्लेख किया है। मुक्त अनुपग प्रधान बिब बिखरे और खण्डित होते है। इनकी रचना मे फान्तसी का विशेष सहयोग होता है। इन बिबो के अतिरिक्त निराला काव्य मे मानववादी चेतना के अनेक बिंब हैं। यहा उनका स्वर यथार्थवादी और व्यग्यात्मक है। यह प्रवृत्ति उनमे आरम्भ से ही उपस्थित रही है। लेकिन रचना के दूसरे काल मे इसमे विशेष निखार आया है। यहाँ भाषा सपाट और तथ्यपरक हो गई है। फिर भी बिंबो के प्रति उनम विशेष आग्रह बना हुआ है। 'नये पत्ते' की रचनाओ में उनकी इस प्रवृत्ति को चार चाँद लग गया है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य है,—

(अ) 'काँपे कुल अंग,
दाई आँख से
आँसू भी वह चले माँ के दुख से,
लेकिन वह बाईं आँख रानी
ज्यो की त्यो रह गई रखती निगरानी।[१७१]

(ब) दौड़ते है बादल ये काले काले
हाईकोर्ट के वकले मतवाले। [१७४]

(स) मुहोमुह रहे
एक पेड पर दो डालो के काँटो जैसे
अपनी अपनी बली तौलते हुए।[१७५]

(द) चेहरा पीला पड़ा।
रीढ़ झुकी। हाथ जोड़े।

आँख का अंधेरा बढ़ा
सैकड़ों सदियां गुजरी ।[१७१]

(य) लोगो के साथ कुत्ता खेतिहर का बैठा था,
चलने सिपाही को देख कर खड़ा हुआ
और भौकने लगा
करुणा के बंधु खेतिहर को देख कर ।[१७७]

(र) जमकर बदलू ने बदमाश को देखा
उठा क्रोध से भर कर
और एक घूँसा तानकर नाक पर दिया
गोड़इत प्रेमी जन था,
ज़मीन चूमने लगा ।[१७८]

(ल) 'जगह गन्दी, रुका सड़ता हुआ पानी
मारियो मे ज़िन्दगी को लन्तरानी
बिन-बिलाते कीड़े, बिखरी हड्डियाँ
मेहतरो की, परो का थी गड्डियाँ
कहीं मुर्गी कहीं अण्डे
घूर खाते हुए कण्डे
.....रहते थे नव्वाब के ख़ादिम
अफ्रीका का आदमी आदिम ।'[१७९]

इन बिंबो के नाज़-नक़्श, तेवर और 'टोन पहले के बिबो से सर्वथा भिन्न हैं। इसके पूर्व इनकी विशेषताओ पर बहुत कुछ लिखा जा चुका है।

अन्त मे हम बिंब-रचना सम्बन्धी कुछ महत्वपूर्ण तथ्यो को प्रस्तुत करके इस अध्याय का समापन करना चाहते हैं। निराला सचेतन कलाकार रहे हैं। हरजीवन-बोध को उन्होने भोगा ही नही जिया भी है। इससे उनमे अनुभूति की प्रखरता, सप्राणता, विश्वसनीयता और केन्द्रीयता पैदा हुई है। उनकी अनुभूति में लोक और लोकोत्तर दोनों बँधे हैं। इसके परिणामस्वरूप स्थूल और सूक्ष्म का मणिकांचन योग पाया गया है। निराला की रचनात्मक मनोभूमि के कई स्तर हैं। वह बोध की सहज क्रिया से लेकर अधिमानस अनुभूति की विशेषताओं से मण्डित है। इसलिए उनमे जो उदात्त चेतना-प्रसूत काव्य है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। अनुभूतिके अध्याय में हमने इसके कई स्वरूपों का उल्लेख किया है। निराला के बिम्ब को समझने के लिए हमें उनके अनुभूति के स्वरूप को समझना है। छायावादियो मे निराला में फान्तसीबिंब बहुत विरल हैं। कुछ लोगों को उनकी महत्वपूर्ण रचनाओं में भी इनका दर्शन हुआ है। इसका कारण स्पष्ट है। ऐसे आलोचक प्रायः अनुभूति के उच्चतर स्वरूपों से

अपरिचित है। वे यह नही जानते कि उन स्थितियों मे रचनात्मक मानसिकता का क्या स्वरूप होता है। मै इतना नि.संकोच भाव से कह सकता हूँ कि निराला ने कम से कम अपनी रचना को समझने या समझाने का सूत्र प्रदान किया है। इसके लिए उनके काव्यशास्त्र को समझना आवश्यक है। पर उसकी ओर रामविलास जी को छोडकर कम आलोचकों की दृष्टि गई है। निराला मे ललित कलना और फान्तसी के चित्र है, पर बहुत कम। बिंबों को समझने के लिए अनुभूति प्रवण और रचनात्मक मनोभूमि के साथ ही अनुषंगो और सन्दर्भो पर भी विचार करना आवश्यक है। इसम उनकी प्रकृति का सही ज्ञान होता है। निराला की महत्ता इस तथ्य मे नही निहित है कि उन्होंने अनेक तरह क बिंबो का उपयोग किया है, अपितु इस बात मे निहित है कि बिबो को जो अनुषंग और सन्दर्भ उन्होने प्रदान किया है, वे कलात्मक और व्यंजक है। इससे उनकी बिंब रचना हमारे अनुभूति के आयाम को व्यापक, प्रशस्त और विशद बनाती है।

नवम अध्याय

उपसंहार

साहित्य और कला मूल्य विधायक होती है और रचना-प्रक्रिया उस मूल्य विधान का प्रमुख साधन। निराला इस तथ्य से भली प्रकार परिचित रहे हैं। उनके रचना के सम्बन्ध में इतस्तत. बिखरे विचारों का उचित आलोडन और मंथन करने से इसका प्रमाण सहज ही मिल जाता है। निराला ने क्या लिखा, क्यों लिखा और किसके लिए लिखा? से अपने को निरन्तर परिचित रखा। उन्होंने कैसे लिखा का भी इतस्तत. संकेत कर दिया। स्वच्छन्द धारा के कवि अपनी रचना-प्रक्रिया से पूर्वादर्शवादी कवियों की तुलना में अधिक परिचित रहे हैं। निराला में इस धारा की कविता को विशेषताये हैं, उन्होंने अपने जीवन में उन्हें अतिक्रमित भी किया है। रचना के किसी निश्चित आदर्श तक ही सीमित रखकर उनको मूल्यांकित करना उनको प्रकारान्तर से न समझने का प्रयास करना है। वस्तु और शिल्प का इतना घना कवि-युगस्रष्टा रचनाकार—किसी भी साहित्य को बड़े पुण्य से प्राप्त होता है। निराला ने कविताये रची है और उनकी कविताये निश्चित स्थापत्य और 'डिजाइन' की परिचायक भी है। उन्होंने अपनी कविताओं में मूर्तिकार जैसे मूर्ति गढ़ी है। अपनी कलम से संवेदना को तराश-तराश कर भव्य मूर्तियों का निर्माण किया है। उन्होंने शब्दों का चित्र बनाया है और उसे अपनी भावना के रंग से रंगा है। उन्होंने शब्द और ध्वनि की साधना की है और उनकी यह साधना तरह-तरह के रागों, तालों और लयों की सहज कलात्मक परिणति से हमें जीवन-बोध के विविध स्तरों का परिचय कराने में समर्थ है। तात्पर्य यह कि निराला सर्वतोभावेन जीवन के यशस्वी कलाकार रहे हैं, जिनकी सचेतन कलात्मक दृष्टि से साहित्य के भाण्डार की श्रीवृद्धि हुई है।

रचना प्रक्रिया को समझ कर रचना का मूल्यांकन करने से ही ये तथ्य अधिक व्यवस्थित और प्रभावोत्पादक ढंग से हमारे समक्ष उपस्थित हो सकते हैं। उसका उचित ज्ञान न होने के कारण ही रचना में आये दिन वादों का विवाद खड़ा होता रहता है और किसी रचनाकार को अपने अनुकूल न पाकर उसपर कीचड़ उछाला जाता है। अपनी समग्र चेतना को तप्त करके, पिघला करके, तरह-तरह की यातनाओं को भुगत करके, अपने अमन-चैन को तिलांजलि दे करके, अपने को जीवन अथवा उसके आदर्शों के प्रति पूर्ण समर्पित करके, रचनाकार इसलिए रचना नहीं करता कि उसको निश्चित सांचे में ढलकर उसे ऊल-जलूल मानदण्डों के आधार पर मूल्यांकित करके समालोचक अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ लें। हर महान् रचनाकार अपनी रचना की राह चुन कर, प्रेरणाओं के प्रति प्रतिबद्ध होकर, अपने को ही पुनर्रचित नहीं करता, अपितु अपनी रचना में अपने मूल्यांकन का मानदण्ड भी प्रदान करता है। लेकिन दुर्भाग्य यह है कि हम उसकी

रचना-प्रक्रि ा को समझ कर उससे उपलब्ध मानदण्डों के बजाय अपने पूर्व निर्दिष्ट मानदण्ड के आधार पर उसका मूल्यांकन करने है। हम रचनाकार को समझने का प्रयत्न कम और उसके माध्यम से अपने दुराग्रहों को प्रतिपादित करने का प्रयत्न अधिक करने है। इससे रचनाधर्मिता को आघात पहुँचता है। इससे आलोचक की स्थिति भी उस धर्मोपदेशक जैसी हो जाती है जो अपनी तोता-रटन्त शब्दावली मे सूत्र-वाक्यों को बिना समझे-बूझे, बिना अपने जीवन मे उतारने का प्रयत्न किये, उन्हे अनाप-शनाप ढंग से बक देता है, पर उसमे श्रोता का कोई कल्याण नही हो पाता है। आज कुछ इनेगिने शब्द आलोचना के भाग्य-विधाता बने हुए है। आलोचना को 'मै ऐसा मानता हूँ' जैसी बचकानी पुनरावृत्ति से मुक्त होना चाहिए। यह तभी हो सकता है जब आलोचक को रचना-धर्मी मानसिकता की खरी परख हो और वह रचना-प्रक्रिया से भलीभांति अवगत हो। रचना-प्रक्रिया के सही विवेचन-विश्लेषण के आधार प जो भी मानदण्ड स्थापित होगे, वे हर तरह के दुराग्रह से मुक्त होगे और उनके द्वारा रचनाकार को भलीभांति समझा भी जा सकेगा।

प्रश्न यह है कि इन मानदण्डो का आधार क्या हो? इनको समझने के लिए बहुत अधिक प्रयत्न करने या दूर की कौडी ले आने की जरूरत नही है। इसमे कोई भी सुबुद्ध व्यक्ति असहमत नही हो सकता कि रचना अनुभूति की अभिव्यक्ति का परिणाम होती है। यह अभिव्यक्ति निश्चित मानसिकता मे स्थान ग्रहण करती है और इसमे प्रेरणा और शक्ति का सहयोग होता है। लेकिन विडम्बना यह है कि इन स्वरूपो को उनके सैद्धांतिक रूप मे समझने से हम निरन्तर मुकरते है। आजतक हमने अगर केवल अनुभूति का निराकरण कर लिया होता तो भी रचना-प्रक्रिया को समझने के अनेक सूत्र हमे स्वयमेव उपलब्ध हो गए होते। हिन्दी आलोचको में केवल आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसे समझने का प्रयास किया था। लेकिन उनके निबन्धो को मनोविकार सम्बन्धी निबन्ध या काव्यशास्त्र सम्बन्धी निबन्ध कहकर हमने मुक्ति पा ली। वह परम्परा हिन्दी मे चल न सकी। इधर के समालोचक कृतिकार की रचनात्मक मानसिकता को समझने के लिए लालायित अवश्य है, लेकिन वे रचना के शरीर की मासपेशियों के आधार पर आत्मा तक पहुँचना चाहते है। वे संज्ञाओं, क्रियाओ और क्रिया विशेषणो को गिनकर रचनाधर्मी दृष्टि को उद्घाटित करना चाहते है। उन्हे इस बात की कोई चिन्ता नही है कि इन शब्दो के प्रयोग के पीछे और कोई तथ्य निहित है जो इन्हे सार्थकता प्रदान करता है, इन शब्दो का सन्दर्भ और अनुषग है, जिनमे ये विशेष रूप से अलंकृत होते हैं, और इनके मूल मे रचनात्मक मानस की ऊर्जा है, जिनसे ये विशेष रूप से चमत्कृत पाए जाते हैं। फिर केवल अभिव्यक्ति म प्रयुक्त शब्दो के माध्यम से अभिव्यक्ति की मूल-चेतना तक कैसे पहुँचा जा सकता है? इन्हे अलग-अलग देखने के बजाय अभिव्यक्ति के उन मूलभूत स्वरूपों से सम्बद्ध करके देखना पड़ेगा, जो रचना में प्रच्छन्न रूप से

क्रियाशील पाए जाते हैं। एक दुनियाँ है जिसमें हम रहते है, और हमारे साथ ही रचनाकार भी रहता है। हम भी उसके घात-प्रतिघात से प्रभावित होते हैं और रचनाकार भी प्रभावित होता है। रचनाकार अपने उस अनुभव को पुनर्रचित करता है। उसे शब्द और अर्थ प्रदान करता है। परिणाम यह है उसकी रचना अभिनव व्यंजना और संस्पर्श से संयुक्त हो उठती है। इस तरह हमारे अनुभव के केन्द्र यथार्थ जगत और उसके पुनर्रचित रूप मे गुणात्मक और परिमाणात्मक भेद हो जाता है। 'राम की शक्ति पूजा' के आख्यान को ही लीजिए उसका उल्लेख 'देवी भागवत' और 'कृत्तिबास रामायण' में मिलता है। लेकिन अगर निराला को वही कहना है जो पहले कहा जा चुका है तो उनको कुछ रचने की आवश्यकता नही है। जूही के फूल से सभी लोग परिचित है, सुगन्धित श्वेत फूलो का हवा मे हिलते हुए देखकर हर्ष भी होता है। पर निराला की 'जूही की कली' या 'बनबेला' की व्यंजना केवल उनके जागतिक स्वरूप तक केन्द्रित नहीं रह जाती। कारण स्पष्ट है। कवि उपादान को देखकर कविता नहीं लिख रहा है। वैसा करता तो वह वर्णन हो सकता था कविता नही हो सकती थी। वह तो अपने पूर्वानुभूत प्रभाव को पुनर्रचित करता है। इस क्रिया मे वह प्रभाव और न मालूम कितने प्रभावों से मिलकर एक अभिनव स्वरूप ग्रहण कर लेता है। पुष्प तो क्षणभंगुर है, पर निराला की ये रचनाये स्थायी आनन्द की जनक। ऐसा क्यों होता है? इसीलिए न कि रचनाकार ने अपनी अनुभूति को—प्रेरणा के माध्यम से उद्दीप्त होकर मानस मे तिरने वाली अनुभूति को– संश्लिष्ट रूप में अभिव्यक्त किया है। इस अनुभूति और अभिव्यक्ति की क्रिया मे उसके समूचे व्यक्तित्व के साथ ही उसकी आन्तरिक ऊर्जा का अप्रतिम सहयोग रहा है। इन सबके माध्यम से गल-पच कर, तराश-खराद कर जो अभिनव स्वरूप हमारे समक्ष उपस्थित होता है वह मूल्यवान होता है। रचना के मूल्य का प्रमुख रहस्य उसका नवोन्मेष होता है–ऐसा नवोन्मेष जो कवि को दृश्यजगत को ही नही अपने को भी अतिक्रमित करने की सामर्थ्य प्रदान करता है। इसीलिए रचना अपने अनुभूति के विषयों से अधिक सप्राण, जीवन्त और व्यंजक बन जाती है। निराला मे ये विशेषतायें प्रभूत मात्रा में विद्यमान हैं। उनमें परम्परा भी है, पर प्रायः वह उनकी प्रयागशीलता की भट्ठी में गल कर अभिनव संस्पर्शों से संयुक्त हो उठी है। इस प्रकार रचनाकार की अनुभूति कल्पना के माध्यम से अभिव्यक्त होकर अपनी व्यंजना मे बाह्य जगत के कार्य-व्यापारों से अधिक व्यंजक और स्थाई स्वरूप का उद्घाटन कर सकी है। इससे यह सिद्ध होता है कि कवि की अनुभूति का निर्माणक तत्व बाह्य जगत है जिसमे वह निवास करता है। रचना की स्थिति मे अन्य अनुभवों से मिलने के कारण, संश्लिष्ट होने के कारण, वह बदल कर नया स्वरूप ग्रहण कर लेती है। इसीलिए अभिव्यक्त होने पर वह रचनाकार को ही नई नही ज्ञात होती, पाठक भी उसकी नवीनता से चमत्कृत हो उठता है।

इस प्रकार रचना का कल्पना द्वारा निरूपित यह जगत यथार्थ जगत् से कुछ अधिक मर्मस्पर्शी और प्रभावोत्पादक बन जाता है। उसकी यह रचना न तो केवल यथार्थ होती है, न काल्पनिक और न मानसिक। इसमें सबका समान योगदान होता है।

प्रेरणा, अनुभूति और अभिव्यक्ति के अध्यायों मे हमने अनेकों बार आत्मसंघर्ष और अभिव्यक्ति के संकट का उल्लेख किया है। इस तथ्य पर भी प्रकाश डाला है कि अनुभूति की तीव्रता की अवस्था में आन्तरिक ऊर्जा के सहयोग से रचना स्वयंचालित रूप मे अभिव्यक्त होने लगती है। पुनः इस रहस्य का भी संकेत किया है कि प्रेरणा के अशक्त होने पर रचना कार्य आरम्भ तो हो जाता है, पर बीच ही में अवरूद्ध भी हो जाता है। इन उपर्युक्त स्थितियो के अतिरिक्त रचना मे और स्थितियाँ भी आ सकती है। हमने निराला, रवीन्द्रनाथ और कुछ अन्य पाश्चात्य कवियो को उद्धृत करते हुए उनकी कारावास जनित अनुभूति पर भी प्रकाश डाला है। निराला की 'तोडो-तोड़ो-तोड़ो कारा—निकले गंगा जल धारा' जैसी रचनायें इसी अभिव्यक्ति के संकट की परिचायक है, उनकी रचनाओ से इसके और भी अनेक सूत्र मिलते है। स्वयं चालित लेखन को बाह्य दृष्टि से देखने से ऐसा लग सकता है कि उसमे यह संकट नही उपस्थित है। लेकिन इसका पहले ही संकेत किया जा चुका है कि रचनात्मक कौंध होने के पूर्व तत्परता और पुनर्पोषण के स्तर पर रचनाकार को कम संघर्ष नही करना पड़ता। उसके अनेक प्रयत्न रचना के पूर्व असफल सिद्ध हो चुके होते है। न तो हर अनुभूत रचना का विषय होती है और न हर प्रयत्न। वही अनुभूति रचना का विषय बन सकती है जिसका 'अवसीमा' मूल्य होता है। प्रौढ़ होकर अवसीमा मानस मे तिरने वाली अनुभूतियाँ भी अपने अन्दर अपनी अभिव्यक्ति का निर्देश निहित किए रहती है। रचनाकारो को इन निर्देश-गर्भित स्वरूपों को समझना और उनका विश्लेषण करना पडता है। कुछ अनुभूतियो मे निदर्शनात्मक तत्व होते है, अतएव उन्हे निदर्शनात्मक घटनाओ के माध्यम से ही व्यक्त किया जा सकता है। मानस की अवधानता के अनुरूप प्रेरणा का स्वरूप सशक्त-अशक्त किसी भी तरह का हो सकता है। सशक्त स्वरूप पूर्ण अवधान की स्थिति मे रचना को वृहत्तर, सूक्ष्म और रहस्यवादी स्वरूपों को हस्तामलकवत उपलब्ध कराने मे पूर्ण सक्षम होता है। अनुभूति मूल्य-प्राण और निर्णय के संस्पर्शों से संयुक्त होती है। अतएव उसकी सफल अभिव्यक्ति से ये विशेषताएँ उसमे अनायास उत्पन्न हो जाती है। केन्द्रीय अनुभूति का अपना निजी प्रभामण्डल होता है। उसकी अभिव्यक्ति मे परिधिस्थ स्वरूपों का योगदान होता है, पर वे स्वरूप केन्द्रीय अनुभूति को ही सप्राण और जीवन्त बनाते है। निराला मे इस केन्द्रीय अनुभूति को अभिव्यक्त करने की कई शैलियों का दर्शन होता है। एक स्वरूप वह भी है जिसमे अचानक प्रदीप्त भाव उनके मानस में उठते है और उनकी अभिव्यक्ति से वे समूची रचना को एक निश्चित मोड़ प्रदान कर देते हैं। उदाहरण के लिए 'ज्योति की तन्वी

तड़ित द्युति ने क्षमा मांगी' 'अथवा वासना की मुक्ति-मुक्ता त्याग मे त्यागी' को लिया लिया जा सकता है। ऐसे ही अनेक स्थल उनकी लम्बी कविताओ मे भी देखने को मिलते हैं जहाँ वे एक झटके से समूची रचना को नया मोड़ प्रदान कर देते है। 'तुलसीदास' का 'देखा शारदा नील वासना' अथवा 'राम की शक्ति पूजा' का 'फिर विश्व विजय भावना हृदय मे आई भर', 'सुना हंस रहा अट्टहास रावण खल-खल' या 'खिचगये दृगो मे सीता के रममय नयन' इसके प्रमाण है। निराला के स्थापत्य की यह सबसे बडी विशेषता है कि वे अपने रचनात्मक-आन्तरिक-अभियान को अपनी अन्त दीप्ति से आलोकित करते चलते है। इससे उसके रहस्यमय स्वरूप अधिक स्पष्ट होकर हमारे समक्ष कौधने लगते है। 'प्रील्यूड' मे कवि वड्सवर्थ ने यही करने का प्रयत्न किया था और उन्हे सफलता भी मिली थी। निराला मे 'प्रील्यूड' की तरह का काव्यात्मक आत्मचरित नही मिलता, फिर भी उनकी 'कविता' 'प्रगतम प्रेम', 'वर्ण चमत्कार', 'तुलसीदास' तथा 'गीतिका' के कुछ अन्य गीतो से यह ज्ञात होता है कि वे अपनी रचना-प्रक्रिया से अन्य छायावादियो की तुलना मे अधिक परिचित थे। 'राम की शक्ति पूजा' और 'तुलसीदास' निदर्शनात्मक अनुभूति का निदर्शनात्मक घटना के माध्यम से व्यक्त करने के प्रयास की सफल प्रतीक है। यह प्रवृत्ति 'पचवटी प्रसंग', 'बादलराग', 'शिवाजी का पत्र', 'जागो फिर एक बार' मे भी दिखाई देती है। निराला मे अशक्त प्रेरणा के स्थल है-प्रभूत मात्रा मे है, लम्बी कविताओ, 'शिवाजी महाराज का पत्र', 'पंचवटी प्रसंग', 'यमुना के प्रति' मे इनको विशेष रूप से पाया जाता है। 'राम की शक्ति पूजा' मे कविता के आदि का ओज, औदात्य पुन: नही दिखाई देता है। अनुभूति के आरोह-अवरोह के कई स्वरूपो से उसके स्थापत्य का निर्माण किया गया है। सघन और विरल अनुभूति के साथ ही उदात्त, स्वयप्रकाश, अन्त दीप्ति और अधिमानस अनुभूति के दर्शन भी उस कविता मे होता है। जिन्होने निराला को 'राम की शक्ति पूजा' सुनाते हुए देखा है, कम से कम उनको इस बात मे शंका करने की आवश्यकता नही है। उनकी सारी अनुभूति मानव-केन्द्रित अतएव मूल्य-प्राण रही है। दूसरे काल की रचनाओ मे यह मानववादी स्वर विशेष रूप मे मुखर हुआ है। निराला की रचनाओ मे अनुभूति का पट प्राय उनके कमाये हुए जीवन-सत्य से बुना गया है। उनके जीवन के उल्लास, ओज, अवसाद, करुणा, मानव चेतना, संघर्ष और असंगति-बोध से इसके सूक्ष्म ताने-बाने का निर्माण हुआ है। अपने संश्लिष्ट स्वरूप मे ये अनुभूतियाँ रह-रहकर उनकी रचनाओं में कौधती रहती है। शक्ति रहते निराला जीवन की कटुता के समक्ष पराजित नही हुए है। लेकिन चतुर्दिक प्रहारो से उनकी वह शक्ति क्षीण हुई है। अन्ततोगत्वा उनकी रचनाओ से पराजय-बोध का स्वर मुखर हुआ है। संघर्ष की विभीषिका के विविध स्तरो की कटु-तिक्त अनुभूतियों से गुजरने और उनके वार को झेलने से उत्पन्न इस पराजय-बोध में विचित्र तरह की तल्खी है।

अनुभूति की सप्राणता, एकतानता, मूल्यवत्ता और अन्तर्निहित निर्देशक क्षमता से परिचित होने के परिणामस्वरूप उनकी अभिव्यक्ति, स्पष्ट, खरी और सम्प्रेषण-सक्षम बन सकी है। छायावादियों पर अस्पष्टता और दुरूहता का आक्षेप किया जाता है। यह आक्षेप सत्य भी है। महादेवी, पन्त और प्रसाद की कुछ रचनाओं का अर्थ करते-करते अनर्थ की स्थिति पैदा हो जाती है। निराला में ऐसे स्थल विरल हैं। अगर पाठक उनके शब्द-गुफ, मानसिकता और शिल्प से थोड़ा भी परिचित है, तो उसे दुरूहता का सामना नहीं करना पड़ता है। उनकी अधिकांश रचनाओं में अभिव्यक्ति इतनी स्पष्ट, प्रांजल और सहज है कि उसे सभी लोग समझ सकते हैं। इसका प्रमुख कारण है कि अभिव्यक्ति के पूर्व मानस में तिरने वाली अनुभूति के साधारणीकरण की उनमें अद्भुत क्षमता है। उन्होंने उच्च, उदात्त, स्वयंप्रकाश और अधिमानस अनुभूति को भी साधारणीकृत किया है, पर सका धरातल फिर भी विशिष्ट है। अतएव इन स्थलों पर उन्हें समझने के लिए पाठक को प्रतिभा-सम्पन्न होना आवश्यक है। निराला भाषा और संवेदना के अन्तःसम्बन्ध के प्रति विशेष रूप से जागरूक पाए गए हैं। उनकी भाषा उनके भावों की सहचरी है। उनकी रचनाओं में भावदीप्ति, अन्तर्दीप्ति और पुनर्पोषण की स्थितियाँ प्रायः स्पष्ट हैं। पूर्ण केन्द्रित अवधान की स्थिति में उनका चित्त जिन मानसिक छवियों को प्रतिच्छायित करने में समर्थ है, वे विशिष्ट गुणों से अलंकृत पाई गई हैं। उस स्थिति में रचनाकार निराला केवल एक माध्यम भर रहे हैं, जिनके सहारे स्वयंचालित रूप में रचना सम्पन्न हुई है। जो लोग रचनात्मक मानस की विशेषताओं से परिचित हैं, उनके लिए निराला की रचना का यह स्वरूप न तो अग्राह्य ज्ञात होगा और न अविश्वसनीय। निराला ने स्थित प्रज्ञ मानस के द्वारा अवसीमा मानस की विशेषताओं का ही उल्लेख किया है, जो रचना में विशेष रूप से सहायक होता है। इसी को रचना का क्षेत्र भी माना जा सकता है। वे इसे यथास्थान रूपम सोपान की संज्ञा भी देते हैं। उनकी रचना अनुभूति के चक्रिल स्वरूप की परिचायक है। केन्द्रीय भाव परिधिस्थ भावों से पुनर्पोषित होकर इस रूप में व्यक्त होते हैं कि उनकी विशेषता सदैव बनी रहती है, पर उसी के साथ कविता परिधिस्थ भावों के स्वरूप से भी अलंकृत हो उठती है। निराला की रचनाओं में इसी को भाव-विशेष के प्रभामण्डल की संज्ञा दी गई है। उनके साहित्य में अभिव्यक्ति और आधर्व्यंग्य का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध देखने को मिलता है। निराला की रचनायें केवल भाव-मुक्ति की परिचायक नहीं है, उनसे उनके सहयोगी और सहगामी होने का अभिज्ञान पैदा होता है। बहुत ऊँचे धरातल पर वे सहगामी होने के साथ ही उनके प्रत्यक्ष-दर्शी के रूप में भी सामने आते हैं। उनकी हर रचना से प्रयोजन और प्रेरणा का स्वरूप स्पष्ट रूप से झलकता रहता है और विजातीय एवं परिवेशीय परिस्थितियों के सहयोग के माध्यम से उनका स्वरूप विशेष चमत्कृत रूप

मे हमारे समक्ष उपस्थित होता है। हर रचना, काल के निश्चित घात-प्रतिघात से उत्पन्न होकर देशातीत और कालातीत बन जाती है। इसके मूल मे उनकी अनुभूति-प्राण-अभिव्यक्ति का विशेष सहयोग होता है। अनुभूति मे एक लयात्मक रूपोन्मुख विशेषता निहित होती है। इसी क्रिया की परख और पकड़ से सम्पूर्ण रचना निश्चित 'डिजाइन' मे हमारे समक्ष उपस्थित होती है। उनकी अनुभूति की रवानी ही रचना की रवानी का प्रमुख प्राण सिद्ध होती है। रूपायन की क्रिया अमूर्त भावों को मूर्त रूप मे अभिव्यक्त करने का परिणाम होती है। निराला ने इन क्रियाओं को 'साधना' और 'समाराधना' माना है। शुक्लजी ने रसदशा को विशेष महत्व प्रदान किया है और कविता मे इसका अविच्छिन्न सम्बन्ध स्थापित किया है। निराला में उनके मनस्तत्व की 'रसमय स्थिति' का सफल अभिव्यक्तीकरण ही उनकी कविताओं की रसमयता का मुख्य कारण है। उनकी दृष्टि सदैव भावों की उच्चता और उदात्तता पर टिकी रहती है और उन्होंने उसका सफल निर्वाह भी किया है। उनका काव्य भाव के व्यापक प्रभाव का परिचायक है। वे हर प्रेरणा को आत्मा से सम्बद्ध करके उसे उसके निखरे रूप मे व्यक्त करने के पक्षपाती रहे है। 'मेरे गीत और कला' निबन्ध मे अभिव्यक्त उनके विचार इसके साक्षी है। निराला का भाषा ज्ञान पर्याप्त समृद्ध है और उन्होंने अपनी रचनाओं मे इसके सहज विकास का परिचय दिया है। वे सदैव भाषा और भाव के साथ प्रयोग-रत पाए गए है। इस प्रयोग मे उनकी रचनाओं मे उदात्त-अनुदात्त अनुभूति के कई स्वरूप रूपायित हुए हैं। षष्ठ अध्याय मे प्रस्तुत रेखा-चित्रो द्वारा इसे भली प्रकार समझा जा सकता है। निराला की अमर कृति 'गीतिका' शिल्प की दृष्टि से कई गीतो का समुच्चय सिद्ध होती है। इसमे समान मात्रिक दोल का विभिन्न-भिन्न भाव-सन्दर्भो के अनुसार पुनरावर्तन विशेष द्रष्टव्य है। गीता के तीन स्तर विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन्हे हम केन्द्रीय भाव उसके पल्लवन और विकास तथा उसकी चरम परिणति के स्तर की संज्ञा दे सकते है। चरम-परिणति ही निराला के गीतों की ही नही अपितु बड़ी रचनाओं का प्राण है। उनकी मानववादी रचनाओं मे वस्तु को प्रस्तुत करने के प्रति जिस तरह का आग्रह पाया गया, उस तरह का आग्रह शिल्प के प्रति नही है। फिर भी वे अब तक एक सधे रचनाकार के रूप मे सर्वज्ञात हो चुके है। अतएव शिल्प के गठन मे, उस आग्रह के कारण कोई व्यवधान नहीं पैदा हो सका है। 'कुकुरमुत्ता' का शिल्प उसकी भाषिक-संरचना, बनावट-बुनावट, मुहावरेदानी और कथ्य निराला की प्रौढ़ शिल्प-प्रतिभा का अभूतपूर्व उदाहरण है। इसमे उनके भाषा-ज्ञान की विविधता परिलक्षित होती है। 'कुकुरमुत्ता' और 'नये पत्ते' की रचनाओं से उनके कथ्य और शिल्प सम्बन्धी बदले तेवर का सहज आभास हो जाता है। उन्होने अभिव्यक्ति की प्रकृति को ध्यान मे रखकर कई तरह की शैलियों का प्रयोग किया है। इनमे भाषण-शैली, संवाद-शैली और स्वगत-कथन-शैली प्रमुख है। 'रिद्म' से उनकी अभिव्यक्ति

में विशेष चारुता और व्यंजकता पैदा हुई है। वे नये छन्दों के प्रयोग के विषय में विशेष सतर्क रहे है और शब्द-चयन और शब्द-प्रयोग मे अपने समकालीनों मे अधिक पटु पाए गए है।

रचना का सम्बन्ध रचना-शक्ति से भी होता है। इसके पूर्व इसका महत्व विशेष रूप से उल्लेखनीय था। लेकिन इधर की निष्पत्तियो मे विधायक कल्पना पर प्रश्न चिह्न लग गया है। मनोवैज्ञानिको ने कल्पना के स्थान पर स्मृति को महत्व दिया है। स्मृति का सहयोग पहले भी स्वीकृत रहा है। कुछ अन्य मनोवैज्ञानिक विचारको ने मानसिक अनुषंगो को उल्लेख्य माना है। कल्पना के सन्दर्भ मे इस सिद्धान्त का आंशिक उल्लेख इसके पूर्व भी हो चुका था। यह सिद्धान्त केवल इस दृष्टि से नया है कि आज इसके उद्घाटक स्वरूप पहले से अधिक प्रमाणिक रूप मे प्रस्तुत किए जा सके है। प्रतिभा के सम्बन्ध मे भी नई जीव-वैज्ञानिक मान्यताय सामने आई है। प्रमस्तिष्क को व्यवस्थापन का केन्द्र माना गया है। प्रमस्तिष्क और मानस की नई मान्यताओ मे अन्तर्सीमा मानस को रचना-शक्ति की विशेषताओं से अलग सिद्ध किया गया है। ये निष्कर्ष महत्वपूर्ण है और इनमे रचना के स्वरूप पर उचित प्रकाश भी पड़ता है। मेरी दृष्टि मे रचना शक्ति पर अविश्वास करना उचित नही है। उसकी उपस्थिति ज्ञान-विज्ञान के नए आलोक मे यथा प्रमाणित है। यह भिन्न बात है कि वह प्रमस्तिष्क के व्यवस्थापन मे से उत्पन्न होती है या अवसंज्ञा मानस की विशेषताओं से। अभी इसपर प्रामाणिक ढंग से कुछ कहने का समय नही आया है। रचना के क्षेत्र मे अनेक विशेषताये ऐसी है जिनपर योग तो प्रकाश डालता है, पर विज्ञान और मनोविज्ञान उचित प्रकाश नही डाल पाते है।

रचनाशक्ति के माध्यम से भाव, विविध सन्दर्भों और अनुषंगो मे जुड़कर नए रूप मे उपस्थित होते है। सम्मूर्तन क्रिया मे इन अनुषंगो और सन्दर्भों के अतिरिक्त प्रतीकरण और बिम्बीकरण की क्रिया मे भी विशेष सहायता मिलती है। निराला साहित्य उन सभी दृष्टियो से पर्याप्त समृद्ध है। इनका उल्लेख पूर्ववर्ती अध्यायो मे किया जा चुका है।

निराला की कविताओ मे सहज आत्मीयता, सहानुभूति और कलात्मक संस्पर्श का मणिकांचन योग है। साहित्य न तो केवल शब्द है और न केवल अर्थ। ये तो उसके माध्यम है। वह तो यथार्थ में ऐसी जीवन्त और सप्राण चेतना का अभिव्यक्तीकरण है, जो मानव की वैयक्तिक क्षितिज का विस्तार करती है। साहित्य अगर हमे सार्थक ढंग से प्रभावित करके हमारे जीवन का साथी नहीं बन सकता हमारी व्यक्तिगत क्षितिज का विस्तार नही कर सकता, हमारे अन्दर एकता और सामाजिकता का भाव नही पैदा कर सकता, हमारे मुमूर्ष जीवन को ओज से भर नही सकता, हमे सोते से जगा नही सकता तो संभवतः भविष्य मे वह अपनी सार्थकता प्रमाणित

करने मे असमर्थ सिद्ध होगा। आज का साहित्य केवल मनोरंजन का विषय बनकर नही जी सकता। वह केवल आनन्द प्रदान करके अपनी चरितार्थता नहीं सिद्ध कर सकता। इसका कारण स्पष्ट है। उसकी प्रतिद्वन्द्विता मे ऐसी कलायें सामने आ चुकी हैं, जो साहित्य की तुलना मे अधिक सहज ढंग ने हमारी इन आवश्यकताओं का पूरा कर सकती है। फिर आज के युग में साहित्य की क्या उपयोगिता है? मेरी दृष्टि मे उसकी उपयोगिता का एकमात्र आधार उसकी सोद्देश्यता है। निराला की कवितायें इस उद्देश्य की पूर्ति की साधन हैं। अतएव वे हमारे लिए अमूल्य निधि सिद्ध होती हैं। आज के आलोचक या तो निराला को मध्यकालीन सन्त की कोटि में रखकर परखते हैं या उनको देवता बनाकर पूजना चाहते हैं। दोनों ही प्रवृत्तियाँ त्रुटिपूर्ण हैं। निराला की रचनाओं का जागरूक अध्येता, निराला साहित्य का अधिक भला कर सकता है। अब समय आ गया है, जब उनके अध्ययन को कई दृष्टियो से वैज्ञानिक ढंग मे संपादित किया जा सकता है। निराला के जीवन मे अन्य छायावादियो की तरह उन्हे समर्थ आलोचक नहीं मिले थे। आज यह कमी पूरा हो चुकी है। अतएव उनपर समुचित ढंग से कार्य संपादित करने में सरलता हो सकती है। एक बात का संकेत कर देना आवश्यक है कि इधर आलोचकों ने तो निराला को समझने का प्रयत्न किया है, पर प्रकाशको ने उन्हे वह सम्मान नही दिया है। इधर का प्रकाशित पुस्तको मे अशुद्धियो की भरमार है। अगर यह क्रम ऐसा ही चला तो कुछ दिन मे उनकी रचनाओं का शुद्ध पाठ भी न मिल पाएगा।

●

सन्दर्भ

प्रथम अध्याय

संदर्भ

1—The political life of a nation is only a superficial part of the being, in order to learn its inner life–the sources of its action–we must penerate to the souls, by way of its literature, its philosophy and its art, where the ideas and passions and dreams of its people are reflected.

—Encyclopaedia Brittannica, Vol. II. p. 485.

2—There remains a vast field traditionally included in philosophy where scientific methods are inadequate. This field includes ultimate question of value. Science alone for example, can not prove that it is bad to enjoy the infliction of cruelty. Whatever can be known can be known by means of science, but things which are legitimately matter of feeling lie outside its province.

—George Whalley, Poetic Process, Introduction XXIV.

3—Arts considered as language, have also three dimension of scientific language.

— E.Vivas and M.Kriegar, The problem of Aesthetics, p.114

4—Art has a language of its own; it is not same as the language of science; its semantical meanings cannot be rendered in language of Science. Art fixes a kind of knowledge of which science has no understanding, and which gentlemen too confined within the scientifiic habit cannot approach intelligently. They do not rise to a grasp of this kind of meaning which is qualitatively unique and indivisible.—Ibid. p. 114.

5—Technical prose starts from a selected position or idea,a premise, assumption, postulate or established doctrine, and proceeds by series of logically correct steps to a desired end.

—Ibid., p. 120.

6—Nouns predominate and carry most of emphasis, consequently most of the verbs are passive, intransitive, or parts of the verb 'to be'. Intense effort to focuss each single word into the unambiguous meaning suppresses the vigour of the verbs and produces double nouns modified by adjectives. This dominance of static nouns and passive verb removes all muscle and movement from sentence. The sentences form the patterns of the abstract and if the sentence is unduly long, we lose our way, forget some of the pieces, and have to turn back again. This rather than the recondite vocabulary makes the more obscure reaches of science and philosophy an arduous desert for the lay man. Technical prose neither engages sympathy, nor compels attention. You have to be interested in the subject, if you are to reach much of it. —Ibid., p. 122.

7—Ibid., p. 122.

8—If the quest for pure objectivity in statement could succeed, it would achieve a pure meaninglessness. A purely objective statement would have to be made by no body to nobody. Some Reflections on the Analysis of Language.

—Philosophical Quarterly, Vol. I (1951) p. 323.

9—This brief analysis may be sufficient to indicate the fundamental disparity and opposition between pseudo-statements as they occur in poetry and statements as they occur in science. A pseudo statement is a form of words which is justified entirely by its effect in releasing or organising our impulses and attitudes.....a statement on the other hands is justified by its truth.

—Melvin Rader, A modern Book of Esthetics, p. 276.

10—Poetic Process, George Whalley, p. 127.

11—Work of art are infinite loneliness and with nothing so like to be reached as with criticism.

—Ibid., Introduction, XXXXI.

12—Aesthetic sensibility must be extended into spiritual perception and spiritual perception must be extended into aesthetic sensibility and disciplined taste before we are qualified to pass judgement upon decadence or diabolism or nihilism in art. To judge a work of art by artistic or religious standards, to judge a religion by religious or artistic standard should come in the end to the same thing. It is an end at which no individual should arrive.

13—A complete work of art is timeless a rendering and arrest of luminous instant of reality.

—G. Whalley, Poetic Process, Introduction, p. XXXI

14—In beginning of important things—in beginning of love, in beginning of the day—there is a moment, where we understand more perfectly, than we understand again until all is finished. —Ibid., Introduction, p. 39.

15—It is true then, to say, that the work of art is a child whose mother is the artist, and whose father is artist's environment. In that sense, the consumers and enjoyers of art are uncles and aunts to the work of art. We have taken no part in their creation....yet they belong to our family.

—Sense of Beauty, p. 71.

16—A man becomes creative, whether he is an artist or scientist, when he finds a new unity in variety of nature. He does so by finding likeness between things which were not thought alike before, and this gives him sense, at the sametimes of richness and understanding.

—J. D. Raslansky Creativity, (Ed.) p. 12

17—इसकी विशद व्याख्या अनुभूति संबंधी काव्य-सिद्धान्त के संदर्भ में की गई है।

18—Art is thus a form imposed by taste upon playful imagistic activity.—M. Rader. Book of Modern Esthetics, p.4.

19—The process which ends in a work of art is at once an act of discovery and self-discovery; it is an act of self-realisation which at the same time makes the world more real. A work of art is as it were an extension of some more valuab-

le experience of the artist.....The artist's experience has somehow been embodied, incarnated, made physical.
— G. Whally, Poetic Process, P. 125.

20 —Art is the power of doing something which is not taught by nature or impulse. Chamber's Encyclopaedia.
—Vol. I, P. 659.

२१—के० सी० पाण्डेय, स्वतंत्र कलाशास्त्र, पृ० ५।

२२—वही, पृ० ५।

२३—वही, पृ० ६।

२४—वही, पृ० ६।

२५—कलयति स्वरूपमावेशयति वस्तुनिवा तत्र-तत्र प्रमातीर कलनमेव कला। ले० हंसकुमार तिवारी—कला, पृ० २१-२२।

२६—अध्याय तीन में कला प्रेरणा देखिए।

२७—लौकोत्तरत्वंचाह्लादगतश्चमत्कारत्वापर्यायोनुभव साक्षिको जाति विशेषः। कारणं च तदवच्छिन्न भावना विशेषः पुनः पुनरनुसन्धानात्मा।
—डॉ० नगेन्द्र, भारतीय काव्य शास्त्र की परम्परा, पृ० ३०८ से उद्धृत।

२८—रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्। वही, पृ० ३०८।

29—Art is not an experession of life, but an addition to life, and lifes enrichment.
—H. Osborne. Aesthetics & Criticism, P. 18.

30—The merit of a work of art can be finally measured by the power with which it manifests or intererprets the emotion.
—M. Rader. A Book of Moderu Esthetics (ed) P. 51.

31—To evoke in oneself a feeling, one has once experienced, and having evoked it in oneself, then by means of movements, lines colours, sounds or forms expressed in words, so to transmit that feeling that others experience the same feeling, this is activity of art.
—A Modern Book of Esthetics, p. 62.

32—Art is human activity consisting in this, that one man consciously by means of certain external signs, hands on to others feelings, he has lived through, and others are infected by these feelings and also experience them.
—Ibid., p. 65.

33—Art is creation of forms symbolic of human feelings.

—S. K. Langer, Form and Feeling, p. 40.

34—S. K. Langer, Philosophical Sketches, p. 76.

35—S. K. Langer, Problems of Art, p. III.

36 -M. Rader, A Modern Book of Estehtics; Yirjo Hirn, Art the Reliever, p. 72.

३७—इसके विशद विवेचन के लिए इसी शोध प्रबन्ध का कल्पना और प्रतिमा का विवेचन देखिए।

38—I shall say at once, in simplest manner, that art is vision or intuition. The artist produces an image or phantasm,and he who enjoys art turns his gaze upon the point to which the artist has pointed, looks through the chink, which he has operated, reproduces that image in himself.

—M.Rader, A Modern Book of Esthetics; Benedetto Croce, Intnition and Expression, P. 88.

39—Art is certainly, only a more direct vision of reality. But this purity of perception implies a break with utilitarian convention..... Certain immateriality of life, which is what has always been called idealism, so that we might say, without in any way playing upon the meaning of words that realism is in the work, when idealism is in the soul, and that it is only through ideality that we can resume contact with reality.

—Ibid , Art as Intuition. Hen. Bergson P. 83.

40—His intuition, the creative intuition is an obscure grasping of his own self and of things in a knowledge through union or through connaturality, which is born in the spiritual unconscious and which fructifies only in the work. Creative Intuition in Art and Poetry, pp. 83-84.

41—Fundamentals of Indian Art, S. N. Das Gupta, p. 116.

४२—चित्तेनिवेश्य परिकल्पित सत्वयोगाद्
रूपोच्चयेन मनसा विधिना कृतानु।

स्त्री रत्न सृष्टिपरा प्रतिभाति सा मे
धातुर्विमुक्त मनुचिन्त्य वपुश्च तस्या ।
—सीताराम चतुर्वेदी, कालिदास ग्रन्थावली (संपा०)

43—Art form is at once a challenge to and expression of the powers of transformation and interpretation.
—Psycho-Analytic View of Life, p. 227.

44—Psychoanalysis is not a set of exploration and interpration.
—Ibid., p. 227

45—Hence it follows that artistic technique is conscious mastery of inherent powers of unconscious in its work of dream—formation. —Ibid., p. 65.

46—Ibid., p. 58.

47—M. Rader, A Book of Modern Esthetics, pp. 118-19.

48—Arthur Koestler, Creation, Need reducing to goal seeking. The Act of creation p. 497.

49—Phenomenology....(is) the description of an essence, which is defined as signification immanent to the phenomenon and given with it. The essence must be discovered, but by unveiling of truth and by jump from the known to unknown. Phenomenology is applicable primarily to human spheres, because in it, consciousness is self-conscious and that is the very model of our conception of phenomenal existence, the appearance as an appearance to consciousness of meaning.
—Eugene, F. Kaeline, An Existentialist Aesthetics, p. 359.

50—Ludwig Wittgenstein : A Memoir—Norman Malcolm, P. 51.

51—Man's inner life is the by-product of his outer world.
—Eric Newton, The Meaning of Beauty, P. 71.

52—The layers of onion can now be seen in relation to each other. They form progression. On the level of skin the artist is an observer; on the next level, that of outer layer, he is commentator; on the second layer, he is interpreter, on the third he is visionary; and finally, when he reaches the core, a creator.—Ibid., P. 85.

53—Ibid., P. 88.

54—Works of art are only means to an end, the end is the total imaginative experience, which they enable us to enjoy.
—R. C. Collingwood, Principles of Art, P. 148.

55—The work of art, as we have seen, is not bodily percepible thing, but an activity of the artist, and not an activity of the body, but an activity of the consciousness.
—Ibid., p. 300.

56—B. Worsfold, Judgement in Literature, P. 17.

57—Art then is the presentation of the real in its mental aspect.
—Ibid., P. 6.

58—Such division annihilates the work as dividing the organism into, heart, brain, nerves, muscles and so on; turns the living being into a corpse. Aesthetics. pp. 33–34.

59—An artistic category may be defined as a concept which is essential to artistic inquiry and in terms of which alone art can be systematically explored.
—T. M. Greeme, The Arts and the Art of Criticism, P. 31.

60—Ruskin called to its eloquent abstraction in phrase frozen music. —Ibid., p. 72.

61—Frozen Dance. Ibid., p. 72.

62—To that instrument of subconcious, the hand of sculptor, there exists an image within every rock; the creative act of realisation merely frees it.
—S. K. Langer (ed.) Reflection on Art; John B. Flannangan. The Image in the Rock. p. 299.

63—(a) A constant fluctuation sideways and upward, radiant, all side, announces the man, that he has taken possession in so for as his human capacities and present conceptions allow, of imponderable, invisible and yet omnipresent space. —New Vision, pp. 180·182.

63—(b) Religion gave great impetus to the development of Art and sculpture. In India as in Egypt, Assyria and Babylonia, art was mainly dependent on religion. In India,

from the time of Ashoka religion suplied to the motive power for shilpa.

—Phanindra Nath Bose . Principles of Indian Shilpa Shastra, p. 31.

64 - A painting is a plain surface be it wood or panel, a piece of canvas, a wall··covered with spots of colours, disposed around an outline, which because its curves have been well designed circumscribes the figure.

—E. Gilson. Painting and Reality, P. 112.

65—Colours assambled in a certain order. —Ibid., p. 112.

66—रेखायां किंचिदन्वितम् ।

—हजारीप्रसाद द्विवेदो, कालिदास को लालित्य योजना, पृष्ट ८१ ।

67—द्रष्टव्य, अभिलषितार्थ चिन्तामणि—सोमेश्वर, पृ० १९५, २२८. २५३ ।

68—द्रष्टव्य, कालिदास की लालित्य योजना, पृ० ८१ ।

69—The effect of unity in diversity is repeated again and again with successively more comprehensive units, until we come to the picture as a whole, which seems a symphony of colours, in which direct sensuous appeal is enormously heightened, by sense of relations between colours employed, with each colour setting off and being itself set off by the all others. Albert C. Barnes : The Problem of Aesthetics, M. Weitz, Colour —Drawing and Composition, P. 312.

70—Modern Art has liberated painting which is now a law unto itself. —S. K. Langer, Reflections on Art, P. 244.

71—Albert C. Barnes reminds us that only painters, "unable to master the means of plastic expression seek to awaken emotion by portraying objects or situations which have an appeal in themselves". —Ibid., P. 244.

72—Being comes before knowledge, because it is an art, painting stands on the side of being.

—Ettine Gilson, Paining and Reality, P. 262.

73—Who paints a figure, if he can not be it can not draw it. A. K· Coomarswamy, Transformation of Nature in Art, P.7.

74—I see that stand in my minds eye and then set to work.
—Ipid., P. 176.

75—Music which expresses as expressing spiritual experience and as springing from spiritual context is still music.
—M. Weitz : Problems in Aesthetics, P. 412.

76—Its nature is specially musical. By this we mean that the beautiful is not contingent upon, or in need of any subject introduced from without, but it consists wholly of sounds artistically combined. —Ibid., p. 381.

77—But our imagination which is so constituted, as to be effected by auditory impressions, delights in sounding forms and musical structures, and conscious of their sensuous nature lives in immediate and free contemplation of beautiful. —Ibid,, p, 383

78—Ibid., p. 384.

79—Primordial Law of Harmonic Progression, Ibid., p 384.

80 The musical sense wants symmetry combined with originality. —Ibid., p 393.

81—The fundamental difference consists in this, while sound in speech is but a sign, that is a means for the purpose of expressing something which is quite distinct from its medium. Sound in music is the end, that is the ultimate and absolute object in view. The intrinsic beauty of musical forms in the latter case and the exclusive dominion of thought over sound as a medium of expression in the former, are so utterely distinct as to render the union of these two elements logical in possibility. —Ibid., p. 394.

82—Music can never be elevated to the rank of speech.
—Ibid., p. 395.

83—What then transforms indefinite feeling into definite one—into the feeling of longing, hope or love ? Is it mere degree of intensity, the fluctuating rate of inner motion ?
—Ibid., p. 396.

84 – For the definite character of the emotion rests entirely on the meaning involved in it. —Ibid., p. 397.

85—There are ideas which though not occurring as feeling are yet capable of being fully expressed by music, and conversely, there are feelings which affect our minds, but which are so constituted as to defy their adequate expression by any ideas which music can represent. — Ibid., p. 398.

86 – What parts of feeling can music represent···· ·· only their dynamic properties. It may reproduce the motion accompanying phychical action, according to its momentum···· But motion is only one of the concomitants of feeling not the feeling itself. —Ibid., p. 398

87—How will the expressive rather the suggestive power of music be explained, if not by admitting that we repeat to ourselves the sounds heard, so as to carry ourselves back into the psychic state, out of which they emerged, an original state which nothing will express, but which something may suggest, viz., the very motion and the attitude which the sound imparts to our body.

—S.K. Langer, Reflections on Art (Ed) Bergsonism and Music, p. 145.

88—Ibid., p. 146.

89—Music is not stimulation of feeling but expression of it, and furthermore, not the symptomatic expression of feelings that beset the composer, but a symbolic expression of forms of sentence, as he understands them. It bespeaks his imagination of feelings rather than his own emotional state; and expresses what he knows about his inner life, and this may exceed his personal case, because music is symbolic form to him through which he may learn as well as utter ideas of human sensibility.

—Feeling & Form, p. 28.

90 – The hearer places himself at once in the midst of the corresponding ideas and then develops them into accoustic

memories, which go out to overlie the crude sounds perceived which fitting themselves into the motor diagram. Ibid., P. 184.

91 S.K. Langer, Reflections on Art—Music and Silence, Gisele Brelet, P. 103.

92 —Ibid., P. 103.

93 - For in this calm, those who listen, no longer hear anything, but the voice of their inwardness, for which music alone lives, far from the matter and space which the noise symbolises. Ibid., p. 104.

94 - Ibid., P. 105.

95 —In any of the silence at least an echo of the part meets an inkling of the future, a memory and an expectation. In it the pure powers of the mind become visible, without which the musical forms can not be constructed. Ibid., pp. 107—8.

96—Thus the whole work is integrated into a hierarchy of expectatinos which it creates in order to satisfy. Ibid., p. 110.

97 - All music cretes an order of the virtual time in which its sonorous forms move in relation to each other S.K. Langer Feeling and From, p. 110.

68—Music makes time audible and its form and continuity sensible. Ibid., P. 110.

९९—यहाँ पर संगीत के काल का प्रश्न विवेच्य है। घड़ी के काल और संगीत के काल में स्पष्ट भेद होता है। इसका पहले भी संकेत किया जा चुका है। लैंजर यह मानती है कि संगीत के काल मे व्यवस्था और घनत्व होता है और उसके अवयवो की परख विशिष्टता के आधार पर की जा सकती है। उन्होंने मार्शल का उदाहरण दिया है जो यह सिद्ध करता है कि कांक्रीट ड्यूरेशन संगीतमय नही हो सकता है। कोचलिन ने काल के विषय में मान्यता दी है। उसे अधोलिखित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है—

(1) Pure duration, attribute of our deepest consciousness and seemingly independent of the external world : life unfolding.

(2) Paychological time, this is the impression of that we receive according to the events of life : minutes that seem like centuries, hours that pass too fast.

(3) Time measured by mathematical means.....

(4) And finally I would speak of musical time . ....Auditory time is without doubt that which approaches most closely to pure duration. Ibid. culled from Footnote, p. 116.

100- Now the space and time which make up the framework of the universe must be considered as intrinsic to the representative content of work and entirely distinct from the space and time occupied by physical work, or by reading of it or meditating about it. —S. K. Langer, Reflections on Time in Plastic Arts, Ettine Sourain, pp. 126–27.

101—As for the intrinsic time of work of art one can say that its organisation in gerneral is stellar and diffluent. the time of the work radiates so to speak around the prerogative moment represented. Ibid., P. 182

102—Music uses time, as an element of exprssion. Duraction is its essence. S. K. Langer, Reflections on Arts; Basil De Selincourt, Music and Duration, P. 153.

103—When Jacques Handshine in his book entitled the Character of Tone distinguished between central and peripheral tonal porperties he furnished a key concept to the psychology of tone and music. His central properties are 'pitch' and 'tonal character' and his peripheral properties duration, intensity and timbre.

—S. K. Langer, Reflections on Art.. The concept of Tonal Body, Hans Heinz Drager, p. 174.

104—A tone is neither tangible nor visible, but fundamentally a process. —Ibid., p. 174.

105 —Tone is hypostatically perceived process. —Ibid., p. 175.

106—Musical hearing is among the highest achievements of which man is capable, and it takes place simultaneously

on various levels of the individual as a whole. It is psychic process, since man is being with a soul, it is social process, since every man is also a ~~social~~ fellow creature, and it is historrical process, since every man lives in his histrorical world. —~~Ibid.~~, p. 263

107—For hearing as biological process is a problem of nature, whereas, musical hearing, as historical process is problem of culture. —Ibid., p. 263.

108—Ibid., p. 264.

109 What all good composers do with language, is neither to ignore its character, nor to obey poetic laws, but to transform the entire verbal material—sound meaning and all into musical element. Feeling and Form,p. 56.

१०९—(अ) जयशंकर प्रसाद, काव्य, कला एवं अन्य निबन्ध, पृ० १९ ।

(ब) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, चिन्तामणि, भाग दो, पृ० १७७, १७८, १८० ।

११० —इस दृष्टि से वासुदेवशरण अग्रवाल, नलिन विलोचन शर्मा, नन्ददुलारे वाजपेयी, डा० नगेन्द्र और हजारी प्रसाद द्विवेदी के मत विशेष रूप से ध्यातव्य है ।

111—Indian Aesthetics, P. 32-33.

११२—भारत कला भवन का चित्र संग्रह, फलक २ और ४, रचनायें अधोलिखित हैं—

(अ) 'कहाँ भयौ सो बीछुरे, मो मन तो मन साथ
उड़ो जाय कितहूँ तऊ, गुड़ी उड़ावन हाथ । —बिहारी

(ब) देखत उदधि जात देखि देखि निज गात
चंपक के पास कछू लिख्यौ है बनाइ कै
....
मोसों कर जोर दूनों, दुख पाइ कै । —केशव

११३—गीतिका भूमिका, पृ० ७ ।

११४—वही पृ० ७ ।

११५—वही, पृ० १३ ।

११६—चिन्तामणि, प्रथम भाग, पृ० १७९-१८० ।

117—Rabinbra Nath Tagore, Sadhana, PP. 141—42.

११८—प्रबन्ध प्रतिमा, मेरे गीत और कला, पृ० २०२—२०३ ।

द्वितीय अध्याय

संदर्भ

1—Any reaction to stimulus can be casually explained, but, the creative act which is absolute antithesis of mere reaction will for ever elude the human understanding. E. Drew, Poetry, a Modern Guide, p. 21.

2—Since by the creative process we mean the capacity to find new and unexpected connections. L. S. Cubie, Neurotic Distortion of creative process. M. I. Stein and S. C. Heinz, Creativity and Individual, p. 37.

3—Creativity is defined as the process that results in occurrence of composition which is both new and valuable.
H.A. Murray, vicissitudes of Creativity in H.H. Anderson (ed) Creativity and cultvation, p. 95.

4—Creative activity appears simply to be a special class of problem solving activity characterised by novelty, unconventionality, persistence, and difficulty in problem formulation. A. Newell, J. C. Shaw, H. A. Simond; The process of creattve Thinking in Creativeity and Indidual, p. 32.

6—That form of activity which results in the actualisation or realisation of some object or event which only comes into being because the creator having first received it in the imagination, deliberately transforms his idea of vision into fact. E. L. Hulton and M. Bassett, the Effect of Leucotsmy on Creative Personality, in Creativity and Intividual, P. 103.

7—Bringing something new to birth, R. May, the Nature of Creativity, in Creativity and Individual, P. 199.

8—Creativity is considered to be a process of 'hypothesis formation, hypothesis testing and communication of results, that are accepted by others as useful, tenable or satisfying

of some point in time. M. I. Stein Heinz, Shiley and R. R. Rogers, Creativity and/or Success, in Creativity and Individual, p. 322.

9 —The creative person is one, who in his intellectual endeavours reconciles the opposites of the expert knowledge and childlike wonder of naive and fresh perception. Jacob Bronowaski; Creative Process in Roslansky (ed), Creativity, p. 21.

10—Creativity is a process extended in time and characterised by originality, adaptiveness and realisation. The Nature and Nature of Creative Talent; in Dael Wolfle (ed) Discovery of Talent, p. 186.

11—Creative act in so far as it depends on unconscious resources, presupposes relaxing of the controls and regression to the modes of ideation which are indifferent to the rules of verbal logic, unperturbed by contradition, untouched by dogmas and taboos of so called commonsense.

—Koestler, Act of Creation, p. 178.

12—Creative product is defined as a novel work, that is accepted as tenable, or useful, or satisfying by a group at some point in time. M. I. Stein, Creativity and Culture, in Creativty and Indivdual, P. 36.

13—The creative action is an inposing of ones own whole personality on the envirorment in a unique and characterisitic way and is symbolised most clearly in the action of the artist and his mind. C. R. Hulbeck, the Creative Personality in Creativity and Individual. P. 245.

14 - In defining creativity as an attitude, the author speaks of it as abilty to see and to respond. E. Fromm, Creativity in H. H. Anderson (ed) Creativity and its Cultivation. p. 45.

15—Creative ability is defined as 'that ability by which the ideational content of past experience is utilised in a situation to provide concepts and actions, not directly evoked by the

new situation, but elaborated by patients more complex cerebral reactions to the situation. W. R. Ashly and M. Bassett, The Effects of Leucotomy on Creative Ability in Creativity and Individual, P. 99.

16 Creativity is the capacity of a person to produce compositions, products or ideas of any sort ..... essentially new or novel, and previously unknown to the producer. It can be imaginative activity or thought synthesis ..... not a mere summation. It may involve the forming of new patterns,... derived from past experiences .... transplanting of old relationships to new situations .. the generation of new correlates. It must be purposeful or goal directed ..... need not have immediate practical application or be a perfect and complete product. It may (be an) artistic, literary or or scientific production or ... procedural or methodological (in) nature.—J. E. Drevdhal, Factors of Impoatance for Creativity, in Creativity and Individual, P. 269.

17—Creative process is the process of change, of development, of evolution in organisation of subjective life. Brewster Ghiselin, Creative process, Introduction, P. 2.

18—Creation becomes some what pretentious word to apply to the modification an artist may make in appearance of the things by selection and modification. S. K. Langer, Feeling and Form, P. 75.

19—The esthetic activity is an activity of thought in the form of consciousness, converting into imagination an experience, which apart from being so converted, is sensuous. R. G. Collingwood, The principles of Art, P. 324.

20—The process of artistic creation would be better described as a process of discovery and disentanglement. T. E. Hulme, Speculations.

21—द्रष्टव्य है :—(A) Harold.Rug—Imagination, PP. 3-4.

(B) Arthur Koestler—The act of Creation—pp. 165, 166, 167, and 211, 212.

(C) Brewster Ghiselin—The crative Process, P. 22.

(D) Creativity and the Individual (ed), H. I. Stein and S. J. Heinze, PP. 56–57.

इनके अतिरिक्त अन्य लोगों ने भी गणित के अनुसंधान का उल्लेख किया है और अपनी दृष्टि से निष्कर्ष निकाला है।

22—See, Brewster Ghiselin—Creative Process, PP. 74-76.

23—अधोलिखित अंश से तुलना कीजिए—

"The themes were analysed and prayed to the groups of auditors (total of forty three, with varying degree of gaining in music). Themes were found to be related to the charachterstics of design more frequently than chance would allow—R. H. William, An Experimental Investigation of the Creative Process in Music, in M. I. Stein and S. J. Heinz, Creativity and Indivdual, P. 59.

24—See, C. Zervos' Conversation with Picasso in Ghiselin, Creative Process, PP. 49 52.

25—See (a) Creativity and the Individal, p. 40, 41, 52, 53, 54, 60, 63, 64, 69.

(b) Harold Rugg., Imagination, p. 6.

26—See Creativity and Individual, p. 67.

27—R. N. Wilson, Poetic Creativity, Process and Personality, in Creativity and Individual, pp. 68·70.

28—द्रष्टव्य—डा० शिवकरण सिंह, कला सृजन प्रक्रिया, पृ० ८।

29—वही पृ० ९।

30—Ah ! in the very temple of delight.
Veiled melancholy has her sovereign shrine,
Though seen of none, save him whose strenuous tongue.
Can burst joy's grape against his palate fine;
His soul shall taste the sadness of her might,
And be among the cloudy trophies hung.
—Keats; Hyperion a Vision, p. 35.

31—देखिए इसा शोध प्रबन्ध का तृतीय अध्याय, प्रेरणा।

32—The poets and men are two different natures, though they exist together, they may be unconscious of each other, and incapable of deciding upon each others powers and efforts by any reflex act. M. H. Abrams, The Mirror and the Lamp, p. 193.

33—There are, it seems, two moments in the creation of work of art, the moment of creation proper, when the idea of the work of art is born into the mind of the artist; and the moment of fashioning, when the idea in the mind of the artist is worked up into the communicable and enduring form. .....The two moments are analytically distinct, rather than completely separable in practice. Harold Osborne, Aesthetics and Criticism, p. 159.

34—He was one of those men who are somehow mysteriously imprisoned, 'prisoners in an I do not know, what for horrible, horrible, utterely horrible cage'. Culled from Brewster Ghiselines' Creative Process, p. 3.

35—Ibid. p. 3.

36—The work in process becomes the poets fate and determines his psychic development. It is not Goethe who creates Faust, but Faust which creates Goethe, Ibid., p. 4.

37—Culled from Creative Process, pp. 4-5.

38—Ibid., p. 5.

39—Ibid., p. 119.

40—M. H. Abrams—The Mirror and the Lamp, p. 203.

41—Ibid., p. 206.

42—Ibid., p. 206.

43—As the fruit of century's endeavours, then, Kant formulates the view of natural organism as immanently but unconsciously-teleological, a 'self organising being' which, possessing both its own 'moving power' and its own 'formative power' develops from the inside out and in which the relations between the parts and whole can be restated in terms of interrelation of means and end, Ibid., p, 208.

44— Ibid., p. 209.

45—The artist is driven to production involuntarily and even against an inner resistance..... No matter how purposeful he is, the artist with respect to that which is genuinely objective in his production, seems to be under the influence of power, that sunders him from all other men and forces him to express or represent things that he himself does not entirely fathom and whose significance is infinite. Ibid., p. 210.

46—अभिनव भारती-टीकाकार, आचार्य विश्वेश्वर पृ० ५११।

47—One ought to wait and gather sense and sweetness whole life long and a long life if possible, and then quite at the end one might perhaps be able to write ten good lines. Rilke.

48—See L. L. Whyte, The Unconscious before Freud. (1962).

49— Culled from Arthur Koestler, The Creative Act, p. 148.

50 Ibid., p. 148.

51—Culled from M. I., Stein and S. J. Heinz, Creativity and Individual, p. 72.

52—The role of the uncouscious is summarised in the following, 'In knowledge in general, we have found the unconscious in the latent judgement which allows sensation to be appreciated, and in the mental processes resulting in formation of various; feelings. It explains the illusion of the optics, judgement of size; it is the germ of ideas, preexisting in memory, it is hidden force which produces in the imagination in elaboration of reverie and dream, and also uprising of ideas discussed in meditation; we find it in the judgement which is the conclusion of a latent process of thought. Its slow rumination is responsible for the majors of syllogisms, various forms of hypothesis, and more generally of analogy. We owe to it our opinions, our beliefs and our doubts. Ibid., pp. 72–73.

53— Knowing in the full sense of word, is not only perceiving a certain relation here and now, it is rather gathering in the present the harvest of mental past it is benefitting, in the conscious revelation of law by all mysterious work which prepared for its incubation during many years.

—Ibid., p. 73.

54—आजि ए प्रभाते सहसा केरने
पयहारा रबिकर
आलय न पेय पडेछे आछिये
आमार प्राणेर पर
बहु दिन परे एकटी किरण
गुहाय दिये छे देखा
पड़ेछे आमार आधार सलिले
एकटी कनक रेखा ।

....

आज ए प्रभाते कि जानि केरने
जागिया उठे छे प्राण

....

जागिया देखि नु चारिदिके मोर
पाषाणेरमित कारागार घोर
बुकेरे उपरे आधार बहिया
करिछे निजेरे ध्यान
नाजानि केतेर एनोदिन परे
जागिया उठे छे प्राण ।—उद्धृत, रवीन्द्र कविता कानन—सूर्यकान्त त्रिपाठी —निराला, पृ० ३१, ३२, ३३ ।

55—तुलसीदास, निराला पद संख्या ८८ पृ० ५६ ।

56 वही, पद संख्या ९३, पृ० ५७ ।

57—तोड़ो, तोड़ो, तोड़ो कारा
पत्थर की, निकला फिर,
गंगा जल धारा ।
निराला, अनामिका, पृ० १७

58—वही ।

59—वही ।

60—उद्धृत- दूधनाथ सिंह, निराला, आत्महन्ता आस्था अन्दर के मुख पृष्ठ से।

61—See Harold Rugg, Imagination, p. 39.

62—Ibid., p. 39.

63—Culled froom Jame Hamdards Psychology of Invention in Mathematical Field, p. 25.

64 - Coleridge in Harold Rugg. Imagination, pp 40-41.

65—H.A. Taine, On Invention in Mathematical Field, p. 27.

66 Graham Wallace, The Art of Thought, p. 52.

67—Consciousness is the mental activity in our state of being preoccupied with external reality with acting. The unconscious is the mental experiece ... in which we have shut off communication with the outer world, are no longer preoccupied with action but with our self experience. Eric From, The Forgotten language, p. 29.

68—Morton Prince in Harold Rugg, Imagination, p 42.

69—The unconscious mind is for us like an unknown being who creates and produces for us and finally throws the ripe fruits in our lap Wundt in L L. Whyte, The unconscious Before Freud, p 152.

70—While such states reflect qualities of feeling, James said, they. seem to those who experience them to be also states of knowledge. They are states of insight into depths of truth unplumbed by discursive intellect They are illuminations, revelations, full of significance and importance, all inarticulate, though they remain, and as a rule they carry with them a curious sense of authority for after time. William James in Harold Rugg's, Imagination, p. 44.

71 See Harold Rugg, Imagination, p. 46.

72 Kubie in Harold Rugg, Imagination, p 49.

73—See Harold Rugg, Imagination, p. 52.

74 See Harold Rugg, Imagination, p. 52.

75—Sir Charles Sherington, Man on His Nature, p. 183.

76 - Ibid,, p. 184.

77—Thus the characteristic property of all brain-mind processes is inherent in self ordering tendency whereby partial, incomplete or imperfect forms extended, completed or perfected as possible under the given conditions. These forms or wholes are not merely logical or geometrical, but more generally, as I shall suggest aesthetic. But since the brain mind is modified by processes occuring in it and thus becomes a record of those processes, we can go further and interpret the brain mind as plastic selfordering system of records - Morris Philipson (ed), Aesthetic today. Lancelot law Whyte. Scientific view of Creative Energy of Man, p, 360.

78—Gerard regards creative imagination as "an action of the mind that produces a new idea or insight" which appears to the individual as a 'flash' and full formed'. R. W. Gerard The Biological Basis of Imagination, in Creativity & Individual P 101.

79—What we call mind is a heaving sea of rhythmical electro-chemical impulses and motor imagery focussed momentarily in consciousness as meaningful percepts and concepts.

80—अथ त्रिविध दुःखात्यन्त निवृत्तिरत्यन्त पुरुषार्थ । सांख्यकारिका १।१

81—वही, १।

82—यदा पंचावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहु परमां गतिम् ।
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रिय धारणाम् ।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगोहि प्रभवाप्ययौ । कठोपनिषद ।

83—(अ) द्रष्टव्य, मा०उ० १।२–१० ।
(ब) ,, ऋग् १।३४।९ ।

84—द्रष्टव्य है, चूड़ामणि उपनिषद्, योगतत्वोपनिषद्, अन्नपूर्णोपनिषद्, ध्यान बिन्दूपनिषद्, ब्रह्मविद्योपनिषद्, नादबिन्दूपनिषद् आदि ।

85—यथापंचावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहु परमां गतिम् ।
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रिय धारणाम् ।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगोहि प्रभवाप्ययौ । कठोपनिषद ।

86—तं दर्दर्श गूढ मनुप्रविष्टं,

गुह्याहित गह्वरेष्ठ पुराणम् ।

अध्यात्मयोगाधि गमेन देव,

मत्वा धीरो हर्षशोको जहाति। कठोपनिषद, १।१।१२ ।

८७—भगवद्गीता—षष्ठ अध्याय, श्लोक, ११-२३ ।

८८—योगफिलॉसफी और नवीन साधना—परमसन्त डा० चतुर्भुज सहाय, पृ० ८८ ।

८९—(अ) वितर्क विचारानन्दा स्मिताऽनुरूपागमात् सम्प्रज्ञातः-योगदर्शन, १।१७ ।

(ब) विराम प्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कार शेषोन्यः । वही, १ । १८

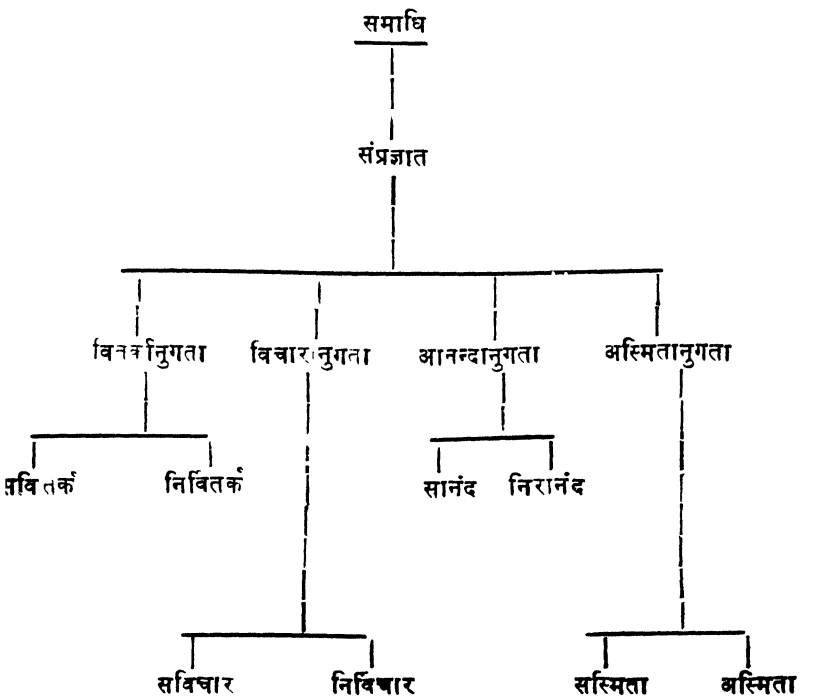

90—The serpent Power, —Arthur Avalon, pp. 111-114.

चक्र का स्वरूप

चक्र	तत्व	किरणों की संख्या	ग्रूप	ग्रन्थि	दल	वाहन	देवता	बीज	वर्णमाला के अक्षर
१—मूलाधार	भू:, गन्ध तन्मात्रा	५६)	अग्नि	१ रुद्रग्रन्थि	४	हाथी	इन्द्र	लं.	वं, शं, षं, सं
		)		२)					
२—स्वाधिष्ठान	अप, रस तन्मात्रा	६२			६	मकर	वरुण	मं	नं, मं, भं मं, रं, लं.
३—मणिपूर	अग्नितत्व, रूपतन्मात्रा	५२)		३)		मेष	अग्नि	रं	ड़ं, ढ, षं, तं, थं, दं
		)	सूर्य	) विष्णुग्रन्थि	१०				धं, नं, पं फं.
४—अनाहत	वायुतत्व, स्पर्शतन्मात्रा	५४)		४)	१२	वायु	कुरंग	यं	कं, खं, गं, घं, ङं, चं, छ, जं, झं, एं, टं, ठं.
५—विशुद्धाख्य	आकाशतत्व, शब्द तन्मात्रा	१२)			१६			हं	अं, आं, इं- ईं, उं, ऊं, ऋं, ॠं लृं ॡ
		)	चन्द्र	ब्रह्मग्रन्थि					ए, ऐं, ओ, औ, अं, अः
		)							ऊं, हं, क्षं
६—आज्ञा	मन	६४)							
७—सहस्रार	शिवशक्ति संयोग	सामरस्य							

विशेष—हृदय कमल की कल्पना महत्वपूर्ण है। इसी मे आत्मा का वास माना जाता है। कुछ लोग इस कमल को मेरुदण्ड के कमल से भिन्न मानते हैं।

92—For Kundalini is both Light (Jyotirmayi) and Mantra (mantramayi). Arthur Avalon–The Serpent Power, p. 116

93—इच्छा क्रिया तथा ज्ञानम् गौरी, ब्राह्मी तु वैष्णवी त्रिधा शक्ति: स्थिता यत्र तत्परं ज्योतिर ऊं इति। गोरक्षसंहिता।

94—महामहोपाध्याय डॉ० गोपीनाथ कविराज-तांत्रिक वाङ्मय मे शाक्त दृष्टि, पृ० ६७-६८।

95—वही, पृ० ६६।

96—वही, पृ० ६६।

97—द्रष्टव्य है - इसी शोध प्रबंध का प्रतिभा और कल्पना का अध्याय, ८

98— Letters of Shri Aurobindo (On Poetry ard Literature),p. 92.

99— Overmind substance expressed not directly but through the highest intuitive consciousness the plane between the illumined mind and overmind, Ibid., p. 95.

100—Ibid., p. 101.

101— Overmind thinks in a mass; its thought, feeling, vision is high or deep or wide or all thirgs together,.. (it) brings the divine riches, and it has correspording larguage and rhythm. The higher thought has a strong tread often with bare unsandaled feet and moves in a clear cut light; a divine power, measure dignity is its most frequent character. The cutfow of the illumined mind comes in a flood brilliant with revealing words or light of crowding images, sometimes surcharged with its burden of revelations, sometimes with a luminous sweep. The intuition is usually a lightening flash, showing up a single spot or plot of grourd or scene with an entire and miraculous completeness of vision to the surprised ecstasy of inner eye; its rhythm has decisive inevitable sound which leaves nothing essential unheard, but very commonly is embodied in a single stroke. Letters of Shri Aurobindo (On Poetry and Literature), Third Series, pp. 116-17.

102— Of Man's first disobedience and the fruit of that forbidden tree.

Culled from Letters of Shri Aurobirdo (On Poetry and Literature) Third Series, p. 117

103—Wilt thou upon the high and giddy mas
seal up the ship boy's eyes and rock his brains
In cradle of the rude imperious surge. —Ibid., p. 117.

104—It is indeed one of the chief functions of overmind to separate the main powers of consciousness and give to each its full separate development and satisfaction.
—Ibid., p. 128.

105—But also there is another action of overmind, which sees and thinks and creates in masses, which reunites seperated things, and reconciles opposites. —Ibid., p. 129.

106—Ibid., pp. 132–133.
107—Ibid., pp. 133–134.
108—Ibid., p. 285.
109—Ibid., p. 285.
110—Jadu Nath Sinha : Indian Psychology, Cognition, pp. 354–360.

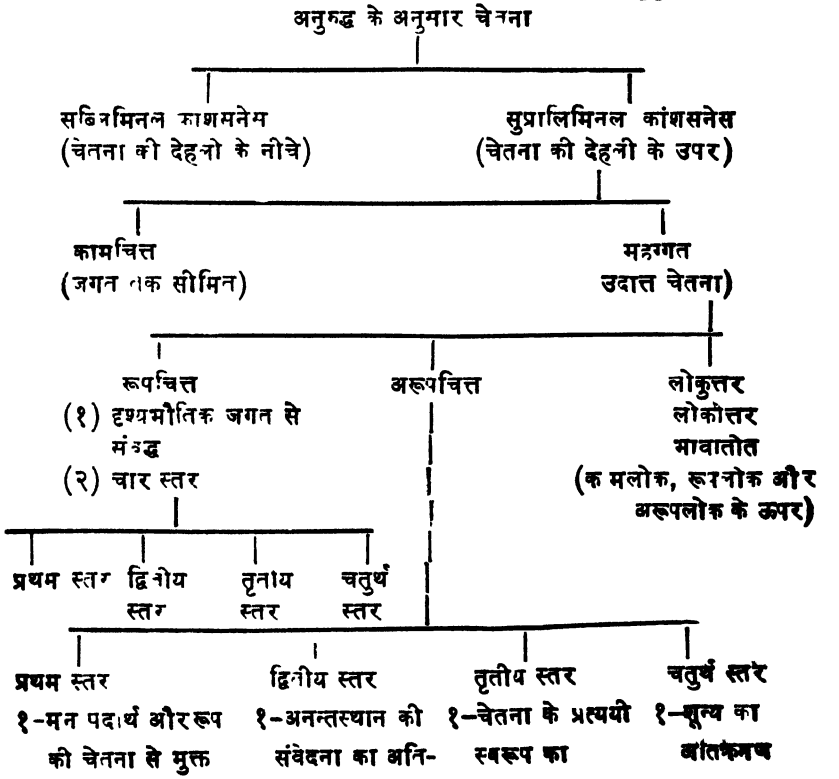

२–भेदाभद और सीमा से मुक्ति	क्षण २–चेतना पर ध्यान	अंतक्रकण २–शून्य का चेतना का आविर्भाव	२–अर्द्धचेतनता
३–अनन्त स्थान पर ध्यान केन्द्रित करने से स्थान सम्बन्धी अनंत सवेदना	केन्द्रित करने से अनन्तचेतना का ज्ञान		

111—Jadu Nath sinha Indian psychology, pp. 360–366.

112—I was swept up to Thee by Thy Beauty, and torn away from Thee by my own weight'. St. Augustine, quoted in Evelyn underhill Mysticism, p. 178.

113—In illumination we come to that state of consciousness which is popularly supposed to be peculiar to mystic ..... Those who still go with him a little way—certain prophets, poets, artists and dreamers–do so in virtue of that mystical genius, that instinct for treanscendental reality, of which all seers and creators have some trace .. ..responding to the intimations received in the awakening, ordering itself in their interest. concentrating its scattered energies on this one thing, the self emerges from long and varied acts of purification to find that it is able to apprehend another order of reality. – Ibid., The Illumination of the Self, pp. 232–33.

114—Let the world of rationalisation and of senses be consumed in the fire of imagination. Free the eternal soul. Let it taste again Infinity If the door of perception were cleaned everything would appear to man as it is, infinite. Culled from Harold Rugg, Imagination, p. 193.

115— ..I maintain that the Cosmic religiousness is ths strongest and the most noble driving force of scientific research, Only the man who can conceive the gigantic efforts and above all devotion, without which original seientific thought can not succeed, can measure the strength of the feeling from which alone such work .. can grow. What a deep belief

in the intelligence of creation and what longing for understanding, even if only of a meagre reflection in the revealed intelligence of this world, must have flourished in Kepler and Newton, enabling them as lonely men to unravel over years of work the mechanism of celestial mechanics ..... Only the man who devotes his life to such goals has a living conception of what inspired these men and gave them strength to remain steadfast in their aims inspite of countless failures. It is cosmic religiousness that bestowes such strength. A contemporary has said, not unrightly, that the srious research scholar in our generally materialistic age ls deeply religious being. Culled from Arthur Koestler—The Act of Creation, p. 261.

116—Ibid.; p. 262,

117—अपारे काव्य संसारे कविरेक. प्रजापति ।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेद परिवर्तते । ध्वन्यालोक,

118—यदुन्मीलन शक्तयैव विश्वमुन्मीलतिक्षणात् ।
स्वात्मायतन विश्रान्ता त वन्दे पतिभा शिवाम् । ध्वन्यालोकलोचन ।

119—ध्वन्यालोक-लोचन पृ० १ ।

120—नियतिकृत नियम रहिता ह्लादैकमयीमनन्यपरतत्राम ।
नवरस रुचिरा निर्मिति मादधती भारती कवेर्जयति । काव्यप्रकाश, १ ।१ १

121—डॉ० नगेन्द्र—भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, पृ० १६१ ।

122—वही, पृ० ११५ से उद्धृत ।

123 - Chandler—Beauty and Human Nature, p 329.

124—R. H. Rilke Letter to a Young Poet, pp. 27-28.

125—Henri peyre—Literature and Society, p. 130.

126—डॉ० नगेन्द्र—भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, पृ० १७० से उद्धृत ।

*

तृतीय अध्याय

संदर्भ

1—(a) The composition is sudden, effortless and unanticipated. The poem or pssage springs to completion all at once, without prior intention of the poet, and without that process of considering, rejecting and selecting alternatives. which ordinarily intervenes between intention and achievement. (b) The composition is involuntary and automatic; it comes and goes at its own pleasure; independently of the will of the poet. (c) In course of composition, the poet feels intense excitement, usually described as state of elation and rapture, but occasionally said to be racking and painful in its initial stages, though followed by a sense of blissful relief and quiescence. (d) The completed work is as unfamiliar and surprising to the poet, as though it has been written by some one else.

— M, M. Abrams, The Mirror and the Lamp, p. 189.

2—There is only one single means. Go inside yourself, discover the motive that bids you write; examine whether it sends its roots down to the deepest places of your heart, confess to yourself whether you would have to die if writing were denied you. This before all; ask yourself in the quietest hour of your night, must I write. Dig down into you self for deep answer and if this should be in affirmative, if you meet solemn question with a strong and simple 'I must' then build your life according to necessity. Rainer Maria Rilke, To a yongman.

In Writers on Writing (ed.) Walter Allen, p. 113.

3 The Making of a Poem, p. 52.

4 — Ibid., p. 53.

5— Ibid , pp. 53 55.

6—Brain R. W., Some reflections of Genius in stein and Heinz, Creativity and Individual, p. 101.

7 - W. Bischler, Intelligence and Higher Mental functions in Creativity and Individual, p. 208.

8 Ibid., p. 208.

9—H. B. Lee, The Values of order and vitality in Art in Creativity and Individual, pp. 230-31.

10—T. B. Hyslop, The Great Abnormals, in Creativity and Individual, p. 345.

11—The ideas which are born into the mind of the artist and worked up into his work of art are not, it seems, emotions artistic material itself Aesthetics and Criticism, P. 159,

12—But enough has been said to show that as the challenge becomes more provoking, the nature of guidance which directs the search for right type of matrix to bear on the problem, becomes more intuitive, more remote from the norml routine of thinking and extra conscious processes play an increasingly important role. Arthur Koestler, Creative Act, p. 656.

13—Ibid., p. 656.

14—Ibid., p, 45.

15—Ibid, p, 533-34.

16- Walter Allen, Writers on Writing (ed,), pp. 55-56.

17—For quotations of Keats, George Eliot and Thackeray, See, Miss Rosamond. E. M. Harding, An Anatomy of Inspiration quoted in Harold Osborne, Aesthetics and Criticism, p. 160

18—Ibid., p. 160.

19—P. B. Shelley, Defence of Poetry, in Writer's on writing, pp. 56-57.

20 – Culled from Walter Allen–Writers on Writing, p. 59.

21 – Insight is determined by (suggestion) intrinsic traits of stimulating content of problem solution. K. Duncker,

Qualitative study of Productive Thinking in Creativity and Individual, p. 18.

22—for the author thinking is the process of insight ... into a problematic situation..... leads to appropriate response, Ibid., p. 19.

23—It is accompanied by a flood ofideas, alternative suggestions for solution appearing in quick succession,many of which are difficult to capture owing to the crowded rapidity of their appearance. E. D. Hutchinson, How to think creatively in Creativity and Individual, p. 25.

24—O. D. Hebb, problems relating to Thought, in Creativity and Individual, p. 71.

25—The imagination merely enables us to wander into the darkness of the unknown where by the dim light of the knewledge that we carry, we may glimpse somethig, that seems of interest but when we bring it out and examine it more closely, it usually proves to be only trash whose glitter had caught our attention. Imagination is at once the source of all hope and inspiration, but also of frustration. To forget this is to court despair. See Arthur Koesler, Creative Act, p. 213.

26—See, M.H. Abrams Mirror and Lamp, P. 191.

27—Harold Rugg has also enumerated some of its characters tics as follows. 'This is the state wherein we know., before we know we know. It is quiet mind of concentration and attention I call it the transliminal mind the mind across the threshold between the conscious and the nonconscious. Imagination, P. 293.

28- Harold Rugg, Imagination, P. 293.

29—Ibid., P. 207.

30—The flash of insight is not only a self forming proeess it is also a transforming process. stuff of mind is transformed into a meaningful response. Ibid., P. 298.

31 —Beauty is inexplicable; it is hovering, floating, and glittering shadow whose outline eludes our grasp. Goethe.... .. Culled from the Mirror and Lamp, P.165.

३२—दूधनाथ सिंह निराला : आत्महन्ता आस्था, पृ० ५।

33 —वही, पृ० ६

34—Culled from George Whalley, Poetic Process, P. 11.

35—रामविलास शर्मा, निराला की साहित्य साधना, पृ० ६३ से उद्धृत।

36—वही, पृ० ५६।

37—राग विराग, पृ० ३५।

38 —वही, पृ० ३५।

38 -निराला,आत्महन्ता आस्था, पृ० १८।

40 —Culled from Erich Heller, Disinherited Mind, P. 193.

41 —अनामिका, पृ० ६४।

42 —वही पृष्ठ० ८६।

43 —वही, सरोजस्मृति, पृ० १३७।

44 —वही, वेला, पृ० ६०।

45—वही, पृ० ६३।

46—वही पृ० ६४।

47 —वही, ठूंठ, पृ० ४७।

48—(अ) वही, राम की शक्तिपूजा, पृ० १५६।
(ब) वही, पृ० १६७।

49—वही, मरण दृश्य, पृ० १३१-४०।

50—मैं अकेला,
देखता हूँ आ रही,
मेरे दिवस की सांध्यबेला, अणिमा, पृ० १२।

51—गहन है यह अन्धकारा
स्वार्थ के अवगुण्ठनों से
हुआ है लुण्ठन हमारा।
खड़ी है, दीवार जड़ की घेर कर
बोलते हैं लोग ज्यों मुँह फेर कर
इस गगन में नहीं दिनकर
नहीं शशधर, नहीं तारा।
कल्पना का ही अपार समुद्र यह
गरजता है घेर कर तन रुद्र यह,

कुछ नहीं आता समझ में,
कहाँ है श्यामल किनारा।

-वही, पृ० ५३।

52—अणिमा, पृ० ४३।

53—वेदना बनी
मेरी अवनी।

54—अणिमा, पृ० ४६।

55—डॉ० रामविलास शर्मा-राग विराग, पृ० २४।

56—गीतगुंज, पृ० ५९।

57—वही, पृ० ६३।

58—वही।

59—वही, पृ० ६७।

60—वही, पृ० ७२।

61—अनामिका, पृ० ४०।

62—'नये पत्ते में दो कवितायें हैं, 'देवी सरस्वती' और 'काली माता'। प्रथम निराला की मौलिक रचना है, द्वितीय अनूदित। प्रथम कविता में भक्ति का संस्पर्श है। उदाहरण के लिए अन्तिम पंक्तियों को लिया जाता है—

तुम्हो चिरन्तन जीव की
उन्नायक भविता
छवि विश्व की मोहिनी
कवि की सनयन कविता। पृ० ८०।

अनुवाद में भी निराला के मन की गतिविधि को समझने के सूत्र हैं। अगर उन्होंने उसे अपने अनुकूल न पाया होता तो सम्भवतः उसका अनुवाद न करते। अन्तिम पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

साहसी, जो चाहता है
दुख, मिल जाना मरण से,
नाश की गति नाचता है,
उसके पास आई। पृ० ९१।

63—निराला, परिमल।

64—भर देते हो

बार-बार प्रिय, करुणा की किरणों से
शुन्य हृदय को पुलकित कर देते हो।
अन्धकार में मेरा रोदन
सिक्त धरा के अंचल को करता है क्षण-क्षण

कुसुम कपोलों पर वे लोल शिशिर कण
तुम किरणों से अश्रु पोंछ लेते हो
नव प्रभात जीवन में भर देते हो।

65—निराला।

66—निराला-गीतिका, पृ० ६४।

67—डॉ० रामविलास शर्मा—निराला की साहित्य-साधना, भाग दो, पृ० ११६ से उद्धृत।

68—निराला, तुलसीदास,

69—त्वं उतत्वः पश्यन्न ददर्शवाच-
मुतत्वः शृण्वन्न शृण्योत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे
जायेव पत्य उशती सुवासाः। (सरस्वती रहस्योपनिषद्,....)

70—गीतिका, पृ० ३।

71—अभिज्ञान शाकुन्तल, १।१६।

72—सर्वोपमा द्रव्य समुच्चयेन यथाप्रदेशं विनिवेशितेन।
सा निर्मिता विश्वसृजाप्रयत्नादेकस्य सौन्दर्य विदृक्षयेवा।
—कालिदास, कुमारसंभव, १।४६।

73—इयेष सा कर्तुमवध्यरूपतां
समाधिमास्थाय तपोभिरात्मनः।
अवाप्यते वा कथमन्यथा द्वयं
तथाविधं प्रेम पतिश्च तादृशः। (कुमारसंभव, ५।२)

74—परिमल, पृ० ६२।

75—डा० रामविलास शर्मा, निराला की साहित्य साधना, भाग दो, पृ० २८६ से उद्धृत।

76—परिमल, पृ० १२०।

77—अनामिका, सम्राट् अष्टम एडवर्ड के प्रति, पृ० १८।

78—जो करे गन्ध मधु का वर्जन
वह नही भ्रमर
मानव मानव से नहीं भिन्न
निश्चय हो श्वेत, कृष्ण अथवा
वह नही विलग्न
भेद कर पंक
निकलता कमल जो मानव

वह निष्कलंक
हो कोई सर। —वही पृ० १८।

79--दोनों हम भिन्न वर्ण,
भिन्न जाति भिन्न रूप
भिन्न धर्म भाव, पर
केवल अपनाव से प्राणो से एक थे। —वही, पृ० ८।

79—वही, पृ० ३२।

80—वही, पृ० ३५।

81—अनामिका-रेखा, पृ० ७७।

82—वही, पृ० ७४–७५।

83—डॉ० रामविलास शर्मा, राग विराग, पृ० ५१–५२।

84—डॉ० रामविलास शर्मा, निराला की साहित्य साधना, (२) पृ० १९९।

85—गीतिका, पृ० ३३।

86—डॉ० रामविलास शर्मा—निराला की साहित्य साधना, पृ० १७७।

87—गीतिका, पृ० ५।

88—अणिमा, पृ० २।

89—बादल मे आए जीवन घन
अपल नयन सु ाम यौवन तव
देख रही तरुणी कोमल तन।
मरुत-पुलक भर अंग प्रकंपित,
बार-बार देखती चपल चित
स्पर्श-चकित कर्षित हो हर्षित
लक्ष्य पार करती चल चितवन।
नव अपांग-शर-हत व्याकुल-उर
आतुर वारि द वारि-धार स्फुर,
उगा रहा उर मे प्रेमाकुर
मधुर-मधुर कर-कर प्रशमित मन,
बरस गई जलधार विश्व-सृज
शैवलिनी पा गई उदधि निज,
मुक्त हुए आ स्नेह के क्षितिज
रूप-स्पर्श-रस-गन्ध-शब्द घन। —गीतिका, पद १३।

90—गीतगुंज, पृ० ७२।

चतुर्थ अध्याय

संदर्भ

1 - Experience alone can fertilise the Womb in which a work of art is conceived. What is called the artistic imaginatien, the part of this creative mechanism responsible for envisagiag the work of art as opposed to creating is merely a machine in which his experience of life is sorted out and dealt with. —Eric Newten, Sense of Beauty, p. 69.

2—Hogreff . Process of Creative Writing, Introduction, pp. 6-7

3 - Experience is never limited, and it is never complete; it is an immense sensibilty, a kind of huge spider-web of the finest silken threads suspended in the chamber of consciousness and catching every airborne in its tissue. It is the very atmosphere of the mind, and when the mind is imaginative, much more when it happens to be that of man of genius it takes to itself the faintest hints of life, it converts the very pulses of air into revelations. The power to guess the unseen from the seen, to trace implication of things, to judge the whole price by the condition of feeling life in general so complely that you are well on your way knowing any particular corner of it—this cluster of gifts may almost be said to constitute experience, and they occur in country and in town and in the most differing stages of education.

हेनरी जेन्स, उद्धृत, डॉ० शिवकरण सिंह, कला-सृजन-प्रक्रिया, पृ० १११ ।

4—Harold Rugg, Imagination, p. 80.

5—गजानन माधव मुक्तिबोध, नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, पृ० १५५ ।

7—देखिए, शिवकरण सिंह, कला-सृजन-प्रक्रिया, पृ० ४३ ।

8 - गीतिका, पद २, पृ० ४ ।

9—प्रबन्ध-पद्य-मेरे गीत और कला, पृ० २१४-१५ ।

10—अपरा- जागृत में सुषुप्ति थी, पृ० २८-३९ ।

11—गीतिका, पृ० ८ ।

12—प्रबन्ध प्रतिमा-पृ० २२४ ।
13—वही, पृ० २२४-२५ ।
14—अनामिका, दिल्ली, पृ० ५८ ।
15—परिमल, पृ० २०० ।
16—वही, पृ० २०१ ।
17—वही, पृ० २१६ ।
18—वही, पृ० २०७ ।
19—वही, पृ० २२४-२५ ।
20—वही, पृ० २३७ ।
21—वही, पृ० २३६-४० ।
22—अपरा, प्रेयसी, पृ० १२७ ।
23—राग-विराग-सरोजस्मृति, पृ० ६४ ।
24—वही, पृ० ६५ ।
25—वही ।
26—वही, पृ० ६७ ।
27—वही, पृ० ६७ ।
28—वही, पृ० ६३ ।
29—वही, पृ० ६३ ।
30—वही, पृ० ६३ ।
31—वही, पृ० ६५ ।
32—वही, पृ० ८८-६६ ।
33—वही, पृ० ६६ ।
34—वही, पृ० १०२ ।
35—Art celebrates with peculiar intensity the moments, in which past reinforces the present and in which future is quiekening to what now is, because experience is fulfilment of an organism in its struggles and achievements in a world of things, it is art in germ. Even in its rudimentary forms it contains the promise of the delightful perceptions, which is esthetic experience. Experience in degree in which it is experience is heightened vitality. Instead of signfying being, shut up within one's own private feeling it signified active and alert commerce with the world at its highest, it signifies complete interpretation of the self and the

world of the objects and events. Instead of satisfying surrender to caprice and disorder, it affords our sole demonstration of stability that is not stagnation; but in rhythmic and developing.

— John Dewey, Art as Experince, pp. 18-19.

36—They sum up what had been undergone and prevens its dissipation and idle evaporation, continued acceleration is breathless and prevent parts from gaining distinction. In a work of art, different acts, episodes, occurrences melt and fuse into unity, and yet do not disappear and lose their own character. Rader, A Modern Book of Esthetics,

—John Dewey, Having Expesience, p. 173.

37— Experience is a single whole, within which modifications may be distinguished, but which admits of no final or absolute division, and experience everywhere, not merely is inseparable from thought, but is itself a form of thought.

— Oakeshott, Experience and its modes, p. 10

38—Ibid., p. 13.

39—Ibid., p. 14.

40—Ibid., p. 19.

41—शिवकरण सिंह, कला-सृजन-प्रक्रिया, पृ० ४६ से उद्धृत।

42—वही, पृ० ४६ से उद्धृत।

43— All art is thus, at one and sametime a metaphor of artists self and metaphor of humanity in general, since it feeds inescapably on both these sources. It shows a search for self, in congruent sensuous analogues, a symbolic delineation of the secretive self in the material of not self. It is imagery in which, self and world cohabit, self is submerged in the world, but the world speaks out of this self. It is this process that is consummated in the metaphorical structure of art, which are not object and subject, but both together in an ideal transformation and construction and it accounts for their resonance and reverberation, the sense of infinite

significance in the finite forms, life and intuition, process and imagination, historical particular and suprahistorical effectiveness merge in art and in this way experience is enacted as idea.

44--Monoroe. C. Beardsley : Aesthetics, pp. 574–75.

45—Pepita Haezrahi–Contemplative Activity, pp. 49–50.

46—Poetic Process, p. 41.

47—The friends that have it, I do wrong.
Whenever I remake a song.
Should know, what issue is at stake.
It is myself that I make.
—Ibid., p. 104.

48—Ibid., p. 105.

49—बेला, पृ० ४८ ।

50—वही, पृ० ५० ।

51—तुलसीदास, पद (१), पृ० ११ ।

52—वही, पद (३५) पृ० २८ ।

53—वही, पद (२०), पृ० २१ ।

54—गुरु हथौड़ा हाथ,
करती बार-बार प्रहार–
सामने तरु मालिक अट्टालिका, प्राकार–राग विराग, पृ० १३१ ।

55—वही, पृ० १३१ ।

56—तुलसीदास, पद ३३, पृ० २७ ।

57—वही, पद ६०, पृ० ५६ ।

58—वही, पद ६२, पृ० ५७ ।

59—वही, पद ५२, पृ० ३७ ।

60—रागविराग-सरोजस्मृति, पृ० १०२ ।

61—तुलसीदास-पद (२१), पृ० २१ ।

62—वही, पद (२२), पृ० २२ ।

63—अनामिका-अपराजिता, पृ० १४७ ।

64—रागविराग, सरोजस्मृति, पृ० ६५ ।

65—तुलसीदास, पद १२, पृ० १७ ।

66—वही, पद १४, पृ० १८ ।

67—वही, पद ४२, पृ० ३२।

68—रागविराग-भूमिका, पृ० २९।

69—वही, पृ० ३४।

70—Since writing is not only an art but a trade embodying principles attested by expeience, we would do well not to forget that it is an expedient for making one's self understood. James Scully, Modern Poets on Modern Poetry, p. 109,

71—The self does not realise itself most fully when self realisation is its conscious aim. —Ibid., p, 110.

72—There must be a great deal of genuine poetry which started in the poets mind as a thesis to be developed, but in which the characters and situations have developed faster than the thesis, out of their own accord.

—Ibid., p. 93.

73—गीतिका, पद संख्या ८७, पृ० ९२।

74—वही, पद ७९, पृ० ८४।

75—वही, पद ६३, पृ० ६८।

76—भरा हुआ था हृदय प्यार से उसका
उस कविता का,
वह थी निश्छल, अविकार,
अंग-अंग से उठीं तरंगें उसके,
वे पहुँचीं कवि के पास, कहा—
'तुम चलो, बुलाया है उसने जल्दी
तुमको उस पार।' —परिमल, कविता, पृ० १२४।

77—वही, पृ० १२३।

78—राग विराग, भूमिका, पृ० ३०–३१।

79—राग विराग, राम की शक्ति पूजा, पृ० १०८।

80—वही, पृ० १०९।

81—वही, पृ० ११०।

82—वही, पृ० १११।

83—वही, पृ० ११२।

84—योगिक शब्दावली के लिए पांतजलि योग-दर्शन, तांत्रिक योग और कुण्डलिनी द्रष्टव्य हैं।

सन्दर्भ

85—राग विराग, राम की शक्ति पूजा, पृ० ११३ ।
86—वही, पृ० ११४ ।
87—वही, पृ० १०४ ।
88—वही, पृ० १०५ ।
89—Poetic Process, p. 104, 106, 106.
90—परिमल, विधवा, पृ० १२० ।
91—वही, दीन, पृ० १३३–३४ ।
92—वही, अधिवास, पृ० ११७ ।
93—परिमल, बदला पृ० ६६ ।
94—अणिमा, पृ० ८६ ।

पंचम अध्याय

संदर्भ

1—चयन, काव्य साहित्य, पृ० ६२ ।

2—वही, साहित्य की समतन भूमि, पृ० ८४ ।

3—प्रबंध पद्म, शून्य और शक्ति, पृ० २१.२२ ।

4—Long before we are able to think about life in general and about the larger problems, we are guided in the pursuit of ends, that are not comprised within the cycles of single perception, And this guidance is afforded not by discernment but feeling. In this discernment of the perceived event, our disposition is positive factor, no less real than event itself. The feeling which attach to a dispositional readiness for response-either in single perception or in series of perceptions interrupted perchance by pauses of sleep and distraction-are aesthetic. It is aesthetic feeling that mark the rhythm of life and hold us to our course by a kind of weight and balance .....A disposition to feel the completeness of experienced event as being right and fit, constitutes, what we have called aesthetic factor in perception,

उद्धृत-डा० शिवकरण सिंह, कला सृजन प्रक्रिया, पृ० ६४–६५ ।

5—M, Rader, A Book of Modern Esthetics, p. 67.

6—The formal elements acquire meaning for the imagination, only beceause we project our activities and feeling into them. Thus form as an esthetic value is not an obiective fact. It is a free creatiou of imagination, and belongs to the realm of appearances. It is inseparable from expression, since all its spiritual content is derived from the mind. Ibid., p. 368.

7—Ibid., pp, 395–96,

8—Ibid., p, 396.

9—Ibid., p. 397.

10 - M. Rader, A Book of Modern Esthetics, jose Ortega Y Gasset, The Dehumanisation of work of Art, p. 412.

11 - M. Rader, A Book of Modern Esthetics (ed) jose Ortega y Gasset, The Dahumanisation of Art, p. 413.

12 -- M. Rader, A Book of Modern Esthetics, p. 433.

13 —शिवकरण सिंह, कला-सृजन-प्रक्रिया, पृ० ८४ से उद्धृत।

14—The function of artistic illusion is not 'make believe', as many philosophers and psychologists assume, but the very opposite, disengagement from belief the contemplation of sensory qualities without their usual meaning. S, K. Langer, Feeling and Form, p. 49.

15 —Illusion is half art and half truth, M. Rader, A Modern Book of Esthetics, (ed) Samuel Alexander, Beauty and Illusion, p. 17.

16 - W, K. Wimsatt and Cleanth Brooks, Literary Criticism, A Short History, p. 701.

17—This impulse Cassirer calls 'a concentration and heightening of simple sensory experience', Ibid., p. 701.

18—Monroe, C. Beardslay, Aesthetics, p. 118.

19— Ibid., p. 118.

20 - poetry is emotive language, p. 120.

21 --These beliefs are not stated but in a technical sense of the term suggested. Ibid., 120.

22-- This kind of meaning I should call a semantic meaning. And extending from that I should state, as semantic ideal, the aim to evolve a vocabulary that gives the name and and address of every event in the universe. James L. Calderwood and Harold Toliver, Perspective of Poetry, (Ed) Kenneth Burke, Semantic and Poetic meaning, p. 20.

23 — Semantic ideal would attain to get a descritpion by the elimination of attitude. The poetic ideal would attempt to attain a full moral act by attaining a perspective atop all the conflicts of attitude. —Ibid., p. 24.

24—The Semantic ideal envisions a vocabulary, that avoids drama, The poetic ideal envisions a vocabulary, that goes through drama. —Ibid., p. 24.

25— Poetic fulfilment is not attained through the observance of abstracted norms but through the vital realisation of inner law.

— S.K. Langer, Reflections on Art, (ad) Gunther Muller, Morphological Poetics, p. 202.

26—Ibid, p, 209.

27—Literature consists of language structures and resultant meaning structure. —Ibid. p. 205.

28—Ibid. p. 205.

29—The sequence of sentences which proceeds as it were, in one dimensional line, does not produce parallel line of meanings but creates a polydimensional structure, which hovers like a kind of sphere over the run of sentence.

—Ibid. p. 206.

30 - Ibid., p. 206.

३1—Ibid. 210.

32—Hence poetry is the reality of form, created by means of stylistic expression involving an interplay of meanings.

33—Ibid., p. 214.

34—Ibid., p. 214.

35—Ibid., p. 215.

36—परिमल पृ० १७१ ।

37—गीतिका, पद २८, पृ० ३३ ।

37—परिमल, शेफालिका, पृ० १७५ ।

38—प्रबन्ध पद्म, पृ० ८५ ।

39—Perepectives on Poetry.

— Robert Penn Warren, Pure and Impure Poetry. p. 80.

40—Pure poetry is the pure effort to heighten consciousness.

—Ibid., p. 81.

41—James Seully, Modern Poets on Poetry (edited), Poetry : A note on ontology. p. 84.

42—Ibid., p. 85.
43—Ibid., p. 86.
44 Ibid., pp. 87, 88.
45—Ibid.
46—Ibid., pp. 88, 89.
47 - Ibid., p. 90.
48—Science gratifies rational or practical impulse and exhibits minimum of perception. Art gratifies a perceptual impulse and exhibits the minimum of reason. —Ibid. p. 95.
48—R. W. Stallman, Critiques and Essays in criticiam, in Renewellek's The Mode of Existence of a Literary work of Art, p. 31.
49—james L. Calderwood, and Harold E. Toliver, Perspective on Poetry (Ed.) Robert Frost, The Figure a Poem Makes. p. 350.
50—jamest Calderwood and Harold E. Toliver, Perspective on Pretry, The Poet's Method, pp, 287–88.
51—अपरा, पृ० ३६ ।
52—The moment of imaginative experience which possesses our minds the instant the poem is finished, possessed the poets mind the instant the poem began. For as soon as there flashed into complete existence in his mind, this many coloured experience, with all its complex passion, the poem which we know was conceived as an inspiration....so that it is also possible to consider the inspiration of a poem as distinguishable from the verbal art of it. Culled from Eliseo Vivas and Murray Kriegar, The Problem of Aesthetics, pp. 141, 42.
53—परिमल, कविता, पृ० ११३–१४ ।
54—वही, पृ० २५ ।
55—अनामिका, पृ० १४६ ।
56—अनामिका, पृ० १४१ ।
57—गीतिका, पद ७४, पृ० ८६ ।
58—वही, पद ७२, पृ० ८५ ।

59—परिमल, कवि, पृ० १६१ ।
60—परिमल, कवि, पृ० १६५ ।
61—निराला की साहित्य साधना, द्वितीय खण्ड, पृ० ३०७–३१३ ।
62—शिवकरण सिंह, कला-सृजन-प्रक्रिया, पृ० ३४१ ।
63—वही, पृ० ३४३ ।
64—विशेष जानकारी के लिए देखिए कला-सृजन-प्रक्रिया, मनः सृष्टि, पृ० ३४८–३५६ ।
65—गीतिका, समीक्षा-आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी, पृ० २२ ।
66—परिमल, पृ० १८६ ।
67—वही, पृ० १८६–८७ ।
68—बेला, पृ० २८ ।
69—वही, पृ० ३१ ।
70—वही, पृ० ४० ।
71—वही, पृ० ४३ ।
72—वही पृ० ६८ ।
73—अणिमा, पृ० ६ ।
74—वही, पृ० ६ ।
75—बेला, पृ० ७८ ।
76—नए पत्ते, पृ० २६ ।
77—नये पत्ते-थोडे के पेटे में बहुतों को आना पड़ा, पृ० २६ ।
78—वही, पृ० ३० ।
79—वही, पृ० ३६ ।
80—वही, चरखा चला, पृ० ४८ ।
81—वही, पृ० ४८ ।
83—वही, पृ० ४८ ।
84—वही, पृ० ४६ ।
85—वही, तारे गिनते रहे, पृ० ४१ ।
86—वही, खेल, पृ० ४७ ।
87—वही, स्फटिक शिला, पृ० ५६–६० ।

अध्याय ६

संदर्भ

1—लारेंस डरेल, राम स्वरूप चतुर्वेदी, भाषा और संवेदना से उद्धृत,

2—वही ।

3—Thinking and speech can not be identical because their ontogenesis is different and because words are often inadequate experession of thought and emotion. Culled from Neil Bolton, Psychology of Thinking, p. 206.

4—Ibid., p. 206.

5—Intelligent adaptative responses can occur in problem solving, situations without the use of either words or images of any kind. Robert Thomson.

—Psychology of Thinking, p. 165.

6—'Set' and 'determining tendencies' operate without the actual use of language in helping us to think purposefully and intelligently. — Ibid., p. 165.

7—Ibid., p. 166.

8—Ibid., p. 166.

9—A sign is defined as a pattern of stimulation, which is meaningful. —Ibid., p. 166.

10—Ibid., p. 171.

11—Ibid., p. 171.

12—Ibid., p. 175.

13—Expression is an activity of the artist in the process of artist's creation. Morris Weitz (ed) Problem in Aesthetics John Hospers, The Concept of Artistic Expression, p. 193.

14—Ibid., p. 190.

15—John Dewey, Art as Experience, The Act of Expression, p. 58.

16—It is this double charge which converts an activity into an act of expression, Ibid., p. 61.

17—To discharge is tc get ride of, to dismiss, to express to stay by to carry forward in development, to work out to completion. Where there is no administration of the objective conditions, no shaping of materials in the interest of embodying the excitement, there is no expression.

—Ibid., p. 61,

18—Ibid., p. 64.

19—Ibid., p. 64.

20—Ibid., p. 65.

21—Problem of Art, p. 26.

22—उद्धृत, शिवकरण सिंह, कलासृजन-प्रक्रिया पृ० ११५ ।

23—As Clive Bell calls it, 'significant from', Louis Sullivan 'organic form'. Albert Barnes in Arts in Painting calls it plastic form and Sheldon Chenny prefers 'Expressive Form'. See Harold Rugg, Imagination, p. 124.

24—A sense of rhythmic pattern making pervades man's inner biological data. Form in all matter is the product of the interaction of internal electrochemical forces. Ibid., P. 127.

25—Ibid., p. 128

26—Ibid., pp. 129, 130.

27—Dictionary of world Literature, p. 115.

28—T.M Green, The Arts and Arts of Criticism, p. 72.

29—शिवकरण सिंह, कला-सृजन-प्रक्रिया में उद्धृत अंग्रेजी अंश का अनुवाद ।

30—But what happens in nature is not, of course, art, an artist must work with materials that have relations, degrees of qualitative difference, established orders of variations, structural principles of combination, while we must be careful to include in the materials of beauty sense elements of all sorts, since all the senses, by virtue being senses, may take such pleasures in their specific objects as is in all vigour to be called aesthetic pleasure we must admit that these elements of smell and taste remain mere elements, except where natural occurrences

happen to combine them, and through familiarity sometimes to sanctify the continuation to men and to art, on no principle intelligible or available to human beings, but as some of the richest of natural or representative beauties. E. Vivas and Murray Kriegar, The Problems of Aesthetics, (Ed.), D. W. Prall, The Elements of Aesthetic Surface in General, p. 189.

31—Ibid., D. W. Gotshalk, Form, 201.

32—A work of Art is essentially the internal made external, resulting from the creative process, operating under the inpulse of feeling and embodying the combined product of poets perceptions, thought and feelings. The primary source of subject matter of a poem, therefore are the attributes and actions of poets own mind, or if aspects of external world, then these only, as they are converted from the facts of poetry, by feeling the operating of poets mind, The Mirror and the Lamp, p. 115.

33—कालिदास का लालित्य योजना, पृ० ११३।

34—प्रबन्ध प्रतिमा, पृ० १९३।

35—वही, पृ० २०१-२।

36—निराला, संग्रह, बाहर और भीतर, पृ० ६।

37—वही, पृ० ७।

38—संग्रह-प्रवाह, १२।

39—निराला, चयन, कथा साहित्य, पृ० ४९-५०।

40—शुष्क हूँ—नीरस हूँ—उच्छृंखल
और क्या-क्या हूँ, क्या हूँ इसका पता
बता तो सही, किन्तु वह कौन घेरने वाली
बाहु-बल्लियों से मुझको है एक कल्पना लता।
अनामिका, प्रलाप—पृ० २६।

41—वही, पृ० २८।

42—अनामिका, प्रगल्भ प्रेम, पृ० ३४।

43—वही, पृ० ३६-३७।

44—परिमल, तरंगो के प्रति, पृ० ७७।

45—परिमल, कवि, पृ० १९३ ।
46—परिमल, जागरण, पृ० २५० ।
47—अणिमा, पृ० १ ।
48—वही, पृ० ५ ।
49—गीतिका, पद, ७०, पृ० ७५
50—गीतिका, पद ६३, पृ० ६८ ।
51—तुलसीदास, पद ४२, पृ० ३२ ।
52—परिमल, भूमिका, पृ० ९ ।
53—वही, पृ० ९ ।
54—प्रबन्ध पद्य-साहित्य और भाषा, पृ० २६ ।
55—प्रबंध-प्रतिभा, रचना सौष्ठव, पृ० ८३ ।
56—वही, पृ० ८३ ।
57—चयन, हिन्दी कविता साहित्य की प्रगति, पृ० ७२–७३ ।
58—राग-विराग, राम की शक्तिपूजा, पृ० १०७–८ ।
59—वही, पृ० ११२ ।
60—वही, पृ० १०९ ।
61—वही, पृ० ११० ।
62—वही, पृ० ११० ।
63—वही, पृ० १११ ।
64—प्रबंध, प्रतिभा, पृ० २९० ।
65—रामविलास शर्मा, निराला की साहित्य साधना (२) पृ० २९१ ।
66—वही, पृ० ३०५ ।
67—गीतिका-पद, ३१ पृ० ७६ ।
68—अनामिका, बन-बेला पृ० ८६ ।
69—कुकुरमुत्ता–जियाफत, पृ० ३६ ।
70—कुकुरमुत्ता, पृ० ४८ ।
71—वही, पृ० ४२, ४३ ।
72—वही, पृ० ५० ।
73—वही, पृ० ५३ ।
74—वही, पृ० ५१ ।
75—वही, पृ० ५६ ।
76—वही, पृ० ५७ ।
77—वही, पृ० ६१ ।
78—यामा,

79—अपरा, राम की शक्ति पूजा, पृ० ५० ।
80—वही, पृ० ५५ ।
81—निराला की साहित्य साधना (२) पृ० २८३-८४ ।
82—परिमल, मौन, पृ० २६ ।
83—अनामिका, सरोजस्मृति, पृ० १२१ ।
84—वही उक्ति, पृ० १२० ।
85—Poetry is rhythmically patterned language. Elizabeth Drew, Poetry, p. 35.
86—Each poem growing according to to the laws of its own nature. Culled from Elizabeth Drew. Poetry. P. 36.
87—Ibid., P. 36.
88—Ibid., P. 36.
89—James Scully, Modern Poets on Modern Poetry. (Ed) Ezra Pound, A Retrospect, P. 41.
90—परिमल, भूमिका, पृ० १२ ।
91—वही, जागरण, पृ० २५० ।
92—अनामिका, प्रगल्भ प्रेम, ।
93—The prosodist attempting the hazards of modern poetry finds his way blocked by the hearts of confusion. Like Dante he wavers at the very outset of his journey. He finds four beasts, no general agreement on what prosody means and what subject matter properly belongs to it,no apparent dominant metrical convention such as obtained centuries previous to this one, no accepted theory about how prosody functions in a poem, and no critical agreement about the scansion of English meter. H. Gross, Sound and Form in Modern Poetry, P. 3.
94—James. L. Calderwood and Harold F. Toliver, Perspectives on Poetry, (ed) Harvey Gross, Prosody as rhythmic cognition P. 154.
95—Ibid., P. 155.
96—परिमल-बादलराग (१) पृ० १६० ।
97—वही, पृ० १६१ ।

98—गीतिका, पद ८७, पृ० ९२ ।
99—वही, पृ० ३ ।
92अ—रामविलास शर्मा, निराला की काव्यसाधना (२) पृ० ३६७, ३६८ ।
93 - Language is like a soil. However rich, it is subject to erosion, and its fertility is constantly threatened by uses that exhaust its vitality. It needs constant reinvigoration. E. Drew. Poetry, p. 69.
94अ- चयन, भाषा की गति और हिन्दी की शैली, पृ० १७–१८ ।
95अ- वही, पृ० १८ ।
96अ—वही, पृ० १८ ।
97अ—वही, पृ० २३ ।
98अ—वही, पृ० २४ ।
99अ—वही, पृ० २८ ।
100—वही, पृ० २९ ।
101—चयन, काव्य साहित्य, पृ० ५३ ।
102—वही, पृ० ५८ ।
103—अनामिका-प्रेयसी, पृ० ५–६ ।
104—अनामिका, रेखा, पृ० ७७ ।
105—गीतिका, पद ५, पृ० ७ ।
106—वही, पद ६, पृ० ८ ।
107—वही, पद २८, पृ० ३३ ।
108—वही ।
109—अनामिका, दान, पृ० २५ ।
110— नये पत्ते, पृ० १५ ।
111—कुकुरमुत्ता, पृ० ४३ ।
112—कुकुरमुत्ता, पृ० ४२ ।
113 —नये पत्ते, खजोहरा, पृ० १९, २०, २१, २२ ।
114—अनामिका, प्रेयसी, पृ० १ ।
115—अनामिका, दिल्ली, पृ० ६० ।
116—अनामिका, बनबेला ।
117—परिमल, पंचवटी प्रसंग ।
118—तुलसीदास, पद १२, पृ० १७ ।
119—अनामिका, बनबेला, पृ० ८७ ।

121—परिमल, पतनोन्मुख, पृ० ४१ ।
122—आराधना, पृ० १२ ।
123—अनामिका, राम की शक्ति पूजा, पृ० १५२ से चुने गए ।
124—रामविलास शर्मा, निराला की काव्य-साधना, पृ० ३८१ ।
125—वही, पृ० ३८१ ।
126—डा० केदारनाथ सिंह, आधुनिक कविता मे बिम्ब विधान, पृ० १६०–६१ ।
127—नये पत्ते, रानो और कानो, पृ० १६ ।
128—अर्चना, सत्योक्ति, पृ० ५ ।
129—Rolland Barthes, Writing Degree Zero, Translated by Annate Lewers and Collin Smith, PP. 54–55.
130—Eliot, Knowledge and Experience in the philosophy of F.H. Bradley, PP. 22,25.
131—Frank Bradley, John Palmer and Martin, Literary Theory and Structure (ed.), Maria Boroff, Words, Language and Form, PP. 75–76.

सप्तम अध्याय

संदर्भ

1— The primary function of speech is generally said to be communication. The artistic speech of children seems to show that the purely communicative aspect of language has exaggerated. It is best to admit that language is primarily a vocal actualisation of the tendency to see reality symbolically. That is precisely this quality which renders it fit instrument for communication, and that it is in the actual give and take of social intercourse that it has been complicated and refined in the form in which it is known to day. —S. K. Langer.

2— For language is much more than a set of symbols. Itis essentially an organic functioning system, of which the primary elements, as well as constructed products are symbols. Its forms do not stand alone, like so many monoliths, each making its own isolated grave, but instead, they tend to integrate, to make complex patterns, and thus to point out equally complex relationships in the world, the realm of their meaning. —S. K. Langer.

3— As a matter of fact, it is not essential act of mind that is symbolisation, but an act essential to thought symbolisation is the special act of mind. Ibid.

4— It is a symbol in special and derivative sense, because it does not fulfill all the functions of a true symbol : it formulates and objectifies experience for direct intellectual perception, or intuition, but it does not abstract a concept, for discursive thought. Its import is seen in it, not like the meaning of a genuine symbol, by means of it but separable from the sign, The symbol in art is metaphor,

an image with overt or covert literal signification. —S. K. Langer, Problems of Art, p. 139.

5—A final means of expression of repressed material, one which lends itself to general use, on account of its special sensibility for distinguishing the unconscious and adapting it (by compromise-formation) to new contents of consciousness is the symbol. By this term we understand a special kind of indirect representation, which is distinguished by certain peculiarities from the simile, metaphor, allegory, allusions and other forms of pictorial representations of thought material to all of which it is related. The system represents an almost ideal union of all those means of expression, it is a substitutive perceptual replacement, an expression for something hidden, which it has evident characterstics in common, or is coupled by internal associative connections. Papers on Psycho analysis, p. 163.

6—Every view which interprets the symbolic expression as an analogous or abbreviated expression of known thing is semistic. A conception which interprets the symbolic expression as the best possible formulatiou of relatively known thing which can not conceivably, therefore, he more clearly or characteristically represented is symbolic. A view which interprets the symbolic expression as an intentional transcription for transformation of a known thing is allegoric. —C. G. Jung, Psycholgical Types, p. 601.

7—An effective symbol.....must have a nature that is unimpeachable. It must be the best possible expression of the existing world philosophy, a container of meaning which can not be surpassed, its form must also be sufficiently remote from comprehension as to frustrate every attempt of critical intellect to give any satisfactory account of, and finally its aesthetic appearance must have such convincing appeal to feeling that no sort of argument can be

raised against it on score. —C. G. Jung, Psychological Types, p. 291.

8—हेरी लेविन का सूत्रवाक्य, डॉ० शिवकरण सिंह, कला-सृजन-प्रक्रिया, पृ १७७ से उद्धृत।

9—Coleridge, quoted in George Whalley, Poetic Process, p. 190.

10—Symbolism said things which could not be said so perfectly in any other way, and needed a right knowledge for its understanding; while allegory said things which could be said as well, or better in another way and needed a right knowledge for its uuderstanding, the one thing gave dumb thing voices, and bodiless things bodies, while the other read a meaning-which had never lacked its voice or its body-into something heard or seen, and loved less for meaning than for its own sake. —Lewis. quoted from G. Whalley, Petic Process, p. 190.

11—George Whalley, Poetic Pocess, p. 165.

12—Make believe is an enervating exercise of fancy, not to be confused with imaginative growth. The saner and greater mythologies are not fancies, they are utterances of whole soul of man and as such inexhaustible to meditation. They are no amusement or diversion to be sought as a relaxtion, and an escape from hard realities of life. They are these hard realities in projection, their symbolic recognition, coordination and acceptance. Through such mythologies, our will is collected, our powers unified, our growth controlled. Through them the infinitely divergent sayings of our beings are brought into balance and recognition. —I. A. Richards.

13— .... The work allegory (Gr. allegoria, Fr, allos—agoria-other-speaking) and the word symbol (Gr, symbolon, Fr, syn ballein-with or together-to throw) became related through shifting usage to the word myth (Gr, mythos-word,

speech-talk, tale) and the word mystery (Gr, Mysterion, Fr, Mystes-close mouthed-Fr, myein-to shut). Mythos is originally the word, the first tale, which Greek thought subsequently distinguished from synonyms, epo-logos. Mythos thus entails activity of allegoria-'other syeaking' or speaking otherwise than one seems to speak-as well as symbolon the throwing together of the word-thing, and activity indicated, by 'mythos', 'allegoria' and 'symbolon' is synonymous with rather than contrary to the activity indicated by mysterion, the unspoken, close mouthed, as established by sacred use.'—Edwin Honning, Dark conceit, p. 24.

14—उद्धृत, शिवकरण सिंह, आलोचना के वाद, (सद्य. प्रकाश्य)।

15—वही।

16—अनामिका, पृ० ८१–८२।

17—वही, पृ० १४३।

18—परिमल-विधवा, पृ० ११६।

19—तुलसीदास, पद, २६, पृ० २५।

20—निराला, संग्रह, पृ० १३।

21—वही, पृ० १४।

22—अनामिका, राम की शक्तिपूजा, पृ० १५६।

23—तुलसीदास, पद ३, पृ० १३।

24—वही, पृ० १३।

25—(१) पाषाण-खण्ड रहता जलजल (तुलसीदास, पृ० २१)
(२) पाषाण खण्ड ये करो हार (तुलसीदास, पृ० २२)
(३) तोड़ो तोड़ो, कारा, पत्थर की (अनामिका, पृ० १४१)
(४) वह तोड़ती पत्थर (अनामिका, पृ० ८१)

26—परिमल, जागो फिर एक बार, पृ० १८८–८६।

27—परिमल, बादलराग (३) पृ० ३६३–६४।

28—चिन्तामणि, भाग २, पृ० १२१।

29—रामविलास शर्मा, निराला की साहित्य साधना, भाग २, पृ० १४४ से उद्धृत।

30—वही, पृ० १४४ से उद्धृत।

31—वही, पृ० १४५ से उद्धृत ।
32—तुलसीदास, पद (१) पृ० ११ ।
33—वही, पद ६, पृ० १४ ।
34—वही, पद २४, पृ० २३ ।
35—वही, पद ३२, पृ० २७ ।
36—वही, पद ३३, पृ० २७ ।
37—वही, पद ६, पृ० ५७ ।
38—परिमल, महाराज शिवाजी का पत्र, पृ० २१६ ।
39—वही, पृ० २१७
40—निराला की साहित्य-साधना पृ० १४५ ।
41—तुलसीदास, पद ८८, पृ० ५५ ।
42—वही, पद ८६, पृ० ५५ :
43—वही, पद ६०, पृ० ५६ ।
44—वही, पद ६४, पृ० ५८ ।
45—गीतिका, पद ६८, पृ० ७३ ।
46—दूधनाथ सिंह, निराला, आत्महन्ता आस्था, पृ० १७३ ।
47—गीतिका, पद ६८, पृ० ७३ ।
48—वही, पद ७८, पृ० ८३ ।
49—परिमल, जागो फिर एक बार, पृ० १८५–१८७ ।
50—परिमल, स्मृति, पृ० १०४ ।
51—वही, पतनोन्मुख पृ० ४१ ।
52—अर्चना, पद ३६, पृ० ५५ ।
53—रामविलास शर्मा, निराला की काव्य-साधना (२) पृ० ३२२–२३ ।
54—तुलसीदास, पृ० १२ ।
55—परिमल, शेष, पृ० ४० ।
56—गीतिका, पृ० १७ ।
47—गीतिका, पृ० ६१ ।
58—तुलसीदास, पृ० ५७ ।
59—तुलसीदास, पृ० ५६ ।
60—अनामिका, ज्येष्ठ, पृ० ५२ ।
61—राग-विराग, पृ० १४७ ।
62—गीतिका, पद १४, पृ० १६ ।
63—सांध्यकाकली, निराला की हस्तलिखित कविता ।
64—अनामिका, वारिद बदना, पृ० १६८ ।

65—दूधनाथ सिंह, निराला, आत्महन्ता आस्था, पृ० २८८-८६ ।
66—रामविलास शर्मा, निराला की साहित्य साधना (२), पृ० ३२३ ।
67—अनामिका, बनबेला, पृ० ८५-८६ ।
68—परिमल, शेफालिका, पृ० १७५ ।
69—प्रबन्ध पद्म, पृ० ३ ।
70—परिमल, आवाहन, पृ० १३८-१३६ ।
71—स्वरारोह, अवरोह, विषात

मधुर मन्द्र उठ पुनः पुनः ध्वनि
छा लेती है गगन, श्याम कानन
सुरभित उद्यान ।
झर-झर रव भूधर का मधुर प्रपात
बधिर विश्व के कानों मे
भरते हो अपना राग ।

परिमल—बादलराग, पृ० १६५ ।
72—गीतिका, पद ७५, पृ० ८०
73—वही, पद ६५, पृ० ७० ।
74—वही, पद ८६, पृ० ६४ ।
75—परिमल, जागरण, पृ० २४७ ।
76—डॉ० नगेन्द्र, नयी समीक्षा, नये सन्दर्भ, पृ० ४३ ।

●

अष्टम अध्याय

संदर्भ

1—अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोद्धा, अथर्ववेद, १०. २. ३१ ।

2—पुरं यो ब्रह्मोवेद यस्याः पुरुष उच्यते, वही, १०. २. २८ ।

3—डॉ० फतह सिंह, भारतीय सौन्दर्य शास्त्र की भूमिका, पृ० २५ ।

4—वही, पृ० २५-२६ ।

5—वही, पृ० २८ ।

6—वही, पृ० ८३ ।

7—औचित्य विचार चर्चा की पैंतीसवीं कारिका के वृत्ति भाग मे उद्धृत भट्टतौत का मत ।

8—शक्तिः प्रतिभानम्, ध्वन्यालोकलोचन, पृ० २४६ ।

9—कवीना शक्तिरेव बलीयसी, सा एव लोकोत्तरा व्युत्पत्तिरिति अभिधीयते, न तु अन्या काव शक्तेर्व्युत्पत्तिर्नाम काचित् यदुक्तं मया एव पुरूरवोविचारे । षटकर्परकुलकविवृति २१ ।

10—रसगंगाधर, पृ० २५ ।

11—सा हि चक्षुर्भगवस्तृतीयमिति गीयते । येन साक्षात्करोत्येष भावांस्त्रैलोक्य वर्तिनः । व्यक्तिविवेक, २।११८ ।

12—अनन्यापेक्षिता यास्य विश्वात्मत्व प्रति प्रभोः । तां परा प्रतिभा देवी संगिरन्ते ह्यनुत्तराम । तंत्रालोक, २।७४ ।

13—न वै दोषा दोषा न च खलु गुणा एव च गुणाः । निबद्धु स्वातंत्र्यं सपदि गुण-दोषान्विभजते । इयं सा वैदग्धी प्रकृति मधुरा तस्य सुकवेः । यदत्रोत्पादादप्यति सुभग भावः परिणितः । डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय, अभिनवगुप्त, ऐन हिस्टोरिकल एण्ड फिलॉसाफिकल स्टडी, पृ० १२६ से उद्धृत ।

14—महार्थ मंजरी, १०५ ।

15—K. C. Pandey, Abhinava Gupta, An Historical and Philosophical Study, pp. 509–510.

16—सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निःश्यन्दमाना महतां कवीनाम् ।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभा विशेषम् ।
—ध्वन्यालोक १।६ ।

17—काव्यमीमांसा, पृ० २७ ।

18—नूतनस्तत्प्रथमो योऽपावुल्लिख्यते इत्युल्लेख., तत्काल समुल्लिख्यमानोतिशया तेन लोकातिक्रान्त: प्रसिद्ध व्यापारा-ीत. कोऽपि सर्वातिशायी गोचरो विषयो यस्या: सा तथोक्ति निग्रह: । तस्मान्निमितिस्तेन रूपेण विहितिरित्थ: । तदिदमत्र तात्पर्यम् । यन्न वर्ण्यमान स्वरूपा: पदार्था कविभिरभूता: सन्त: क्रियन्ते । केवलं सत्तामात्रेण परिस्फुरतां चैषा तथा विध: कोऽप्यतिशय: पुनराधीयते, येन कामपि सहृदयहृदयहारिणी रमणीय तामधिरोप्यन्ते । ·· ···· ··· तदेवं सत्तामात्रेणेव परिस्फुरत: पदार्थस्य कोऽप्यलौकिक: शोभातिशय विधायी विच्छित्ति विशेषोऽभिधीयते येन नूतनच्छाया मनोहारिणा वास्तवस्थितितिरोधानप्रवणेन निजावभासोद्भासितनरस्यरूपेण तत्कालोल्लिखित इव वर्णनीय पदार्थपरिस्पन्दमहिमा प्रतिभासते, येन विधातु व्यपदेश पात्रतां प्रतिपद्यन्ते कवय: ।

—हिन्दी वक्रोक्ति जीवित, पृ० ३०५–२ ।

19—सा च द्विधा कारयित्री भावयित्री च । कवेरुपकुर्वाणा कारयित्री । साऽपि त्रिविधा सहजाऽऽहार्योपदेशिकी च । जन्मान्तर संस्कारपेक्षिणी सहजा । जन्मसंस्कारयोनिराहार्या । मंत्र तंत्राद्युपदेशप्रभावा औपदेशिकी ।····· त इमे त्रयोऽपि कवय: सारस्वत', आभ्यासिक:, औपदेशिकश्च । जन्मान्तर संस्कारप्रवृत्तसरस्वतीको बुद्धिमान् सारस्वत: । इह जन्माभ्यासोभारतीक आहार्य बुद्धिराभ्यासिक· । उपदेशितदर्शित वाग्विभवो दुर्बुद्धिरोपदेशिक:·····

सारस्वत: स्वतंत्र स्याद् भवद्भ्यासिकोऽपि : ।
औपदेशिकविस्त्वत्र वल्गु फल्गु च जल्पति ।

भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा, सं० डॉ० नगेन्द्र, पृ० १६२ ।

20—Genius is the imagination, which harnesses figures. It is creative power so rich and spontaneous that it can continue new productions indefinitely.

21—Artistic genius is both, imagination that directs similarity and judgement which finds out difference. It absorbs all functions of mind.

22—Alexander Gerard, quoted in M. H. Abrams, The Mirror and The Lamp, p. 191.

23—Natural genius are the prodigies of mankind, who by the mere strength of natural parts and without any assistance of art or learning have produced works that were delight of their own times and wonder of posterity, the second class of geniuses are those that have formed themselves by

rules and submitted the greatness of their natural talents to the correction and restrain of art, Ibid., p. 187.

24—Learning is borrowed knowledge, and genius is knowledge innate and our own, Ibid., p. 198.

25—Fertile and pleasant field. Ibid., p. 199.

25—Nothing original can rise, nothing immortal can ripen in any other sun, but that of our genius., Ibid., p. 199.

27—एडिसन ने भी सहज प्रतिभा की तुलना स्वतः उगते और विकसित होते वृक्ष से की थी और यंग ने भी। इसके लिए 'मिरर और लैंप' के प० १८७ और १९९ को देखा जा सकता है।

28—Ibid., pp. 202-3.

29—Ibid., pp. 203-4.

30—Ibid.; pp. 204-5.

39—दार्शनिक और लालित्यबोधीय विचारकों के लिए लेखक 'मिरर और लैम्प के साथ ही के० सी० पाण्डेय के 'तुलनात्मक सौन्दर्यशास्त्र' का ऋणी है।

32—M. H. Abrams, the Mirror and the Lamp, p. 211.

33—Ibid., p. 216.

34—Bobcock defines genius as, an exalted mental power combined with a special instinctive aptitude independent of tuition. Stein and Heinze, Creativity and Individual (ed.) W. L. Babcock, on the Morbid Heridity and predisposition to insanity of the Man of Genius, p. 344.

35—Genius is the happy result of a combination of many concomitant circumstances, Creativity and Individual, H. A. Ellis, the Study of British Genius, p. 385.

36—The genius can not be anything absolute, can not be anything firmly established once for all .....on the cotrary genius must be valuation, denomination of value, or an experience of value. W. Lange—Eichbaum, The problem of Genius, in Creativity and Individual, p. 348.

37—Creativity and Individual, pp. 100-101.

38 Ibid., p.194.

36—Genius has talent, and his talent allows him to objectify and make permanent his creativity. Ibid., p. 195.

40—Genius is sociological pheromenon ·· ··· Talents an in born endowment of Individual., p. 348.

41—Stein and Heinze, Creativity and Individual. T. Ribot, The Nature of Creative Imagination, pp. 34-35.

42—Creative Imagination is defined as the ability io utilise vivid sense impressions effectively in the creation of work having some degree ef aesthetic character. Stein and Heinze, Creativity and Individual, M.C. Meier. Factors in Artistic Aptitude, P. 294.

43—Imagination is defined as, the recall to consciousness of mental picture originally produced through the senses, without the present stimulation of these senses in the original way, Ibid., PP. 406–7.

44—Gerard regards creative imagination 'as an action of the mind, that produces, new idea or insight' which appears to the individual as a 'fresh' and 'full formed'. R.W Gerard, Biological Basis of Imagination, in Creativity and Individual, P. 191.

45—Imagination 'accounts for the arrival of the fittest' and reason or logic insures the 'Survival of the fittest'. Ibid.' P. 101.

46—Imagination may the word for that all important no man's land between the end of respective process and the start of the exqressive one. Ibid., P. 102.

47—इन विचारो के लिए हम मारिस फिलिप्सन द्वारा संपादित पुस्तक 'एस्थेटिक्स टु-डे' में लांसलाट लां ह्वाइट लिखित 'साइण्टिक ब्यु ऑफ क्रिए-टिव एनर्जी ऑव मैन के ऋणी हैं। द्रष्टव्य है पृ० ३४८-७४।

48—Genius is mainly an affair of energy, and poetry is mainly an affair of genius, therefore, a nation whose spirit is characterised by energy may well be eminent in poetry, Essays in Criticism, 1st series, P. 50.

49 -To home a burning energy has given
That other eye which darts through earth and heaven.
Wordsworth quoted in Morton D. Paley, Energy and Imagination, P. 4.

50 —There is creation in the eye,
Nor less in all the other senses; powers
They are that colour, model and combine
The things perceived with such an absolute
Essential energy that we may say
That those godlike faculties of ours
At one and the same moment are the mind
And the mind's minister.
See Geoffrey H. Hartman, Wordsworth's Poetry (1787–1814), p. 184.

51—Quoted in Morton D. Paley, Energy and Imagination, p. 204.

52—Lovers and mad men have such seething brains,
Such shaping fantasies, that apprehend
More than cool reason ever comprehends ....
....
Such tricks hath strong imagination
that, if it would apprehend some Joy,
It comprehends some bringer of that joy;
Or in the night, imagining some fear,
How easy is a bush supporting a bear;
....
And as imagination bodies forth
The forms of things unknown, the poets' pen
Turns them to shape and give to airy nothing
A local habitation and a name,
Midsummer Night's Dream, Act V–Lines 4–6, 18–22, 14-17.

मिल्टन ने भी शेक्सपीयर के 'थीयस' मे मिलते-जुलते मत को प्रतिपादित किया है। उदाहरण के लिए 'पैराडाइज लॉस्ट' के पंचम भाग में

'द्वैत' के स्वप्न का लया जा सकता है। इस सन्दर्भ में १००-११३ पंक्तियाँ विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं।

53—The Mirror and the Lamp, p. 57.

54—(अ) Ibid., p, 58.

(ब) वर्ड्सवर्थ की अधोलिखित पंक्तियाँ विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं—

Which do both give it being and maintain
A balance, an ennobling interchange.
Of action from without and from within;
The excellence, pure function, and best power
Both of the object seen and eye that sees.

51—(ब) Creator and receiver both
Working but in alliance with the works
Which it beholds.
The Prelude, II Lines 232–34,

52—(ब) See Abrams, The mirror and the Lamp, p. 66.

53—(ब) Prelude—Lines 604–606.

54—(ब) Quoted in Richard J. Onorato, The Character of the poet, p. 23.

55 – It is power
That does not come unrecognised, a storm,
Which, breaking up a long continued frast
Bring with it varnal promises, the hope
Of active days, of dignity and thought,
Of prowess in an honourable field,
Pure passions, virtue knowledge, and delight,
The holy life of music and of verse.
Prelude—Book I, Lines 47–54.

56—The poetic psyche in its process to full development..... Owen Barfield; what Coleridge Thought, Imagination and Fancy (1), p. 73.

57 – Ibid., 73.

58—In philosophical language, we must denominate this intermediate faculty in all its degrees and determinations,

the imagination. But in common language, and especially on the subject of poetry, we appropriate the name to a superior degree of the faculty, joined to a superior voluntary control over it.—Biographia Literaria, I, p. 86.

59—The Imagination then, I consider either as Primary or Secondary. The primary imagination, I hold to be the living power and prime Agent of all human perceptions, and as a repetition in the finite mind of the eternal act of creation in the infinite I Am. The secondary imagination, I consider as an echo of the former, coexisting with the conscious will, yet still as identical with the former in the kind of its agency and differing only, and in mode of its operation. It dissolves, diffuses, dissipates, in order to recreate; or where this process is rendered impossible, yet still at all event it struggles to idealise and to unify. Biographia Literaria.

60—Ibid.

61—कुछ आलोचक (रिचर्ड्स, रीड, फोगल, अब्राम्स) यह स्वीकार करते हैं कि कोलरिज की दार्शनिक चेतना उसकी आलोचना का मेरुदण्ड है। शां क्रास मानते हैं कि 'बाओग्राफिया लिटरेरिया' का उत्तरार्द्ध कवि की अन्तर्दृष्टि का परिणाम है। वस्तु सत्य यह है कि कवि या यों कहे कि दार्शनिक कवि होने के कारण कोलरिज अपनी मान्यताओं से मुक्त नहीं हो पाया है। वे उसके चिन्तन मे कौंधती रहती हैं। पर वही स्वच्छन्दतावादी के रूप मे उसकी शक्ति का कारण भी है।

62—See Coleridge's philosophy of Literature, p. 180.

63—Owen Barfield, What Coleridge Thought, pp. 79-80.

64—Genius must have talent as its complement and implement, just as in like manner imagination must have fancy, In short the higher intellectual power can only act through a corresponding energy of the lower. Quoted in, Own Barfield's, What Coleridge Thought, p 85.

65—द्रष्टव्य, शिवकरण सिंह, कला सृजन प्रक्रिया, पृ० २६०।

66 Imagination is central, fancy superficial, fancy is willful imagination a spontaneous act; fancy is a play as with

dolls and puppets, which we chose to call men and women, imagination a perception and affirming of real relation between a thought and some material fact: fancy amuses and imagination exalt us. Imagination uses an organic classification, fancy joins by accidental resemblance, surprises and amuses the idle, but is silent in presence of great passion and action; fancy aggregates imagnination animates, fancy is related to colour, imagination to form fancy paints, imgination sculptures.

डॉ० शिवकरण सिंह, कला-सृजन-प्रक्रिया, पृ० २६० से उद्धृत।

67—शंभुदत्त झा, रिचर्ड्स के आलोचना सिद्धान्त, पृ० १०५।

68—

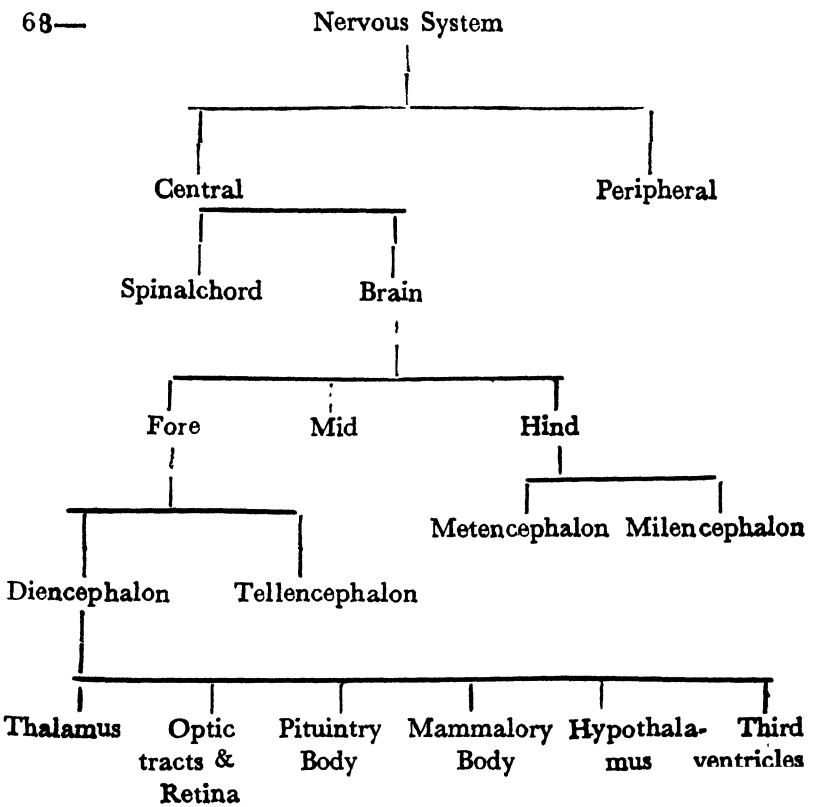

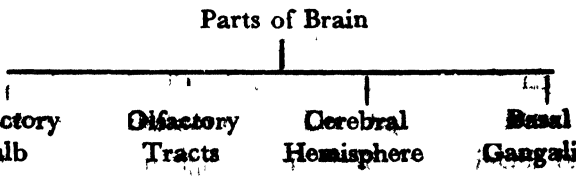

69—Allan Paivio, Imagery and Verbal Process, Introduction, pp. 3-4,

70—Deese, quoted in above book, pp. 4-5,

71—Ibid., p. 6,

72—डॉ० नगेन्द्र, काव्य बिम्ब, पृ० ३३।

73—See, Jean Paul Sartre, The Psychology of Imagination.

74—That existance is called spontaneous, which determin itself, which brings itself to exist. In otherwords, whatev exists spontaneously exists for and by itself. Only o reality therefore merits the epithet spontaneous and that consciousness, for it infact to exist and to have consciousne of its existence are one and samething.

75—We have all been led to believe that a mind like a gia attracted things into its web, covered them with its whi spittle and slowly swallowed them, thereby rendering the to its own substance.

76—They are images of feeling that formulate it for our cogni ion. Langer, quoted in Russel Brain, The Nature Experience, p. 48.

77—problems of Art, pp. 11-12.

78—Perception and Imperception, Journal of Mental science, cii (1956) p. 228.

79—Collingwood, quoted in Russle Brain, The Nature of Experience, p. 48,

80—Ronald Peacock, The Art of Darma, pp. 15-16.

81—Ibid., p. 51.

82—Ibid., p. 52.

83—Ibid., p. 58,

84—Ibid., p. 61.

85— George Whalley, Poetic Process, PP. 84–86.

86—Ibid., p. 88.

87—Ibid., p. 90.

88—Ibid., p, 91.

89—Ibid., pp. 92–93.

90—Ibid., pp. 93–94.

91—When a man writes any work of genius, Yeats said, or invents some creative action, it is not because some knowledge or power has come into his mind from beyond his mind. It is called up by an image, as I think, but our image must be given to us, we can not chose them deliberately. W. B. Yeats, quoted in George Whalley, Poetic Process, p. 94.

92—The poet is often not completely sure, what he is trying to say, until he has said it, he works up to his meaning by a dialectic of purification, Ibid., p. 94.

93—Ibid., p. 94.

94—Frank Kermode, the Romantic Image, Preface, p. VII.

95—Ibid., pp. 1–2.

96—Ibid., p. 5.

97—Ibid., p. 45.

98—C. Day Lewis, The Poetic Image, pp. 23–24.

99—H. Coombes, Literature and Criticism, Imagery, pp. 43–64

100—इस उपर्युक्त विवेचन का आधार रॉबिन स्केल्टन की पुस्तक, 'द पोएटिक पैटर्न' पृ० १०६–१०९ ।

101—Robert Skelton, The Poetic Pattern, p. 91.

102—डा० केदारनाथ सिंह, आधुनिक हिन्दी कविता में बिम्ब-विधान, पृ० २२३–२६० ।

103—अन्तरा, पृ० ५६–५७ ।

104—हिन्दी साहित्य, एक आधुनिक परिदृश्य, पृ० १३६ ।

105—आंगन के पार द्वार, अंतर्यात्रा, पृ० ७१–७२ ।

106—वही पृ० ८३ ।

107—जयशंकर प्रसाद, पृ० ९ ।

108—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, चिन्तामणि, भाग–२

109—चिन्तामणि, भाग २, पृ० १०४।
110—रसमीमांसा, पृ० ९०–९१।
111—वही, पृ० १०५।
112—वही, पृ० ११३।
113—गीतिका, समीक्षा, पृ० २४।
114—चयन, पृ० २५।
115—पन्त, रश्मिबंध, पृ० १७।
116—परिमल, स्मृति, पृ० १०२।
117—वही, पृ० १०३।
118—वही, पृ० १०४।
119—वही, पृ० १०६।
120—वही, पृ० १०६–१०७।
121 - परिमल, यमुना के प्रति, पृ० ४३।
122—परिमल, बादलराग (३) पृ० १६३।
123—अनामिका, वही, पृ० ३९।
124—गीतिका, पद ८६, पृ० ९२।
125—आराधना, पद २५, पृ० २५।
126—अणिमा, पद २४, पृ० ४३।
127—Shelley, Defence of Poetry, in complete Works, VII, 14'
128—Ah ! from the soul itself must issue forth
A light, a glory, a fair luminous cloud.
Dejection an ODE, Quoted in L. R. Furst, Romanticism in Perspective, p. 160.
129—Poetry turns all things to loveliness; it exalts the beaut of that which is most beautiful, and it adds beauty to tha which is deformed: it marries exaltation to horror, gri and pleasure, eternity and chance, it subdues to union unde its light yoke all irreconcilable things, It transmutes all that its tone has, and every form moving within the radiance of its presenee is changed by wondrous sympathy to an incarnation of the spirit, which it breaths. Defence of Poetry, in Complete Works, VII p. 137.
130—अनामिका, पृ० ३४–३५।
131—अनामिका, कविता के प्रति, पृ० १४६।

132—अनामिका, अपराजिता, पृ० १४७।
133—निराला की साहित्य साधना (२) दिवास्वप्न, पृ० ४
134 -परिमल, पृ० १२७।
135 —अनामिका, तट पर, पृ० ४६।
136 -प्रबन्ध-प्रतिमा, पृ० २८२।
137—परिमल, संध्या सुन्दरी, पृ० १२६–१२८।
138—परिमल, बादलराग, पृ० १६०।
139—तुलसीदास, पद २१, पृ० २१।
140 अनामिका, राम की शक्ति पूजा, पृ० १५३।
141 —अनामिका, प्रेयसी, पृ० ४।
142—परिमल, पंचवटी प्रसंग, पृ० २४२।
143 —परिमल, पंचवटी, प्रसंग. पृ० २३३।
144—निराला की साहित्य साधना (२) पृ० ३१३।
145 —गीतिका, पद सं० १,
146 —परिमल, पृ० १२।
147—परिमल-बादल राग (१) पृ० १६०–६१।
148 अनामिका, राम की शक्तिपूजा, पृ० १५२।
अपरा, बनबेला, पृ० ११२।
गीतिका, पद पृ० ३३।
परिमल, पंचवटी प्रसंग, २३४।
150—अनामिका, राम की शक्ति पूजा, पृ० १५५।
153—अनामिका, रेखा, पृ० ७८।
154—परिमल, यमुना के प्रति, पृ० ५२।
155—अनामिका, सरोजस्मृति, पृ० १३५–१३६।
156—नये पत्ते, स्फटिक शिला, पृ० ५६-६०।
157—आराधना, पद ३७ पृ० ३७।
158—आराधना, पद ७३, पृ० ७३।
159—अर्चना, पद ५५, पृ० ६७।
160—आराधना, पद ७३ पृ० ३।
161—परिमल, भिक्षुक, पृ० १२५।
162—परिमल, बादलराग (६) पृ० १६७।
163 -अनामिका, बनबेला, पृ० ६१।
164—अनामिका, राम की शक्ति पूजा, पृ० १५७।
165—अनामिका, सम्राट अष्टम एडवर्ड के प्रति, पृ० १८।